भक्ति-काव्य में रहस्यवाद

लेखक

डॉ० रामनारायण पाण्डे

नेशनल पब्लिशिंग हाउस

जवाहरनगर, दिल्ली-७

गुरुवर के चरणों में

भूमिका

डॉ॰ रामनारायण जी पाण्डे का 'भक्तिकाव्य में रहस्यवाद' बहुत ही अध्ययनपूर्ण और विचारप्रेरक ग्रन्थ है। इस पुस्तक को पढ़कर मुझे बहुत संतोष और सुख मिला है।

'रहस्यवाद' हिन्दी में नया शब्द है। यद्यपि 'रहस्य' और 'वाद' दोनों ही संस्कृत के बहुपरिचित शब्द हैं, फिर भी समस्त पद के रूप में रहस्यवाद शब्द नया है। यह अंग्रेजी के मिस्टिसिज्म शब्द के तौर पर गढ़ लिया गया है। पाण्डेजी ने इसकी परिभाषा देने का प्रयास किया है। वे बताते हैं कि "रहस्यवाद मानव की वह प्रवृत्ति है जिसके द्वारा वह समस्त चेतना को परमात्मा अथवा परम सत्य के साक्षात्कार में नियोजित करता है तथा साक्षात्कारजन्य आनन्द एवं अनुभव को आत्मरूप समस्त में प्रसरित करता है।" (पृ० २०१) और "रहस्यवादी नैतिक चरित्र, असाधारण ज्ञान, भावना तथा इच्छाशक्ति-सम्पन्न वह व्यक्ति है जो निःस्वार्थ भाव से अपने सभी साधनों को एकमात्र परम सत्य परमात्मा की प्रत्यक्षानुभूति में नियुक्त करके उस परम सत्य के परावौद्धिक और अतीन्द्रिय आनन्द-आस्वादन की सभावना में विश्वास करता है तथा उसे प्राप्त करना चाहता है।" इस प्रकार रहस्यवाद उस अनिर्वचनीय सत्य के प्रत्यक्ष का द्योतक है जिसको साधक चैतन्य की एक विशेष स्थिति मे निरन्तर सलग्न रहकर प्राप्त करता है। यह सत्य अनुभवकर्ता का स्वय प्रत्यक्ष होने के कारण उसके लिए सर्वाधिक सत्य होता है। उसकी सत्यता के लिए अन्य किसी बाह्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं। यह ज्ञान साधारण भौतिक ज्ञान की अपेक्षा इतना स्पष्ट होता है कि साधक के लिए संदेह का कोई स्थान ही नही रह जाता। (पृ० २०) इस अनुभवैकगम्य, बाह्य प्रमाण-निरपेक्ष, स्वयं-प्रत्यक्ष सत्य को वस्तुतः परिभाषा मे बाँधना कठिन है। व्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभवत्व के दोष से मुक्त लक्षण, सीमा में अभिव्यक्त पदार्थ के लिए ही बनाये जा सकते हैं; पर जो सत्य दृश्यमान और अनुभूयमान समस्त पदार्थों से विलक्षण और सब को व्याप्त कर रहने वाला है वह केवल 'गूँगे का गुड़' है, शब्द द्वारा अप्रकाश्य, 'अनमै साँच' मात्र ! न जाने कब से भक्त जन इसकी महिमा बताते आये हैं पर फिर भी बताते नही बनता। उपनिषदों में इस तत्व को दो प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया गया है `` तद्व्यावृत्ति-रूप में और अतद्व्यावृत्ति-रूप में। तद्व्यावृत्ति का मतलब है उसे जगत् के समस्त ज्ञात पदार्थों से विलक्षण बताना। वह यह भी नहीं है, वह भी नहीं है ' नेति नेति नेति। फिर उसे इस प्रकार भी कहा गया है कि वह समस्त ज्ञात और अनुभूतिगम्य पदार्थों में विद्यमान है और फिर भी सारे पदार्थों के जोड़ से अधिक है। सब में व्याप्त और सबसे अधिक ! यही दूसरी पद्धति है। कबीरदास ने जब व्याकुल भाव से कहा था कि :

> ऐसा लो नहिं तैसा लो, मैं केहि विधि कहौं अनूठा लो।
> भीतर कहूँ तो जगमय लाजै बाहर कहूँ तो झूठा लो॥

तत्त्व-जिज्ञासुओं ने इसे समझने-समझाने का प्रयास किया है। क्योंकि उन्होंने अनुभव किया है कि यह है अवश्य। जो वस्तु है उसे समझने-समझाने का कुछ उपाय भी होना चाहिए। कठिनाई यह है कि समझने-समझाने का साधन मनुष्य की बुद्धि है और उसकी पहुँच थोड़ी दूर तक ही है; वह भी एक सीमा है; वह असीम का आभास दे सकती है, पर असीम कभी पूरे का पूरा उसमें अटता नहीं : 'आध सेर के पात्र मे कैसे सेर समाय?' लेकिन यही क्या कम है कि मनुष्य सारी सीमाओ के बावजूद यह अनुभव करता है कि इस सीमा से परे भी कुछ है ? कैसे यह सभव हुआ ? सीमा में रहकर असीम की अनुभूति ! स्पष्ट ही उसके भीतर कहीं कोई ऐसा तत्त्व है जो सीमा में बँधा रहकर सतुष्ट नही है। अन्तरतर से व्याकुल पुकार उठ रही है ·· कुछ और है, इन सबसे परे, इन सबसे विलक्षण, इन सब को अध्युषित करके भी इनसे भिन्न ! यह असीमानुभूति स्वय असीम है। संसार के मनीषियों ने नानाभाव से इस तत्त्व को अनुभव किया है। हमारे देश के तत्त्वद्रष्टाओं की दृष्टि में यह सारा व्यक्त जगत् असीम क्रीड़ा-भूमि है, शिव और शक्ति का लीला-निकेतन है और अगुण और सगुण का मिलन-क्षेत्र है। एक तत्त्व है जो अनन्त की ओर गतिशील है। दूसरा तत्त्व है जो उसे सीमा की ओर खींच रहा है। इसीलिए यह सारी सृष्टि रूपायित हो रही है। रूप क्या है ? अरूप गतिमय असीम को सीमा में उपलब्ध करने का परिणाम। गति असीम है। तालों में बँधने पर वह सीमित हो जाती है और एकरूप ग्रहण करती है। ससीम और असीम के इस द्वन्द्व को ही हम नृत्य के रूप में उपलब्ध करते है। स्वर अनन्त है, छन्द उसको सीमा में बाँधने का प्रयत्न है। छन्द, लय, ताल इत्यादि के बधनो में बँधा हुआ स्वर ही काव्य और गान के रूप में उपलब्ध होता है। इसी प्रकार शब्द असीम है, अपार है; अर्थ के द्वारा उसे हम भाषा मे बाँधने का प्रयत्न करते हैं। जहाँ भो देखो, इस सीमा और असीम की केलि-कला दिखाई दे रही है। मध्ययुग के सतो और भक्तो ने नानाभाव से इस तत्त्व को हृदयंगम किया है। किसी ने शिव-शक्ति के रूप में, किसी ने प्राण-अपान के रूप मे और किसी ने चित्-अचित् के रूप में इस द्वन्द्व को प्रकट करने का प्रयत्न किया है। जीव सीमा में बँधा हुआ है। वह प्रत्येक वस्तु को नाम और रूप की सीमा मे बाँध कर देखना चाहता है। यही उसके लिए सहज है, और अरूप तत्त्व को या अध्यात्म-तत्त्व को इसी सहज भाषा में कहने का प्रयत्न किया गया है।

साधारण बुद्धि के लिए एक पहेली यह है कि असीम तत्त्व के अनुभव को ससीम बुद्धि-व्यापार का विषय कैसे बनाया जा सकता है ? यह क्या कभी सभव है कि जिसे कोई अरूप और अनाम तत्त्व मानता है, उसे नाम और रूप के माध्यमों को छोड़कर अन्य किसी माध्यम से ग्रहण कर सके ? सामान्य अनुभव यह है कि अरूप तत्त्व मनुष्य को किसी-किसी दिन दिख अवश्य जाता है। माता प्यार से जब अपने पुत्र को चूमती है तो विशुद्ध आनन्द की एक झलक मिल जाती है। प्रिया के नयनो मे जब प्रिय को निश्शेष भाव से आत्मसमर्पण करने की लालसा दिख जाती है तो इस रूप को आश्रय करके अगाध और अपार प्रेम-समुद्र की एक झाँकी मिल जाती है। विपत्ति में फँसे हुए असहाय प्राणी की सहायता के लिए जब कोई अपने को धधकती हुई अग्नि में, विस्फूर्जित तरग वारि-धारा में या ऐसे ही किसी संकटापन्न स्थान में

अनायास फेंक देने के उल्लास से चंचल हो उठता है तो भगवान् के निर्मल प्रेम-रूप का परिचय प्राप्त हो जाता है। प्रेम और स्नेह में, दया, माया और त्याग-तप में उस दिव्य ज्योति का साक्षात्कार हमें नित्य मिलता है। परन्तु रूप को आश्रय करके यह जो अरूप का प्रत्यक्षीकरण है, बड़ा ही क्षणिक होता है। हर उड़ान को धरती नीचे खींच लेती है, हर गति को सीमा अपने में समेट लेती है। कहीं-न-कहीं अरूप-अनन्त तत्त्व को पहचानने की शक्ति मनुष्य के अन्तरतर में काम अवश्य कर रही है। मनुष्य उसे पाता है, पर यह पाना क्षणिक ही होता है। जान पड़ता है, कही कोई बड़ी बाधा है जो उस गृहीत तत्त्व को सदा-सर्वदा के लिए अगीकार करने में बाधा खड़ी कर देती है। कौन है यह अनन्त और असीम को पहचानने वाली शक्ति, और कैसी है वह बाधा, जो अंगीकार करने में प्रत्यवाय उपस्थित करती है ? सतों ने अनुभव से यह जाना है कि जो पहचानता है वह भी अनन्त और असीम है। वही मनुष्य की अन्तरात्मा है। जो बाधक है, वह जड़ है सीमा है, माया है।

सम्पूर्ण रूपों को परिपूर्ण कर वह असीम-अनन्त तत्त्व वर्तमान है और फिर भी सबसे ऊपर है। वेदो की भाषा में कहे तो वह सब को व्याप्त करके भी सबसे दश अंगुल ऊपर रहता हैं ···"स भूमिं विश्वतो कृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम् —सबको व्याप्त करके सबसे ऊपर ! यह कहने की एक पद्धति मात्र है। इसका भाव वही है जो कबीर ने कहना चाहा था। यह रूप के छोटे से भ्रश में झलक जाने वाली अनन्त सत्ता को अभिव्यक्त करने की एक शैली है। इस बात को केवल अनुभव करने वाला ही ठीक-ठीक जान पाता है। परन्तु बाकी लोग एकदम वंचित भी नही हैं।

अभागे से अभागे मनुष्य के जीवन में कोई न कोई क्षण ऐसा आता है, जिसमें वह उस दिव्य ज्योति की झलक पा जाता है; प्रेम-स्निग्ध आचरण में उस महिमा की झलक मिल जाती है; कृतज्ञता के आँसुओं में वह अपार पारावार उमड आता है और प्रफुल्ल प्राणों में आनन्द का वह महासमुद्र हिलोरें लेते हुए देख लिया जा सकता है; परन्तु मनुष्य उसे हमेशा के लिए बांध नही पाता। कबीरदास ने बड़े दुःख से कहा, "हाय, हाय—सीमा से अभिलक्षित प्रिया जिस प्रेमिका के लिए नित्य व्याकुल होकर खोजती फिरती थी, वही सौन्दर्य और प्रेम का आश्रय-स्थल आनन्द मनोहर प्रिय उसे दिख गया। हाय री अभागिन, तू उसके चरणों में कैसे लिपट जायगी ? तेरे कपड़े तो गदे हैं और उस प्रिय का रूप निर्मल और पवित्र है। एक क्षण की हिचक और अनन्त काल का वियोग

जा कारण मैं ढूँढ़ता, सनमुख मिलिया आइ।
धन मैली पिव ऊजला, लागि न सकिहौं पाइ ॥

यह जो ऊपरी आवरण की गंदगी है, भीतर चित्त में जमी हुई मैल की किट्ट है, उसे अभ्यास के द्वारा साफ किया जाता है, क्योंकि जिस समय वह दिखाई दे जाय और उसके चरणों की पगध्वनि सुनाई दे जाय उस समय हिचक न हो। हिचक मानसिक और शारीरिक गंदगी के कारण होती है। उसी को दूर करने के लिए नाना भाव की साधनाओं का अभ्यास किया जाता है। साधना का मतलब यह नहीं है कि जो परम प्रेयान् तत्त्व है, उसे

कहीं बाहर से ढूंढ़ लाया जाय। परम प्रेयान् तत्त्व तो भीतर भी है और बाहर भी। बाहर कल्पना करो तो वह निरन्तर भीतर आने का प्रयास करता दिखेगा और भीतर कल्पना करो तो वह निरन्तर बाहर प्रकाशित होता दिखाई देगा। भक्त अनुभव करता है कि कहीं न कहीं से प्रेम की पुकार उठ रही है। वैज्ञानिक या तार्किक उस बात को नहीं समझ पाता। समझा भी नहीं पाता। उसके लिए यह रहस्य है। रहस्य, बुद्धि द्वारा पकड़ में न आने वाली बात को कहते हैं। पर भक्त को इसके लिए किसी तर्क या प्रमाण की आवश्यकता नहीं। योगी भी नहीं बताता कि अन्तरतर से जो छन्द के प्रति, राग के प्रति, रंग के प्रति इतना व्याकुल कंपन उठा करता है वह पराशक्ति की किस विलास-लीला की अभिव्यक्ति है। ऐसा जान पड़ता है कि उससे भी गहराई में कहीं कुछ छूट गया है। हठयोग और नादयोग उसे नही बता पाते, विज्ञान और तर्कशास्त्र भी हारकर रह जाते हैं। लेकिन कहीं न कहीं अनुराग योग का भी व्याकुल कंपन और आत्मनिवेदन मानव-हृदय के अन्तरतर में विलम्बित अवश्य हो रहा है। भक्त चाहे निर्गुण भाव का साधक हो, चाहे सगुण भाव का, भगवान् के परम प्रेमी रूप पर अवश्य बल देता है। भगवान् का अनुभवगम्य प्रेममय रूप ही रहस्यवाद का केन्द्रबिन्दु है। वह अपने अस्तित्व के लिए किसी प्रमाण की अपेक्षा नही रखता। पाण्डेजी का निष्कर्ष उचित ही है कि, हिन्दी साहित्य के निर्गुण सत कवियो अथवा सगुण भक्त कवियो की भावाभिव्यक्तियो पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि भगवान् भक्तों पर स्नेह रखने वाले, उनको कष्टों से छुड़ाने वाले तथा हर प्रकार से उनके परम हितैषी हैं। इसके अतिरिक्त निर्गुणमार्गी एवं सगुणमार्गी कवियों मे परमात्मा-विषयक जो तत्त्व समान रूप से पाया जाता है वह है परमात्मा की अनुभवगम्यता और अनिर्वचनीयता। परम सत्य के स्वरूप के क्षेत्र में वह किसी का भी विषय हो सकता है, और यदि अवश्य ही है तो वह है प्रत्यक्ष अनुभव का और यह वही प्रत्यक्ष अनुभव अथवा साक्षात्कार है जो कि रहस्यवाद का प्रधान एव मूल तत्त्व है (पृ०२२०)।"

भगवान् केवल सत्तामय या केवल चिन्मय नही है; चिन्मय रूप उसका एक अंग है। इसी चिन्मय रूप को ब्रह्म कहते है। इसके अतिरिक्त भगवान् का एक और रूप है जो कि उसका ऐश्वर्यमय रूप है। इस ऐश्वर्यमय रूप को तत्ववेत्ता लोग 'परमात्मा' कहते है। परन्तु भगवान् का जो पूर्ण रूप है वह प्रेममय है। सगुणमार्गी भक्तों द्वारा बहुमानित 'अवतार' का सिद्धात भी असीम को सीमा में उपलब्ध करने का एक सुलभ मार्ग ही है। निर्गुणमार्गी सतो के साहित्य मे भी अनेक रूप में भगवत्प्रेम की लीला व्यक्त हुई ही है।

भक्ति-काव्य इसी को उपलब्ध करने का साधन है। इस मूल तत्त्व को प्रत्यक्ष कर लेने के बाद द्वन्द्व का अवसान हो जाता है। नैतिक मूल्य और सौन्दर्यात्मक मूल्यों के विरोध का कृत्रिम और असत् पर्दा हट जाता है। जो इसे पाता है, वह चरित्र का भी धनी हो जाता है और तत्त्वज्ञान का भी।

पाण्डेजी ने अपनी पुस्तक मे बड़ी योग्यता के साथ इस तत्त्व को उपलब्ध करने के प्रयासों का विश्लेषण और विवेचन किया है। मुझे उनका प्रयत्न बहुत ही उत्तम लगा है। मेरा निश्चित विश्वास है कि यह पुस्तक इस तत्त्व को समझने में बहुत सहायक सिद्ध होगी।

चंडीगढ़ —हजारीप्रसाद द्विवेदी
२६. ३. ६६

निवेदन

आज यह प्रबन्ध पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए हर्ष और विषाद की एक साथ ही अनुभूति हो रही है। हर्ष की अनुभूति का कारण है कि यह अकिंचन इस पुस्तक को प्रकाश में लाकर श्रद्धेय गुरुदेव रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे साहब की आज्ञा का पालन करने में समर्थ हो रहा है। विषाद की भावनाएँ उभर उठती हैं कि अपनी इच्छा को इस शोध-प्रबन्ध के रूप में साकार देखने के लिए गुरुदेव इस संसार में नहीं हैं। आज यदि वे होते तो उनके पार्थिव चरणों में इस बाल-प्रयास को अर्पित करके लेखक अपने को कृत-कृत्य मानता।

प्रस्तुत विषय पर लिखने की प्रेरणा लेखक को गुरुवर रानाडे से प्राप्त हुई थी। उन्होंने अत्यन्त स्नेह व कृपापूर्वक लेखक को इस विषय पर अनुसंधान करने का आदेश दिया था। इस विषय पर उनकी दो इच्छाएँ थीं: प्रथम, इस प्रबंध की रचना हिन्दी भाषा में हो, और द्वितीय, इसमें संत तथा भक्त कवियों का विवेचन एक साथ सम्पन्न हो। प्रोफेसर साहब को संत तथा भक्त कवियों में प्रभेद मान्य नहीं था। यहाँ इसी दृष्टिकोण को अपनाने का प्रयत्न किया गया है।

अस्तु; लेखक ने हिन्दी के मध्यकालीन संत तथा भक्त कवियों की एक साथ एक पूर्ण इकाई के रूप में विवेचना की है। निर्गुण धारा के प्रेममार्गी मुसलमान कवि विवेचित विषय के अन्तर्गत नहीं लिये गए हैं।

संत तथा भक्त कवियों के उद्गारों को किसी दर्शन-विशेष के साथ जोड़ने के प्रयत्न से लेखक सर्वथा दूर रहा है। इन कवियों ने सिद्धान्त-रूप में स्वयं भी न कोई दर्शन प्रतिपादित किया है और न उनके दर्शन को किसी नाम-विशेष की सीमा में बाँधा ही जा सकता है। यदि कोई नाम दिया जा सकता है तो वह है रहस्य-दर्शन।

इस समस्त प्रयत्न में यदि कहीं कुछ सार या तत्त्व है तो उसका समस्त श्रेय गुरुदेव को ही है। असार के लिए लेखक उदार पाठकों से केवल क्षमाप्रार्थी है।

रहस्यवादियों की रचनाओं का साहित्यिक मूल्यांकन साहित्य के विद्वानों ने अनेक प्रकार से किया है। इन विद्वानों में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० रामकुमार वर्मा, पं० परशुराम चतुर्वेदी, डा० ब्रजमोहन गुप्त, पं० दुर्गाशंकर मिश्र, पं० मुंशीराम शर्मा, श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव प्रभृति विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं। यहाँ एक बात ध्यान देने की अवश्य है कि इन विद्वानों की विवेचना का लक्ष्य तथा स्तर साहित्यिक रहा है। साहित्यिक दृष्टिकोण होने के कारण रहस्यवादियों की रहस्यमयता उनके धार्मिक दृष्टिकोण तथा आध्यात्मिक चिन्तन पर अपेक्षतः अल्प प्रकाश डाला गया है। दार्शनिक दृष्टिकोण से हिन्दी रहस्यवादी कवियों की विवेचना के अभाव की पूर्ति करने के उद्देश्य से इस प्रबन्ध का प्रणयन हुआ है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में गोरखनाथ, मछीन्द्रनाथ, नामदेव, रैदास, कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, दयाबाई, सहजोबाई, धरमदास, मलूकदास, सुन्दरदास, नानक, दरिया साहब, यारी, जगजीवन, दादू, बुल्ला साहब, पलटू साहब, गुलाल, दूलनदास, गरीबदास, चरनदास आदि कवियों की रहस्यवादी विचारधारा अध्ययन का विषय बनी है।

रहस्यवाद का लक्ष्य आत्म-साक्षात्कार है जो कि उसे अतीन्द्रिय पराबौद्धिक माध्यम से प्राप्त होता है। वैदिक काल से लेकर आजतक स्वरूप-दर्शन का ही प्रयत्न होता रहा है। उपनिषदों में 'अहमन्नं अहमन्नं' 'नेति नेति अनिर्वचनीय' आदि शब्दों द्वारा आत्मा और परमात्मा की रहस्यमयता का वर्णन हुआ है। गीता में भक्त के द्वारा दिव्य दृष्टि से समस्त भौतिक, मानसिक तथा आत्मिक तत्वों का विराट् रूप में दर्शन होता है। परमात्मा की समस्त सृष्टि व कार्यों के संचालन करने की अनुभूति उसको रहस्यमयता का अवबोधन कराती है। शांडिल्य एवं नारद-भक्तिसूत्र परमात्मा में परानुरक्ति तथा प्रेमाभक्ति को आत्मसिद्धि के रूप में प्रतिपादित करते हुए उस चरम सिद्धि के स्वरूप को 'मूकास्वादनवत्' अनिर्वचनीय मानते हैं —जिसे पाकर मनुष्य स्तब्ध हो जाता है, परम आनन्दित हो जाता है।

दर्शनों में रहस्यवाद मुख्यतया योग की साधना एवं समाधि की शृंखला में एक कड़ी बनता है। रहस्यात्मक सिद्धि, जो कि किसी इंद्रिय अथवा बुद्धि के माध्यम से सम्पन्न नहीं होती, ईश्वर-कृपा से मनुष्य में उदय होती है। इस प्रकार योग के द्वारा प्रपत्ति के लिए एक ओर मार्ग प्रशस्त हो जाता है दूसरी ओर प्रयत्न की आवश्यकता अथवा प्रयत्न की स्वतन्त्रता एवं शक्ति का समर्थन किया गया है। रहस्यवाद की अजस्र धारा चिरकाल से बहती चली आ रही है और हम देखते हैं कि वेदों की रहस्यात्मक अभिव्यक्तियों का पर्यवसान मध्यकालीन भक्त व संत कवियों की वाणी में होता है।

ईश्वर, जोकि समस्त आस्तिक दर्शनों के मूल में सदैव से ही विद्यमान रहा है, वही संतों के दृष्टिकोण का केन्द्र-बिन्दु बना। ब्रह्म के साथ ही माया पर भी संतों की व्यापक दृष्टि गई। मानव को परमात्मा की ओर प्रवृत्त कराने में रोग, जरा, मृत्यु की असीम व्यथा एवं पीड़ा ही प्रमुख कारण माने गये हैं। भगवान में प्रवृत्ति सत्संग द्वारा तीव्रतर होकर गुरु के द्वारा सत्यमार्ग में लगकर क्रमशः साधना तथा सिद्धि की अवस्था तक पहुँचती है। गुरु रहस्यवादी उपलब्धि के लिए परम आवश्यक है। रहस्यवाद कोई वैज्ञानिक अध्ययन मात्र नहीं है। रहस्यवादी होने के लि पग-पग पर सिद्ध गुरु से मार्ग-ज्ञान करना पड़ता है। गुरु की इसी महत्ता के कारण संतों ने गुरु को ब्रह्म, खेवट, सूरमा, सर्वज्ञ आदि विशेषणों से विभूषित किया है।

गुरु के अनन्तर रहस्यवादी साधना में नाम-जप का बहुत अधिक महत्त्व है। जप-योग अथवा स्मरण का महत्व भक्ति में तो है ही। गोरखनाथ-प्रवर्तित षडंग योग तथा सिद्ध योग में भी यह स्वीकारा गया है। इस प्रकार नाम-स्वरूप, नाम-स्मरण के प्रकार, नाम-स्मरण की उपयोगिता का भी संत-वाणी के प्रकाश में अध्ययन किया गया है। नाम का वास्तविक कार्य मुक्ति की प्राप्ति कराना है। यदि गुरु मुक्ति अथवा साक्षात्कार का निमित्त कारण है तो नाम उपादान कारण।

मुक्ति के ही अन्य साधन भक्ति, ज्ञान तथा योग का अध्ययन भी इसी क्रम में अपेक्षित है। ज्ञान, योग तथा भक्ति से मुक्ति हो सकती है।

योग की सिद्धि ही समाधि, साक्षात्कार अथवा मोक्ष है। ज्ञान के लौकिक तथा आत्यन्तिक दो भेद हैं। परन्तु ज्ञान की अन्तिम अवस्था मोक्ष के अतिरिक्त कुछ नहीं है। ज्ञान और मोक्ष पर्यायवाची अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। यों तो भक्ति ही नौ अथवा ग्यारह प्रकार की होती है परन्तु गौणी और मुख्य अथवा साधन-रूपा और प्रेमा दो भेद अवश्य ही विशेष रूप से परिलक्षित किये गये हैं।

प्रोफेसर रानाडे के मतानुसार अन्तर्ज्ञान के द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार ही रहस्यवाद है। यहाँ पर प्रयुक्त—'अन्तर्ज्ञान, परमात्मा का साक्षात्कार तथा रहस्यवाद' तीनों ही शब्द ध्यान देने योग्य हैं। रहस्यवाद में साक्षात्कार अपेक्षित है। किसी वस्तु का ज्ञान तर्क अथवा प्रत्यक्ष के अन्य साधनों स्पर्श, घ्राण, दर्शन आदि से भी सम्पन्न हो सकता है, परन्तु बौद्धिक ज्ञान चाहे वह ईश्वर-विषयक ही हो, उसे रहस्यवादी बनाने में समर्थ नहीं है। रहस्यवाद में उसे अन्तर्ज्ञान के द्वारा होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त अन्तर्ज्ञान द्वारा साक्षात्कार परमात्म-विषयक ही होना चाहिए। यों तो किसी भी ज्ञान, विज्ञान, कला या साहित्य के कार्य के लिए किसी न किसी मात्रा में अन्तर्ज्ञान अपेक्षित हो है। न्यूटन को गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत का अनुभव टपकते हुए सेव को देखकर केवल साधारण ज्ञान के उपकरण द्वारा नहीं हुआ था। उस सिद्धांत का दर्शन उन्हें अन्तर्ज्ञान के द्वारा ही हुआ परन्तु वह ज्ञान रहस्यवादी का ज्ञान नहीं कहा जा सकता। आइंस्टाइन को सापेक्षवाद के सिद्धांत का अनुभव भी अन्तर्ज्ञान द्वारा ही हुआ था। महात्मा गांधी द्वारा सत्य-अहिंसा के सिद्धांत को राजनीति में प्रयुक्त कराने का श्रेय भी अन्तर्ज्ञान को ही है। कालिदास के काव्य की रचना बिना अन्तर्ज्ञान के सम्भव न हो सकती और न अजन्ता के कलाकारों की मूर्तियाँ बिना अन्तःचेतना की प्रेरणा से निर्मित हुई होतीं। बैजू बावरे और तानसेन की वाणी भी अन्तःप्रेरणा के बिना शाश्वत संगीत में मुखरित न हुई होती। परन्तु ये समस्त उपलब्धियाँ एवं कृतियाँ रहस्यवाद की कोटि में नहीं आतीं।

रहस्यवाद के लिए अन्तर्ज्ञान के द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार आवश्यक है इसी कारण धर्म रहस्यवाद के अधिक समीप है, दर्शन (फिलासफी) कम। धर्म परमात्मा-विषयक है परन्तु वह अन्तर्ज्ञान को साक्षात्कार के लिए अनिवार्य नहीं मानता। धर्म के लिए परमात्मा-विषयक तर्कपूर्ण दार्शनिक विचार भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना अन्तर्ज्ञान द्वारा साक्षात्कार। धर्म का एक दूसरा उद्देश्य मोक्ष या स्वर्ग भी माना जाता है। परन्तु रहस्यवाद में स्वयं परमात्मा ही आदि है और परमात्मा ही अन्त। उसमें दिव्य योनि, सुख-योग, स्वर्ग आदि साध्य नहीं हो सकते। साध्य तो केवल परमात्मा का साक्षात्कार तथा उसका शांत-निश्चल आस्वादन है। यदि धर्म में भक्ति-पक्ष पर विचार करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि धर्म का साध्य तथा विषय रहस्यवाद के बिल्कुल निकट है। तथा परमात्मा का ही ज्ञान परमात्मा की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। वह ज्ञान कोरा शाब्दिक ज्ञान नहीं होता

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि सच्चा भक्त रहस्यवादी ही हो सकता है। यों तो भक्ति बिना रहस्यवाद के भी कुछ अंशों में सम्भव है। इस प्रकार भक्ति-साहित्य को हम रहस्यवादी साहित्य के अन्तर्गत ले सकते हैं जहाँ वह हमें रहस्यवाद का अर्थ सिद्ध करता दिखायी दे।

यहाँ हम यह उल्लेख कर देना चाहेंगे कि हिन्दी के गण्यमान्य विद्वानों का मत प्रत्येक रहस्यवादी को भक्त मानने का नहीं रहा है। तथा कतिपय ने केवल निर्गुण भक्तों को ही रहस्यवादी माना है। प्रोफेसर रानाडे के अनुसार, रहस्यवादी भक्त तो होगा ही रहस्यवाद की फलमयता ही भक्ति में है। गुरुदेव के मत से भक्त भी रहस्यवादी हो सकते हैं। 'सीय राम मय सब जग जानो' की घोषणा करने वाले भक्त तुलसी को रहस्यवादी न मानना रहस्यवाद के व्यापक क्षेत्र को संकुचित कर देना है।

किसी भी विषय का अध्ययन उसके ऐतिहासिक विकास-क्रम के रूप में किया जा सकता है और उसी विषय का अध्ययन उसके भावनात्मक विकास-क्रम से हो सकता है। प्रस्तुत प्रबन्ध में रहस्यवाद का अध्ययन ऐतिहासिक क्रम में न करके उसके सोपान-विकास के रूप में किया गया है। ऐतिहासिकता केवल प्राचीन परम्परा-परिच्छेद के अध्ययन में दिखाई पड़ती है; परन्तु वहाँ भी प्रत्येक आवान्तर प्रकरण में, रहस्यवादी किस प्रकार एक भावभूमि से दूसरी को प्रस्थान करता है और पहुँचता है, पर अधिक ध्यान दिया गया है। वेदों में उद्गार उपनिषदों के मंत्र तथा गीता के श्लोकों में किस प्रकार मनुष्य एक तर्कबुद्धि-युक्त द्विपद प्राणि मात्र से 'अहम् ब्रह्मास्मि 'तथा' सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की अनुभूति करने वाला रहस्यवादी बन जाता है। इस प्रगति का कोई एक ही क्रम या निश्चित सिद्धान्त नहीं दिखाई पड़ता, फिर भी साधारणतया सभी के लिए कुछ आवश्यक उपकरणों के द्वारा ही उस स्थिति तक पहुँचना मान्य है। उन्हीं का अध्ययन इस प्रबन्ध में किया गया है। कुछ को सिद्धि इस सोपान के प्रत्येक ओटे में चढ़े बिना भी सम्भव हो सकती है; कुछ भाग्यशाली ऊँची कूद लगाकर भी शिखर पर पहुँच सकते हैं; पर यहाँ अध्ययन उस राजमार्ग का ही किया गया है जिस पर चल कर ही अनेकानेक मनुष्यों ने संत-भक्त बन कर सिद्धि प्राप्त की है और आत्म-साक्षात्कार में सफल हुए हैं।

सत्संग, गुरु, नाम-स्मरण, भक्ति, योग ज्ञान, किस क्रम में किस साधक को आत्म-साक्षात्कार की स्थिति तक पहुँचाते हैं, निश्चित नहीं किया जा सकता। फिर भी इनमें से अधिकांश की आवश्यकता तथा अनुभव प्रत्येक साधक को होता ही है। सभी संत भक्त कवियों की वाणियों से प्रत्येक विषय पर उद्गार, यहाँ पर विवेचित नहीं हुए हैं। किसी का किसी विषय पर उद्गार तथा दूसरे का दूसरे विषय पर संकलित किया गया है। इस चयन में भी कितनी सफलता केवल उत्तम चुनने में मिली है, विद्वान् पाठक ही जान सकते हैं। संत-वचनामृत रूपी अथाह समुद्र में जहाँ रत्न ही भरे हों, जो भी गोता खोर के हाथ लग जाय वह तो रत्न ही होगा, यही संबल इस लेखक को भी है। संतोष केवल यह है कि 'महिमंह रघुपति नाम उदारा। उल्टे-सीधे आगे-पीछे सभी वर्ण्य विषय ईश्वर-विषयक हैं और इसीलिए कल्याणकारी हैं।

लेखक प्रोफेसर आर०एन०कौल, इलाहाबाद विश्वविद्यालय का अत्यन्त कृतज्ञ है जिनके निरीक्षण में यह शोध प्रबंध प्रस्तुत हो सका तथा जो निरन्तर प्रेरणा के स्रोत बने रहे हैं। श्री शिवशंकर राय, दर्शन विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, लेखक के गुरुभाई हैं जो अपने सहज स्नेह से उत्साहित करते रहे हैं, धन्यवाद के पात्र हैं। अपने सहपाठी तथा अभिन्न मित्र प्रोफेसर रामचरण मेहरोत्रा डीन विज्ञान विभाग तथा अध्यक्ष रसायन विभाग जयपुर विश्वविद्यालय का लेखक चिर आभारी है। अति व्यस्त राजनैतिक जीवन के कारण दस वर्ष की लम्बी सुषुप्ति के बाद फिर से कार्य आरम्भ तथा पूर्ण कराने का समस्त श्रेय मेहरोत्रा को ही है। डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित के प्रति लेखक आभार प्रकट करता है। पुस्तकें उपलब्ध कराकर उन्होंने जो सहायता की है साथ ही कार्य के पूर्ण होने की आशा को अक्षुण्ण बनाये रखकर प्रोत्साहित किया है वह कभी भुलाया नहीं जा सकता है। विद्वद्वर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस पुस्तक की भूमिका प्रस्तुत करने में अपना बहुमूल्य समय देकर लेखक को चिर कृतज्ञ बना दिया है।

अंत में लेखक अपने छोटे भाई डा० देवीशंकर अवस्थी के प्रति स्नेह भीनी अश्रु-अन्जलि समर्पित करता है। उन्होंने इस प्रबंध के प्रकाशनार्थ बहुत दौड़ धूप की परन्तु दुर्भाग्य कि वे इसे पुस्तकाकार न देख सके। दैव ने पिछली १३ जनवरी को असमय में ही उन्हें हमसे छीन लिया।

लेखक उन सभी लेखकों एवं ग्रन्थकारों का अनुगृहीत है जिन्होंने प्रत्यक्ष किसी भी रूप से लेखक के विचारों विषयवस्तु अथवा भाषा को प्रभावित किया है।

अति अपार जे सरितवर जो नृप सेतु कराहिं।
चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु बिनु श्रम पारहि जाहिं॥

आषाढ़ी पूर्णिमा
संवत् २०२३

कृपाकांक्षी
रामनारायण पाण्डे

प्रमाणसिद्धान्त विरुद्धमत्र यत्किंचिदुक्तम् मतिमान्द्यदोषात् ।
मात्सर्यमुत्सार्य तदार्यचित्ताः प्रसादमाध्याय विशोधयन्तु ।।

जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार ।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार ।।

—गोस्वामी तुलसीदास

विषय-सूची

प्रथम परिच्छेद

द्वितीय परिच्छेद

बाह्य अभेद—तत्त्वज्ञ अथवा सर्वात्मदर्शी तत्त्वज्ञ की निर्लिप्तता—आत्मा का स्वरूप-वर्णन, सर्वात्म-दर्शन—भूमा—सर्वंखल्विदं ब्रह्म—अत्तिष्ठिति दशां गुलम् शब्द-ब्रह्म ओंकार ज्ञान व अज्ञान दोनों से परे—साक्षात्कार की स्थितियों का क्रमिक विकास—परमात्मा की कृपा से तल्लय ।

गीता

विषय-परिस्थिति में हतबुद्धि शिष्य एवं साधक (अर्जुन) का आध्यात्मिक गुरु की शरण में जाना—पूर्ण आत्मसमर्पण—साक्षात्कार के लिए आकांक्षा—गुरु कृष्ण के द्वारा शिष्य की दिव्यदृष्टि-सम्पन्नता—विश्वरूप का दर्शन—विराट् स्वरूप की करालता—संहारक—रूप—द्रष्टा का सम्मिलित्व—रहस्यमय के प्रति भय-मिश्रित आश्चर्य की भावना—जीव का अकर्तृत्व—स्वरूप-दर्शन केवल ईश्वर-कृपा से संभव—निःसंग निर्वैर—ईश्वरपरायण भक्त समर्थ—अभ्यास, ज्ञान, योग, श्रद्धा, निष्काम कर्म करनेवाला साक्षात्कार करने में समर्थ ।

भागवत

रहस्यवादियों एवं उनके भावोद्गारों का भंडार रहस्यवादी चिन्तन के विकास की प्रतिनिधि-स्वरूप ध्रुव प्रहलाद, उद्धव, कुब्जा, गजराज (पशु-जगत् से) सुदामा, अजामिल, ऋषभदेव, दत्तात्रेय, शुकदेव, रहस्यवादी जिन्होंने भगवान् का साक्षात्कार किया—श्रीकृष्ण सर्वश्रेष्ठ रहस्यवादी, कृष्ण-गोपी-प्रेम परम रहस्यवादी, मिथ्यारोप निरर्थक साक्षात्कार-जन्य प्रेम—कविप्रौढ़ोक्तियाँ तर्क का विषय नहीं—भागवत के पात्रों तथा आख्यानों का हिन्दी संत-कवियों द्वारा प्रौढ़ोक्तियों की भाँति प्रयोग ऐतिहासिक सत्यता का ध्यान नहीं—सत्यता सर्वग्राह्य—संस्कृत तथा हिन्दी-साहित्य पर सर्वाधिक प्रभाव ।

भक्तिसूत्र

भक्ति-तत्त्व का सूत्र-रूप में प्रतिपादन—परवर्ती भक्ति-साहित्य को जोड़ने वाली कड़ी—शांडिल्य-भक्ति-सूत्र पूर्ववर्ती अधिक दार्शनिक—नारद-भक्ति-सूत्र परवर्ती सरल अभिव्यंजना—प्रखर भक्ति—अधिक महत्त्वपूर्ण ।

नारद-भक्तिसूत्र

भक्ति के लक्षणों के विषय में आचार्यों के मत—महर्षि नारद का मत—प्रेमा भक्ति ही मुख्य—भक्ति-प्राप्ति के बाद की स्थिति—मत्त, स्तब्ध, आत्माराम—भक्ति के साधन—विषय-त्याग, भगवद्गुण-श्रवण-कीर्तन, सत्संग, भगवत्कृपा—भगवत्प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय गूँगे की स्वाद की भाँति—प्रेम-विभोरता भक्त के लक्षण—विषयों का त्याग, सदाचारों का पालन, पूर्ण आत्मसमर्पण—तन्मयता—रहस्यवाद की मूल भित्ति ।

तृतीय परिच्छेद

चतुर्थ परिच्छेद

वादिता—व्यक्ति की योग्यता, पात्र-कोटि-भेद—परिस्थितियाँ—निमित्त कारण, उपादान कारण—यौवन से जरा—जरा की व्याधियाँ, असमर्थताएँ—इन्द्रियों की शिथिलता, शरीर—मल-मूत्र का भंडार मात्र—कीटों का भोज्य अथवा भस्म होना शरीर की क्षणभंगुरता व निःसारता—मृत्यु के पश्चात् घर से निष्कासन — आत्मयी-जनों की आसक्ति—स्वार्थ-मात्र, नदी-नाव-संयोग की भाँति—धन-सम्पत्ति आदि भौतिक विषयों व साधनों की क्षणभंगुरता तथा व्यर्थता—संसार, मिथ्या आकर्षण का केन्द्र—गर्भवास की कष्ट-कल्पना—विभिन्न योनियों में पुनर्जन्म-भ्रमण—शरीर से ही भजन संभव—स्वर्ग-नरक मुक्ति-सोपान—समय का भगवान् में सदुपयोग।

सत्संग

संत शब्द की व्युत्पत्ति तथा अर्थ—विद्वानों के मत—संतों के लक्षण—हरिचर्चा या एकान्त—निष्कपट बाहर भीतर एक-निःशक—वैराग्य, षट्विकार-जित्—नम्रता, दीनता—निरहंकार सुखी—शूरवीर—निर्लिप्त—मलयवत्, दर्पणवत्, कथा-सुधा निकालने के लिए देवता—(निमित्त कारण) अधम-उधारन—परोपकारी—कपास की भाँति—भोजपत्र की भाँति—गुणग्राही—असन्तों के लक्षण व उनसे तुलना—पारस मणि—अनुभव वक्ता—सतो की रहनी—संतों की न्यूनता—सतों के कारण सृष्टि—संत व भगवान् का सम्बन्ध—सत्संगति का आनन्द—समस्त सुकृत केवल सत्संग की दलाली मात्र—सत्संग सर्वश्रेष्ठ लाभ—सत्संग समान कोई लाभ नहीं—क्लेश-शमनकर्ता—शरीर रहते चारों फल देने वाला—काग को कोयल, बक को हंस बनाने वाला—पूर्ववर्ती सतों की साक्षी—सत्संग के बिना हरिभक्ति असंभव, हरिकथा-श्रवण, हरिपद-अनुराग के बिना ईश्वर-प्राप्ति असंभव—हरिकृपा के बिना सत्संग असम्भव—पुण्य-पुंज बिना सत्संग असम्भव—मोक्ष का हेतु—लौह से सुवर्ण बनानेवाला—सत्सग ही सिद्धि—सत्सग के एक क्षण का सुख स्वर्ग तथा मोक्ष सुख से भी अधिक—संत-मिलन का सुख अनिर्वचनीय—संतों की मन.सक्रियता।

पंचम परिच्छेद

गुरु १२८-१७८

प्राचीन परम्परा—गुरु-शिष्य की मान्यताएँ—विद्या-दान की मर्यादा—शिष्य की योग्यता—कल्याण-मित्र, मार्ग-दर्शक—गुरु सर्वज्ञ—उपाय-कुशल—गुरु गोविन्द की तुलना—महिमा अनन्त—गुरु गोविन्द एक—इस विषम संसार में मार्गदर्शक—गुरु-मिलन-आनन्द अनिर्वचनीय—भृंगी की भाँति—गंगा की भाँति—अप्राप्तव्य का सुलभ कर्ता—मध्यस्थ—दूती—कुंभकार की भाँति शिष्य को स्वरूप देने वाला—झूठे गुरु-शिष्य का सम्बन्ध—सद्गुरु का लक्षण—गुरु-गुण अनन्त—सगुरा, निगुरा—सद्गुरु—कर्णधार—गुरु-पद-रज-माहात्म्य-वर्णन—गुरु बिन भवनिधि-तरण असम्भव—गुरु-प्राप्ति जीवन की एक विशेष घटना।

षष्ठ परिच्छेद

ईश्वर १७६-२२०

अज्ञात शक्ति की जिज्ञासा ईश्वर की धारणा के मूल में—ईश्वर को कर्ता मानने से लेकर निमित्तोपादान तक मानना वेदों में विहित—सब प्राणियों के हृदय में स्थित—सृष्टि के आदि में कार्य और कारण—स्थूल और सूक्ष्म से अतीत एक मात्र ईश्वर ही—प्रपंच भी ईश्वर-रूप—शिव जगत्-रक्षक तथा संसार की रचना करने वाले व सहारकर्ता भी—बिना इन्द्रियों के जानने वाले—अवेद्य—न्याय, सांख्य, योग, वैशेषिक, मीमांसा, रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ आदि का ईश्वर-विषयक मत—इनसे प्रभावित हिन्दी-सन्त—कवियों के उद्‌गार—एक, अनेक, व्यापक, पूरक, सर्वत्र, सदैव स्थित, सूत्रे मणिगणा इव,—प्रपंच ब्रह्म से भिन्न नहीं—घट-घट अन्तर केवल परमात्मा—अदृष्ट—क्षुधा, तृषा, गुण, विहिन, ज्ञान, ध्यान, वेद, भेद, स्थूल, शून्य, पाप, पुण्य, भेष, भीख, त्रैलोक्य, डिंभरूप—सब से भिन्न—अवतार—अजर, अमर, अनादि, अनन्त—मुसलमान का एक खुदा—पिण्ड ब्रह्माण्ड से भिन्न—अवर्ण, अरूप सर्वत्र (बाहर भीतर) बीज-रूप—सब श्वासों की श्वास में—किसी विशेष स्थान पूजा, ग्रह, तीर्थ आदि में नहीं—पुष्प में सुगन्ध की भाँति—सूत्रधार की भाँति—'त्रैलोक्य को नृत्य कराने वाला'—मुकुर में व्याप्त प्रतिबिम्ब की भाँति—सर्व-निवासी, सदा अलेप, विश्वरूप—भावनानुरूप—सच्चिदानन्दघन—अजन्मा—विज्ञान रूप—बलधाम—व्याप्य—अखण्ड—अमोघशक्ति—अगुन, अदभ्र, अजित निर्मम—निराकार, नित्य—निरजन—निरीह—विरज—अविनाशी—अद्‌वैत—अकल—अनीह—अनुपम—अनुभवगम्य—मनगोतीत—निर्विकार—निरवधि—तत्त्वमसि—सबका परम प्रकाशक—मायाधीश—ज्ञान-गुण-धाम जिसकी सत्यता से माया सत्य इव भासित—जगत-भ्रम-निवारक—कृपालु—अलौकिक कर्ता—द्रष्टा—भक्त-वश अवतारी—भक्त द्वारा कृपा से वेद्‌य—भाव-ग्राहक—अवर्णनीय—अनिर्वचनीय।

सप्तम परिच्छेद

नाम २२१-२५०

जपों के परम्परागत भेद—वाचिक, उपांशु, मानस—आस्तिक-नास्तिक सभी मे महत्त्व—पौराणिक व प्राचीन भक्तों में नाम का महत्त्व—सुरत शब्द योग-परलोक-गमन के अपरिचित मार्ग मे एकमात्र अवलम्ब—नाम से ही उद्धार सम्भव—जीवन-पर्यन्त ही स्मरण सम्भव—नाम-लुटेरे सन्त—नाम वणिक् कबीर, धरमदास, पलटू—नाम ही साधन व सिद्धि—सब व्यापारों से अधिक लाभप्रद—नाम-स्मरण (क्षत्रिय) युद्ध-कार्य—भोजन, कार्य, स्मरण—भेदाभेद के भ्रम से मुक्त कर्त्री—माया दीपक से बचाने वाला स्मरण का दिन ही गणना में—सभी धार्मिक कृत्यों से श्रेष्ठ—सभी धर्मों का सार—स्वयं अनाहत होने वाला—अन्तःस्मरण—

श्वासोच्छ्वास जप—नाम दीपक-ज्योति—ईश्वर का प्रतीक—नाम-अमल दिनोंदिन बढ़ने वाला—बिना खाये ही प्रभावित करने वाला—गूंगे के गुड़ की भाँति—अनिर्वचनीय—नाम-रूप में तुलसी द्वारा तुलना—नाम, नामी प्रभु, अनुगामी—निर्गुण तथा सगुण से श्रेष्ठ—सगुण राम से श्रेष्ठ—चतुर दुभाषिया—हठात् वश में करने वाला—ब्रह्म को हृदय में ही व्यक्त कराने वाला—नाम की अवतार-रूप से श्रेष्ठता—कलियुग में अकेला साधन—भक्ति-रूपी धान की खेती के लिए सावन-भादों मास—भाँग जैसे को तुलसी बनाने वाला—उलटा जप भी शुद्धकर्ता—शिव, शुक, सनकादि, प्रह्लाद, ध्रुव, हनुमान, अजामिल, गज, गणिका आदि की साक्ष्य—योगी, जिज्ञासु साधक, ज्ञानी सब की सिद्धि—कामबेगु, कामतरु, कामधेनु—राम न सकहि नाम गुण गाई—अनिर्वचनीय—राम के अक्षर सब वर्णों में श्रेष्ठ—छत्र मुकुट की भाँति—ब्रह्म, जीव—नर, नारायण—कमठ, शेष—किसी भी प्रकार का नाम जप श्रेष्ठ—भाव, कुभाव, अनख, आलस, उलटा, धोखे से केवल एक बार—सब सुकृतो से श्रेष्ठ—राम-नाम मे ही जगना व सोना—जीवन के समस्त कार्यों में नाम।

अष्टम परिच्छेद

नवम परिच्छेद

संकेत-तालिका

ऋग्वेद	ऋ० वे०, ऋ०
ईशावास्योपनिषद	ई०
कठोपनिषद	कठो०, क०
कबीर --डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी	ह० प्र० क०, क० ह० प्र०
कबीर ग्रथावली ना० प्र० स० सावर	क० ग्र०
केनोपनिषद	केनो०, केनोप०
छान्दोग्योपनिषद	छान्दो०, छा०
तुलसी-ग्रथावली	तु० ग्रं०
तुलसी रामायण-रामचरित मानस	तु० रा०
तैत्तिरीयोपनिषद्	तैत्तिरीयो०, तै० उ०
देवी भागवत	दे० भा०
नारद भक्ति सूत्र	ना० भ० सू०
नारद पुराण	ना० पु०
पद्म पुराण	पद्म० पु०
बृहदारण्यक उपनिषद	बृ०, बृहदा
ब्रह्म सूत्र	ब्र० सू०
भगवत्-गीता	गी०
भागवत	भा०
भोजवृत्ति योगसूत्र पर	भो० वृ०
महाभारत	म० भा०
मनुस्मृति	मनु०
मीराबाई की पदावली	मी० प०
मुण्डकोपनिषद	मुण्डको०, मु०
माण्डूक्योपनिषद	माण्डूक्यो०, मा०
यजुर्वेद	यजु० वे०
रहीम-रत्नावली	रहीम
शांकरभाष्य	शा० भा०
शिव पुराण	शि० पु०
श्वेताश्वतर उपनिषद	श्वे०
स्कन्द पुराण	स्क० पु०

संत वाणी संग्रह (भाग १ व २, बेल्वेडियर प्रेस)	सं० वा० सं०
Das Gupta, History of Indian Philosophy vol. I, II & III	S. N. D
Mysticism in Maharastra	M. M.

प्रथम परिच्छेद

रहस्यवाद की परिभाषा

मानव-मस्तिष्क सदैव से चिन्तनशील रहा है। अपनी विचारशक्ति के कारण ही मानव सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी माना गया है। उदरपूर्ति, आत्मरक्षा एवं प्रजनन प्राणीमात्र की मूल प्रवृत्तियाँ हैं[1] परन्तु इन प्रवृत्तियों की पूर्तिमात्र मानव को संतुष्ट नहीं रख सकी; वह इन सब के अतिरिक्त भी कुछ जानना तथा समझना चाहता है। इस जिज्ञासा में ही उसके द्वारा अर्जित समस्त ज्ञान-विज्ञान का मूल स्रोत निहित है। आदि काल से ही मानव प्रकृति के विभिन्न उपकरणों, उसके क्रिया-कलापों का अवलोकन करता चला आ रहा है। तपता हुआ प्रचण्ड सूर्य, सनसनाती हुई वायु, बरसने वाले श्यामल मेघ, गरजते हुए घनघोर बादल, दमकती हुई बिजली, ठिठुराने वाला तुषार, अकुरित होते बीज तथा जन्म लेते जीवों आदि की रहस्यमयता ने उसके ध्यान को आकर्षित किया। प्रकृति के इन कौतूहलपूर्ण व्यापारों को देखकर उसके मन में सहज ही आश्चर्य, जिज्ञासा और कुतूहल का जन्म हुआ। ये मेघ किसकी आज्ञा से समय पर आकाश में छा जाते है, वायु किसके आदेश से प्रभंजन का रूप धारण कर पुनः शान्त हो जाता है, सूर्य और चन्द्र किसकी योजना से समय पर उदय-अस्त होते रहते हैं, ऋतुओ के परिवर्तन और पुनरागमन के पीछे किस अज्ञात शक्ति का हाथ है—ये प्रश्न सदैव से मनुष्य मे रहस्य के प्रति जिज्ञासा की भावना का सर्जन करते रहे हैं। इन्ही रहस्यों की अनुभूति या दर्शन के लिए मनुष्य 'युग-युग से प्रयत्नशील' रहा है। उसने बाह्य जगत् का अवलोकन किया, अन्तर्जगत् में जिज्ञासापूर्ण सरस कल्पना की और सत्य की खोज में निरन्तर रत रहा।

मनुष्य विचारवान् प्राणी तो है ही, वह ईश्वरप्रदत्त तर्क-बुद्धि से भी सम्पन्न है। अज्ञात को जानने के लिए मनुष्य ने अपनी इसी तर्क-बुद्धि का अवलम्ब ग्रहण किया। यों तो तर्क का मार्ग दो भागो मे विभक्त हुआ—प्रथम समष्टि से व्यष्टि की ओर, दूसरा व्यष्टि से समष्टि की ओर। परन्तु यथार्थ में ये दोनों मार्ग पृथक्-पृथक् नही हैं। दोनों का एक ही लक्ष्य है—सत्य तक ले जाना। इन मार्गों से पहुँच कर सत्य की प्राप्ति को ही मनीषियों ने दर्शन (Philosophy) नाम दिया है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि तर्क के द्वारा सत्य का बौद्धिक ग्रहण ही दर्शन है। समस्त विज्ञानों का अध्ययन भी इसी कोटि में आता है।

---

१. आहार-निद्रा-भय-मैथुनं च
सामान्यमेतद् पशुभिर्नराणाम् ॥

मानव-मस्तिष्क को सत्य के बौद्धिक पक्ष से भी पूर्ण ग्रात्मतुष्टि प्राप्त नहीं हुई। वह निरन्तर चिन्तन करता रहा। तर्क-बुद्धि-जनित निष्कर्षो से वह तादात्म्य नही स्थापित कर सकता ग्रौर उसके बिना उसे पूर्ण तुष्टि सभव नही। इसीलिए परमात्मा या सत्य के साथ तादात्म्य ग्रथवा व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करने का निरन्तर प्रयत्न चलता रहा। तर्क से ऊपर उठकर उसने उस रहस्यात्मक सत्ता के साथ ग्रपना भावनागत सम्बन्ध स्थापित किया। फलस्वरूप हमारे पूर्वज ऋषियो को सत्य का पराबौद्धिक (Supra-intellectual) प्रत्यक्ष हुग्रा। जिनमें जितनी सामर्थ्य तथा योग्यता थी, उसी के ग्रनुसार भिन्न-भिन्न कोटि का रहस्यात्मक प्रत्यक्ष उन्हे हुग्रा। सम्भव है, यह प्रत्यक्ष सब ऋषियो को समान रूप मे ही हुग्रा हो परन्तु सभी मनीषियो ने उसको पृथक्-पृथक् शैली मे विभिन्न प्रकार से व्यक्त किया है। सत्य के प्रत्यक्ष की कोटि, साधक की रुचि तथा भाषा पर ग्रधिकार ही वर्ण्य-भेद के मुख्य कारण कहे जा सकते है। ज्ञान ग्रौर ग्रनुभव के विशाल महासागर मे से जिसको जो ग्रश ग्रधिक ग्राकर्षक प्रतीत हुग्रा उसने उसको ही ग्रपना वर्ण्य विषय बनाया।

सत्य की प्रत्यक्षानुभूति किसी काल ग्रथवा देश विशेष की सीमा मे सीमित नही है। सभी देशों ग्रौर सभी कालो में विद्वद्जनो ने सत्य के रूप का साक्षात्कार किया है। प्रत्यक्ष-जन्य वह ग्रानन्दानुभव उनकी वाणी से स्वत प्रस्फुटित हुग्रा ग्रथवा यों कहिए कि बिना वर्णन किए वे रह ही नही सके। वह साक्षात्कार सामान्यज्ञान से नितान्त भिन्न तो था ही, साथ ही ग्रवर्णनीय भी था। वह जल मे ग्राप्लावित उस वेगवती सरिता के समान था जिसका ग्रावेग भाषा के दुकूलो मे बद्ध होकर नही रह सका। वह ग्रनुभवगम्य ग्रधिक था, शब्दगम्य कम। ग्रज्ञात, ग्रनन्त, ग्रसीम शक्ति की जो प्रत्यक्षानुभूति विद्वानो को हुई ग्रौर चिन्तन तथा मनन के पश्चात्, जिसको उन्होंने जन समाज के सम्मुख व्यक्त करने का प्रयास किया वही कालानुक्रम से 'रहस्यवाद' के नाम से ग्रभिहित हुई। सक्षेप मे हम कह सकते है कि सत्य का ज्ञान दर्शन है तथा सत्य का प्रत्यक्ष रहस्यवाद।

तत्त्व के साथ मनुष्य के एकान्तिक, व्यक्तिगत तथा स्पष्ट प्रत्यक्ष का द्योतक रहस्य-वाद है। विषयी ग्रौर विषय मे ग्रभेद हो जाता है। विषयी का ज्ञान इतने निकट से होता है कि विषय तद्रूप ही हो जाता है। साधारण ज्ञान मे इन्द्रियों का विषयो के साथ सम्पर्क मन या बुद्धि के माध्यम द्वारा होता है। उदाहरण के लिए शर्करा के माधुर्य को ले सकते हैं। जिह्वा ग्रौर शर्करा का सम्पर्क होकर जब वह बुद्धि के द्वारा ग्रहण किया जाता है तभी शर्करा की मधुरता का ग्रनुभव होता है। साधारण ज्ञान के विपरीत रहस्यात्मक ज्ञान में साधारण विषयो को ग्रहण करने वाली बुद्धि ग्रौर विषयेन्द्रियाँ दोनों ही भाग नहीं लेती हैं। बुद्धि ग्रौर इन्द्रियाँ दोनो से ही परे वह ग्रन्य प्रकार का ज्ञान होता है। वह ज्ञान ज्ञेय ग्रौर ज्ञाता को सम्पूर्ण रूप से ग्रोत-प्रोत कर देता है। स्वयं ज्ञाता उस ग्रवधि के लिए ज्ञानस्वरूप ही हो जाता है। यद्यपि रहस्यवाद की प्रत्यक्ष ग्रनुभूति का वर्णन हमारे सम्मुख वैदिक काल से लेकर ग्राधुनिक काल के ग्रनेको विद्वानों द्वारा प्रस्तुत हुग्रा है परन्तु वास्तव में यह प्रत्यक्षानुभूति वाणी से परे की वस्तु है। उपनिषद् मे कहा गया है **'यतो वाचा निवर्तन्ते ग्रप्राप्य मनसा सह'**। इसी प्रकार सन्त तुलसी ने भी कहा है : **'केशव कहि न जाय का कहिये।**

देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहि मन रहिये ।'[1] भक्त-प्रवर तुलसीदास ने सत्य के स्वरूप का साक्षात्कार किया था, उसके असीम आनन्द का अनुभव किया था, परन्तु उस अनुभूत स्वरूप और आनन्द को यथावत् व्यजित करने में वे भी सफल न हो सके । तभी तो उनके मुख से उपर्युक्त पद निःसृत हुआ । उनकी प्रतिभावान् समर्थ भाषा भी जिस पर उनका पूर्णाधिकार था, सत्य के उस स्वरूप का वर्णन करने में समर्थ न हो सकी ।[2]

रहस्यात्मक ज्ञान तथा उस ज्ञान का विषय दोनों ही इस प्रकार के हैं कि उनका साक्षात्कार करने वाला द्रष्टा अपने अनुभव को गूँगे के गुड़ की भाँति न तो व्यक्त ही कर पाता है और न किसी ज्ञात वस्तु से उस ज्ञेय की सजातीयता स्थापित करके भाषा के माध्यम से उसका वर्णन करने मे ही समर्थ होता है । वह ज्ञान और उसका विषय यदि सर्वसाधारण की कोटि का होता तो उसके व्यक्त करने के लिए शब्द होते । भाषा में भी यदि पूर्णतया नही तो उसके समकक्ष अर्थ को व्यक्त करने की शक्ति अवश्य होती ।

वाणी के अभाव मे मूक व्यक्ति गुड की मधुरता के आस्वादन-सुख को दूसरों पर व्यक्त करने मे समर्थ नही होता । उसका सुख केवल अनुभवगम्य होता है । यदि वह किसी प्रकार अपने आनन्दानुभव को व्यक्त करता भी है तो केवल भाव-संकेतों तथा आंगिक-चेष्टाओ के द्वारा । ठीक यही दशा रहस्यवादी की है । वह परमात्मा के साथ दिव्य संयोग की आनन्दानुभूति को सीधे, सरल, स्पष्ट शब्दो मे व्यक्त करने मे समर्थ नही होता । अन्ततः वह संकेतमयी गूढ भाषा का सहारा लेता है । यही कारण है कि रहस्यवादी की भाषा अधिकाशत संकेतमयी तथा अस्पष्ट होती है । केवल उसकी भाषा ही नही उसकी रहनी भी सामान्यजनों की रहनी से भिन्न दृष्टिगत होती है ।

रहस्यवादी के रहस्यात्मक भावो को वहन करने वाली संकेतमयी भाषा जनसाधारण के लिए सहज ग्राह्य नही होती, परन्तु भावसाम्य के कारण वही भाषा अन्य रहस्यवादी के लिए अपेक्षत. अधिक सरल तथा सुबोध होती है । रहस्यमयी साकेतिक भाषा में बोलने वाले रहस्यवादी तथा उसको सुनकर समझने वाले रहस्यवादी दोनों को ही प्रत्यक्ष अनुभव समान प्रकार का होता है । एक उसके वर्णन में अपनी वाणी को नियोजित करता है परन्तु पूर्णतया व्यक्त नहीं कर पाता । दूसरा वक्ता के ही समान अनुभवकर्ता होने तथा अपनी भी वाणी की असमर्थता के कारण उस गूढ़ सांकेतिक वर्णन को भलीभाँति समझ लेता है । **'चुवत अमीरस भरत ताल जहँ सबद उठे असमानी हो'** इन पंक्तियों में साधारण व्यक्तियों के लिए कोई विशिष्ट अर्थ अथवा रस नहीं प्रतीत होता, परन्तु यही पंक्तियाँ एक रहस्यवादी को आनन्दविभोर कर देने में समर्थ हैं ।

रहस्यवादी साहित्य के लिए नही गाता, किसी कवि की हैसियत से नही कहता,

---

१. तुलसी ने अन्य स्थानों में भी इस भाव को व्यक्त किया है, यथा—
जो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहूँ न समाइ ।
सो सब अद्भुत देखेउँ, बरनि कवनि विधि जाइ ॥ तु०रा०, पृ० ८३६

२. सो सुख जानइ मन अरु काना, नहिं रसना पहिं जाइ बखाना ।
प्रभु सोभा सुख जानहि नयना, कहि किमि सकहिं तिन्हहि नहि बयना ॥ तु० रा०, पृ० ८४२

चित्रकार होने के कारण चित्र नहीं खींचता। जो कुछ भी रहस्यवादी के हृदय से निकलता है वह इस विचार से कि सत्य तत्त्व का, अनन्त शक्ति का सन्देश लोगों को किस प्रकार दिया जाय। अपने अनुभव का आनन्द वह सबमे बिखेर देना चाहता है। वह कोई स्वार्थी जीव नहीं है जो उस अलौकिक आनन्द का आस्वादन अपने तक ही सीमित रक्खे। उस आनन्दातिरेक की अभिव्यक्ति वह सामान्य भाषा के माध्यम से साधारण प्रयोग के द्वारा नहीं कर पाता। इसीलिए रहस्यवादियों की भाषा सामान्य भाषा से भिन्न होती है।

रहस्यात्मक प्रत्यक्ष शुष्क तर्क एवं दर्शन की वस्तु नही है। वह भावनाप्रधान मानव का पूर्ण प्रत्यक्ष अनुभव है। रहस्यवादी के हृदय मे एक भावना एक विचार प्रभुत्व प्राप्त कर लेता है और वह भावना जीवन के अग-प्रत्यंग में प्रकाशित होती रहती है। यही दिव्य संयोग होता है। आत्मा उस अनन्त दिव्य शक्ति से इस प्रकार मिल जाती है कि आत्मा में परमात्मा के गुणो का प्रदर्शन होने लगता है। 'ममत्व', 'परत्व' की भावना का विलीन होना ही रहस्यवाद का मुख्याधार है।

कबीर सदृश कुछ रहस्यवादियो ने केवल अपने ही प्रत्यक्ष अनुभव का प्रकाशन किया है तथा तुलसीदास सदृश कुछ मनीषियों ने अपने अनुभव के साथ ही अपने पूर्ववर्ती विद्वानों के अनुभव की भी व्यजना की है। यद्यपि सभी उस रहस्यमय के यथावत् वर्णन करने मे अपने को अक्षम पाते हैं परन्तु सभी ने अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार उसका वर्णन करने का प्रयास किया है।[1] वे रहस्यदर्शी उस परमतत्त्व के विषय मे कहे बिना चुप क्यों न रह सके? उनके हृदय मे उस दिव्य साक्षात्कार का आनन्द-प्रवाह इतना तीव्रतम था कि वह वाणी के रूप मे मानस से फूट निकला। वे अपनी परम सुखद अनुभूति को अपने तक ही सीमित न रख सके और स्वान्त सुखाय लोक के सामने उन्हे अपने भावों को व्यक्त करना ही पड़ा।

रहस्यवाद का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक एव विशाल है। वरन् यह कहना अधिक युक्तिसंगत होगा कि इसका क्षेत्र असीम है। जिसका सम्बन्ध सर्वरूप[2] अनन्त, असीम, दिव्य सत्य से है, वह किसी प्रकार सीमित नही किया जा सकता। इसीलिये रहस्यवाद को परिभाषा की सीमा मे बद्ध करना असम्भव-सा प्रतीत होता है। उस दिव्य शक्ति के वर्णन करने में अपने को असमर्थ पाकर ही वैदिक ऋषियों ने 'नेति-नेति' कहकर ही संतोष किया।

रहस्यानुभूति की ओर साधक को प्रेरित करने वाले अनेक तत्त्व, कारण और आधार हैं, इनमें से प्रमुख हैं :

१. जिज्ञासा

---

१. सब जाने प्रभु प्रभुता सोई।
तदपि कहे बिनु रहा न कोई।—तु० रा०, पृ० ७१

२. रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव···।—ऋ० वे० ६। ४७। १८
बृ० २। ५।१९

२. औत्सुक्य, (जीवन-मृत्यु के प्रति)
३. दुःख की निवृत्ति, अनुभूति
४. आनन्द की उपलब्धि, अभिलाषा
५. वैराग्य के जन्मजात संस्कार, एवं
६. धार्मिक ग्रन्थों का मनन, सत्संग आदि

आदिकाल में मानव की रहस्यवादी भावना प्रधानतया जिज्ञासामूलक थी। तदनन्तर वैदिक काल में ऋषियों की भावना का आधार दुःख की निवृत्ति एवं आनन्द की उपलब्धि बनी। ऋषियों का अधिकांश जीवन दार्शनिक प्रश्नों को सुलझाने में व्यतीत होता था। ब्रह्म, ईश्वर, प्रकृति, जीव, माया, स्वर्ग तथा शरीर के सम्बन्ध में जानना ही उनके मुख्य विषय थे। जन कोलाहल से दूर आश्रमों में उनका जीवन व्यतीत होता था, जहाँ दार्शनिक तत्त्व की खोज तथा उस पर विचार व मनन उनकी वार्ता के मुख्य विषय होते थे। उस काल के रहस्यवाद को दार्शनिक-आत्मिक (Philosophico-spiritual) रहस्यवाद कहा जा सकता है। मध्यकालीन रहस्यवादी भक्तों में दुःख-निवृत्ति तथा आनन्द-प्राप्ति की भावना प्रमुख रही। उन्हें इस द्वन्द्वात्मक दुखमय जीवन से पृथक् रहकर उस सर्वात्मक रहस्य से सम्बध जोड़ना अभीष्ट रहा। वे साधारणतया लोक-कल्याण में निरत आचार-मान्य (Ethical) रहस्यवाद के पोषक रहे। आधुनिक काल में अधिकांश रहस्यवादियों को उस दिव्य शक्ति के सौंदर्य तत्त्व से प्रेरित होकर ही रहस्यानुभूति हुई। इनका उस रहस्य से सम्बंध व्यक्तिगत तथा भावनाप्रधान ही कहा जा सकता है और इस प्रकार यह मनोवैज्ञानिक रहस्यवाद की कोटि में आता है। उपर्युक्त विभाग केवल युगविशेष की सामान्य प्रवृत्ति के ही द्योतक कहे जा सकते है। प्रत्येक युग में सभी प्रकार के रहस्यवादी हो सकते है केवल बहुमत के अनुसार ही किसी युगविशेष का नामकरण किया जाता है। अन्यथा कहना तो यह अधिक युक्तिसगत होगा कि प्रत्येक रहस्यवादी में रहस्यानुभूति की ओर प्रेरित करने वाले एक से अधिक तत्त्व कारण अथवा आधार एक साथ विद्यमान रहते हैं।

जैसा कि हम देख चुके हैं रहस्यवादी का कथन जनसाधारण के कथन से सर्वथा भिन्न प्रतीत होता है। इसी कारण लोग उसके कथनो और अभिव्यक्तियों को प्रायः असंगत एवं अनर्गल कहने लगते हैं। इसके अतिरिक्त रहस्यवाद के विषय में अनेक भ्रान्त धारणाएँ प्रचलित हैं। समझ से परे, बुद्धि की पहुँच से दूर, अस्पष्ट कथनों को भी रहस्यवाद की संज्ञा दे दी जाती है। जादू-टोना से लेकर ईश्वर के साथ एकत्व, प्रत्यक्ष तक सभी कुछ रहस्यवाद कह दिया जाता है। 'Mysticism in India' नामक ग्रन्थ मे Rope-trick (रस्सी के खेल) को रहस्यवाद के अन्तर्गत रखना कितना असगत और आश्चर्यजनक है। जो कुछ भी साधारण इन्द्रिय, ज्ञान एवं बुद्धि और तर्क के द्वारा समझ में न आया वही रहस्यवाद का विषय हो गया। इस प्रकार रहस्यवाद एक बहुत अस्पष्ट भ्रामक अर्थ का द्योतक बन गया है। रहस्यवादियों के जीवनयापन का निराला ढंग भी रहस्यवाद के वास्तविक अर्थ

को दुर्बोध तथा दुखद बनाने में सहायक रहा। ये मिथ्या धारणाएँ रहस्यवाद के कलेवर को भले ही बढ़ा दें परन्तु वस्तुतः ये उसके रूप को विकृत करके उसके महत्त्व को घटाने वाली ही सिद्ध होती है। केवल अटपटे शब्द, अस्पष्ट भाव रहस्यवाद नहीं कहे जा सकते। विक्षिप्त का अनर्गल प्रलाप रहस्यवादी अभिव्यक्ति कहलाने के योग्य नही है। बालक भी अस्पष्ट शब्द कहता है परन्तु रहस्यवादी अन्त.प्रेरणा से प्रेरित होकर नहीं। वास्तव में रहस्यवाद का विषय बहुत ही उच्च तथा महान् है।

रहस्यवाद शब्द की उत्पत्ति पर विचार करने से प्रतीत होता है कि इस शब्द का हिन्दी-साहित्य में प्रयोग नितान्त आधुनिक है। यो तो रहस्यात्मक अनुभूति और अभिव्यक्ति मानव मे आदिकाल से ही विद्यमान है परन्तु पारिभाषिक अर्थ मे रहस्यवाद शब्द प्रयुक्त नहीं होता था। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या प्राचीन साहित्य मे रहस्यात्मक तत्त्व का अभाव था? नही कदापि नहीं। प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य के अन्तर्गत है वेद, उपनिषद्, गीता, भागवत, अन्य अनेक भक्ति तथा दर्शन के ग्रथ जो रहस्यात्मक भावों, अनुभूतियों तथा अभिव्यक्तियो से परिपूर्ण है। तत्कालीन साहित्य मे रहस्यवाद के उपकरण वर्तमान थे, उसका विषय विद्यमान था परन्तु उसका नामकरण न हुआ था। जिस समय साहित्य मे साहित्यिक प्रवृत्तियो का नामकरण हुआ तथा 'वादों' की बाढ़ आई उसी समय रहस्यवाद शब्द का जन्म हुआ। इस प्रकार रहस्यवाद शब्द का प्रयोग प्राचीन नही वरन् एकदम नवीन है।

रहस्यवाद संदिग्धात्मक दृष्टिकोणो का द्योतक कहा जा सकता है। पृथक्-पृथक् व्यक्तियों ने इसके पृथक्-पृथक् अर्थ लगाये, जैसे किसी ने इसमे ईश्वरीय प्रत्यक्ष समझा, किसी ने इसको योग से सम्बद्ध किया और किसी ने इसको जादू-टोना जन्तर-मन्तर के अन्तर्गत माना। परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ इस शब्द का अर्थ एव भाव भी बदलता रहा। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि यह किसी न किसी प्रकार के रहस्यविषयक भाव को ही व्यक्त करने मे प्रयुक्त हुआ।

रहस्यवाद की सदिग्धता का प्रमुख कारण उसका प्रतिपाद्य विषय है। ईश्वर अथवा सत्य के प्रत्यक्ष के पश्चात् उसके जिस स्वरूप को रहस्यवादी प्रकाश मे लाना चाहता है वह इतना विस्तृत एव सर्वव्यापक है कि उसका वर्णन समस्त रहस्यवादी समान रूप मे नही कर सके। प्रत्येक रहस्यवादी ने एक ही सत्य को पृथक्-पृथक् रूपो मे व्यजित किया। किसी ने सत्य के एक अंश का वर्णन किया, किसी ने दूसरे अश का। तात्पर्य यह कि हर एक ने सत्य के किसी न किसी रूप, अश अथवा भाव की व्यजना अपने-अपने ढग से अलग-अलग शब्दों में की। रहस्यवादियों के द्वारा परमात्म-प्रत्यक्ष का पृथक्-पृथक् ढग का वर्णन[1] पाँच अंधों द्वारा हाथी के रूप-वर्णन की कहानी के सदृश ही है। पाँच अधो मे से किसी ने हाथी की सूँड़ को स्पर्श कर उसी को हाथी मान लिया, किसी ने पैर को, किसी ने उदर को, किसी ने

---

१. एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं
यमं मातरिश्वानमाहुः। —ऋ० १। १६४। ४६

कान को, किसी ने दुम को छूकर उसको ही हाथी माना। यद्यपि इन पाँचों का कथन उपहासास्पद प्रतीत होता है फिर भी आंशिक रूप से वह सत्य अवश्य है। उनके द्वारा अंश को ही पूर्ण मानने से हाथी के वास्तविक रूप का बोध अवश्य नही हो सकता परन्तु उनका कथन मिथ्या भी नहीं कहा जा सकता। इसी भाँति ईश्वर अथवा सत्य के वर्णन में विविधरूपता प्राप्त होती है। उस महान् के अन्तर्गत समस्त अल्प या अंश अन्तर्हित हो जाते हैं। उस महान् के जिस अंश का रहस्यवादी प्रत्यक्ष करता है उसी का पूर्ण की भाँति वर्णन करता है।

साधक अथवा ज्ञानी जिस समय प्रत्यक्ष करता है उस समय उसकी वृत्ति वर्णन करने की नही होती और जब वह अपने भाव व्यक्त करता है उस समय प्रत्यक्ष दर्शन की स्थिति नहीं रह जाती। वह स्वयं अपनी पूर्वानुभूति पर मनन करके रहस्यात्मक भावो एवं विचारों को शब्दबद्ध करता है। कबीर ने ठीक ही कहा है :

जो देखे सो कहइ नहिं, कहइ सो देखे नाहिं।
सुनै सो समझावे नहिं, रसना दृग श्रुति काहिं॥

इस प्रकार सत्य की रहस्यात्मक भाषाबद्ध व्यंजना को रहस्यवाद संज्ञा प्रदान की गई। इन अभिव्यक्तियो को व्यंजित करने वाला रहस्यवादी कहलाया।

आगे चलकर रहस्यवाद की विविध परिभाषाओं के सिलसिले में हम देखेंगे कि सर्व-प्रथम रहस्यवादी वह व्यक्ति है जो कि सत्य या परमात्मा के पराबौद्धिक प्रत्यक्ष में ही विश्वास रखता है। कुछ लोगो ने भ्रमवश पराबौद्धिक प्रत्यक्ष को बुद्धयेतर ग्रहण किया है। बुद्धयेतर को मान्यता प्रदान करने से पराबौद्धिक के अतिरिक्त बुद्धिविहीन भी इस कोटि में आ जाता है जो कि रहस्यवाद के लिए कदापि उपयुक्त नही। बुद्धिहीन कभी रहस्यवादी नही हो सकता। रहस्यवादी की बुद्धि सामान्य से प्रखर होती है और उत्तरोत्तर तीव्र होती जाती है। तभी तो वह सत्य के स्वरूप को ग्रहण करने मे समर्थ होता है। कुरुक्षेत्र में प्रखर बुद्धि-सम्पन्न अर्जुन की बुद्धि को तीव्रतर करने के लिए, जिससे वे विराट रूप के दर्शन करने मे समर्थ हो सकें, भगवान कृष्ण ने उनको दिव्य दृष्टि प्रदान की थी। साधारणतया सामान्य बुद्धि वाला व्यक्ति सरल सुगम विषयो को सहज ही ग्रहण कर लेता है परन्तु जटिल गम्भीर विषयो के ग्रहणार्थ अधिक कुशाग्र बुद्धि की आवश्यकता होती है फिर सत्य जैसी गूढ़ गम्भीर जटिल तथा महान वस्तु के ग्रहण के विषय मे तो कहना ही क्या।

रहस्यवादी के लिए तीव्र बुद्धि पर्याप्त नही है उसमें सत्य के लिए प्रबल जिज्ञासा का होना अत्यावश्यक है। एक सच्चे प्रेमी की भाँति रहस्यवादी के नेत्र ही नही, वरन् उसकी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ उस महान् के साक्षात्कार के लिए निरन्तर लालायित रहती हैं। उसकी समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ एक ही ज्ञेय तथा प्राप्तव्य सत्य की खोज मे लगी रहती हैं। इसीलिए रहस्यवादी शुष्क-हृदय दार्शनिक की भाँति केवल बुद्धि द्वारा उस स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने में दत्तचित्त नहीं होता वरन् उस स्वरूप के सरस रसास्वादन में निमग्न हो जाता है। वह अपने आस्वादन को कृपण के धन की भाँति अपने तक ही सीमित नहीं

रखता। वह उसे दोनों हाथों सम्पूर्ण मानवता तथा सृष्टि में बिखेर कर एक अभिनव आनन्द को प्राप्त करता है।

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है रहस्यवादी असाधारण बुद्धि-सम्पन्न तो होता ही है साथ ही उसकी भावुकता भी असाधारण होती है। परमात्मा अथवा सत्य के प्रति उसका प्रेम चरम सीमा पर पहुँचा हुआ होता है। एक क्षण भी वह प्रिय से पृथक् रहना नहीं चाहता। प्रिय के वियोग मे प्रति क्षण व्याकुल रहता है। रहस्यवादी के इसी उत्कट प्रेम की व्याख्या नारद भक्ति सूत्र एवं भागवत में बड़े ही सहज ढंग से की गई है।

यहाँ पर हमें मानवीय प्रेम तथा ईश्वरीय प्रेम (जो रहस्यवाद का आधार है) के अन्तर को भी स्पष्ट कर लेना उचित होगा। मानवीय प्रेम में प्रिय के एक से अधिक प्रेमी होने पर वे परस्पर एक दूसरे से ईर्ष्या करते है। प्रेमी नही चाहता कि उसके प्रेम का अन्य कोई साझीदार हो परन्तु इसके विपरीत भगवत्-प्रेम में प्रेमी अथवा भक्त चाहता है कि सम्पूर्ण सृष्टि ही उसके प्रिय के रग में रग जाय। भगवत्-प्रेमी किसी से ईर्ष्या-द्वेष नहीं करते। सभी कुछ प्रिय के रहस्य से ओतप्रोत है। कौन किससे कैसे ईर्ष्या करे? इसके अतिरिक्त मानवीय प्रेम में प्रिय की प्राप्ति हो जाने पर प्रेमी परम सन्तुष्ट हो जाता है, उसकी मिलनोत्सुकता कम पड जाती है परन्तु भगवत्-प्रेम में प्रिय की प्राप्ति के पश्चात् भी प्रिय की मिलनोत्सुकता कम नही पडती वरन् बढती जाती है। भगवत्-प्रेमी अपनी समस्त भावनाओं, चेतनाओं तथा क्रियाओ को भगवान मे केन्द्रित कर देता है, यही उसका परमानन्द है।

तीव्र बुद्धि तथा परम भावुकता के अतिरिक्त रहस्यवादी का अन्य आवश्यक लक्षण है प्रबलतम इच्छाशक्ति से समन्वित होना। केवल बुद्धि की प्रखरता एव भावुकता से साधक को सफलता प्राप्त नही हो सकती। बुद्धि तथा भावुकता के द्वारा ईश्वर का क्षणिक साक्षात्कार हो सकता है परन्तु स्थायी साक्षात्कार के लिए इच्छाशक्ति परम आवश्यक है। इच्छा ही मनुष्य को कार्य में सलग्न करने वाली, निरन्तर प्रेरणा देने वाली शक्ति है। इच्छाशक्ति के ही द्वारा व्यक्ति अध्यवसायी बनता है। इच्छाशक्ति के द्वारा ही मनुष्य मूल प्रवृत्तियों (Instincts) के ऊपर विजय प्राप्त करके नैतिक एव आध्यात्मिक कार्यों में प्रवृत्त होता है। भय उपस्थित होने पर मनुष्य को भागने के लिए इच्छाशक्ति की आवश्यकता नहीं होती, स्वयं ही पैर जल्दी-जल्दी उठने लगते हैं। परन्तु मदिर में जाकर आराध्य देव की पूजा के लिए इच्छाशक्ति का प्रयोग अपेक्षित होता है। निरन्तर प्रेरणा प्रदान करके कार्यरत करने वाली इच्छाशक्ति यदि न हो तो किसी समय भी मनुष्य अपने उद्देश्य-पूर्ति से संतुष्ट होकर कार्य से उपरत हो सकता है, परन्तु इच्छाशक्ति मनुष्य को विराम नहीं लेने देती। वह उसे बराबर आगे ही बढ़ाती रहती है। संतुष्टि की स्थिति आती ही नहीं, नित्य नवीन चाव बढ़ता ही रहता है। यही भाव तुलसीदास के इन शब्दों में ध्वनित होता है :

राम चरित जे सुनत अघाहीं।
रस विशेष जाना तिन नाहीं।

जो व्यक्ति रामचरित्र सुनकर संतुष्ट हो गये तथा रामचरितामृत के निरन्तर पान के लिए जिनकी इच्छा बलवती न बनी रही उन्हें वास्तविक रस की प्राप्ति नहीं हुई। वास्तविक रस तो उन्हीं को प्राप्त होता है जो रामचरित्र को बार-बार सुनकर भी संतुष्ट नहीं होते तथा बराबर उसी को सुनने के लिए लालायित रहते हैं। रहस्यवादी की यही स्थिति है। प्रबल इच्छाशक्ति के कारण वह कभी संतुष्टि की स्थिति पर पहुँचकर विराम नहीं लेता वरन् प्रिय-मिलन के लिए परम सत्य या परमात्मा के साक्षात्कार के लिए उसकी उत्कंठा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है।

अब हम रहस्यवाद के विषय में अनेक पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों के मतों को उद्धृत करेंगे जिससे रहस्यवाद का वास्तविक रूप अधिक स्पष्ट होकर हमारे सम्मुख आ सके।

पाश्चात्य विद्वान फ्लीडर का मत है कि रहस्यवाद आत्मा और परमात्मा के एकत्व की प्रत्यक्ष चेतना है, इसलिए यह धर्म की प्रधान भावना या धार्मिक जीवन की आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

फ्लीडर ने प्रत्यक्ष को भावना माना है। यह भाव आत्मा को पवित्र करके ईश्वर से मिला देता है। फ्लीडर महोदय रहस्यात्मक प्रत्यक्ष के भावपक्ष के पोषक प्रतीत होते हैं। यद्यपि भाव, ज्ञान एवं कर्म सभी का रहस्यवादी के अन्दर एकीकरण हो जाता है। परन्तु किसी विद्वान मे भावपक्ष की प्रधानता रहती है, किसी में ज्ञानपक्ष की और किसी मे कर्म-पक्ष की। जिसमे जिस पक्ष की विशेषता प्रतीत होती है वह उसी पक्ष का पोषक एवं समर्थक माना जाता है। आत्मा और परमात्मा मे एकत्व अथवा अभेद-बोध की भावना धर्म का प्राण है। यह एकत्व विषयक भावना ही धार्मिक जीवन के मूल में स्थित है।[1] उन्होने रहस्यवाद को ही धार्मिक जीवन तथा धर्म का स्वरूप माना है। यदि हम धर्मों के उत्थान के इतिहास मे जायें तो इस कथन के सत्य का पुष्टीकरण भी हो जाता है। धर्मों की उत्पत्ति ही उसके प्रवर्तक के रहस्यात्मक ज्ञान के द्वारा होती है तथा धर्म के अनुयायियों में भी किसी महत्त्व के लिए उस अनुभव का होना नितान्त आवश्यक है।

प्रिंगिल पेटीशन के अनुसार रहस्यवाद की प्रतीति मानव-मस्तिष्क द्वारा अन्तिम सत्य के ग्रहण करने के प्रयास में होती है। उस अन्तिम सत्य एव उच्चतम के साथ सीधे सम्बन्ध से उत्पन्न आनन्द का आस्वादन होता है। बुद्धि द्वारा चरम सत्य को ग्रहण करना यह उसका दार्शनिक पक्ष है, ईश्वर के साथ मिलन का आनन्द उपभोग करना यह उसका धार्मिक पक्ष है। ईश्वर एक स्थूल पदार्थ न रहकर एक अनुभव हो जाता है।[2]

---

1. Mysticism is the immediate feeling of the unity of the self with God; it is nothing therefore but the fundamental feeling of religion. The religious life at its very heart and centre.

   Mysticism in Religion by Dean Inge. P. 25

2. *Pringle Pattision* : —Mysticism appears in connection with the endeavour of human mind to grasp the divine essence or the ulti-

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रिंगिल पेटीशन रहस्यवादी अनुभूति को ज्ञान की उच्चतम अवस्था मानते हैं। उनका विचार है कि अन्तिम सत्य शायद केवल मस्तिष्क द्वारा पूर्णरूपेण ग्राह्य नही हो सकता, परन्तु वे रहस्यवाद का आविर्भाव उस प्रयास मे अवश्य मानते हैं जिसमे बुद्धि द्वारा उच्चतम या अन्तिम सत्य को समझने का प्रयास सम्भव हो। उस अन्तिम सत्य के साथ वास्तविक सम्बन्ध हो जाने के बाद आनन्द की उपलब्धि होती है। उस आनन्द का आस्वादन रहस्यवाद का जीवन-पक्ष है तथा उसका बुद्धि द्वारा ज्ञान दार्शनिक पक्ष। जहाँ तक उस सत्य का बौद्धिक ग्रहण है वह रहस्यवाद का दार्शनिक पक्ष मात्र है या यह कहा जा सकता है कि यदि उस परमात्म सत्य के ज्ञान का आनन्द उपभोग उनके कथन में सम्मिलित न हो तो वह परमात्म विषयक ज्ञान केवल दर्शन रह जाता है। उस ज्ञान का आनन्द के साथ सम्बन्ध मान लेने पर ही वे दोनों रहस्यवाद के दार्शनिक तथा धार्मिक पक्ष बन पाते हैं।

आर० एल० नेटिल्शिप के मतानुसार रहस्यवाद वह चेतना है जिसके द्वारा प्रत्येक वस्तु, जिसका हम अनुभव करते है, एक तत्त्व है और केवल एक यथार्थ तत्त्व है। अपने तात्त्विक भाव से वह चेतना किसी अन्य की ओर इगित करती है।[1]

यहाँ पर रहस्यवादी चेतना द्वारा प्राप्त ज्ञान की समस्त ज्ञेय वस्तुओं मे तात्त्विकता का आरोप किया गया है। नेटिल्शिप महोदय ने यद्यपि सर्वेश्वरवाद का प्रतिपादन नही किया है परन्तु वे उस मत के अनुयायी प्रतीत होते हैं जिसमे प्रत्येक वस्तु स्वय से अधिक किसी अन्य की प्रतीक समझ पडती है और वह अन्य परमेश्वर ही हो सकता है। इनसे पूर्व उद्धृत विद्वानो ने ज्ञेय पदार्थ की यथार्थता पर बल नही दिया है। उन्होंने बल दिया है ज्ञाता तथा ज्ञान के साधन पर। परन्तु ज्ञेय पदार्थो की तात्त्विकता एव उसकी परमात्मा के साथ लाक्षणिकता पर बल दिया है।

ई० केयर्ड ने धर्म के केन्द्रीभूत अनन्य रूप को रहस्यवाद माना है। यह मानव मस्तिष्क की वह प्रवृत्ति है जिसमे आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध मे अन्य सभी सम्बन्ध अन्तर्हित हो जाते है।[2]

---

mate reality of things and to enjoy the blessedness of actual communion with the highest The first is the philosophical side of mysticism. The second is the religious side. God ceases to be an object and becomes an experience.

Mysticism in Religion by Inge. P. 25

1. *R.L. Nettleship* :—True mysticism is the consciousness that every thing that we experience is an element and only an element in fact i. e. that in being what it is, it is symbolic of something more.

Mysticism in Religion by Inge. P. 25

2. *E. Caird* :—Mysticism is religion in the most concentrated and exclusive form. It is that aptitude of mind in which all other relations are swallowed up in the relation of the soul to God.

Mysticism in Religion by Inge. P. 25

धार्मिक दृष्टिकोण से यह वह मत है जिसमें परमात्मा की सत्ता में ही प्राणी अपनी सत्ता समाहित कर देता है। सभी सासारिक सम्बन्ध ईश्वर के सम्बन्ध से ही सत्य या असत्य ग्रहण किए जाते है। समस्त कर्म ईश्वर के प्रति कर्तव्यों से ही परिचालित होते हैं। **'नाते सबै राम सों मनियत'** वाली स्थिति यहाँ प्रत्यक्ष होती है। इसके पश्चात् भी केयर्ड ने रहस्यवाद को बुद्धिगम्य मानव-मस्तिष्क की प्रवृत्ति ही माना है, ज्ञान को अज्ञान में या ज्ञान-शून्यता मे परिणत नही किया है। ईसाई रहस्यवाद में इसी प्रकार से ईश्वर के जनक सम्बन्ध से ही भाईचारे के सम्बन्ध को ग्रहण किया गया है। केयर्ड महोदय मे ईश्वर के उसी स्वरूप की पृष्ठभूमि की झाँकी दिखलाई पड़ती है। यह सत्य है कि सभी सांसारिक नाते समाप्त हो जाते है परन्तु वे परमात्मा के सम्बन्ध से ही बने रहते है।

डॉ० विलियम ब्राउन के शब्दो मे 'यदि मैं एक मनोवैज्ञानिक की हैसियत से नहीं अपितु एक मनुष्य की हैसियत से कहूँ तो जीवन का अनुभव मेरे विश्वास को दृढ करता है कि परमात्मा और व्यक्ति के बीच किसी सम्बन्ध की सम्भावना एक प्रवचना नही है।'[1]

मनोविज्ञान मनुष्य की चेतना की विभिन्न स्थितियों का भाववाचक (Abstract) अध्ययन है। वास्तविक सत्य क्या है यह मनोविज्ञान के क्षेत्र के बाहर की वस्तु है। परमात्मा के अस्तित्व का विवेचन भी मनोविज्ञान का विषय नही है। आत्मा क्या है उससे भी उसे कोई प्रयोजन नही। आत्मा और परमात्मा के बीच सम्बन्ध की सम्भावना भी मनोविज्ञान का विषय नही है। उस सम्बन्ध का अनुभव रहस्यवादी को पराबौद्धिक अनुभूति के द्वारा ही होता है जिसकी प्रामाणिकता मे डॉ० ब्राउन को तनिक भी सन्देह नहीं है। इसी से उन्होने कहा है कि उनका कथन एक वैज्ञानिक का नही है, वरन् मनुष्य होने के नाते मनुष्य के अनुभव के मापदण्ड के द्वारा उन्होने अपना मत प्रकट किया है। इस सत्य के सम्बन्ध मे उन्हे तनिक भी सन्देह नही है। उनका विज्ञान उन्हें उस सत्य सम्बन्ध तक नही ले जाता, यह उन्होंने बिना विषय को मिश्रित किए स्पष्ट शब्दों मे स्वीकार किया है। और उन्हे विश्वास है कि मनुष्य को इस प्रकार के सम्बन्ध का अनुभव होता है जिसके आत्मसाक्ष्य से ही वे इस प्रकार के विचार प्रकट करते हैं।

आर० सी० माबरली का मसीही रहस्यवाद के सम्बन्ध मे यह कथन है कि रहस्यवाद सिद्धान्त ही नही, वह पवित्र आत्मा का अनुभव है।[2]

---

1. *Dr William Brown* :—If I may speak no longer as a psychologist but as a man the experience of life confirms my belief that possibility of some communion between God and the individual is not an illusion.

   Mysticism in Religion by Inge. P. 25

2. *R.C. Moberly* :—Christian Mysticism is the doctrine or rather the experience of the holy spirit, the realisation of human personality as characterised by and consumated in the dwelling reality of the spirit of Christ which is God.

   Mysticism in Religion by Inge. P. 25

मनुष्य अपनी आत्मा को ईसामसीह की पवित्र आत्मा में प्रत्यक्ष करता है तथा उससे मिलन संयोग प्राप्त करता है। अपना व्यक्तित्व उस पवित्र आत्मा के व्यक्तित्व में अन्तर्हित कर देता है। मावरली के कथन में बाह्य अनुभव की परमार्थ सत्ता के अस्तित्व में स्वतः प्रामाण्य की झलक दिखाई देती है। ईसा में पवित्र आत्मा है और उसकी स्थिति वास्तविक है। उसी पवित्र आत्मा में अपनी आत्मा के अस्तित्व का अनुभव रहस्यवाद है। रहस्यवाद केवल बौद्धिक पहुँच (approach) नहीं है वरन् अपने अस्तित्व को मिटा कर दूसरे अस्तित्व मे विलीन कर देना है। 'अहम्' मिटकर दूसरे के 'मैं' में मिल जाता है। वह दूसरे का 'मैं' सत्य का स्वरूप है और सत्य स्वयं परमात्मा का रूप है। रहस्यवादी परमात्मा के इसी रूप मे निजत्व को लीन करके अपनी वास्तविक प्राप्ति करता है। अथवा यो कहा जाय कि परमात्मा की प्राप्ति के साथ ही अपने-पराये का भाव समाप्त हो जाता है।

वान हार्टमेन ने रहस्यवाद को चेतना का वह तृप्तिमय बोध बतलाया है जिसमें विचार, भाव एवं इच्छा (Thought, Feeling and Will) का अन्त हो जाता है तथा जहाँ अचेतनता से ही उसकी चेतना जाग्रत होती है।[1]

यहाँ साधक के सभी ज्ञानावयव, भाव, विचार एव इच्छाएँ, शिथिल पड जाते हैं। इस शिथिलता मे जीवन होता है, चैतन्य होता है, जिसके द्वारा मानव की बौद्धिक स्थिति मे भी बिना प्रयास के परम सत्य का प्रकाशन होता है।

हार्टमेन की परिभाषा रहस्यवाद की व्यापकता के सबसे अधिक निकट प्रतीत होती है। रहस्यवाद मे मानव का पूर्ण व्यक्तित्व रहस्यात्मक चेतना से आच्छादित हो जाता है। समस्त भावों, विचारों एव इच्छाओं को वह ज्ञान इस प्रकार व्याप्त कर लेता है कि किसी अन्य ज्ञान, कर्म, भाव, विचार अथवा इच्छा के लिए स्थान नही रह जाता। इस प्रकार की बौद्धिक जड़ स्थिति से परम सत्य का सहज प्रकाश होता है। वह भी केवल शुद्धि का कार्य नहीं होता वरन् मानव के समस्त व्यक्तित्व का अनुभव होता है।

अण्डर हिल के अनुसार रहस्यवाद भगवत् सत्ता के साथ एकता स्थापित करने की कला है। रहस्यवादी वह व्यक्ति है जिसने किसी न किसी सीमा तक इस एकता को प्राप्त कर लिया है अथवा जो उसमे विश्वास करता है और जिसने इस एकता सिद्धि को अपना चरम लक्ष्य बना लिया है।[2] यहाँ व्यक्ति एव भगवत् सत्ता दोनों के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है तथा दोनो में एकता स्थापन की सम्भावना भी की गई है। अस्तु अण्डर हिल वेदान्त मे विशिष्टाद्वैत की भाँति ईश्वर एव जीव की एकता को स्वीकार करती प्रतीत होती है।

फ्रेंक गैनार ने रहस्यवाद की यह परिभाषा की है '—'रहस्यवाद' दर्शन-सिद्धान्त, ज्ञान या विश्वास है जो भौतिक जगत् की अपेक्षा आत्मा की उक्ति पर अधिक केन्द्रित

1. *Von Hartman* :—Mysticism is the feeling of the consciousness with a content (feeling, thought and desire) by an involuntary emergence of the same out of the unconsciousness.
2. Practical Mysticism by Under Hill. P. 3

रहता है। विश्वजनीन आत्मा के साथ आत्मिक संयोग अथवा बौद्धिक एकत्व रहस्यवाद का लक्ष्य है। आत्मिक सत्य का सहज ज्ञान और भावात्मक बुद्धि तथा आत्मिक चिन्तन या अनुशासन के विविध रूपों के माध्यम से यह उपस्थित होता है। रहस्यवाद अपने सरलतम और अपने अत्यन्त तात्त्विक अर्थ मे एक प्रकार का धर्म है जोकि ईश्वर के साथ सम्बन्ध के सजगबोध (Awareness) और ईश्वरीय उपस्थिति की सीधी और घनिष्ठ चेतना पर बल देता है। यह धर्म की अपनी तीव्रतम, गहनतम और सबसे अधिक सजीव अवस्था है। सम्पूर्ण रहस्यवाद का मौलिक विचार है कि जीवन और जगत् का तत्त्व वह आत्मिक सार है जिसके अन्तर्गत सब कुछ है और जो प्राणीमात्र के अन्तर मे स्थित वह वास्तविक सत्य है जो उसके बाह्य आकार अथवा क्रियाकलापों से सम्बन्धित नहीं है।[1]

बरट्रेन्ड रसेल का कथन है कि रहस्यवादी अन्तर्दृष्टि रहस्य-भाव के आकस्मिक प्रत्यक्ष होने से प्रारम्भ होती है। उस रहस्यात्मक प्रच्छन्न ज्ञान के अनावरण में लेशमात्र भी सन्देह नही रह जाता है। निश्चयात्मकता तथा सत्य का अनावरण पहले हो जाता है तत्पश्चात् उस पर विश्वास होता है। रहस्यवादियो के विश्वास एव मत उनके रहस्यात्मक प्रत्यक्ष के मनन के फलस्वरूप उपलब्ध होते हैं।[2]

यहाँ पर रसेल साहब के अनुसार रहस्यवादी को किसी क्षण सत्य का धुँधला, अस्पष्ट स्वरूप एकदम प्रकाशित हो उठता है। वह प्रकाश किसी प्रमाण पर आश्रित नही है, स्वयं प्रमाण है। उस ज्ञान के विषय में द्रष्टा को कोई सन्देह नहीं रह जाता। वह प्रत्यक्ष

1. *Frank Gaynor:*—Mysticism—Any Philosophy doctrine teaching or belief centered more on the words of the spirit than the material universe and aimed at the spiritual union or mental oneness with the universal spirit through intutive and emotional apprehension of spiritual reality and through various forms of spiritual contemplation or disciplines. Mysticism in its simplest and most essential meaning is a type of religion which puts the emphasis on immediate awareness of relation with God, direct and intimate consciousness of divine presence. It is religion in its most acute, intense and living stage. The basic idea of all mysticism is that the essence of life and the world is an all-embracing spiritual substance which is the true reality in the core of all beings regardless of their outer appearance or activities.

   'Mysticism Dictionaries' by Frank Gaynor.

2. *Bertrand Russell :*—The mystic insight begins with the sense of mystery unveiled of a hidden wisdom now suddenly become certain beyond the possibility of a doubt. The essense of certainty and revelation domes earlier than definite belief. The definite belief at which mystics arrive are the result of reflection upon the inarticulate experience gained in the moment of insight.

   Mysticism in Religion by Inge. P. 24

उसका स्वयं का प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्ष के पूर्व द्रष्टा (साधक) का मत रहस्यवादी नहीं कहा जा सकता है। प्रत्यक्ष के पश्चात् रहस्यवादी उस पर जो मनन एवं विचार करता है वही उसका मत या सिद्धान्त होता है। सिद्धान्त रूप में उस सत्य के प्रत्यक्ष तथा उसकी सत्यता के लिए किसी दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। ज्ञान के सिद्धान्त (Epistemology) के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण धारणा है।

'अंग्रेजी-साहित्य में रहस्यवाद' के लेखक स्पर्जियन ने कहा है कि "वास्तविक अर्थ में रहस्यवादी वह है जिसको ज्ञात है कि समस्त अस्तित्व में केन्द्र में स्थित विषमता में एकता है। वह रहस्यवादी ज्ञान तत्सम्बन्धी व्यक्ति के लिए सबसे अधिक पूर्ण प्रमाणों में से है। क्योंकि स्वय उसने उसका अनुभव किया है। सच्चा रहस्यवाद एक अनुभव है, एक जीवन है।"[1]

समस्त अस्तित्व में एक विषमता है। उस विषमता में भी एक एकता है। उस एकता का ज्ञान रहस्यवादी को उसके अनुभव के द्वारा होता है। अतः वह ज्ञान सभी प्रमाणों से अधिक पूर्ण तथा अनुभवकर्ता के लिए सत्य होता है। इस प्रकार लेखक महोदय सत्य के अन्त.साक्ष्य के समर्थक प्रतीत होते हैं।

इसी पुस्तक में अन्यत्र कहा गया है कि "बालू के एक कण में संसार को प्रत्यक्ष करना और एक जंगली फूल मे स्वर्ग को देखना, अनन्त को अपनी मुट्ठी मे बन्द कर लेना तथा शाश्वत को एक घटिका मे कर लेना" रहस्यवाद है।[2] यहाँ अणु में महत् का प्रत्यक्ष रहस्यवाद माना गया है। इससे यह प्रकट होता है कि अणु और महत् मे अभेद है, दोनों एक ही है।

इंज के मतानुसार सकल्प का एकाग्रचित्त होना रहस्यवादी के प्रमुख लक्षणो में से एक है।[3] टी०एच० ह्यूज के अनुसार सभी आन्तरिक शक्तियाँ एक केन्द्र की ओर लगाई जाती हैं और संकल्प के एक केन्द्र विन्दु पर स्थिर होने के कारण चेतना का क्षेत्र सकुचित होता है।[4]

1. The mystic in the true sense is one who knows there is unity under diversity at the centre of all existence and he knows it by the most perfect of all tests for the person concerned because he has felt it. True mysticism is an experience and a life.
Mysticism in English Literature by Spurgeon. P. 11
2. To see a world in a grain of sand
And Heaven in a wild flower
Hold infinity in the palm of your hand
And Eternity in an hour.
Mysticism in English Lit. by Spurgeon. P. 11
3. For an intense concentration of the will is one of the chief characteristics of the mystic.
Mysticism in Religion by Inge. P. 28
4. All the faculties are directed to one centre so that there is a narrowing of the field of consciousness through the intense concentration of the will to one focal point.
Mysticism in Religion by Inge. P. 28

इंज के कथन पर विचार करने से ज्ञात होता है कि वे रहस्यवाद के भक्तिपक्ष के अनुयायी हैं। उन्होंने ज्ञान में रहस्यवाद का चरम उत्कर्ष स्वीकार नहीं किया। भावना प्राधान्य के साथ-साथ ज्ञान को गौण स्थान प्रदान किया है। परन्तु वास्तविक रहस्यवाद में ज्ञान, भावना एवं इच्छाशक्ति तीनों पर ही समान बल दिया जाता है।

इंज के मतानुसार रहस्यवाद अपनी कार्य की अभिव्यक्ति बौद्धिक कल्पना में नहीं परन्तु प्रार्थना में प्राप्त करता है।[1]

इवाल्ड कहते हैं कि रहस्यवादी अध्यात्म विद्या यह स्वीकार करती है कि मनुष्य का ईश्वर से वियोग हो गया है और वह ईश्वर में मिल जाने के लिए अत्यन्त उत्सुकतापूर्ण अभिलाषा करता है।[2]

सूफियो की भाँति इवाल्ड का मत है कि जीव का ईश्वर से वियोग हो गया है तथा जीव प्रिय-मिलन के लिए अत्यन्त उत्सुक रहता है। सूफियों में ईश्वर पत्नी रूप में तथा जीव पति रूप में ग्रहीत होता है। पतिरूपी जीव पत्नीरूपी ईश्वर के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित रहता है। परन्तु इवाल्ड ने ईश्वर को पत्नीरूप में नहीं माना है।

हक्सले आल्डस का मत है कि नैतिक बल के बिना वह शक्ति नहीं प्राप्त हो सकती जिसके द्वारा वस्तुओं के तत्त्व का स्वयं प्रकाश ज्ञान प्राप्त होता है।[3]

हक्सले आल्डस ऐसे रहस्यवाद को मान्यता प्रदान करते हैं जिसमें चारित्रिक नैतिक बल पर जोर दिया गया है। रहस्यवादी अनुभूति के लिए अत्यन्त उच्चकोटि का चरित्र-बल आवश्यक है।

वे मनुष्य ही ईश्वर की कृपा के पात्र होते हैं जिनके हृदय में सत्य तथा आत्मा में 'अहम्' की निर्बलता होती है।[4]

आगे इसी पुस्तक में अभ्यास पर बल दिया गया है और न केवल इसी लेखक ने वरन् सभी रहस्यवादियो ने अभ्यास को प्रमुखता दी है।

---

1. Mysticism finds its working expression not in intellectual speculation but in prayer.

   Mysticism in Religion by Inge. P. 29

2. Mystical theology begins by maintaining that man is fallen away from God and craves to be again united with Him.

   Christian Mysticism. P. 339

3. The self validating certainty of direct awareness cannot in the very nature of things be achieved except by those equipped with moral astrolabe of God's mysteries.

   Huxley Aldous. P. XI

4. Blessed are the pure in heart and poor in spirit for they shall see God. *Huxley Aldous. P. VIII*

'नैतिक प्राणी होने के नाते हम अपने को जैसा बनाना चाहें, बना सकते हैं पर उसके लिए अभ्यास परमावश्यक है।'[1]

रहस्यवादी ने अपने मस्तिष्क के नेत्र अर्थात् ज्ञानचक्षु से वस्तुओं के अन्तरतम में देखा और जो कुछ भी वह व्यक्त कर सका उसने लिख डाला।

सिद्ध सन्त आगस्टिन ने लिखा है कि भगवान् की अभिव्यक्ति करने की अपेक्षा उसको अधिक सत्यता से कल्पित किया जाता है और जितनी उसकी कल्पना की जाती है उससे अधिक सत्य उसका अस्तित्व है।[2]

आगस्टिन का निम्नलिखित यह कथन रहस्यवाद को अधिक स्पष्ट करने में सहायक होगा।

यदि किसी व्यक्ति की दैहिक वासना स्तब्ध हो जाती है तो उसको ऐसा प्रतीत होता है कि पृथ्वी, जल, वायु, आकाश आदि सभी स्तब्ध हो गये हैं। यही नहीं अपितु उसे अपनी आत्मा भी स्तब्ध प्रतीत होती है और वह स्वयं के विषय में सोचे बिना अहं का सक्रमण कर जाता है। उसके समस्त स्वप्न, कल्पनाएँ और संकल्प स्तब्ध हो जाते हैं, वाणी और अंग शिथिल हो जाते हैं तथा वे पदार्थ जो क्षणिक और नैमिषिक हैं स्तब्ध हो जाते हैं। काश ये सब चीजें बोल सकती और कह सकतीं कि वे स्वय आविर्भूत नहीं हुई हैं अपितु उस परम शक्ति ने उन्हें आविर्भूत किया है जो शाश्वत है। अपनी प्रवृत्ति में परिष्कार करने के पश्चात् यदि ये सब श्रवणेन्द्रिय में परम शक्ति के कर्तृत्व का उद्रेक करके तिरोहित हो जायँ तो हममें परम शक्ति का स्फुरण होगा। हमे उसका साक्षात्कार होगा, किसी पार्थिव रसना द्वारा नहीं, देवदूत द्वारा नहीं, विद्युत-गर्जन द्वारा नहीं और न अन्य किसी तिमिरावृत्त समनुरूपिता द्वारा; किन्तु उन वस्तुओं द्वारा जिन्हें हम प्यार करते हैं, इन वस्तुओं के बिना भी 'उसके अपने निजत्व' को सुन सकते हैं।[3]

सन्त आगस्टिन ने रहस्यवाद के विषय में वही भाव व्यक्त किया है जो उपनिषद् में प्राप्त होता है।[4] तुलसीदास ने भी इस भाव को प्रकट किया है। **'मन समेत जेहि जान न बाणी। तरकि न सकहि सकल अनुमानी'**। वास्तव में परमात्मा कल्पना से परे है तथा जितना कल्पित भी किया जा सकता है उतना वाणी के द्वारा वर्णनीय नहीं है।

पाश्चात्य विद्वानों के मतों का विवेचन कर लेने के पश्चात् कतिपय भारतीय विद्वानों के रहस्यवाद सम्बन्धी कथनों पर विचार कर लेना उपयुक्त होगा।

---

1. What we know depends also on what as moral beings we choose to make ourselves. Therefore "practice" *Huxley Aldous P. VIII*
2. God is more truly imagined than expressed and He exists more truly than He is imagined.
   Religion & Rational Outlook by S. N. Das Gupta, P. 351.
3. History of Philosophy : Eastern and Western, Vol. 2, P. 116
४. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। तै० उ० २.९.१.

प्रसिद्ध दार्शनिक सर सर्वपल्लि राधाकृष्णन् ने रहस्यवाद के विषय में लिखा है कि प्रत्येक धर्म का इंगित किन्हीं बाह्य विधि-निषेधों और सान्त्वनाओं की पद्धति-विशेष की ओर होता है, जबकि आध्यात्मिकता सर्वोच्च सत्ता को जानने, उससे तादात्म्य स्थापित करने और जीवन के सर्वांगीण विकास की आवश्यकता की ओर संकेत करती है। आध्यात्मिकता धर्म और उसके अन्तर्तत्त्व का सार है और रहस्यवाद में धर्म के इसी पक्ष पर बल दिया गया है।[१]

प्रोफेसर राधा कमल मुकर्जी के अनुसार रहस्यवाद वह कला है जिससे मनुष्य अपने अन्तःसमाधान (inner adjustment) के द्वारा सृष्टि को व्यष्टि रूप से पृथक्-पृथक् भागों में नहीं समष्टि रूप से उसकी आंतरिक एकता में देखता है।[२]

डॉ० रामकुमार वर्मा ने रहस्यवाद की परिभाषा इस प्रकार की है—"रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अंतर नहीं रह जाता।"[३]

महेन्द्रनाथ सरकार के मतानुसार "सत्य समझे गये यथार्थ की, प्रत्यक्ष चेतना रहस्यवाद है। यदि दर्शन और विज्ञान सत्य का अन्वेषण अनुभवों और पदार्थों के विश्लेषण के द्वारा करते हैं, रहस्यवाद सत्य की खोज आत्मा की आन्तरिक उड़ान द्वारा करता है। इसकी प्रत्यक्ष चेतना ही इसको उच्चतर स्तर पर ले जाती है। .... रहस्यात्मक अनुभव के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है वह स्वयंसिद्ध और अपने में ही पर्याप्त है, वह अपने को प्रमाणित करने के लिए अपने अतिरिक्त अन्य किसी की अपेक्षा नहीं रखता।[४]

---

१. Eastern Religion and Western thoughts.

by S. Radhakrishnan, P. 61

२. Mysticism is the art of inner adjustment by which man apprehends the universe as a whole instead of its particular parts.

Mysticism Theory & Art, by Dr. Radha Kamal Mukerjee, P. XII

३. कबीर का रहस्यवाद, पृष्ठ ६ — ले० डा० रामकुमार वर्मा

४. Mysticism is to be defined as the direct awareness of reality conceived as truth. If Philosophy and Science seek truth through the inward flight of the soul, it is directness of its awareness which constitutes its superior claim but the search is for truth and the end is its freedom......mystical experience requires no proof it is self-evident and self-sufficient. It does not look to any thing beyond itself for its verification.

Hindu Mysticism by M.N. Sarkar, P. 9

प्रो० दास गुप्ता ने लिखा है—"मैं तो रहस्यवाद को ऐसा सिद्धान्त या मत कहूँगा जो बुद्धि को परम सत्ता का स्वरूप, चाहे उसका स्वरूप कुछ भी हो, समझने या अनुभव करने के लिए असमर्थ मानता है। किन्तु साथ ही उस तक पहुँचने के लिए किसी अन्य साधन की अमोघता में विश्वास रखता है।"[1]

दास गुप्ता ने रहस्यवाद की परिभाषा करते हुए कहा है कि "रहस्यवाद किसी अन्य साधन की अमोघता में विश्वास रखता है" परन्तु वे स्वयं उस साधन की अमोघता में विश्वास करते प्रतीत नहीं होते। अपने एक अन्य ग्रन्थ में उन्होंने लिखा है कि—इस प्रकार का अन्तर्ज्ञान उस अनुभवकर्ता मनुष्य के लिए कितना भी सत्य हो, मनोवैज्ञानिक प्रणाली का एक कार्य-विशेष है और सर्वग्राह्य बाह्य सत्य की भाँति वह विश्वजनीन (Universal) नहीं बन सकता। यह अत्यधिक आत्मीय और व्यक्तिगत है।[2]

रहस्यवादी दार्शनिक प्रोफेसर रानाडे के मत से रहस्यवाद मन की वह प्रवृत्ति है जिसमे परम सत्य का साक्षात्कार प्रत्यक्ष, अव्यवधानित अभिनव एवं कारणेतर प्रेरणा से समन्वित होता है। रहस्यवाद का यह अर्थ समझ लेने पर इसे किसी अतीन्द्रिय एवं रहस्य-मूलक दृश्यमान का समानार्थक नही कहा जा सकता जैसा कि कभी-कभी समझा जाता है। रहस्यवाद परमशक्ति का अबाध तल्लय है। इसी अर्थ में रहस्यानुभूति को अनिर्वचनीय माना गया है।

रहस्यात्मक अनुभव की अवर्णनीयता का अन्तर्ज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध है। बुद्धि, भावना एव संकल्प रहस्यवादी प्रत्यक्ष के लिए सभी की आवश्यकता है, परन्तु अन्तर्ज्ञान को उनका सहायक होना नितान्त आवश्यक है। यह अवर्णनीयता तथा अन्तर्ज्ञान ईश्वर-प्राप्ति की इच्छा रखने वाले समस्त मनुष्यों का एक गुप्त समाज बना देते हैं, जिसके नियम यदि ज्ञात है तो उन्ही को ज्ञात हैं अथवा हम तो यह कहेंगे कि वे उनको भी नहीं ज्ञात हैं। उनको केवल ईश्वर जानता है। इस प्रकार सब देशों तथा सब कालों के रहस्यवादी एक शाश्वत अलौकिक समाज का निर्माण करते है। विश्वजनीनता, बौद्धिकता, भावात्मकता एवं नैतिक उत्साह—ये सब ईश्वर के प्रत्यक्ष, घनिष्ठ, आन्तरिक, ज्ञानमय प्रत्यक्ष की अपेक्षा

---

१. Hindu Mysticism *By S.N. Das Gupta, P. 17*

२. I have no quarrel with those minds in the past or present who in their particular moments of intuition have felt the presence of God as illuminating and annating their entire being. A touch of his love penetrates into their hearts and well up from within the ocean of love that lay dormant and over floods them but such an intuition howsoever true it may be to the person who feels it is a particular function of his psychopathic system and cannot be universalised as an objective truth acceptable to us all. It is very largely private and personal.

Religion & Rational Outlook by S.N. Das Gupta, PP. 345-346

गौणतर हैं। अन्ततः इस प्रकार एक रहस्यवादी का अन्तिम न्यायकर्ता स्वयं उसकी ही आत्मा है।[1]

अब तक अनेक विद्वानों द्वारा प्रस्तुत परिभाषाओं के आधार पर रहस्यवाद का विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि :

(१) सत्य एक है। विविध दर्शनों में ज्ञाताज्ञेय आदि भेद दृष्टिगोचर होते हैं परन्तु रहस्यवादी का ऐक्य इन सभी विषमताओं से शून्य है।

(२) सत्य अवर्णनीय है। किसी भी विधेय Predicate के माध्यम से उसे वस्तुतः व्यक्त नहीं किया जा सकता। कोई भी शब्द तथा शब्दों का लक्ष्यार्थ उस सत्य के स्वरूप को प्रकट करने में समर्थ नहीं है।

(३) सत्य तथा सत्य के प्रत्यक्षकर्ता में कोई अन्तर नही होता या यों कहा जाय वह बाहर-भीतर एक समान है। द्रष्टा को सत्य का जो स्वरूप बाहर प्राप्त होता है वही स्वरूप स्वयं अपने अन्तः में भी विद्यमान मिलता है।

(४) उस सत्य या ब्रह्म के साथ साधक द्रष्टा का व्यक्तिगत प्रातिभ (Intuitive) सम्बन्ध हो सकता है तथा केवल उसकी संभवता ही पर्याप्त नहीं है उसका होना भी प्रायः अनिवार्य है।

(५) उस सत्य के स्वरूप साक्षात्कार अथवा प्रातिभ सम्बन्ध के प्राप्त करने का मार्ग बौद्धिक प्रयास न होकर नैतिक कार्य-प्रवृत्ति है। इस प्रकार रहस्यवादियों ने बुद्धि द्वारा तथा तर्क के माध्यम से सत्य को अग्रहणीय माना है परन्तु स्वयं अपने भावों एवं विचारों को व्यक्त करने में बहुत ही उच्चकोटि के तर्क का प्रयोग किया है। प्रतीत यह होता है कि जैसे उन्होंने स्वयं तर्क की भी आत्मा का प्रत्यक्ष कर

---

१. Mysticism denotes that attitude of mind which involves a direct, immediate, first-hand, intuitive apprehension of God...Mysticism implies a silent enjoyment of God .....The ineffable character of mystical experience is closely linked with its intuitional character. Intelligence,Feeling and Will are all necessary in the case of Mystical endeavour: only Intuition must back them all. It is this combined character of mystical experience, namely, its ineffable and intuitive character, which has served to make all God-aspiring humanity a common and hidden Society, the laws of which are known to themselves if at all, we may even say that they are known only to God and not even to them ! It is thus that the Mystics of all ages and countries form an eternal Divine Society ..The universality, the intellectualism, the emotionalism and the moral fervour are but subservient to this greatest criterion, namely a first-hand internate, intuitive apprehension of God....A mystic's final judge is thus ultimately his own Self !

Prof. R. D. Ranade, Mysticism in Maharastra, PP. 1-2 and 30

लिया हो। सत्य को केवल 'महान्' कहते-कहते रहस्यवादी इसलिए रुक जाता है कि महान् के अतिरिक्त शायद अल्प कहा जा सकने से बचा जा रहा है। तर्क की आत्यंतिकी उपयोगिता न होकर केवल व्यावहारिक उपयोगिता है। रहस्यवादी वास्तव में अत्यन्त तार्किक होने के कारण तथा भाषा के सीमित होने के कारण मौन का मार्ग ग्रहण करता है।

सत्य शिव-स्वरूप में प्रत्यक्ष रहस्यवाद को एक नैतिक स्तर पर पहुँचाने का कारण होता है। इसी प्रत्यक्षभूत नैतिक बल के कारण ही रहस्यवादी एक उग्र क्रान्तिकारी के रूप में दृष्टिगोचर होता है; वह सिद्धान्तों के साथ समझौता करने वाला नहीं रह जाता। प्रत्यक्ष सत्य के उस स्वरूप के सम्मुख उसका सब कुछ, स्वयं जीवन भी, अत्यन्त नगण्य हो जाता है। इसी कारण युग-प्रवर्तक धर्मों के पैगम्बर या अवतार उत्कृष्ट कोटि के रहस्यवादी ही होते हैं। रहस्यवाद मानव की वह प्रवृत्ति है जिसके द्वारा वह समस्त चेतना को परमात्मा अथवा परम सत्य के साक्षात्कार में नियोजित करता है तथा साक्षात्कार-जन्य आनन्द एवं अनुभव को आत्मरूप समस्त मे प्रसारित करता है।

दार्शनिक दृष्टिकोण से रहस्यवाद परमात्मा के ऐकान्तिक, व्यक्तिगत, पराबौद्धिक ज्ञान तथा सम्बन्ध को स्वीकार करता है और व्यावहारिक दृष्टिकोण से रहस्यवाद सत्य-ज्ञान तथा धारणा को मूर्त स्वरूप देने के लिए एक उग्र नैतिक एव बौद्धिक प्रयत्न को जन्म देता है।

रहस्यवादी नैतिक चरित्र, असाधारण ज्ञान, भावना तथा इच्छाशक्ति-सम्पन्न वह व्यक्ति है जो नि:स्वार्थ भाव से अपने सभी साधनो को एकमात्र परम सत्य परमात्मा की प्रत्यक्षानुभूति में नियुक्त करके उस परम सत्य के पराबौद्धिक ज्ञान एवं अतीन्द्रिय आनन्द आस्वादन की सम्भावना मे विश्वास करता है तथा उसे प्राप्त करना चाहता है। इस प्रकार रहस्यवाद उस अनिर्वचनीय सत्य के प्रत्यक्ष का द्योतक है जिसको साधक चैतन्य की एक विशेष स्थिति में निरन्तर सलग्न रहकर प्राप्त करता है। यह सत्य अनुभवकर्ता का स्वयं प्रत्यक्ष होने के कारण उसके लिए सर्वाधिक सत्य होता है। उसकी सत्यता के लिए अन्य किसी बाह्य प्रमाण की अपेक्षा नही। यह ज्ञान साधारण बौद्धिक ज्ञान की अपेक्षा इतना स्पष्ट होता है कि साधक के लिए सन्देह का कोई स्थान ही नही रह जाता।

द्वितीय परिच्छेद

प्राचीन परम्परा

रहस्यवाद ईश्वर किंवा सत्य की प्रत्यक्षानुभूति की कला अथवा विज्ञान है, यह हम जान ही चुके हैं। अब आवश्यक यह हो जाता है, कि हम उन प्राचीनतम परम्पराओं के विषय में भी कुछ जान लें, जो हिन्दी के मध्यकालीन संत साहित्य में प्रवहमान रहस्यात्मक भावधारा की उद्‌गम स्थान कही जा सकती है। यहाँ पृष्ठभूमि रूप में उन परम्पराओं का अध्ययन नितान्त अपेक्षित है, जिनके प्रभाव के फलस्वरूप हिन्दी में रहस्यवाद विकसित होकर अपने समस्त अंगों सहित दृष्टिगत होता है। रहस्यात्मक भावधारा की प्राचीनतम परम्पराओ के अन्तर्गत आते हैं--वेद, उपनिषद्, गीता, पुराण तथा भक्तिसूत्र आदि जिनका हम क्रमशः विवेचन करेंगे।

वेद भारतीय चिन्तन के प्राचीनतम उपलब्ध ज्ञान-भण्डार है। मनीषियों के सदियों अपितु सहस्राब्दियों तक चलते हुए चिन्तन के क्रमिक विकास को, जो गुरु-शिष्य परम्परा के द्वारा सुरक्षित रहकर लिपिबद्ध किये जाने की स्थिति तक पहुँचा, हम वेद कहते हैं। उस चिन्तन की विचार-शृंखला का कितना अश नष्ट हो गया, इसके जानने का न कोई साधन है, न यहाँ यह आलोच्य विषय ही है। उस प्राचीन ज्ञान—वेद की शाखाओं-प्रशाखाओं के वर्णन से हमे केवल इतना ज्ञात हो पाता है कि एक हजार एक सौ[1] से अधिक वैदिक शाखाओं मे से केवल बारह के लगभग शाखाएँ उपलब्ध हैं।[2]

आस्तिक दर्शन वेदों को अपौरुषेय मानते है। अपौरुषेय को पुरुष अर्थात् मानव-रचित नहीं, अमानवीय अथवा ईश्वरीय भी कहा जा सकता है। तो क्या वेद मनुष्य की भाषा या वाणी में नहीं लिखे गये अथवा मानवज्ञान का विषय नही हो सके? अपौरुषेय

---

१. पतंजलि ने ऋग्वेद की इक्कीस, यजु की सौ, साम की एक हजार तथा अथर्ववेद की नौ शाखाएँ मानी हैं। चरण व्यूह में महामुनि शौनक ने ऋग्वेद का पाँच, यजु की छियासी, साम की एक हजार तथा अथर्व की नौ शाखाएँ ही स्वीकार की हैं। मुक्तिकोपनिषद् में शाखाओं की संख्या ग्यारह सौ अस्सी मानी गई है जो कि क्रम से ऋग्वेद की इक्कीस, यजु की एकसौ नौ, साम की एक हजार तथा अथर्व की पचास हैं।

२. ऋग्वेद=१. पाष्कल. २ शाकल शाखा
यजुर्वेद शुक्ल=१. माध्यदिनी, २. काण्व शाखा
यजुर्वेद कृष्ण=१. कठ, २. मैत्रायनी, ३. तैत्तिरीय शाखा
सामवेद=१. कौथुमी, २. राणापनीय, ३. जैमिनीय शाखा
अथर्ववेद=१ पिप्पलाद, २ शौनक शाखा

के विषय में प्राचीन काल से ही अनेक दार्शनिकों के द्वारा बहुत ही विद्वत्तापूर्ण तर्क-प्रतितर्क प्रस्तुत किये गये हैं। साधारणतया अपौरुषेय से तात्पर्य है वह ज्ञान जो मनुष्य के बुद्धि-जनित साधारण ज्ञान से भिन्न हो। इसी अपौरुषेय ज्ञान के द्वारा वेद-मंत्रों की रचना हुई। निरुक्तकार ने वेदों को साक्षात्कृत ही माना है। निरुक्त में इस प्रकार का वर्णन मिलता है—तपस्या के द्वारा वेद रूपी धर्म का साक्षात्कार करने वाले ऋषि हुए। उन्हीं ऋषियों ने अन्य ऋषियों को जिन्हें साक्षात्कार नही हुआ था, वेद-मन्त्रों का उपदेश दिया।[1] उन को यह ज्ञान इन्द्रिय सन्निकर्ष से भिन्न अपौरुषेय प्रतिभा (Intuition) से प्राप्त हुआ। इसी कारण उसे अमानवीय या अपौरुषेय कहा गया। यह बात और अधिक स्पष्ट हो जाती है जब हम देखते हैं कि वेद-मंत्रों में ऋषियों को मंत्रों का कर्ता न कहकर मंत्रों का द्रष्टा कहा गया है। वेद मंत्रों के ज्ञान का अर्जन नहीं वरन् दर्शन है जो कि ऋषियों को बुद्धयेतर माध्यम से प्राप्त हुआ। इसीलिए उनको वेद-मंत्रों का द्रष्टा कहा गया। वेदों का वह प्रातिभ ज्ञान बुद्धि, कल्पना, तर्क अथवा इच्छा का कार्य नही है।

वेदों की ही भाँति कुरान, इन्जील आदि भी प्रातिभ ज्ञान ही (Revelation) कहे जाते हैं। अन्तर केवल इतना है कि वेदो मे प्रातिभ ज्ञान का उदय अनेक ऋषियों में हुआ तथा कालान्तर मे वही शब्दबद्ध कर दिया गया परन्तु अन्य धार्मिक ग्रन्थो मे धर्म के आदि प्रवर्तक ईसा, मुहम्मद आदि व्यक्ति-विशेष का प्रातिभ ज्ञान ही निहित है। यों तो अधि-कांश धार्मिक नेता, मत-प्रवर्तकः बुद्ध, शकराचार्य आदि, प्रातिभ ज्ञान-सम्पन्न थे। अपने दृढ़ विश्वास से शक्ति प्राप्त करके वे अपने महान् कार्यो मे संलग्न हुए।

वेदों का कितना अश प्रातिभ है, कितना कल्पना-समन्वित, अथवा बुद्धि का कार्य यह न तो स्पष्टतया कहा ही जा सकता है न आलोचना का विषय ही है। हाँ, यह बात अवश्य है कि उस प्रातिभ ज्ञान के आधार पर कल्पना के द्वारा ज्ञान का आकार विस्तृत होता गया तथा कही-कही पर बौद्धिक एव पराबौद्धिक ज्ञान मे अन्तर ही दृष्टिगोचर नहीं होता। वास्तव में वेदो का एक बडा अंश किसी न किसी ऋषि की पराबौद्धिक रहस्या-त्मक अनुभूति का किसी न किसी अवस्था में विषय रहा होगा। वेदों के ज्ञान का बहुत-सा अंश जिसे आज हम साधारण ज्ञान या उपार्जित ज्ञान कह सकते हैं, उस समय मे इस प्रकार साधारण न रहा होगा।

वैदिक युग में मानव-ज्ञान अपनी शैशवावस्था में था। प्रकृति के प्रत्येक उपकरण तथा उसकी शक्ति में ऋषियों को देवत्व तथा अनन्त शक्ति की प्रतीति हुई। उन्होने स्तुति-परक ऋचाओं के द्वारा अपनी मन:प्रतीति को अभिव्यक्त किया। दैवी शक्तियों की पृथक्-पृथक् आराधना अथवा बहुदेवत्व उन्हें बहुत दिनो तक सन्तुष्ट नहीं रख सका। उनका बहु-देवत्व एक सृष्टा मे सन्निहित हो गया। यह कार्य बुद्धिजन्य नही कहा जा सकता। निरन्तर

---

१. साक्षात्कृतधर्माण ऋषयोबभूवः। ते अवरेभ्यः असाक्षात्कृत धर्मेभ्य उपदेशेन मन्त्रान सम्प्रादुः॥ निरुक्त १।६।५

चिन्तन के फलस्वरूप प्रातिभ ज्ञान से ही यह कार्य सम्पन्न हुआ होगा। समस्त स्थावर-जंगम उसी सृष्टा के अंगों के रूप में कल्पित हुए। यही नहीं जो कुछ था, जो कुछ है तथा जो कुछ होने वाला है वह सृष्टा 'पुरुष' ही है।[1] उपरिलिखित पुरुषसूक्त की भाँति अदितिसूक्त में कहा गया है—अदिति ही आकाश है, अदिति अंतरिक्ष है, अदिति माता है, अदिति ही पिता है तथा पुत्र है। अदिति समस्त देवता है, अदिति पंचजन है। जो कुछ उत्पन्न है तथा जो कुछ उत्पन्न होने वाला है, अदिति ही है।[2] इस प्रकार 'पुरुष' तथा 'अदिति' की सर्वव्यापकता मानकर उनकी विश्व से अभिन्नता स्वीकृत की गई है। अग्नि, मातरिश्वा, यम आदि देवता उसी के भिन्न-भिन्न रूप को धारण करने वाले हैं। वह एक ही है परन्तु कवि लोग उसे भिन्न नाम से पुकारते हैं।[3] एक परमात्मा में ही सब देवों का एकीकरण हुआ।

मानव-स्वभाव है कि वह वर्तमान से तृप्त नहीं रह सकता। वैदिक ऋषि सृष्टा की स्तुतियो से तृप्त तथा प्रसन्न न रह सके। उन्ही देवताओं तथा सृष्टा की प्रसन्नता के हेतु वे यज्ञरूप कर्मों में संलग्न हुए तथा शनैः शनैः कर्मों के ही जाल में आबद्ध हो गये। कर्मकाण्ड की प्रधानता होने पर भी सहस्रधारा ज्ञान-गंगा का कोई भी स्रोत शुष्क नहीं हुआ। नवीन स्रोतों से धारा मे जहाँ वेग आता गया, शक्ति आती गई वहाँ प्राचीन स्रोत क्षीणकाय होते हुए भी निर्मल होते गये। कर्म और यज्ञ की मान्यता बढ़ जाने पर वैदिक सहिताओं का एक कार्य यह भी हो गया कि वह उनके विधि-विधान का निर्देश करें। यज्ञ कैसे हो, वेदी कैसे बने, किन मत्रो के द्वारा किन देवताओ का आवाहन हो, यज्ञ-शेष के कौन भागी हों—आदि तत्सम्बन्धित अनेक समस्याओ का समाधान प्रस्तुत किया गया। स्थान-स्थान पर अग्नि, यम, सूर्य, चन्द्र, वायु, इन्द्र, वरुण आदि दैवी शक्तियों तथा देवों का स्तवन और उनके प्रति किये गये कर्म, यज्ञ-याग आदि एक मे मिल गये। हिरण्यगर्भ सूक्त में वर्णन है—यही हिरण्य-गर्भ सर्वप्रथम उत्पन्न हुए। उत्पन्न होने पर ये समस्त प्राणियो के एक अद्वितीय अधिपति हुए। इस पृथ्वी, अंतरिक्ष तथा आकाश को वे धारण करने वाले हैं। यज्ञ-यागों में उन्हीं के प्रसादनार्थ हम लोग हविष्य का होम किया करते हैं।[4] आनन्द रूप होने से अथवा 'इदमित्थं'

---

१. पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्॥ ऋ० वे० १०।९०।२

२. अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥
ऋ० वे० १।८९।१०

३. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
ऋ० वे० १।१६४।४६

४. हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम। ऋ० वे० १०।१२१।१

रूप से अनिर्वचनीय होने के कारण ये ही प्रजापति 'क:' शब्द के द्वारा व्यवहृत किये गये हैं।[१]

वैदिक चिन्तन की धारा रुकी नहीं, अबाधगति से आगे बढ़ती ही रही। मनीषियों के निरन्तर चिन्तन से उन्हें आश्चर्य तथा संदेहमिश्रित भावना से युक्त सत्य-तत्त्व का जो प्रत्यक्ष हुआ वह हमारे सन्मुख वैदिक साहित्य के उत्कृष्टतम दार्शनिक विवेचन के रूप में तो आया ही परन्तु उसे हम उच्च कोटि का रहस्यात्मक प्रत्यक्ष भी कह सकते हैं। इस रहस्यात्मक प्रत्यक्ष का वर्णन हमें नासदीय सूक्त में उपलब्ध होता है।

नासदीय, एक अति प्रसिद्ध दार्शनिक वैदिक सूक्त है, जिसमे इन्द्रियगोचर समस्त सृष्टि के अस्तित्व तथा सृजन के विषय में रहस्यात्मक अनुभूति से समन्वित एक ऋषि के अनुभव का वर्णन है। इस सूक्त के अनुसार आदि मे न सत् था और न असत्, अन्तरिक्ष नहीं था, न उसके परे आकाश ही था। किसने आवरण डाला, किसके सुख के लिए ? तब अगाध और गहन जल भी कहाँ था ?[२] तब न मृत्यु थी, न अमृत। रात और दिन का भेद समझने के लिए कोई साधन भी न था। वह अकेला ही अपनी शक्ति से श्वास-प्रश्वास लेता रहा। इसके अतिरिक्त, इसके परे कुछ न था।[३]

ज्ञाताओं ने अन्तःकरण मे विचार करके बुद्धि द्वारा निश्चय किया कि आरम्भ में यह सब अन्धकार से व्याप्त था, भेदाभेद रहित जल था, सर्वव्यापी ब्रह्म असत्य माया से आच्छादित था। मूल में एक ब्रह्म ही तप की महिमा से प्रकट हुआ। उसके मन से जो बीज निकला, वही काम हुआ तथा उसी काम से सब सृष्टि का सर्जन सम्भव हुआ।[४]

प्रकाश-किरणें इसे ओत-प्रोत करती हुई आड़ी फैली। यदि कहा जाए कि यह नीचे था, तो ऊपर भी था।[५] सत् का प्रसार किससे या कहाँ से आया—यह कौन जान सकता

---

१. अत्र किं शब्दोऽनिर्ज्ञातस्वरूपत्वात् प्रजापतौ वर्त्तते। ··
यद्वा कं सुखम्। तद्रूपत्वात् क इत्युच्यते ·
सायणभाष्य। १०।१२१।१

२. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्।
ऋ० वे० १०।१२९।१

३. न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास
ऋ० वे० १०।१२९।२

४. तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाऽजायतैकम्।
कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा।
ऋ० वे० १०।१२९।३,४

५. तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्
रेतोधा आसन् महिमान आसन् त्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः पुरस्तात्। ऋ० वे १०।१२९।५

है। स्वयं देव भी उस विसर्ग के पश्चात् हुए। फिर वह जहाँ से हुआ, उसे कौन जान सकता है।[1]

यह निर्मित किया गया या नहीं, उसे परम आकाश में रहने वाला सृष्टि का जो अध्यक्ष है वही जानता होगा या न भी जानता हो कौन कहे ?[2] इस प्रकार हमने देखा कि अभी तक सृष्टि, सृष्टा, प्रकृति, सत् आदि के विषय में विभिन्न मनीषियों के विभिन्न मत थे। अधिकांश विद्वान् इस सबके अस्तित्व को मानते थे और कुछ ऐसे भी थे, जो कि इनके अस्तित्व में विश्वास नहीं करते थे परन्तु किसी को उनके अस्तित्व अथवा अनस्तित्व के विषय में द्विविधात्मक सन्देह नहीं हुआ था : ना सदासीन्नो सदा सी तदानीं। नासदीयसूक्त में दार्शनिक दृष्टिकोण से प्रथम बार यह शंका उत्पन्न हुई कि सत् का अस्तित्व था भी या नहीं, सत् का स्वरूप वर्णन योग्य है अथवा अवर्णनीय, उसके स्वरूप का कोई वेत्ता भी है या नही। यहाँ तक कि स्वय देव भी जानता है या नही।

सर्वव्यापी तथा रहस्यमय ब्रह्म की महत्त्वपूर्ण कल्पना का वर्णन अनेक वैदिक सूक्तों में मिलता है। इसका सुन्दर दृष्टान्त पुरुष-सूक्त में इस प्रकार दृष्टिगत होता है—वह हजार मस्तक, सहस्र शीर्षा, हजार आँखों तथा हजार पैर वाला 'पुरुष' चारों ओर से इस पृथ्वी को घेर कर परिमाण मे दश अगुल अधिक है।[3] ब्रह्म की रहस्यात्मकता के विषय में ऋग्वेद में वर्णन है—मनुष्यों की मधुरवाणी में वही बोलता है, पक्षियों के कलरव में वही चहकता है, विकसित पुष्पो के रूप मे वही हँसता है, प्रचण्ड गर्जन तथा तूफान में वही क्रोधभाव को प्रकट करता है। नभोमण्डल में चन्द्र-सूर्य तथा ताराओं को वही तत्तत् स्थान पर स्थिर कर देता है।[4] वैदिक महर्षियों द्वारा प्रस्तुत इस अभिव्यक्ति की तुलना में आज के विद्वानों की रहस्यवादी उक्तियाँ अधिक श्रेष्ठ नही प्रतीत होतीं। यही रहस्यात्मक अनुभूतियाँ अविच्छिन्नगति से उत्तरोत्तर उन्नत अवस्था को प्राप्त होती गईं जिनका निखरा हुआ रूप हम मध्यकालीन संत साहित्य में देखते हैं।

वैदिक साहित्य में अभिव्यक्त रहस्यभावना का निदर्शन विगत पृष्ठों में किया गया है। प्रस्तुत विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक साहित्य के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में उत्कृष्ट कोटि की रहस्यानुभूति अभिव्यक्त हुई है। वैदिक ग्रन्थों मे इस प्रकार की सजातीय

---

१. को अद्धा वेदक इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेनाऽथ को वेद यत आबभूव।
ऋ० वे० १०।१२९।६

२. इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद।
ऋ० वे० १०।१२९।७

३. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा ऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥ ऋ० वे० १०।९०।१

४. ऋ० वे० १०।१२१

भावनाओं की अनेक बार आवृत्ति हुई है। सच बात यह है कि इस प्रकार के साहित्य की रचना करने वाले वैदिक कालीन मनीषी उच्चकोटि के भावुक, तत्त्वदर्शी, तथा धार्मिक भावना से ओतप्रोत व्यक्ति थे। उनकी दृष्टि मे ससार के अणु-अणु में परब्रह्म परिव्याप्त है। सर्वत्र उसी की रहस्यमयी महिमा दृष्टिगत होती है।

वैदिक साहित्य में अभिव्यक्त रहस्य-भावना का अध्ययन कर लेने के अनन्तर अब हम उपनिषद् साहित्य में प्रस्फुटित रहस्य-भावना का अध्ययन करेंगे। वैदिक साहित्य की भाँति ही उपनिषद् साहित्य प्रचुर विस्तृत एव व्यापक है। इस समय सौ से अधिक उपनिषद् प्रामाणिक माने जाते हैं। परन्तु यहाँ पर हम केवल कतिपय प्रमुख उपनिषदों को ही अपने अध्ययन का आधार बनाएँगे। कारण कि सम्पूर्ण उपनिषद् साहित्य में अभिव्यक्त रहस्य-भावना एक स्वतत्र ग्रन्थ का आलोच्य विषय है।

आस्तिक भारतीयों के लिए सत्य के सम्बन्ध मे वेद प्रथम तथा अन्तिम शब्द है। आध्यात्मिक वरीयता के लिए वेदों को अंतिम प्रमाण स्वीकार किया गया है। इंद्रिय प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान उसके सम्मुख सब गौण स्थान प्राप्त करते है। उपनिषदों का ज्ञान ऋषियों का स्वानुभूत अतीन्द्रिय प्रातिभ ज्ञान अथवा साक्षात्कार है।

बृहदारण्यक उपनिषद् मे रहस्यमय ब्रह्मज्ञान का उपदेश पुत्र या शिष्य के अतिरिक्त किसी अन्य को न देने का आदेश है। सत्यकाम जाबाल ने अपने शिष्यों को यही उपदेश दिया था।[1] श्वेताश्वतर उपनिषद् मे भी पुत्र या शिष्य तथा प्रशान्त चित्त वाले पुरुष को ही ब्रह्मविद्या देने का विधान है।[2] छान्दोग्य उपनिषद् मे तो यहाँ तक कहा गया है कि ज्येष्ठ पुत्र या अन्तेवासी शिष्य के अतिरिक्त यदि कोई अन्य व्यक्ति आचार्य को धन से परिपूर्ण तथा सागर परिवेष्टित समस्त पृथ्वी भी प्रदान करे, तो भी उसे ब्रह्मज्ञान न देना चाहिए।[3] एक ओर जहाँ आचार्य के लिए सर्वसाधारण को ब्रह्मज्ञान प्रदान न करने का निर्देष है, वहाँ शिष्य के लिए भी यह चेतावनी है कि आचार्य के बिना उसे ज्ञान नही प्राप्त हो सकता। छान्दोग्य उपनिषद् मे सत्यकाम जाबाल का कथन है—मैने श्रीमान् जैसे ऋषियो से सुना है कि आचार्य-प्रदत्त विद्या ही अतिशय साधुता को प्राप्त होती है।[4]

उपर्युक्त प्रसगो से यह प्रकट होता है कि उपनिषद् काल तक आते-आते ब्रह्मविद्या पूर्णतया रहस्यमयी तथा गोपनीय मान ली गई थी, जिसकी पुष्टि मे जरत्कारु और याज्ञ-

१. एतमु हैव सत्यकामो जाबालोऽन्तेवासिभ्य उक्त्वोवाचापि य एनँ् शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्शाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति तमेतं नापुत्राय वानन्तेवासिने वा ब्रूयात्। बृ० ६।३।१२

२. वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः॥ श्वे० ६।२२

३. नान्यस्मै कस्मैचन तद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां।
धनस्य पूर्णां दद्यादेतदेव ततो भूय इत्येतदेव ततो भूय इति॥ छा० ३।११।६

४. श्रुतँ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्याद्धै विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापतीति तस्मै हैतदेवोवाचात्र ह न किञ्चन वीयायेति वीयायेति॥ छा० ४।६।३

वल्क्य का संवाद द्रष्टव्य है। जरत्कारु के द्वारा ब्रह्मविद्या विषयक यह प्रश्न करने पर कि— उस समय यह पुरुष कहाँ रहता है, याज्ञवल्क्य ने कहा—हे प्रियदर्शन आर्तभाग ! तू मुझे अपना हाथ पकड़ा। हम दोनों ही इस प्रश्न का उत्तर जानेंगे। यह प्रश्न जन-समुदाय में विचारणीय नहीं है। तदनन्तर उन दोनों ने एकान्त मे विचार किया।[१]

छान्दोग्य उपनिषद् में हम देखते हैं कि अपरिचित स्थान में लाये हुए एक अनजान व्यक्ति के दृष्टान्त द्वारा आचार्य-प्रदत्त ज्ञान की प्राप्ति का उपदेश दिया गया है। किसी ऐसे पुरुष को जिसकी आँखें बाँध दी गई हों, गांधार देश से लाकर जनशून्य स्थान में छोड़ दिया जाय। उस स्थान में वह पूर्व, उत्तर, दक्षिण अथवा पश्चिम की ओर मुख करके चिल्लाये कि "मुझे आँखें बाँधकर यहाँ लाया गया है और आँखें बाँधे हुए ही छोड़ दिया गया है।" उस पुरुष के बन्धन खोलकर कोई कहे कि "गाँधार देश इस दिशा में है अतः इसी दिशा को जा" तो वह विद्वान् बुद्धिमान् पुरुष एक ग्राम से दूसरा ग्राम पूछता हुआ गाँधार में ही पहुँच जाता है। इसी प्रकार इस लोक में आचार्यवान् पुरुष ही सत् को जानता है। उसके लिए मोक्ष प्राप्त करने में तभी तक विलम्ब है जब तक कि वह देह-बन्धन से मुक्त नही होता। उसके पश्चात् तो वह सत्सम्पन्न ब्रह्म को प्राप्त हो ही जाता है।[२]

कठोपनिषद् मे आचार्य-प्रदत्त आत्मज्ञान की दुर्लभता तथा आचार्य और शिष्य दोनों की ही महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहा गया है—जो बहुतो को तो सुनने के लिए भी नहीं मिलता, जिसे बहुत से सुनकर भी नही समझते, उस आत्मतत्त्व का निरूपण करने वाला भी आश्चर्य रूप है, उसको प्राप्त करने वाला भी कोई निपुण पुरुष ही होता है तथा कुशल आचार्य द्वारा उपदेश दिया हुआ ज्ञाता भी आश्चर्य रूप है।[3] जो पाप-कर्मों से निवृत्त नही हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ शांत नही है, उसे ब्रह्मविद्या अथवा आत्मज्ञान प्राप्त नही हो सकता।[४] अनेक प्रकार से कल्पित की गई यह आत्मा नीच पुरुष द्वारा कहे जाने पर भली-भाँति जानी नही जा सकती। अभेददर्शी आचार्य द्वारा उपदेश किये जाने पर यह दुर्विज्ञेय आत्मा जानी जाती है।[५] यह आत्मा या आत्मज्ञान न प्रवचन से, न बुद्धि से, न अधिक

१. क्वायं तदा पुरुषो भवतीत्याहर सोम्य हस्तमार्त भागावामेवैतस्य वेदिष्यावो न नावेतत् सजन इति। तौ होत्क्रम्य मन्त्रयाञ्चक्राते ? बृ० ३।२।१३

२. यथा सोम्य पुरुष गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत्स यथा तत्र प्राङ्वोदङ्वाधराङ्वा प्रत्यङ्वा प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः। छा० ६।१४।१
तस्य यथाभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं गन्धारा एतां दिशं व्रजेति स ग्रामाद्ग्रामं पृच्छन्पण्डितो मेधावीगन्धारानेवो पसम्पद्येतैवमेवेहाचार्यवान्पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति। छा० ६।१४।२

३. श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥ कठो० १।२।७

४. नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनेनमाप्नुयात्। कठो० १।२।२४

५. न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति अणीयान्ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात्। कठो० १।२।८

श्रवण से प्राप्त होने योग्य है । केवल आत्म-लाभ के लिए ही प्रार्थना करने वाले पुरुषों को आत्मा स्वयं वरण करती है । आत्मा के द्वारा ही आत्मा की प्राप्ति होती है ।[१] सम्यक् ज्ञान के लिए शुष्क तार्किक से भिन्न शास्त्रज्ञ आचार्य द्वारा कही हुई यह बुद्धि जिसे कि नचिकेता प्राप्त हुआ है तर्क द्वारा प्राप्त होने योग्य नही है ।[२]

मुंडकोपनिषद् में गुरु के द्वारा विद्या प्राप्त करने का विधान इस प्रकार किया गया है । कर्म द्वारा प्राप्त लोकों की परीक्षा कर ब्राह्मण निर्वेद को प्राप्त हो जाये । उस नित्य वस्तु का साक्षात् ज्ञान प्राप्त करने के लिए हाथ में समिधा लेकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के ही समीप जाना चाहिये ।[३] गुरु-शिष्य सम्बन्ध की परम्परा में गुरु के विषय में तो सर्वत्र ही बहुत कहा गया है परन्तु मुडकोपनिषद् में शिष्य के गुणों पर भी प्रकाश डाला गया है । एक ऋचा मे कहा गया है जो अधिकारी क्रियावान्, श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ और स्वय श्रद्धापूर्वक एकर्षि नामक अग्नि में हवन करने वाले है तथा जिन्होंने विधिपूर्वक शिरोव्रत का अनुष्ठान किया है, उन्ही से यह ब्रह्मविद्या कहनी चाहिये ।[४]

श्वेताश्वतर में परमेश्वर और गुरु मे समान श्रद्धा-भक्ति रखने वाले शिष्य के प्रति किया गया उपदेश ही सफल माना गया है । जिसकी परमेश्वर मे अत्यन्त भक्ति है और जैसी परमेश्वर मे है वैसी ही गुरु मे भी है, उस महात्मा के प्रति कहने पर ही इन तत्त्वो का प्रकाश होता है ।[५]

मुडकोपनिषद् मे विद्याएँ दो प्रकार की मानी गई है—परा तथा अपरा । अपरा के अन्तर्गत वेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष आदि का ज्ञान है । दूसरी पराविद्या है जिसके द्वारा अक्षर परमेश्वर का ज्ञान होता है ।[६] यह पराविद्या अर्थात् ब्रह्म-विद्या ही सर्वश्रेष्ठ कही गई है । केवल मन्त्रज्ञान के द्वारा मनुष्य शोक से रहित नही होता तथा समस्त शास्त्रों एव वेदों का अध्ययन करके भी ब्रह्मज्ञान प्राप्त किये बिना मनुष्य मुक्ति

---

१. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् ।। कठो० १।२।२३

२. नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ।। कठो० १।२।९

३. परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् मुंडको० १।२।१२

४. क्रियावंतः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षि श्रद्धयन्तः ।
तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ।। मुंडको० ३।२।१०

५. यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।। श्वेता० ६।२३

६. तस्मै स होवाच । द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च । मुंडको० १।१।४

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति ।
अथ परा, यया तदक्षरमधिगम्यते । मुंडको० १।१।५

को प्राप्त नहीं होता। छान्दोग्य उपनिषद् में नारद के कथन द्वारा ब्रह्मज्ञान की श्रेष्ठता एवं वरेण्यता पर पूरा बल दिया गया है। नारद ने सनत्कुमार से कहा—भगवन् ! मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद को जानता हूँ। इसके अतिरिक्त इतिहास-पुराण रूप पंचम वेद, वेदों का वेद, श्राद्ध, कल्प, गणित, उत्पात ज्ञान, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीति, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षात्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, जनविद्या और नृत्य, संगीत आदि सब मैं जानता हूँ[1] परन्तु हे भगवन् ! मैं केवल मंत्रवेत्ता हूँ, आत्मवेत्ता नहीं। मैंने आप जैसे तत्त्व-दर्शियों से सुना है कि आत्मवेत्ता शोक से मुक्त हो जाता है और हे भगवन् ! मुझे शोक होता है, अस्तु मेरा शोक से निस्तार कीजिए।[2] इस आख्यान से स्पष्ट हो जाता है कि मंत्र और दर्शन के ज्ञाता तथा रहस्यमय दार्शनिक तत्त्व के प्रत्यक्षकर्ता में भेद है। दार्शनिक तत्त्व का बौद्धिक ज्ञान हो जाने पर भी साक्षात्कार के अभाव में मुक्ति एवं शान्ति नही मिलती।

इसी सन्दर्भ मे बृहदारण्यक तथा ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है कि जो अविद्या रूपी कर्म की उपासना करते हैं, वे अन्धकार में प्रवेश करते हैं परन्तु उनसे भी गहनतर अन्धकार में वे प्रवेश करते हैं, जो विद्या में रत हैं।[3] प्रस्तुत कथन "विद्या में रत गहनतर अन्धकार में प्रवेश करते है" कुछ विचित्र-सा अवश्य लगता है परन्तु विद्या यहाँ पर वैदिक कर्मरूपी विद्या के रूप में प्रयुक्त हुई है। यो तो विद्या में रत हुआ ही नहीं जा सकता। विद्या प्राप्त करके सबसे विरति स्वतः ही हो जाती है।

कठोपनिषद् का कथन है—अविद्या के भीतर रहने वाले, स्वयं बुद्धिमान् बने हुए तथा अपने को पंडित मानने वाले मूढ़ पुरुष नेत्रविहीन से ही ले जाये जाते हुए नेत्रविहीन की भाँति भटकते रहते है।[4] मनुष्य के निकट श्रेय और प्रेय दोनों ही उपस्थित रहते हैं। विवेकी पुरुष प्रेय की अपेक्षा श्रेय का वरण करता है किन्तु मूढ़ योग-क्षेम के निमित्त प्रेय का वरण करता है।[5] इन्हीं अविद्याग्रस्त लोगों को सम्बोधित करते हुए कहा गया है—उठो ! अज्ञान-निद्रा से जागो और श्रेष्ठ पुरुषों के पास जाकर ज्ञान प्राप्त करो। तत्त्वज्ञानी लोग उस मार्ग को छुरे की धार के समान तीक्ष्ण तथा दुर्गम बताते है।[6]

---

१. ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदँ् सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पश्चमं वेदानां वेदं पित्र्यँ् राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्या क्षत्रविद्यां नक्षत्र विद्याँ् सर्पदेवजन विद्यामेतद्भगवोऽध्येमि। छा० ७।१।२

२. सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतँ् ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहंभगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति तँ् होवाच यद्वै किञ्चैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत् ॥ छा० ७।१।३

३. अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ् रताः ॥ बृ० ४।४।१०।ई०९

४. अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पंडितंमन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः। कठो० १।२।५

५. श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेत स्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ॥ कठो० १।२।२

६. उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति। कठो० १।३।१४

श्वेताश्वतर उपनिषद् में यौगिक साधना का जो वर्णन हुआ है, वह मुक्ति के साधन के रूप में स्वीकृत हुआ प्रतीत होता है। तीनों शिर, ग्रीवा, वक्षस्थल को ऊँचा रखते हुए शरीर को सीधा रखकर मन के द्वारा इन्द्रियों को हृदय में सन्निविष्ट कर विद्वान् 'ओंकार' रूप नौका के द्वारा सम्पूर्ण भयानक जल-प्रवाहों को पार कर जाता है।[1] योग में संलग्न साधक को उचित है कि युक्त आहार-विहार करता हुआ, प्राणों का निरोध करके जब प्राणशक्ति क्षीण हो जाय, नासिका रध्र के द्वारा पुष्ट अश्व से युक्त रथ के सारथि की भाँति वह सावधान होकर मन का नियंत्रण करे।[2] जो समतल, पवित्र, शर्करा, अग्नि तथा बालुका से रहित; शब्द, जल तथा आश्रय आदि से भी शून्य हो; मन के अनुकूल हो, और नेत्रों को पीड़ा न देने वाली हो ऐसी गुहा आदि स्थान मे मन को युक्त करे।[3] इस प्रकार प्राणायाम तथा अन्य यौगिक क्रियाएँ करने से प्राप्त सिद्धियों मे प्रथम सिद्धि शरीर का हल्कापन, आरोग्य, विषयासक्ति की निवृत्ति, कान्ति की उज्ज्वलता, स्वर की मधुरता तथा मलमूत्र की न्यूनता बताई गई है।[4] यह सभी सिद्धियाँ वास्तविक रहस्य से सम्बन्धित नहीं हैं परन्तु उस रहस्यमय की प्राप्ति में सहायक कारण अवश्य हो सकती है। यौगिक क्रियाओ द्वारा तथाकथित मानसिक तथा शारीरिक स्थिति वाले के लिए उस परम सत्य के प्रत्यक्ष का मार्ग सुगम हो जाता है। इन्ही यौगिक क्रियाओं की साधना आगे चलकर संत-साहित्य में हठयोग साधना के रूप मे दृष्टिगोचर होती है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् मे हठयौगिक प्रक्रियाओ की साधना के साथ ही साथ ध्यानयोग का भी समावेश हुआ है। ध्यान के द्वारा ऋषियो को कारणभूता ब्रह्मशक्ति का साक्षात्कार हुआ।[5] परमात्म ज्ञान के प्राप्त हो जाने पर अविद्या आदि सम्पूर्ण क्लेशों का नाश हो जाता है। क्लेशो का क्षय हो जाने पर जन्म-मृत्यु की निवृत्ति हो जाती है तथा ध्यान करने से शरीरपात के अनन्तर सर्वेश्वर्यमयी तृतीय अवस्था की प्राप्ति होती है, फिर आप्तकाम होकर कैवल्यपद को प्राप्त हो जाता है।[6]

---

१. त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥ श्वे० २।८

२. प्राणान्प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः॥ श्वे० २।९

३. समे शुचौ शर्करावह्निवालुका विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्॥ श्वे० २।१०

४. लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्ति प्रथमा वदन्ति॥ श्वे० २।१३

५. ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥ श्वे० १।३

६. ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः। श्वे १।११

पूर्ण ब्रह्म-साक्षात्कार के मार्ग में साधक को अनेक रंगों तथा शब्दों का प्रत्यक्ष होता है, जिसे हम अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष कह सकते हैं। परन्तु यह प्रत्यक्ष अंतिम गति नहीं कहा जा सकता। ब्रह्म-साक्षात्कार के मार्ग में आने वाली अनेक सिद्धियों में से ये भी हैं। अतीन्द्रिय प्रत्यक्षानुभूति की अभिव्यक्तियों से हिन्दी-साहित्य तो भरा-पूरा है ही, उपनिषदों में भी इसका पर्याप्त वर्णन मिलता है। बृहदारण्यक में उस मोक्ष साधन रूप प्रत्यक्ष के विषय में मुमुक्षुओं के अनेक मत व्यक्त हुए हैं। अपने-अपने प्रत्यक्ष के अनुसार कोई उसे शुक्ल बतलाते हैं, दूसरे नील वर्ण कहते हैं तथा अन्य उसे पिंगल, हरित अथवा लोहित वर्ण बतलाते हैं, किन्तु यथार्थतः वह मार्ग केवल ब्रह्म के द्वारा अनुभूत है और पुण्य करने वाला ब्रह्मवेत्ता ही उसे प्राप्त करता है।[1] शाकर भाष्य में इन्हें श्लेष्मादि रस से परिपूर्ण सुषुम्नादि नाड़ियाँ ही माना गया है।[2] इसी उपनिषद् में अन्यत्र ब्रह्म के अचाक्षुष प्रत्यक्ष के विषय में इस प्रकार कहा गया है—उस पुरुष का रूपरग ऐसा है जैसे हल्दी में रगा हुआ वस्त्र, श्वेत ऊनी वस्त्र, वीरवधूटी, अग्नि की ज्वाला, श्वेत कमल तथा जैसे दामिनी की दमक। अब इसके पश्चात् 'नेति नेति' ब्रह्म का आदेश है।[3] यह अनेक रंगों का वर्णन साधनावस्था में अनुभूत प्रत्यक्ष का यथावत् वर्णन है। इसके पश्चात् होने वाले पूर्ण साक्षात्कार का वर्णन शब्दों में नही किया जा सकता तथा उस अनिर्वचनीयता को 'नेति नेति' के द्वारा व्यक्त किया गया है।

केनोपनिषद् मे कहा गया है—जो बिजली की कौध के समान अथवा पलक मारने के समान प्रादुर्भूत हुआ, वह उस ब्रह्म का अधिदैवत् रूप है।[4] श्वेताश्वतर उपनिषद् में तो यह बिलकुल स्पष्ट शब्दो मे व्यक्त किया गया है कि योगाभ्यास करते समय प्रथम अनुभव होने वाले नीहार, धूम, सूर्य, वायु, अग्नि, खद्योत, विद्युत, स्फटिक मणि और चन्द्रमा—इनके रूप ब्रह्म की अभिव्यक्ति कराने वाले होते है।[5] इन स्वरूपों को ब्रह्म का स्वरूप मान लेने पर भी इन्हे वास्तविक साक्षात्कार का पर्याय नहीं माना जा सकता। यह आंशिक प्रत्यक्ष योग अथवा सिद्धि के मार्ग में एक दशा मात्र है। वास्तविक एवं पूर्ण साक्षात्कार का स्वरूप उससे श्रेष्ठ तथा महान् है।

बृहदारण्यक तथा ईशावास्योपनिषद् में आवरण के पीछे पिहित सत्य-ब्रह्म को रहस्य

---

१. तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिंगलं हरितं लोहितं च।
एष पन्था ब्रह्मणा ह्यानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यकृत्तैजसश्च॥ बृ० ४।४।६

२. तस्मिन् मोक्षसाधनमार्गे विप्रतिपत्तिर्मुमुक्षूणाम्; कथम्; तस्मिन् शुक्लं शुद्धं विमलमाहुः केचिन्मुमुक्षवः नीलम् अन्ये, पिङ्गलम् अन्ये, हरितं लोहितं च यथादर्शनम्। नाड्यस्तु एताः सुषुम्नाद्याः श्लेष्मादि-रससंपूर्णाः "शुक्लस्य नीलस्य पिंगलस्य" ।४।३।२०। इत्याद्युक्तत्वात्।
बृ० ४।४।६।शां० भा०

३. तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपम्। यथा माहारजनं वासो यथा पाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपो यथाग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीकं यथा सकृद्विद्युत्तं सकृद्विद्युत्तेव ह वा अस्य श्रीर्भवति य एवं वेदाथात आदेशो नेति नेति" ॥ बृ० २।३।६

४. तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा ३ इतीन्न्यमीमिषदा ३ इत्यधिदैवतम्। केनो० ४।४

५. नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे॥ श्वेता०२।११

का प्रतीक माना गया है। सत्य का मुख ज्योतिर्मय पात्र से ढका हुआ है। पूषन् से प्रार्थना करते हुए ऋषि का उद्गार है—सत्य संज्ञक ब्रह्म का मुख ज्योतिर्मय पात्र से ढका हुआ है। हे संसार का पोषण करने वाले सूर्यदेव! तू मुझ सत्यधर्मा के प्रति उसका अनावरण कर दे। अपनी किरणों को हटा ले और तेज को समेट ले। तेरा जो अत्यन्त कल्याणमय रूप है, वह मैं देखता हूँ। यह जो आदित्य मण्डलस्थ पुरुष है, वही मैं अमृत-स्वरूप हूँ।[1] परम सत्य के विषय में छान्दोग्य उपनिषद् में उल्लेख है कि प्रारम्भ में एकमात्र अद्वितीय सत् ही था। उसी के विषय में कतिपय लोगों ने ऐसा भी कहा है कि आरम्भ में एकमात्र अद्वितीय असत् ही था।[2] नासदीय सूक्त में सत्य के सदासद भिन्नरूप का वर्ण हम देख ही चुके हैं।

मोक्ष का मार्ग सूक्ष्म, विस्तीर्ण और पुरातन है। वह आत्मकामी ब्रह्मवेत्ता को स्पर्श किये रहता है और वही उसका फलसाधक ज्ञान प्राप्त करता है। धीर ब्रह्मवेत्ता पुरुष इस लोक मे जीवित रहते ही मुक्त होकर शरीर-त्याग के पश्चात् उसी मार्ग से स्वर्गलोक अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है।[3] प्रत्यक्षकर्ता ब्रह्मवेत्ता की वास्तविक स्थिति तो यह हो जाती है कि उसके लिए अतः तथा बाह्य में कोई अन्तर ही नही रह जाता। अपनी प्रिय भार्या का आलिंगन करने वाले पुरुष को जिस प्रकार अंतः और बाह्य का किसी प्रकार का ज्ञान नहीं रहता, उसी प्रकार यह पुरुष प्रज्ञात्मा से आलिंगित होने पर अतः और बाह्य कुछ भी नहीं जानता। यह इसका आप्तकाम, आत्मकाम, अकाम और शोकशून्य रूप है।[4]

यह ब्रह्मवेत्ता की नित्य महिमा है जो कर्म से न तो बढती है न घटती है। उस महिमा के स्वरूप को जान लेने से व्यक्ति पाप-कर्म से लिप्त नही होता। इस प्रकार जानने वाला शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर आत्मा में ही आत्मा को देखता है सभी को आत्मा देखता है। उसे पाप की प्राप्ति नही होती। वह सम्पूर्ण पापों को पार कर जाता है। उसे पाप ताप नहीं पहुँचाते। वह समस्त पापो को सन्तप्त करता है। वह पाप रहित, निष्काम, निःशंसय ब्राह्मण हो जाता है।[5] वैश्वानर ब्रह्म को जानने वाला उस

---

१. हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्वंपूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये। पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्। समूह तेजो तत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि। योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।
बृ० ५।१५।१

२. सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तद्धैक
आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत॥ छा० ६।२।१

३. तदेते श्लोका भवन्ति। अणुः पन्था विततः पुराणो मां स्पृष्टोऽनुवित्तो मयैव। तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गलोकमिति ऊर्ध्वं विमुक्ताः।
बृ० ४।४।८

४. तद् वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माभयं रूपम्। तद् यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरं तद् वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपं शोकान्तरम्।
बृ० ४।३।२१

५. तदेतदृचाभ्युक्तम्। एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्। तस्यैव स्यात् पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेनेति। तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति नैनं पाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तरति नैनं पाप्मा तपति सर्वं पाप्मानं तपति

स्थिति को प्राप्त हो जाता है कि उसका कोई दुष्कर्म भी उसे पाप में लिप्त नहीं करता। वह समस्त विधि एवं निषेधों से परे हो जाता है। उसके समस्त कार्य केवल उस परमात्मा के लिए ही हो जाते हैं। वैश्वानर अग्नि को जानने वाला यदि चाण्डाल को उच्छिष्ट भी दे तो वह अन्न वैश्वानर आत्मा में ही हुत होगा।[1] छान्दोग्य उपनिषद् में रहस्यदर्शी की श्रेष्ठता को सर्वोपरि रखते हुए कहा गया है कि सुवर्ण-चोर, मद्यप, गुरु-स्त्रीगामी, ब्रह्म-हत्यारा ये चारों पतित होते हैं। पाँचवाँ पतित वह होता है जो इनके कुसंग में रहता है।[2] किन्तु जो रहस्य-तत्त्व को जानता है वह उनके सम्पर्क में रहता हुआ भी पाप से लिप्त नहीं होता। वह शुद्ध, पवित्र, पुण्यलोक का भागी होता है।[3] ब्रह्मोपनिषद् के ज्ञाता के लिए न तो सूर्य का उदय होता है, न अस्त। वह सर्वदा एक आनन्दमय, नित्य-लोक में विचरण किया करता है। उस अज्ञानान्धकार से रहित शाश्वत प्रकाश से परिपूरित स्थिति मे स्वयं प्रकाश ज्ञान की किरणें अनवरत विकीर्ण हुआ करती हैं।[4]

बृहदारण्यक में ब्रह्मवेत्ता अथवा आत्मवेत्ता के विषय में बड़े ही रहस्यमय उद्गारों की व्यंजना हुई है। जिस समय ब्रह्मवेत्ता के हृदय मे स्थित सम्पूर्ण कामनाओं का नाश हो जाता है, उस समय यह मरणधर्मा अमृत हो जाता है और यहीं इस शरीर में ही उसे ब्रह्म-प्राप्ति होती है। सर्प द्वारा परित्यक्त केचुल जिस प्रकार निरर्थक पड़ी रहती है, उसी प्रकार यह शरीर निरर्थक पडा रहता है। यह अशरीर अमृत-प्राण तो ब्रह्म ही है, तेज ही है।[5] जहाँ द्वैत की भाँति भासित होता है, वहीं अन्य अन्य को सूँघता है, अन्य अन्य को देखता है, अन्य अन्य को सुनता है, अन्य अन्य का अभिवादन करता है, अन्य अन्य का मनन करता है तथा अन्य अन्य को जानता है। जहाँ इसके लिए सब आत्मामय ही हो गया है, वहाँ किसके द्वारा किसे सूँघे, किसके द्वारा किसे देखे, किसके द्वारा किसे सुने, किसके द्वारा किसका अभिवादन करे, किसके द्वारा किसका मनन करे और किसके द्वारा किसे जाने। अरे विज्ञाता को किसके द्वारा जाने।[6]

विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राडेनं प्रापितोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽहं भगवते विदेहान् ददामि मां चापि सह दास्यायेति। — बृहदा० ४।४।२३

१. तस्मादु हैवंविद्यपि चण्डालायोच्छिष्टं प्रयच्छेदात्मनि हैवास्य तद्वैश्वानरे हुतं स्यादिति तदेषश्लोकः। — छान्दो० ५।२४।४

२. स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन्ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पंचमश्चाचरंस्तैरिति॥ — छान्दो० ५।१०।६

३. अथ ह य एतानेवं पञ्चाग्नीन्वेद न सह तैरप्याचरन्पाप्मना लिप्यते शुद्धः पूतः पुण्यलोको भवति य एवं वेद य एवं वेद। — छान्दो० ५।१०।१०

४. न ह वा अस्मा उदेति न निम्लोचति सकृद्दिवा हैवास्मै भवति य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद। — छान्दो० ३।११।३

५. यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति। तद्यथाहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेतेऽथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव...। — बृहदा० ४।४७।

६. यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं शृणोति तदितर इतरम-

आत्मा के रहस्यमय स्वरूप के विषय में याज्ञवल्क्य का कथन है—तुम दृष्टि के द्रष्टा को नहीं देख सकते, श्रुति के श्रोता को नहीं सुन सकते, मति के मन्ता का मनन नहीं कर सकते, विज्ञाति के विज्ञाता को नहीं जान सकते। तुम्हारी यह आत्मा सर्वान्तर है, इससे भिन्न नाशवान् है।[1] आत्मा के रहस्यमय प्रत्यक्ष के विषय में याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का संवाद द्रष्टव्य है। मैत्रेयी के प्रति याज्ञवल्क्य का कथन है—यह निश्चय है कि पति के प्रयोजन के लिए पति प्रिय नही होता, अपने ही प्रयोजन के लिए पति प्रिय होता है। स्त्री के प्रयोजन के लिए स्त्री प्रिय नही होती, अपने ही प्रयोजन के लिए प्रिय होती है। ··· ··सबके प्रयोजन के लिए सब प्रिय नही होते, अपने ही प्रयोजन के लिए प्रिय होते हैं। प्रियतम आत्मा के लिए ही अन्य वस्तुएँ प्रिय होती हैं। यह आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किये जाने योग्य है। इस आत्मा के ही दर्शन, श्रवण, मनन एव विज्ञान से इस सबका ज्ञान हो जाता है।[2] वह अजन्मा आत्मा शुभ कर्म से बढ़ती नहीं, अशुभ कर्म से लघुता को नही प्राप्त होती। · · उस आत्मा को ब्राह्मण वेदों के स्वाध्याय, यज्ञ, दान और निष्काम तप के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं। इसी को जानकर मुनि होता है। इस आत्म-लोक की ही इच्छा करते हुए त्यागी पुरुष सब-कुछ त्यागकर चले जाते है। 'नेति-नेति' इस प्रकार निर्देश की गई आत्मा ग्रहण नही की जाती, उसका नाश नही होता, वह कही आसक्त नही होती, व्यथित नही होती तथा उसका क्षय नही होता।[3] वह अणु से अणुतर, महान् से महत्तर, इस जीव के अंत करण में स्थित है। उस महिमामय आत्मा को जो ईश्वर की कृपा से देखता है, वह शोकरहित हो जाता है।[4] वह स्थित हुआ भी दूर तक जाता है, शयन करता हुआ भी सब ओर पहुँचता है। हर्ष से युक्त और हर्ष से रहित

मिवदति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं विजानाति यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं शृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कं विजानीयात्। येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति॥ बृहदा० २।४।१४

१. ··· 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुते' श्रोतारं शृणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः। एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तं ततो होषस्तश्चाक्रायण उपरराम। बृहदा० ३।४।२

२. स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। · · ··· न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्। बृहदा० २।४।५

३. स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः ·· ···· सर्वस्याधिपतिः स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानेष ······तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेनैतमेव विदित्वा मुनिर्भवति। एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति। ······ · स एष नेति नेत्यात्मागृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसगो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्येतमु हैवैते न तरत इत्यतः पापमकरवमित्यतः कल्याणमकरवमित्युभे उ हैवैष एते तरति नैनं कृताकृते तपतः॥ बृहदा० ४।४।२२

४. अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः। तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्॥ श्वेता० ३।२०

उस देव को भला मेरे (यम) अतिरिक्त और कौन जान सकता है।[1] यह अंगुष्ठ-मात्र पुरुष अन्तरात्मा सर्वदा जीवों के हृदय में स्थित है। ज्ञानाधिपति एवं हृदय-स्थित मन के द्वारा सुरक्षित है। जो उसे जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं।[2] जो अंगुष्ठ के समान आकार वाला, सूर्य के समान ज्योतिस्वरूप, सकल्प, अहकार, बुद्धि और शरीर के गुण से युक्त, वह अन्य (जीव) भी आरे की नोक के बराबर देखा गया है।[3]

यह आत्मा सर्वदा तप, सत्य, सम्यक् ज्ञान और ब्रह्मचर्य के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इसे दोषहीन योगीजन देखते हैं। वह ज्योतिर्मय शुभ्र आत्मा शरीर के भीतर रहता है।[4] जो कोई उस परमब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है। उसके कुल में कोई अब्रह्म-वित् नहीं होता। वह शोक से मुक्त हो जाता है, पाप से निर्लिप्त हो जाता है, हृदय-ग्रंथियों के निर्बन्ध हो जाने से अमरत्व प्राप्त कर लेता है।[5] वह आत्मा न वाणी से, न मन से और न नेत्र से प्राप्त की जा सकती। इससे भिन्न कहने वाले पुरुषों को किस प्रकार प्राप्त हो सकती है।[6] यह नेत्र द्वारा दृष्टिगोचर नहीं हो सकती। यह आत्मा तो मन का नियमन करने वाली हृदय में स्थित बुद्धि द्वारा मनन रूप सम्यक् दर्शन से प्रकाशित है।[7] अणु से भी अणुतर, महान् से भी महत्तर आत्मा सम्पूर्ण समुदाय की हृदयरूपी गुहा में स्थित है। निष्काम पुरुष ईश्वर की कृपा से आत्मा की उस महिमा को जानकर शोकरहित हो जाते हैं।[8] इस महान् शरीर में प्रविष्ट हुई आत्मा जिस ब्राह्मण को प्राप्त हो गई है, वह कृतकृत्य है, वही सबका कर्त्ता है, उसी का लोक है और स्वय वही लोक भी है।[9]

छांदोग्योपनिषद् में इसी सर्वात्म-दर्शन के रहस्यमय ज्ञान को 'भूमा' कहा गया है।

---

१. आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति॥ — कठो० १।२।२१

२. अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मासदा जनानां हृदये संनिविष्टः।
हृदा मन्वीशो मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ — श्वेता० ३।१३

३. अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितो यः।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः॥ — श्वेता० ५।८

४. सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥ — मुंडको० ३।१।५

५. स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहा-ग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति॥ — मुंडको० ३।२।९

६. नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते॥ — कठो० २।३।१२

७. न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ — कठो० २।३।९

८. अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः॥ — कठो० १।२।२०

९. यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्मास्मिन् संदेह्ये गहने प्रविष्टः।
स विश्वकृत स हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोकः स उ लोक एव॥ — बृहदा० ४।४।१३

'भूमा' की स्वरूप-व्यंजना बड़े ही रहस्यात्मक शब्दों में हुई है। जो 'भूमा' है, वही सुख है। अल्प में सुख नहीं है। सुख 'भूमा' ही है। 'भूमा' की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करनी श्रेयस्कर है।[1] स्वयं 'भूमा' क्या है? वह रहस्यमय ज्ञान है सर्वात्मदर्शन का।...... जहाँ कुछ और नहीं देखता, कुछ और नहीं सुनता तथा कुछ और नहीं जानता वह 'भूमा' है, किन्तु जहाँ कुछ और देखता है, वह अल्प है। जो 'भूमा' है, वही अमृत है। जो अल्प है, वह मर्त्य है। वह अपनी महिमा में प्रतिष्ठित है अथवा अपनी महिमा में भी नहीं है।[2] 'भूमा' ही नीचे है, वही ऊपर है, वही पीछे है, वही आगे है, वही दायीं ओर है, वही बायीं ओर है और वही यह सब है। सब उसी में अहंकारादेश किया जाता है।[3] आत्मा रूप से 'भूमा' का आदेश किए जाने पर .... आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही ऊपर है ...... आत्मा ही यह सब है। वह इस प्रकार देखने वाला, इस प्रकार मनन करने वाला तथा विशेष रूप से जानने वाला आत्मरति, आत्मक्रीड़, आत्ममिथुन और आत्मानन्द होता है। वह स्वराट् है और सम्पूर्ण लोकों में उसकी गति होती है।[4]

यह समस्त जगत् निश्चय ब्रह्म ही है। यह उसी से उत्पन्न होने वाला, उसी में लीन होने वाला और उसी मे चेष्टा करने वाला है।[5] इस द्युलोक से परे जो परम ज्योति विश्व के पृष्ठ पर अर्थात् सबके ऊपर है, जिससे उत्तम कोई अन्य लोक नही है, ऐसे उत्तम लोकों में प्रकाशित हो रही है, वह इस पुरुष के भीतर स्थित ज्योति ही है।[6] इस मत्र के द्वारा आत्मस्थित ब्रह्म तथा विश्वब्रह्म दोनो का एकात्म्य प्रदर्शित किया गया है तथा यही भाव शाडिल्य मुनि के कथन द्वारा भी व्यक्त हुआ है। जो सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगध, सर्वरस इस सबको सब ओर से व्याप्त करने वाला वाक् रहित और सभ्रम-शून्य है, वह मेरी आत्मा हृदय-कमल के मध्य में स्थित है। यही ब्रह्म है।[7]

---

१. यो वै भूमा तत्सुख नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति। भूमानं भगवो विजिज्ञास इति॥ छान्दो० ७।२३।१

२. यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्। स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति। स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति। छान्दो० ७।२४।१

३. स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात्स पुरस्तात्स
दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वमिति..... । छान्दो० ७।२५।१

४. अथात आत्मादेश एव आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन्नेव मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड्भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।...... छान्दो० ७।२५।२

५. सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शांत उपासीत।...... छान्दो० ३।१४।१

६. अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः॥ छान्दो० ३।१३।७

७. सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर एष म आत्मान्तर्हृदय एतद्ब्रह्मैतमितः... । छान्दो० ३।१४।४

श्वेताश्वतर उपनिषद् को रहस्यवादी अनुभूतियों एवं उपकरणों का कोष कह सकते हैं। ब्रह्म के रहस्यमय स्वरूप का वर्णन इस प्रकार है—यह सर्वव्यापी देव जगत्कर्त्ता और सर्वदा समस्त जीवों के हृदय में स्थित है। इसे जो जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं।[1] ब्रह्म का स्वरूप नेत्रादि से ग्रहण करने योग्य नहीं है, उसे कोई भी नेत्र द्वारा नही देख सकता। जो इस हृदय-स्थित परमात्मा को शुद्ध बुद्धि से इस प्रकार जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं।[2] सब ओर नेत्रों, मुखों, भुजाओं और पैरों वाला है। वह एक-मात्र देव द्युलोक एवं पृथ्वी की रचना करता हुआ वहाँ के मनुष्य, पक्षी आदि प्राणियों को दो भुजाओं और पखों से युक्त करता है।[3] वह सहस्र सिर, नेत्र, चरणों वाला तथा पूर्ण है। वह पृथ्वी, आकाश, सबको व्याप्त करके उससे दस अंगुल ऊपर स्थित है।[4]

यह परमात्मा केवल स्थूल इन्द्रियों वाला ही नहीं है। वह अशरीर होते हुए भी समस्त कार्य सम्पादित करता है। वह बिना हाथ-पैर के भी ग्रहण करता है, बिना नेत्रों के भी देखता है, बिना कानों के भी सुनता है। वह सम्पूर्ण वेद (जानने योग्य) को जानता है परन्तु उसका जानने वाला कोई नही है। उसे सबका आदि एव महान् कहा जाता है।[5]

छान्दोग्य उपनिषद् में रहस्यमय शब्द ब्रह्म के विषय में कहा गया है कि यह जो उद्-गीथ 'ओंकार' है, सम्पूर्ण रसों में रसतम उत्कृष्ट परमात्मा का आश्रय-स्थान और पृथ्वी आदि रसों में अष्टम रस है।[6] इस अक्षर परमात्मा की पूजा के लिए ही सम्पूर्ण कर्म हैं तथा इसकी महिमा व रस के द्वारा सब कर्म में प्रवृत्त होते हैं।[7] पत्ते जिस प्रकार ततुओं से व्याप्त रहते हैं उसी प्रकार 'ओंकार' से सम्पूर्ण वाक् व्याप्त है, 'ओकार' ही सब कुछ है।[8] कठोपनिषद् में 'ओम' को परम सत्य के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। समस्त वेद जिस पद का वर्णन करते हैं, सम्पूर्ण तपों को जिसकी प्राप्ति का साधन कहते है जिसकी इच्छा से मुमुक्षु-जन ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं वह पद 'ओम्' ही है।[9] यह अक्षर ही ब्रह्म है, यह अक्षर ही पर

१. एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सनिविष्टः।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ श्वेता० ४।१७

२. न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवंति ॥ श्वेता० ४।२०

३. विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ॥ श्वेता० ३।३

४. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशांगुलम् ॥ श्वेता० ३।१४

५. अपाणिपादो जवनो ग्रहीता, पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता, तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥ श्वेता० ३।१९

६. स एष रसानां रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः ॥ छान्दो० १।१।३

७. तेनेयं त्रयी विद्या वर्तत ओमित्याश्रावयत्योमिति शंसत्योमित्युद्गायत्येतस्यैवाक्षरस्यापचित्यै महिम्ना रसेन ॥ छान्दो० १।१।९

८. तान्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य ओंकारः संप्रास्रवत्तद्यथा शंकुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णान्येवमोंकारेण सर्वा वाक्संतृण्णोंकार एवेदं सर्वमोंकार एवेदं सर्वम् ॥ छान्दो० २।२३।३

९. सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्तेपदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ कठो० १।२।१५

है, इस अक्षर को ही जानकर जो जिसकी इच्छा करता है वही उसका हो जाता है ।[1] इसी प्रकार माण्डूक्योपनिषद् में रहस्यात्मक ढग से 'ओंकार' ही सब कुछ माना गया है । देश, काल आदि सबको व्याप्त करके उससे भी परे 'ओंकार' की ही सत्ता है । यह 'ओम्' ही सब-कुछ है । यह जो भूत, भविष्यत् और वर्तमान है उसकी ही व्याख्या है । इसके अतिरिक्त जो त्रिकालातीत है, वह भी 'ओंकार' ही है ।[2] वह न अतःप्रज्ञ है, न बहिःप्रज्ञ है, न उभयतः प्रज्ञ है न प्रज्ञानघन, न प्रज्ञ, न अप्रज्ञ है, अपितु अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिंत्य, अव्यपदेश्य, एकात्म, प्रत्ययसार, प्रपंच का उपशम, शात, शिव, अद्वैत रूप है । वही आत्मा है और वही जानने योग्य है ।[3]

श्वेताश्वतर उपनिषद् में ईश्वर अथवा ब्रह्म को मायापति अथवा मायावी कहा गया है । वेद, यज्ञ, ऋतु, व्रत, भूत, भविष्य, वर्तमान तथा और भी जो कुछ वेद बतलाते हैं, वह सब मायावी ईश्वर इस अक्षर से ही उत्पन्न करता है और उस प्रपच में ही माया से अन्य-सा होकर बधा हुआ है ।[4] बृहदारण्यक में ईश्वर को माया से अनेक रूप प्रतीत होता हुआ कहा गया है ।[5]

उस रहस्यमय ब्रह्म का प्रत्यक्ष केवल ज्ञान से संभव नही माना गया है । उसके लिए तप रूपी प्रयत्न तो आवश्यक है ही, उसकी सिद्धि के लिए ईश्वर की कृपा भी उतनी ही आवश्यक है । महर्षि श्वेताश्वतर ने तपोबल और परमात्मा की कृपा से ही उसका प्रत्यक्ष प्राप्त किया तथा ऋषि समुदाय से सेवित इस परम पवित्र ब्रह्म तत्त्व का उपदेश सन्यासियो को दिया ।[6]

छान्दोग्य उपनिषद् में इन्द्र और विरोचन के आख्यान से रहस्यात्मक प्रत्यक्ष की उत्तरोत्तर उन्नत होती हुई अवस्थाओ पर भली-भाँति प्रकाश पडता है । अपनी प्रतिच्छाया को देखकर इन्द्र और विरोचन ने शरीर को ही आत्मा माना तथा विरोचन ने कहा—इस लोक में यह आत्मा ही पूजनीय है, आत्मा ही सेवनीय है । इसकी परिचर्या करने वाला इहलोक तथा परलोक दोनो को प्राप्त कर लेता है ।[7] विरोचन तो इस प्रत्यक्ष से सतुष्ट हो गया

१. एतद्ध्येवाक्षर ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षर परम् । एतद्ध्येवाक्षर ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ कठो० १।२।१६

२. ओमित्येतदक्षरमिद सर्वं तस्योपव्याख्यान भूत भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव । यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव ॥
माण्डूक्यो० १

३. नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञ नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसार प्रपंचोपशम शान्त शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥
माण्डूक्यो० ७

४. छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूत भव्य यच्च वेदा वदन्ति । अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः ॥
श्वेता० ४।९

५.......रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय । इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते । बृहदा० २।५।१९

६. तपः प्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान् । अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम् ॥
श्वेता० ६।२१

७. एव विरोचनोऽसुराञ्जगाम तेभ्यो हैतामुपनिषदं प्रोवाचात्मैवेह महय्य आत्मा परिचर्य आत्मानमेवेह महयन्नात्मानं परिचरन्नुभौ लोकाववाप्नोतीमं चामु चेति । छान्दो० ८।८।४

परन्तु इन्द्र को संतोष न हुआ। अपने गुरु प्रजापति के आश्रम में पुनः जाकर उनकी आज्ञानुसार ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए वह एक सौ एक वर्ष तक गुरु की सेवा करता रहा। इन्द्र को स्वप्न में स्थित आत्मा की रहस्यमयी अनुभूति हुई। तदनन्तर सुषुप्ति में स्थित पुरुष में भी उसी प्रकार की अनुभूति हुई। अन्तत. ब्रह्म के सर्वात्मदर्शन रूप का प्रत्यक्ष हुआ जिससे वह परम तृप्त हो गया।

यह हम पहले देख चुके हैं कि साधक को सिद्धि की पूर्वावस्था में अचाक्षुष प्रत्यक्ष होते हैं। 'नीहार', 'धूम', दामिनी की दमक आदि उसी के रूप कहे गये हैं। इसी अचाक्षुष प्रत्यक्ष के उपरान्त सर्वात्म दर्शन की स्थिति आ जाती है। परन्तु इस स्थिति से भी ज्ञानी पूर्ण संतुष्ट नहीं हो जाता। वह प्रभु की कृपा-कटाक्ष के लिए निरन्तर लालायित रहता है। उसकी उत्सुकता घटती नहीं, वरन् बढ़ती ही जाती है। वह स्तुति करता है—हे रुद्र ! तुम्हारी जो मंगलमयी शांत, पुण्यप्रकाशिनी मूर्ति है, हे गिरिसंत ! उस पूर्णानन्दमयी मूर्ति के द्वारा तुम हमारी ओर दृष्टिपात करो।[1] यही वह स्थिति है जिसमें रहस्यवादी अपनी समस्त भावनाओं, चेतनाओं तथा क्रियाओं को एक मात्र ब्रह्म में केन्द्रित कर देता है। यही उसका परमानन्द है।

केनोपनिषद् मे ब्रह्म के अज्ञेयत्व तथा अनिर्वचनीयत्व के विषय में रहस्यात्मक जिज्ञासा से युक्त उत्कृष्ट कोटि की अनुभूति व्यक्त हुई है। ऋषि स्वयं नही जानता, उसकी समझ मे नही आता कि उस रहस्यमय का वर्णन अपने शिष्यों के प्रति किस भाँति करे। विदित से भी अन्य तथा अविदित से भी परे उस स्वरूप का वर्णन करने में वह अपने को सक्षम नही पाता। जहाँ न दृष्टि जाती है, न वाणी जाती है और न मन ही जाता है, उसका वर्णन कैसे हो ? जो इन्द्रियों की गति से परे है वही ब्रह्म है,[2] जो वाणी के द्वारा व्यक्त नही किया जा सकता, वाणी जिसके द्वारा व्यक्त होती है, वही ब्रह्म है, न कि जिसकी उपासना लोक में की जाती है।[3] जो मन के द्वारा मनन नही किया जाता, वरन् जिससे मन मनन किया हुआ कहा जाता है, वही ब्रह्म है।[4] जिसे नेत्र देख ही नहीं सकते अपितु जो नेत्रों को दिखलाने वाला है, वही ब्रह्म है।[5] जिसे कोई कान से नहीं सुन सकता बल्कि जिससे यह श्रोत्रेन्द्रिय सुनी जाती है, वही ब्रह्म है।[6] तथा जो प्राणों का विषय न होकर स्वयं प्राणों

---

१. या ते रुद्र शिवा तनूरघोरापापकाशिनी ॥
तया नस्तनुवा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि ॥ श्वेता० ३।५

२. न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि.........। केनोप० १।३

३. यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ॥
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ केनोप० १।४

४. यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ॥
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ केनोप० १।५

५. यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ केनोप० १।६

६. यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ केनोप० १।७

को ही अपने विषय में प्रयुक्त करता है वही ब्रह्म है। जिसकी लोक उपासना करता है, वह ब्रह्म नहीं है।[१]

जो यह मानता है कि 'मैं ब्रह्म को भली-भाँति जानता हूँ' वह निश्चय ही ब्रह्म का थोड़ा सा ही रूप जानता है। इसका जो रूप विदित है तथा जिस रूप को देवता जानते हैं, वह भी अल्प ही है।[२] ब्रह्म जिसको ज्ञात नही है, उसी को ज्ञात है और जिसको ज्ञात है, वह उसे नहीं जानता, क्योंकि वह जानने वालों का बिना जाना हुआ अविज्ञात है। और न जानने वालों का जाना हुआ विज्ञात है।[३] आगे चलकर रहस्यात्मक अनुभूति का निखरा हुआ रूप इस प्रकार व्यंजित हुआ है—मैं न तो यह मानता हूँ कि ब्रह्म को अच्छी तरह जान गया और न यही समझता हूँ कि उसे नही जानता। इसलिए मैं उसे जानता हूँ और नहीं भी जानता। हम शिष्यों में से जो उसे 'न तो नही जानता हूँ और न जानता ही हूँ' इस प्रकार जानता है वही जानता है।[४] कितनी रहस्यात्मक उक्ति है ऋषि की।

केनोपनिषद् में रहस्यमय ब्रह्म का वर्णन उपर्युक्त प्रकार से हुआ है परन्तु श्वेताश्वतर में इसके विपरीत वर्णन मिलता है। सिद्धावस्था की प्राप्ति हो जाने के पश्चात् ज्ञानी कहता है कि ब्रह्मवेत्ता जिसे अजर, अमर, पुराण, सर्वशक्तिमान्, सर्वगत बताते हैं तथा जो अजन्मा है, उसे मैं जानता हूँ।[५] यद्यपि ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी की यह गर्वोक्ति होने के कारण कुछ खटकती-सी है परन्तु रहस्यात्मक अनुभूति का कर्ता एव रहस्यात्मक अभिव्यक्ति का अधिकारी होने के कारण उसका सब-कुछ कहना उचित है। इतना ही नही, उस ब्रह्मवेत्ता का कथन है—मैं इस अज्ञानातीत प्रकाशस्वरूप महान् पुरुष को जानता हूँ। उसे ही जानकर पुरुष मृत्यु से निस्तार पा लेता है। इसके अतिरिक्त परम पद के लिए कोई मार्ग नही है।[६]

उपर्युक्त कथन रहस्यात्मक अभिव्यक्ति के उत्कृष्टतम उदाहरण कहे जा सकते हैं। ज्ञानी को जिस प्रकार स्वरूपज्ञान हुआ, वह उसे व्यक्त करने मे सर्वथा असमर्थ दृष्टिगोचर होता है। वह वाणी मे सामर्थ्य नही पाता जिससे कि वर्णन कर सके। वह उस स्वरूप को

---

१. यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ केनोप० १।८

२. यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनम्। त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं यदस्य त्वं यदस्य देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम्॥ केनोप० २।१

३. यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥ केनोप० २।३

४. नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च॥
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥ केनोप० २।२

५. वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम्॥ श्वेता० ३।२१

६. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ श्वेता० ३।८

इन्द्रियातीत मानता है। सभी इन्द्रियाँ उसके साक्षात्कार में अक्षम प्रतीत होती हैं। इतना होने पर भी उसका अन्तः उस साक्षात्कार के ज्ञान से इतना ओतप्रोत है कि वह उसके वर्णन में पुनरावृत्ति करते भी नहीं थकता। उसे संतोष होता है कि वह कुछ जान सका और उसका कुछ जानना वह असाधारण ज्ञान कहा जा सकता है जो प्रत्यक्ष के पूर्व उसे प्राप्त नहीं था।

श्वेताश्वतर में उपनिषद्कार ने ब्रह्म-साक्षात्कार की रहस्यमयी स्थिति का वर्णन इस प्रकार प्रस्तुत किया है—*जिस समय योगी दीपक के समान प्रकाशस्वरूप आत्मभाव से* ब्रह्म तत्त्व का साक्षात्कार करता है, उस समय उस अजन्मा, निश्चल और समस्त तत्त्वों से विशुद्ध देव को जानकर सम्पूर्ण बंधनों से मुक्त हो जाता है।[1] जिस समय अज्ञान नहीं रहता, ज्ञान का साक्षात्कार होता है, उस समय न दिन रहता है, न रात्रि रहती है, न सत् रहता है, केवल शिव ही रह जाता है। उसी से परम्परागत ज्ञान का प्रचार हुआ है।[2]

तैत्तिरीयोपनिषद् में सत्य के साक्षात्कार की रहस्यमयता तथा क्रमिक विकास का सुस्पष्ट प्रकाशन हुआ है। तप करने के पश्चात् महर्षि भृगु को यह ज्ञान हुआ कि अन्न ही ब्रह्म है क्योंकि अन्न से सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, अन्न से ही जीवित रहते है तथा प्रयाण करते समय अन्न में ही लीन हो जाते हैं।[3] तदनन्तर भृगु को क्रमशः प्राण, मन, विज्ञान तथा आनन्द में परम सत्य ब्रह्म के दर्शन हुए। इस प्रकार ऋषि ने जिज्ञासा तथा उसकी पूर्ति के द्वारा जो निरन्तर तप रूपी एकाग्रचिंतन से होती है, भिन्न-भिन्न रहस्यमय स्वरूपों का प्रत्यक्ष किया।[4]

असत् ही पहले था। उसी से सत् की उत्पत्ति हुई। इसीलिए वह सुकृत कहा जाता है। जो रस है जिसको पाकर पुरुष आनन्दमय हो जाता है।··· जिस समय यह साधक इस अदृश्य, अशरीर, अनिर्वाच्य और निराधार ब्रह्म में अभय स्थिति प्राप्त करता है, उस समय ही उसको अभय प्राप्त हो जाता है।[5] जहाँ से मन सहित वाणी उसे प्राप्त न करके लौट

---

१. यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥ — श्वेता० २।१५

२. यदातमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात्प्रसृता पुराणी॥ — श्वेता० ४।१८

३. अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। — तैत्तिरीयो० ३।२।१

४. प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात् ······· — तैत्तिरीयो० ३।३।१
मनो ब्रह्मेति व्यजानात्··· ····· — तैत्तिरीयो० ३।४।१
विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्।········· — तैत्तिरीयो० ३।५।१
आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।········· — तैत्तिरीयो० ३।६।१

५. असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत।
तदात्मानं स्वयमकुरुत। तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति।
यद्वै तत्सुकृतं रसो वै सः।·········यदा
ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति।···
तैत्तिरीयो० २।७।१

आती है, उस ब्रह्मानन्द के ज्ञाता को किससे भय हो। उसे पाप और पुण्य दोनों ही आत्म-रूप दिखाई पड़ते हैं। इसी से वह चिन्तामुक्त होकर परम आनन्दित होता है।[1] सत्यवेत्ता ऋषि इस लोक से निवृत्त होकर इस अन्नमय आत्मा के प्रति संक्रमण कर, इस विज्ञानमय आत्मा के प्रति संक्रमण कर तथा इस आनन्दमय आत्मा के प्रति संक्रमण कर इन लोकों में इच्छानुसार भोग भोगता हुआ कामरूपी होकर विचरता हुआ सामगान करता है—मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ। मैं अन्नाद (भोक्ता) हूँ, मैं अन्नाद हूँ, मैं अन्नाद हूँ। मैं ही श्लोककृत (अन्न और अन्नाद का संघातकर्त्ता) हूँ। मैं ही श्लोककृत हूँ, मैं ही श्लोककृत हूँ। मैं ही इस जगत् के पहले उत्पन्न हुआ हूँ, मैं ही विराट् एव अमृतत्व का केन्द्र रूप हूँ।[2]

यहाँ हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उपनिषदो में केवल सत्य-ज्ञान की बौद्धिक प्राप्ति का ही निरूपण नही हुआ है, वरन् सत्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए आवश्यक व्यावहारिक उपकरणों एवं साधनों पर भी प्रकाश डाला गया है। इसीलिए स्थान-स्थान पर परा तथा अपरा विद्या को स्पष्टतया अंकित किया गया है। परम सत्य मन, बुद्धि आदि से प्राप्तव्य नही है। उसका साक्षात्कार पराबौद्धिक ज्ञान तथा व्यावहारिक प्रयत्न के द्वारा ही सम्भव है। प्रारम्भिक यौगिक क्रियाओं के द्वारा प्राणो को नियंत्रित कर लेने पर तथा अतःकरण के शुद्ध हो जाने पर आत्मा स्वयं का प्रकाशन करती है। यथार्थ में न इन्द्रियों के द्वारा, न बुद्धि के द्वारा ही परमात्म-प्राप्ति होती है, वह सबसे परे भिन्न माध्यम से ग्रहण किया जाता है।

सत्य-ज्ञान की उपलब्धि के लिए सिद्ध आचार्य का उपदेश अत्यन्त आवश्यक है। साथ ही ज्ञानार्थी का यह परम कर्त्तव्य है कि वह आचार्य के प्रति पूर्णतया श्रद्धावान् रहे तथा उसे ईश्वर-सदृश मानता हुआ उसमें अडिग विश्वास रक्खे। जब तक साधक मे इतनी अगाध क्षमता नही होती कि वह सिर पर अग्नि तक को धारण करके उसकी ज्वलनशीलता को सहर्ष सहन करता रहे, तब तक वह रहस्यात्मक ज्ञान का अधिकारी नही होता।

एक ओर ईश्वर अन्तर्यामी है, शरीर के रोम-रोम मे व्याप्त है उसी प्रकार जैसे दधि में घृत तथा तिल में तेल समाया रहता है। दूसरी ओर ईश्वर बहिर्यामी भी है। वह सत्, असत्, दिवस, रात्रि, पृथ्वी, आकाश सभी मे समावेष्टित होकर उससे भी परे (दश अंगुल) ऊपर स्थित है।

साधनावस्था में अनुभव होने वाले रहस्यात्मक रूपो, रंगों, शब्दों तथा ज्योतियों

---

१. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति।

तैत्तिरीयो० २।९।१

२. स य एवंवित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य इमाँल्लोकान्कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन्। एतत्साम गायन्नास्ते। हा ३ वु हा ३ वु हा ३ वु॥

तैत्तिरीयो० ३।१०।५

……सुवर्न ज्योतीः य एवं वेद। इत्युपनिषत्।

तैत्तिरीयो० ३।१०।६

का निरूपण भी हुआ है। इन रूप-रंगों का प्रत्यक्ष ईश्वर के आंशिक साक्षात्कार का व्यंजक है। आंशिक प्रत्यक्ष के पश्चात् ही पूर्ण साक्षात्कार की स्थिति आती है जिसमें साधक ब्रह्मानन्द की अनुभूति करके नखशिख उससे अभिषिक्त हो जाता है।

ब्रह्मज्ञान अथवा सत्य की रहस्यमय अनुभूति हो जाने पर आत्मा में सम्पूर्ण विरोधी तत्वों का अन्त हो जाता है। अणु से भी अणुतर, महान् से भी महत्तर, श्रेष्ठ, निकृष्ट, सत्, असत् सबमे तथा सबसे परे एकमात्र उसी प्रभु की महिमा-मंडित सत्ता का प्रत्यक्ष साधक को होता है जिससे उसकी समस्त अज्ञानजन्य संशय-ग्रन्थियाँ कट जाती हैं तथा वह स्वयं परमात्मा की कृपा से परमात्मा में ही लीन हो जाता है।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

समस्त उपनिषद् गौ है, गोपालनन्दन कृष्ण स्वयं दोग्धा हैं, बुद्धिमान् अर्जुन भोक्ता वत्स है तथा जो दुग्ध दोहन किया गया है, वही श्रेष्ठ गीतामृत है। इस रूपक के द्वारा लेखक ने अत्यन्त कुशलता से श्रीमद्भगवद्गीता के वास्तविक रूप का प्रकाशन किया है। समस्त उपनिषदों का सारतत्त्व ही गीता है वरन् उससे भी कुछ अधिक तथा महान् है।

कुरुक्षेत्र के मैदान मे कौरव-पाण्डव सेनाओं के मध्य में उपस्थित किंकर्त्तव्यविमूढ़ अर्जुन के प्रति योगिराज कृष्ण का पथ-प्रदर्शन करने वाला उपदेश या कथन ही भगवत्-गीता है। अर्जुन अपने उन शत्रुओं को सम्मुख खड़े देखता है। जिन्होने उसके प्रति घोरतम अन्याय किया था तथा जिनके प्रति प्रतिशोध की प्रबल भावना उसके हृदय में होनी स्वाभाविक थी, अर्जुन के सगे-सम्बन्धी, बन्धु-बान्धव भी उसके सम्मुख खड़े है जिनसे उसे अनिच्छापूर्वक युद्ध करना ही होगा। शत्रुओ को पराजित करके राज्य-प्राप्ति का लोभ भी उपस्थित है। अर्जुन वीरो मे अग्रणी है। वह मृत्यु की भयंकरता से भी भयभीत नही है। जीवन-मृत्यु-विवेक से वह युक्त है, परन्तु उसका यह ज्ञान भी कि शत्रुओं के मारने से पाप नहीं होगा उसे शत्रुओ से युद्ध करने तथा उन्हें मारने की प्रेरणा नही देता। हतबुद्धि अर्जुन जिसका 'अहं' नष्ट हो चुका है कृष्णरूपी परमात्मा की शरण जाता है तथा उस ज्ञानरूप प्रकाश को प्राप्त करने की प्रार्थना करता है जिसके द्वारा उसे न केवल कर्त्तव्य का ज्ञान होगा वरन् कर्त्तव्य को पूरा करने के लिए उत्साहमयी प्रेरणा भी प्राप्त होगी। अस्तु, परम ज्ञानी गुरु कृष्ण ने अर्जुन को इसकी द्वन्द्वात्मक मन.स्थिति में जो रहस्यात्मक ज्ञान प्रदान किया तथा जिसे अर्जुन ने पूर्णरूपेण आत्मसात् कर लिया, वही गीता का ज्ञान है।

कुछ विद्वानों का कथन है कि गीता के गंभीर दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन एवं उपदेश युद्ध की अशान्त सकटापन्न स्थिति में कैसे सम्भव हुआ। हम तो यह कहेंगे कि हतबुद्धि अर्जुन को श्रीकृष्ण जैसे परम विवेकी गुरु के द्वारा उस उद्विग्नतापूर्ण वातावरण में गीता का उपदेश सम्भव ही नहीं अवश्यम्भावी था। महाभारत में एक स्थान पर यह प्रसग आया है कि युद्ध के उपरान्त किसी समय अर्जुन ने पुनः गीतामृत पान करने की इच्छा प्रकट की

परन्तु गीता के गम्भीर उपदेश के लिए समयोचित परिस्थिति न होने के कारण भगवान् कृष्ण अर्जुन की इच्छापूर्ति करने में समर्थ न हो सके।[1] रहस्यवादी प्रत्यक्ष के लिए मानव-मस्तिष्क की ग्राहिका शक्ति का जितना विकास सघर्षमय किंकर्त्तव्यविमूढ़ावस्था में हो सकता है उतना आन्तरिक द्वन्द्व से रहित जीवन की सामान्य अवस्था में, सम्भव नहीं है।

युद्ध-स्थल मे खड़ा हुआ अर्जुन घोर मानसिक सघर्षों में पड़ा हुआ है। वह स्वार्थी, लोभी तथा साधारण मनुष्य नहीं है। वह मित्रद्रोह कुलघातरूप हिंसा से बचना चाहता है।[2] अर्जुन को न विजय की, राज्य की और न सुखो की अभिलाषा है, वह जीवित रहने का भी इच्छुक नहीं है।[3] आचार्य, पिता, पुत्र, पितामह, मामा, श्वसुर, पौत्र, साला आदि सम्बन्धियो के द्वारा मारे जाने पर भी अर्जुन उन्हें मारना नहीं चाहता। वह त्रैलोक्य के राज्य के लिए भी यह पाप नहीं करना चाहता, पृथ्वी के राज्य की तो बात ही क्या।[4] अर्जुन की इस विषम परिस्थिति में जो द्वन्द्वात्मक मनःस्थिति हो गई है उसे हम आत्मा की अन्धकारमयी रात्रि की (Dark Night of the Soul) स्थिति कह सकते हैं। इसी स्थिति के पश्चात् साक्षात्कार होता है।

अर्जुन का विवेक कुंठित हो जाता है। वह निश्चय नहीं कर पाता कि उसके लिए क्या श्रेयस्कर है—शत्रुओं को पराजित करना अथवा स्वयं पराजित हो जाना। वह अपने बंधु कौरवो की हत्या करके जीवित रहना नही चाहता। वह कृष्ण से प्रार्थना करता है—दीनता से मेरी स्वाभाविक वृत्ति नष्ट हो गई है, धर्मबुद्धि को मोह हो गया है। मैं शरणागत हूँ, तुम्हारा शिष्य हूँ। जो श्रेयस्कर हो निश्चय करके मुझे बतलाओ।[5] अर्जुन के कुंठित विवेक को श्रीकृष्ण अपने दार्शनिक उपदेशो के द्वारा जाग्रत करते हुए आत्मा की अमरता पर प्रकाश डालते हैं, यह आत्मा न जन्म लेता है, न मृत्यु को प्राप्त होता है। शरीर के नष्ट हो जाने पर भी यह अजन्मा, नित्य और शाश्वत है। वस्त्र परिवर्तन करने की भाँति

---

१. म० भा० अश्वमेध — अ० १६ श्लोक ६।१३

२. स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ — गी० १।३७
यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ — गी० १।३८
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ — गी० १।३९

३. न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ — गी० १।३२

४. आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ॥
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥ — गी० १।३४

५. एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ — गी० १।३५
न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ — गी० २।६

मृत्यु तो आत्मा का विविध शरीरों में स्थानान्तरण मात्र है।[1] प्रारम्भ में प्राणी अव्यक्त रहता है, केवल मध्य में व्यक्त होता है तथा अन्त में मृत्यु के द्वारा फिर अव्यक्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में शोक करना व्यर्थ ही है।[2] कोई इसको (आत्मा को) आश्चर्य की भाँति देखता, है, कोई इसको आश्चर्य की भाँति कहता है और कोई इसको आश्चर्य की भाँति सुनता है परन्तु देखकर, वर्णन कर, और सुनकर भी कोई इसे तत्त्वतः नहीं जानता है।[3]

गीता में कर्म का निरूपण करते हुए जीवन-पर्यन्त अनासक्त होकर लोकसंग्रह के लिए उचित कार्य करते रहने की व्यवस्था की गई है।[4] केवल कर्म करने में मनुष्य का अधिकार है, फल में, कदापि नही। अस्तु, निष्काम कर्म करना ही श्रेयस्कर है।[5] वेदो में सिद्धान्त रूप से वर्णित त्रिगुणो से परे होकर आत्मनिष्ठ होने का उपदेश कृष्ण ने अर्जुन को दिया[6] और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होने कहा कि जलप्लावन होने पर जिस प्रकार कूप का प्रयोजन नहीं रह जाता उसी प्रकार ज्ञान प्राप्त ब्राह्मण को वेदों से प्रयोजन नही रह जाता।[7]

जिज्ञासु अर्जुन केवल उपदेश मात्र से संतुष्ट नही हो जाता। वह कृष्ण के अलौकिक

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।। गी० २।७

१. न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।। गी० २।२०

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ।। गी० २।२२

२. अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ।। गी० २।२८

३. आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्। गी० २।२९

४. तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।। गी० ३।१९

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ।। गी० ३।२०

५. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ।। गी० २।४७

६. त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।।

७. यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ।। गी० २।४६

रूप के प्रत्यक्ष दर्शन की आकांक्षा प्रकट करता है ।[१]

गीता के ग्यारहवें अध्याय में रहस्यात्मक अनुभूति अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में दृष्टिगोचर होती है । रहस्यवादी अनुभूति के विभिन्न स्तरों तथा प्रकारो की झलक भी यहाँ प्राप्त होती है । द्रष्टा अर्जुन परमेश्वर के सृष्टि-सहाररूप कर्म मे स्वय को भी सम्मिलित अनुभव करता है । सम्पूर्ण सृष्टि व्यष्टि रूप मे सम्मुख आती है, तुरन्त ही वह समष्टि मे अन्तर्लीन हो जाती है तथा परमेश्वर के लोक-सहारक रूप मे प्रविष्ट होकर नष्ट होती प्रतीत होती है । एक सृष्टा-मात्र ही शेष रह जाता है ।

अर्जुन अपने उपदेशक एव पथ-प्रदर्शक से परमतत्त्व के विषय में पर्याप्त सुन चुका है । नैतिक बल में वह सामान्य स्तर से उच्चतर स्थिति पर पहुँचा हुआ है । गुरु-प्रदत्त ज्ञान द्वारा उसमें दार्शनिक विश्वास भी उत्पन्न हो गया है । परमात्मा का स्वरूप साधारण चक्षु इन्द्रिय से द्रष्टव्य नही । चक्षु इन्द्रिय से साधारण दृश्य विषय ही देखे जाते है । अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष दिव्य दृष्टि द्वारा ही सम्भव है । इसीलिए अर्जुन को भगवान् दिव्य दृष्टि प्रदान करते हैं । जिसके द्वारा वह अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व से परमतत्त्व का प्रत्यक्ष करता है ।[२] अन्ततः अर्जुन कृष्ण के उस विराट्, अलौकिक रूप को देखने में समर्थ हुआ जिसके अनेक मुख और नेत्र हैं और जिसमें अनेक अद्भुत दृश्य दीख पडते है ।[३] वह अनेक प्रकार के दिव्य अलकारो से शोभित तथा नाना प्रकार के दिव्य अस्त्रों से सज्जित है । दिव्य पुष्पों और वस्त्रों को धारण किए हुए दिव्य सुगधि से सुवासित उस अनन्त सर्वतोन्मुख का सभी कुछ प्रायः आश्चर्यजनक है ।[४]

यदि आकाश में सहस्रो सूर्य एक साथ प्रकाशित हों तो वह परमात्मा की कान्ति के सदृश कुछ-कुछ जान पडेगा ।[५] अनेक भागों में विभाजित जगत् उस स्वरूप में एकत्रिक दिखाई पड़ा । सारी व्यष्टि समष्टि में अन्तर्हित हो गई ।[६] इस प्रकार के दर्शन से ऐसा कौन होगा

---

१. एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ गी० ११।३
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ गी० ११।४

२. न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ गी० ११।८

३. अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ गी० ११।१०

४. दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ गी० ११।११

५. दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ गी० ११।१२

६. तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ गी० ११।१३

जिसको विस्मित तथा पुलकित होकर रोमाच न हो जाए।[१]

आश्चर्य तथा श्रद्धा से गद्गद अर्जुन स्वयं अपने प्रत्यक्ष का वर्णन करता है।[२] उस विराट् स्वरूप का न आदि है, न मध्य और न अन्त।[३] किरीट, गदा और चक्र धारण किये हुए, चारों ओर प्रभा विकीर्ण करते हुए, प्रचण्ड अग्नि और सूर्य के समान देदीप्यमान, तेजपुंज दुर्निरीक्ष्य, और अपरंपार तुम्ही मुझे सर्वत्र दीख पडते हो।[४] प्रज्वलित अग्नियुक्त तथा चन्द्र और सूर्य के नेत्र वाले मुख तथा स्वतेज से दीप्तिमान स्वरूप को देखकर अर्जुन कहता है।[५] सम्पूर्ण धरती, आकाश, पाताल सभी दिशाओं को तुमने अकेले ही व्याप्त कर लिया है। त्रैलोक्य तुम्हारे उग्र अद्भुत और उग्र रूप को देखकर व्यथित हो रहा है।[६] देवताओं के समूह तुममें प्रवेश कर रहे है, कुछ भय से हाथ जोड़कर प्रार्थना कर रहे हैं।[७] रुद्र इत्यादि सब विस्मित विमूढ़ होकर तुम्हारी ओर निहार रहे हैं, महर्षियों और सिद्धो के समुदाय अनेक प्रकार के स्तोत्रों से तुम्हारी स्तुति कर रहे हैं।[८] तुम्हारे इस अनेक हाथ, पैर, मुँह, दाढो वाले विकराल स्वरूप को देखकर सब लोकों को तथा मुझे भी भय हो रहा है।[९]

आकाश पर्यन्त विस्तीर्ण, प्रकाशमान्, जबड़े फैलाये हुए, चमकीले नेत्रों वाले तुम्हें देखकर मेरा धैर्य छूट गया है तथा शान्ति भी नहीं मिल रही है।[१०] दाढ़ों के विकराल प्रलय-कालीन अग्नि के समान तुम्हारे इन मुखों को देखकर मुझे दिशाएँ नही सूझती। हे

---

१. ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः। — गी० ११।१४

२. प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ — गी० ११।१४

३. नान्तं न मध्य न पुनस्तवादि पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ — गी० ११।१६

४. किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ — गी० ११।१७

५. अनादि मध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ — गी० ११।१९

६. द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुत रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रय प्रव्यथितं महात्मन् ॥ — गी० ११।२०

७. अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥ — गी० ११।२१

८. रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ — गी० ११।२२

९. रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥ — गी० ११।२३

१०. नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥ — गी० ११।२४

जगन्निवास ! प्रसन्न होओ ।[1] राजाओं के समूह, कर्ण, भीष्म, द्रोण तथा सेनापतियों सहित कौरवों की तथा हमारी सेना तुम्हारे मुँह में प्रवेश कर रही हैं ।[2] कितनों के ही मस्तक तुम्हारे दाँतों से चूर्ण होते दृष्टिगोचर हो रहे हैं ।[3] बाढ़ग्रस्त सरिता जिस प्रकार सागर की ओर अतिवेग से प्रवाहित होती है उसी प्रकार तुम्हारे प्रज्वलित मुख में मानव-लोक के यह वीर प्रवेश करते जा रहे हैं ।[4] जिस प्रकार शलभ मृत्यु का आलिंगन करने के लिए प्रदीप्त अग्नि में प्रवेश करते हैं उसी प्रकार समस्त संसार तुममें प्रवेश कर रहा है ।[5] चारों ओर से सब लोगों को अपने प्रज्वलित मुखों से निगलकर तुम अपनी जिह्वा चाट रहे हो और तुम्हारी उग्र प्रभा अपने तेज से सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त करती हुई देदीप्यमान हो रही है ।[6]

भगवान् के इस विराट् रूप के दर्शन कर चुकने पर अर्जुन को भगवान् के इस रूप की वास्तविकता तथा उनकी इस प्रवृत्ति के विषय में जिज्ञासा हुई ।[7] भगवान् कृष्ण ने अपने रहस्यात्मक ज्ञान के द्वारा यह व्यक्त किया कि लोक-सहार करने के लिए बढे हुए काल वे ही हैं ।[8] द्रोण, भीष्म, कर्ण तथा बहुत से शूरवीर उनके (कृष्ण के) द्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं, अर्जुन को केवल निमित्तमात्र होकर उन्हें मारना शेष है ।[9] कृष्ण के इन शब्दो से हमारे सम्मुख एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है—क्या वास्तव में मनुष्य में किसी प्रकार की कर्तृत्व-शक्ति नहीं है ! यदि मनुष्य केवल निमित्तमात्र होकर कार्य करता है, उसमें न अच्छे कार्य और न बुरे कार्य करने की शक्ति है तो आचारशास्त्र Ethics की नीव

---

१. दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ — गी० ११।२५

२. अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ — गी० ११।२६

३. वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमांगैः ॥ — गी० ११.२७

४. यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥ — गी० ११।२८

५. यथाप्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ — गी० ११।२९

६. लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ — गी० ११।३०

७. आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ — गी० ११।३१

८. कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥ — गी० ११।३२

९. तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ — गी० ११।३३
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ — गी० ११।३४

ही डगमगा उठती है। आचारशास्त्र के अनुसार मनुष्य को पूर्ण कर्मस्वातंत्र्य है, वह जो चाहे अच्छा या बुरा अपनी इच्छानुसार कर सकता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार आचारशास्त्र में कर्मों के औचित्य या अनौचित्य का विवेचन होता है। परन्तु इसके विपरीत गीता में मनुष्य को कठपुतली सदृश माना गया है जिसे विश्व का नियामक परमेश्वर मनचाहा नाच नचाया करता है।[1] परमात्मा का साक्षात्कार हो जाने के पश्चात् रहस्यवादी के लिए आचारशास्त्र विशेष महत्त्व नहीं रखता। आचारशास्त्र तो वह सोपान है जो रहस्यवादी को शिखर तक पहुँचाने में सहायक होकर निरर्थक हो जाता है।

कृष्ण के अवर्णनीय स्वरूप को देखकर अर्जुन अपनी भूल के लिए पश्चात्ताप करता है, अभी तक वह कृष्ण को अलौकिक नहीं समझता था। कृष्ण के साथ उसने सामान्य मित्र या सखा जैसा ही व्यवहार किया था।[2] अस्तु कृष्ण से क्षमा याचना करता हुआ कहता है जिस प्रकार पिता अपने पुत्र के, सखा अपने सखा के समस्त अपराधों को क्षमा करता है उसी प्रकार प्रेमी आपको प्रिय मेरे सब अपराध क्षमा कर देने चाहिए।[3] अर्जुन कृष्ण के मानवी रूप को पुनः देखने का इच्छुक है।

ईश्वर के विराट् अनन्त रूप का प्रत्यक्ष केवल ईश्वर की कृपा से सम्भव है न वेदाध्ययन से, न यज्ञ अथवा दान से और न तप से ही।[4] विराट् स्वरूप का जो दर्शन अर्जुन को हुआ है उसके लिए देवता भी लालायित रहते हैं। अनन्य भक्ति से ही परमात्मा का रहस्यात्मक प्रत्यक्ष, उसका ज्ञान, तथा एकीभाव से प्राप्ति हो सकती है, अन्य किसी उपाय से नहीं।[5]

जो इस बुद्धि से कर्म करता है कि 'सब कर्म ईश्वर के ही हैं' अर्थात् जो ईश्वर परायण और सग रहित है, सब प्राणियों के प्रति निर्वैर है, वह भक्त परमेश्वर में लीन हो जाता

---

१. मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्। गी० ११।३३
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया। गी० १८।६१

२. सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि।। गी० ११।४१
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्।। गी० ११।४२

३. तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।। गी० ११।४४

४. न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहंनृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर।। गी० ११।४८
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा।। गी० ११।५३

५. सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः।। गी० ११।५२

है।[1] इस प्रकार अर्जुन द्वारा विश्वरूप का दर्शन रहस्यात्मक प्रत्यक्ष की चरम सीमा है। परमात्मा के सभी स्वरूपों सृष्टा, पालक और संहारक का भी दर्शन उसे होता है। निमित्त रूप से कार्य करने वाले अभिमानी जीव का उसे ज्ञान होता है तथा समस्त स्थावर, जंगम, चेतन, अचेतन, सत्, असत् सब एक साथ अर्जुन के अनुभव के विषय होते हैं।

सत्य के दार्शनिक तत्त्व के सम्बन्ध में गीताकार को सर्वव्यापक तथा सर्वोपरि स्वरूप मान्य है। जहाँ तक उस स्वरूप की उपलब्धि का प्रश्न है, ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुकम्पा से माना गया है। निरन्तर अभ्यास से सत् (नैतिक) कर्मों को करता हुआ, अनन्य भक्त श्रद्धापूर्वक सब कुछ ईश्वर को अर्पण कर देने के पश्चात् उसकी ही कृपा से उस परमतत्त्व को प्राप्त होता है।

गीताकार ने ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ बताया है। यदि मनुष्य सब पापियों से भी अधिक पाप करने वाला है तो भी ज्ञान-नौका के द्वारा वह नि सदेह सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जायेगा।[2] इस ससार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला कुछ भी नही है। उस ज्ञान को बहुत काल से अपने आप समत्व बुद्धिरूप योग द्वारा अच्छी प्रकार शुद्ध अन्तःकरण हुआ पुरुष आत्मा में अनुभव करता है।[3] ज्ञान के द्वारा होने वाले इस अनुभव को हम रहस्यवादी अनुभव कह सकते हैं। यहाँ एक बात और है, गीताकार को केवल शुष्क तार्किक ज्ञान मान्य नही है। उसका कथन है कि जितेन्द्रिय, तत्पर हुआ, श्रद्धावान् पुरुष ज्ञान को प्राप्त होता है। ज्ञान को प्राप्त होकर तत्क्षण भगवत्-प्राप्तिरूप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है।[4] भगवत् विषय को न जानने वाला तथा श्रद्धा रहित और सशयवान व्यक्ति विनष्ट हो जाता है तथा संशययुक्त पुरुष के लिए न इस लोक मे न परलोक में—कही भी सुख नही है।[5]

यद्यपि गीताकार के मत से ज्ञान और कर्म भी श्रेयस्कर है परन्तु उसका सबसे अधिक मान्य मत ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण ही ज्ञात होता है। भगवान् में मन को एकाग्र करके निरन्तर उसी के ध्यान मे लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त

---

१. भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥ — गी० ११।५४
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः मर्वभूतेषु यः म मामेति पाण्डव॥ — गी० ११।५५

२. अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥ — गी० ४।३६

३. न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥ — गी० ४।३८

४. श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥ — गी० ४।३९

५. अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥ — गी० ४।४०

हुए उस परमेश्वर को भजते हैं, वे योगियों में भी अति उत्तम योगी भगवान् को मान्य हैं ।[१] जो भगवत् परायण भक्तजन सम्पूर्ण कर्मों को भगवान् के प्रति अर्पण करके अनन्य ध्यानयोग से चिन्तन करते हुए उसकी उपासना करते हैं भगवान् उन प्रेमी भक्तों को संसार-सागर से शीघ्र ही पार कर देता है ।[२] अबाध गति से ध्यानयोग में लीन सुख-दुख लाभ-हानि में समान रूप से सन्तुष्ट रहने वाला दृढ़ निश्चयवान जो व्यक्ति मन और बुद्धि दोनों को ही मुझ भगवान् में अर्पण कर देता है वह निश्चय भक्त निश्चय ही भगवान् को प्रिय होता है ।[३]

संक्षेप में हमें यह कहना चाहिए कि गीता में अर्जुन ही वह भक्त साधक है, जो सब प्रकार से श्रद्धावान होकर गुरु के बताए हुए मार्ग पर चलकर, सभी कर्मों में आशक्ति त्याग कर, परमात्मा के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण करके उसका साक्षात्कार करता है तथा उस अचाक्षुष, अतीन्द्रिय साक्षात्कार का वर्णन करता हुआ वह विस्मय, जिज्ञासा, भय तथा पुलक से गद्गद हो जाता है । यहाँ हम कह सकते हैं कि यही है परमात्मा का वह रहस्यात्मक प्रत्यक्ष जिसके लिए रहस्यवादी साधक निरन्तर लालायित रहता है । यही उसका साध्य तथा सिद्धि है ।

भागवत् पुराण, शाण्डिल्य भक्तिसूत्र और नारद भक्तिसूत्र रहस्यवादी प्रगति की मूल कृतियाँ हैं । ये तीनों रचनाएँ रहस्यवादी चिन्तन के विकास का प्रतिनिधित्व करती हैं, जो सम्भवतः एक ओर साम्प्रदायिक मतवादों के साथ और दूसरी ओर रहस्यवादी प्रगति के साथ-साथ चलती हैं । भागवत् से भारत के सभी आस्तिक दार्शनिक मत प्रभावित हुए । समय के साथ लोगों ने इसको सिद्धान्त-ग्रन्थ के रूप में भी ग्रहण किया । अतीत काल से यह महानतम रहस्यवादियों के चित्रण व अभिव्यक्ति का कोष है । यद्यपि इसकी भाषा में कुछ आधुनिकता का अश भी उपलब्ध होता है परन्तु इसकी भावाभिव्यक्ति और शब्द-विन्यास की प्राचीन पद्धति इसको ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों का ही सिद्ध करती है ।

प्रोफेसर रानाडे ने भागवत को भारत के प्राचीन रहस्यवादियों के वर्णन एवं भावोद्गारों का भण्डार कहा है ।[४] यदि हम भागवत् में रहस्यवादियों की कतिपय कोटियों का निर्धारण करें, तो हमें ऐसे रहस्यवादियों की एक अच्छी संख्या प्राप्त होगी जिन्होंने रहस्यवादी प्रगति के सम्पूर्ण क्रम को प्रभावित किया है । प्रथम स्थान में राजकुमार बालक ध्रुव है, जो अपनी विमाता से अपमानित होकर राज्य और ससार का परित्याग कर देता है । अपमान से संतापित होकर वह वन को चला जाता है, जहाँ उसे आध्यात्मिक शिक्षक के

---

१. मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्तमा मताः । — गी० १२।२

२. तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ — गी० १२।७

३. सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धियों मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ — गी० १२।१४

४. Mysticism in Maharashtra, P. 8.

दर्शन होते हैं जिससे वह भगवत्-मार्ग का ज्ञान प्राप्त करके परमात्मा का साक्षात्कार करने में सफल होता है।[1] भगवान् के प्रति विशुद्ध, निःस्वार्थ प्रेम का अन्य उदाहरण राक्षसराज हिरण्यकशिपु का पुत्र प्रह्लाद है, जिसका भगवत्-प्रेम विपत्तियों के बीच भी अक्षुण्ण बना रहता है। प्रथम पाठ मे भी वह राम का नाम ही पढता है। अग्नि से जलाये जाने पर, पहाड़ से गिराये जाने पर भी उसकी भक्ति-भावना अजेय ही रही और भगवान् का दर्शन होने पर उसने और कुछ न माँग कर केवल यही वर माँगा कि उसमें कभी कोई इच्छा न उत्पन्न हो—वह सर्वदा निष्काम भक्त बना रहे।[2]

उद्धव भगवान् के मित्र हैं जिनका भगवान् के प्रति प्रेम दार्शनिक तर्कयुक्त है।[3] कुब्जा पहिले कृष्ण के प्रति वासनामय प्रेम से आकृष्ट हुई परन्तु उसकी वासना को कृष्ण ने पवित्र प्रेम में परिवर्तित कर दिया और अन्तत. वह भगवान् की प्रिया हुई[4] यही नहीं, सागर में ग्राह द्वारा ग्रसित वह गजराज जिसने आर्त होकर भगवान् को पुकारा, एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत करता है कि किस प्रकार मूक ज्ञानहीन जड़बुद्धि पशु की भी भक्ति से रक्षा होती है और किस प्रकार भगवान् उनके सकटकाल में आकर उन पर भी अनुग्रह करते है।[5] निर्धन भक्त सुदामा, जिसके पास दो मुट्ठी तंदुलों के अतिरिक्त कृष्णार्पण करने को कुछ नही था भगवान् के द्वारा वर प्राप्त करके सुवर्ण नगरी का अधिपति बना।[6] अधम पातकी अजामिल ने जो निम्नजाति की स्त्री में आसक्त था, मृत्यु के समय भगवान् के नाम-उच्चारण मात्र से मोक्ष-लाभ किया,[7] ऋषभदेव उस उच्च कोटि के रहस्यवादी है जिनकी पूर्ण आत्मविस्मृति उनके भगवत् साक्षात्कार करने का सबमे बड़ा चिह्न है। भागवत् में हम देखते है कि वे पृथ्वी का राज्य अपने पुत्र भरत को सौपकर नेत्रविहीन, कर्णविहीन, मूक व्यक्ति की भाँति ससार से निर्लिप्त रहकर नगरों, ग्रामो. उद्यानों, पर्वतो तथा जगलों मे घूमते रहे। लोगो ने हर प्रकार से उन्हें अपमानित किया परन्तु वे भगवत्भक्ति से तनिक भी विचलित न हुए। वे पूर्ण आत्मविस्मृत हो गये थे। इन सब कष्टों के बीच भी उनका देदीप्यमान मुखमण्डल, उनका बलिष्ठ शरीर, शक्तिशाली भुजाएँ और उनका स्मित आनन अत्यन्त आकर्षक था। अन्त में उन्होने अपने शरीर को पूर्णाहुति के रूप में भगवत्-अर्पण करके दावाग्नि में समर्पित कर दिया।[8] दत्तात्रेय एक अन्य रहस्यवादी हैं जो चौबीस गुरुओं से विभिन्न प्रकार के गुण ग्रहण करते हैं जैसे पृथ्वी से क्षमा, सागर से गाभीर्य, वन से परोपकार तथा वायु से अनासक्ति आदि। अन्त में इन विभिन्न गुणो का स्वय अपने अद्वितीय जीवन में समन्वीकरण करते

१. भाग० स्कन्ध ४ अध्याय ८
२. भाग० स्कन्ध ८ अध्याय ८ और १०
३. भाग० स्कन्ध १० अध्याय ४६
४. भाग० स्कन्ध १० अध्याय ४२
५. भाग० स्कन्ध ७ अध्याय २ और ३
६. भागवत स्कन्ध १० अध्याय ८० और ८१
७. भागवत स्कन्ध ६ अध्याय १ और २
८. भागवत स्कन्ध अध्याय ५ और ६

हैं।[1] शुकदेव जो भागवत् के दार्शनिक रहस्यवादी सिद्धान्तों के वक्ता हैं, एक उच्चकोटि के रहस्यवादी हैं जो उस दर्शन को व्यवहृत भी करते हैं, जिसकी वे शिक्षा देते हैं। उनके रहस्यवादी उद्‌गारों से ही भागवत् की रचना हुई है। भागवत् के दशम स्कंध के अष्टम् अध्याय में उनकी वे शिक्षाएँ निहित हैं जिनमें वास्तविक रहस्यवादी जीवन के लिए अपेक्षित भक्ति, आध्यात्मिक शिक्षक, सत्संग आदि की आवश्यकता प्रतिपादित की गई है।[2]

अन्त में भागवतकार ने भागवत् के दशम तथा एकादश स्कन्ध के नायक कृष्ण को हमारे सम्मुख सर्वोत्कृष्ट रहस्यवादी के रूप में प्रकट किया है। भागवत् में वर्णित समस्त रहस्यवादियों में कृष्ण का स्थान सर्वोच्च है। अपनी आध्यात्मिक शक्तियों के कारण वे भगवान् के अवतार माने जाते हैं। उनका सिद्धान्त भगवद्‌गीता के सिद्धान्त से भिन्न नहीं है। उन्होंने सर्वोच्च दार्शनिक शिक्षा पर आधारित कर्ममय जीवन व्यतीत किया और जब उनके पार्थिव शरीर के नष्ट होने का समय आया तो एक बहेलिये के तीर का शिकार बन कर उन्होंने इहलोक लीला समाप्त की। कृष्ण तथा गोपियों के सम्बन्ध के विषय में एक अत्यन्त भ्रान्त धारणा यह प्रचलित है कि उनका प्रेम वासनामय है। इस धारणा का विद्वानों द्वारा निराकरण भी किया जा चुका है। इसी सम्बन्ध में प्रोफेसर रानाडे का कथन है, "कृष्ण का गोपियों के साथ कभी कोई वासनामय सम्बन्ध रहा हो ऐसी कल्पना करना भी कठिन है। परवर्ती पुराणकारो ने, जो आध्यात्मिक जीवन की यथार्थ प्रकृति से अनभिज्ञ थे, इस असत्य का आविष्कार किया।"[3]

क्या यह सम्भव नही है कि अपने रहस्यात्मक साक्षात्कार में प्रत्येक गोपी ने भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन किया हो और भगवान् ने अपने को उन सब के सम्मुख इस प्रकार प्रकट किया हो कि सब ने एक ही समय पर उनके आनन्द का उपभोग किया हो। यही रहस्यात्मक ब्रह्मानन्द है। भगवान् के साथ वासनामय सम्बन्ध सम्भव नही है और न रहस्यवाद में वासना के लिए कोई स्थान ही है। भागवत् से हिन्दी साहित्य जितना प्रभावित हुआ तथा जनता में इसका जितना प्रचार हुआ, उसे देखकर हम इसे पुराण साहित्य का प्रतिनिधि ही कहेंगे। इसीलिए यहाँ अन्य पुराणों का विवेचन न करके केवल भागवत् ही आलोच्य विषय है।

हम देख चुके हैं कि वैदिक काल से उद्‌भूत ज्ञान की अबाध धारा सतत बहती ही रही। अनेक विचार तथा धारणाएँ जो हिन्दी सतकवियों द्वारा आत्मसात् की गईं, वैदिक काल में अस्तित्व ग्रहण कर चुकी थीं। आरुणि, जनक आदि जिन पात्रों के नाम वेदों मे आये, वही आगे चलकर किसी नवीनता के साथ महाभारत में प्रयुक्त हुए। उनमे जो त्रुटि, जो अभाव

---

१. भागवत स्कन्ध ११ अध्याय ७

२. भागवत स्कन्ध १० अध्याय ८

३. That Krishna ever had any sexual relation with the Gopis is hard to imagine. It is a lie invented by later mythologists, who did not understand the true nature of spiritual life.

Mysticism in Maharashtra, Page 11

तथा जो अपूर्णता प्रतीत हुई वह शनैः शनैः पूरी होती गई। उदाहरण के लिए हम आरुणि, उद्दालक का नाम ले सकते हैं। आरुणि, उद्दालक दोनों नाम एक ही पात्र के लिए वेद में आये हैं परन्तु आरुणि का नाम उद्दालक क्यों, कैसे पड़ा इससे सम्बन्धित नवीन उपाख्यान महाभारत में आकर जुड़ा। जो न्यूनता वैदिक ऋषियों की ऋचाओं में दृष्टिगोचर हुई, वह नवीनता से समन्वित होकर पुराणकाल में पूर्णता को प्राप्त हुई।

वेदों के समय में स्मृति ही ज्ञान के प्रसार का एकमात्र साधन थी। इसलिए यह संभव है कि विविध आख्यानो के उपस्थित रहते हुए भी वे अक्षरशः स्मरण रखने की कठिनता के कारण वैदिक ऋचाओं में पूर्णतया वर्णित नही किये गये। पुराणों के लिखित रूप में होने के कारण उन आख्यानो का पूर्णरूपेण वर्णन सभव हो सका। इस भाँति कितने ही आख्यान तथा चरित्र पुराणो में सम्मिलित हुए होगे।

महाभारत, रामायण तथा भागवत पुराण ऐसे ग्रथ हैं जिनका प्रभाव परवर्ती संस्कृत साहित्य पर भी सब से अधिक पड़ा। यह ग्रथ परम आदरित तथा सर्वसम्मानित तो हुए ही, इन्होंने साहित्य के लिए अनेक प्रकार के भाव, चरित्र तथा कथावस्तु प्रदान किये। सस्कृत साहित्य मे उच्चकोटि का कहा जाने वाला शायद ही कोई ऐसा ग्रंथ हो जो पात्र तथा विषय के लिए महाभारत तथा भागवत् का ऋणी न हो। कालिदास को शाकुन्तलम् अथवा रघुवंश के लिए, भवभूति को उत्तररामचरित के लिए, श्रीहर्ष को नैषध के लिए, भारवि को किरातार्जुनीय के लिए तथा माघ को शिशुपाल वध के लिए पात्र तथा कथावस्तु एक स्रोत से ही प्राप्त हुए। वास्तव में भागवत भी महाभारत की ही देन है जो कि परवर्ती भक्ति-साहित्य की प्रगति मे प्रमाण्य रूप से स्वीकृत हुई।

भागवत् की भक्ति-भावना का तो हिन्दी सत कवियो में समावेश हुआ ही, उन्हें वे पात्र भी भागवत् से ही प्राप्त हुए जो उन्ही की भाँति भक्ति-भावना से पूर्ण थे। सत कवियो ने उन पात्रो को ग्रहण करके उनमे इच्छानुसार कुछ घटाया-बढ़ाया परन्तु चरित्र वही बने रहे जो भागवत् से प्राप्त हुए थे। उन चरित्रो की वास्तविकता, सत्यता अथवा ऐतिहासिकता ने किसी का ध्यान अपनी ओर आकर्षित न किया।

प्रत्येक शब्द का लाक्षणिक अर्थ होता है, उस अर्थ से वह अपने साथ लगे हुए भावों का बोध कराता है। उन भावों में वस्तुगत सत्यता का होना अनिवार्य नही है, परन्तु अधिकाश में किसी न किसी प्रकार से वस्तुगत सत्यता होती अवश्य है। यों तो प्रत्येक शब्द की पूर्ण जानकारी प्रयोगकर्त्ता द्वारा जाने गये लाक्षणिक तथा वस्तुगत अर्थज्ञान पर ही आधारित है। सामान्य शब्दों से भिन्न कवि प्रौढ़ोक्तियो में वस्तुगत सत्यता का लेशमात्र न होने पर भी अपने लाक्षणिक प्रयोग के कारण वे सत्य समझी जाती हैं। चातक का स्वाति नक्षत्र के जल-पान बिना तृषित रहना, चकोर का अग्नि (अङ्गार) भक्षण करना, स्वाति जल के पड़ने से कदली, सीप तथा भुजग मुख में क्रमश. कपूर, मुक्ता तथा विष का हो जाना, हंस का मुक्ताभोगी तथा नीरक्षीर-विवेक, चन्दन वृक्ष में सर्पों का लिपटे रहना आदि उसी प्रकार की कवि-प्रौढ़ोक्तियाँ हैं जो वस्तुगत सत्यता से सर्वथा रहित होने पर भी सत्य के रूप में जन-मस्तिष्क में घर किए

हुए हैं। साधारण शब्दों की अपेक्षा ये प्रौढ़ोक्तियाँ अधिक मर्मस्पर्शी भाव तथा गहरी अनुभूति की व्यंजना करती हैं। जिस प्रकार प्रौढ़ोक्तियाँ कविकृतियों में तथा जन-जीवन में स्थान प्राप्त किए हुए हैं उसी प्रकार भागवत् में उल्लिखित पात्रों ने हिन्दी के संत तथा भक्त कवियों की रचनाओं में स्थान प्राप्त किया है। उन पात्रों में सत्यता है अथवा नहीं, वे ऐतिहासिक व्यक्ति हैं अथवा नही इसकी किसी ने अपेक्षा नही की। ध्रुव, प्रह्लाद, ऋषभदेव, दत्तात्रेय, सुदामा आदि पौराणिक चरित्र ही हैं, उनके ऐतिहासिक व्यक्तित्व के विषय में हमें ज्ञात नहीं। उनके अतिरिक्त पशु-पक्षी-जगत् से आने वाले गजराज तथा गीध को भी सत कवि भुला नही सके। गजराज तथा गीध के आख्यान में वस्तुगत सत्यता कितनी है इस ओर किसी का ध्यान आकृष्ट न हुआ। इन आख्यानों की वस्तुगत सत्यता के विषय में कविगण सोच ही नहीं सकते। इनके विषय में सोचना उनका अपनी आत्मा के प्रति विद्रोह करना होगा। अजामिल, गणिका, गीध, व्याध आदि अनेक ऐसे ही पात्र हैं जिन्होंने पुराणों से आकर भक्ति साहित्य में चिरस्थायी स्थान प्राप्त किया तथा भक्तों के द्वारा मुक्ति के लिए एक आशा तथा विश्वास के स्रोत के रूप में गृहीत हुए। भक्ति-भावना से ओतप्रोत संत तथा भक्त कवियो ने पौराणिक चरित्र आख्यानों को अपने भावोद्गारों में यथातथ्य रूप में अंकित किया।

हिन्दी साहित्य को पुराणों से केवल पात्र और आख्यान ही नही मिले वरन् रहस्यवाद की सामग्री के रूप में नाम-स्मरण की महिमा, गुरु की महत्ता, सत्संग की वांछनीयता, कुसंग के दुष्परिणाम आदि भी उपलब्ध हुए। भक्तों की परम्परा में पौराणिक रहस्यवादी भक्त पात्रों का नाम सदैव के लिए अंकित हो गया तथा नाम-स्मरण, आध्यात्मिक गुरु, सत्संग तथा कुसग का परित्याग आदि भारतीय रहस्यवाद के प्रधान उपकरण बन गये। इस प्रकार हमने देखा कि प्राचीन काल से चली आती हुई रहस्यवादी परम्परा के अन्तर्गत पुराणों का विशेषकर भागवत् पुराण का हिन्दी के मध्यकालीन सत तथा भक्तसाहित्य पर व्यापक तथा स्थायी प्रभाव पड़ा।

भगवद्गीता का भक्तितत्त्व सूत्रकाल में आकर शाण्डिल्य और नारद-भक्ति-सूत्रों में प्रतिपादित हुआ। ये दोनों भक्तिसूत्र भगवद्गीता और परवर्ती भक्ति-साहित्य को जोड़ने वाली कड़ी का काम देते हैं। ये भागवत् की ही भाँति है, जो भारतीय रहस्यवाद की मौलिक कृति है। इन सूत्रों के रचना-काल की निश्चित तिथि का निर्णय करना बहुत सरल नहीं है। अपने प्राचीन शास्त्रीय ढंग के कारण शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र प्राचीनतर प्रतीत होता है और यह स्पष्ट ही है कि अन्य दार्शनिक सूत्रों के आधार पर इसकी भी रचना हुई। यह अन्तः-साक्ष्य इसकी प्राचीनता को सिद्ध करता है। नारद-भक्ति-सूत्र शाण्डिल्य का उद्धरण प्रस्तुत करता है परन्तु शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र नारद को उद्धृत नहीं करता। वस्तु-विषय के सम्बन्ध में नारद-भक्ति-सूत्र अपनी सरल अभिव्यंजना और प्रखर भक्ति के कारण न केवल शाण्डिल्य से अधिक श्रेष्ठ है वरन् भक्ति-साहित्य के उज्ज्वलतम रत्नों की भाँति सम्माननीय है—ऐसा प्रोफेसर रानाडे का मत है।[1]

१. Mysticism in Maharashtra, P. 12

शाण्डिल्य-सूत्र नारद की अपेक्षा अधिक दार्शनिक है। यह ब्रह्म और जीव की प्रकृति, उनके पारस्परिक सम्बन्ध और सृष्टि के प्रश्न को प्रस्तुत करता है। नारद-भक्ति-सूत्र भक्ति के सिद्धान्त से आरम्भ होता है, उसके विभिन्न पहलुओं का विश्लेषण करता है और केवल शुष्क दार्शनिकता को कहीं नहीं आने देता। नारद और शाण्डिल्य दोनों भगवद्गीता को उद्धृत करते हैं। जहाँ तक भक्ति-विषयक शिक्षा का सम्बन्ध है दोनों समान हैं। दोनों ही मुख्य तथा गौणी दो प्रकार की भक्ति मानते हैं। गौणी भक्ति के अन्तर्गत पूजा, कीर्तन, ध्यान तथा नाम-स्मरण भी माने जाते हैं। मुख्य भक्ति का अर्थ है मनुष्य में भगवत्-प्रेम के पवित्र निर्झर का उद्भव। एक बार इस प्रकार का प्रेम उत्पन्न हो जाने पर कोई अन्य प्रयोजन नहीं रह जाता। केवल गौणी भक्ति प्राप्त करके यह नहीं कहा जा सकता कि हमने उस परम भक्ति को जान लिया है। इस अध्ययन के द्वारा शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करके अधिक महत्वपूर्ण नारद-भक्ति-सूत्र का विवेचन करना यहाँ उचित होगा।

नारद-भक्ति-सूत्र में भक्ति के लक्षणों के विषय मे अनेक मत दिये गये हैं। महर्षि व्यास के मतानुसार भगवान् की पूजा आदि में अनुराग होना भक्ति है।[1] गर्गाचार्य के मत से भगवान् की कथा आदि मे अनुराग होना ही भक्ति है।[2] शाण्डिल्य ऋषि के विचार से आत्मरति के अविरोधी विषय में अनुराग होना ही भक्ति है।[3] परन्तु नारद-भक्ति-सूत्रकार देवर्षि नारद के मतानुसार अपने सब कर्मों को भगवान् के अर्पण करना और भगवान् का थोड़ा सा भी विस्मरण होने में परम व्याकुल होना ही भक्ति है।[4] सूत्रकार के प्रस्तुत मत से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि भगवान् की भक्ति में विरह का प्रमुख स्थान है। इस विरह भावना का विकसित रूप हिन्दी सन्त कवियों द्वारा अभिव्यक्त हुआ है।

यह भक्ति ईश्वर के प्रति परम प्रेमरूपा है।[5] और अमृतस्वरूपा भी है।[6] जिसको पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है तथा तृप्त हो जाता है।[7] इस भक्ति के प्राप्त होने पर मनुष्य न किसी वस्तु की इच्छा करता है, न शोक करता है, न द्वेष करता है, न किसी वस्तु में आसक्त हो जाता है और न उसे विषय-भोगों की प्राप्ति में उत्साह होता है।[8] इस प्रेमरूपा भक्ति को जानकर मनुष्य मस्त हो जाता है, स्तब्ध हो जाता है और आत्माराम बन जाता है।[9] यह भक्ति कामना-युक्त नहीं है, क्योंकि वह निरोध-स्वरूपा है।[10]

---

१. पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः। ना० भ० सू० ।१६।
२. कथादिष्विति गर्गः। ना० भ० सू० ।१७।
३. आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः। ना० भ० सू० ।१८।
४. नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति। ना० भ० सू० ।१९।
५. सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। ना० भ० सू० ।२।
६. अमृतस्वरूपा च। ना० भ० सू० ।३।
७. यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति। ना० भ० सू० ।४।
८. यत्प्राप्य न किंचिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति। ना० भ० सू० ।५।
९. यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति। ना० भ० सू० ।६।
१०. सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात्॥ ना० भ० सू० ।७।

कुछ आचार्यों का मत है कि भक्ति का साधन ज्ञान ही है।[१] अन्य आचार्यों के मत से भक्ति और ज्ञान परस्पर एक दूसरे के आश्रित हैं।[२] ब्रह्मकुमारों के मत से भक्ति स्वयं फलरूपा है।[३] भक्ति का साधन विषय-त्याग और संग-त्याग है।[४] अखण्ड भजन से भक्ति का साधन सम्पन्न होता है।[५] लोक समाज में भी भगवद्गुण श्रवण और कीर्तन से भक्ति साधन सम्पन्न होता है।[६] परन्तु प्रेमाभक्ति की प्राप्ति का मुख्य कारण भगवत्कृपा का लेशमात्र तथा सज्जनों की कृपा एव सत्सग है।[७] सज्जनों का संग दुर्लभ, अगम्य, और अमोघ है।[८] भगवान् की कृपा से ही सज्जनों का संग भी प्राप्त होता है।[९] क्योंकि भगवान में और उनके भक्त में भेद का अभाव है।[१०] अस्तु हर प्रकार से हरिकृपा ही भक्ति का साधन है।

भक्ति के साधन का निरूपण करने के पश्चात् सूत्रकार सदैव सत्संग करने तथा दुर्जन संग से दूर रहने का आदेश करता है।[११] दुःसंग, काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रंश, बुद्धिनाश एव सर्वनाश का कारण है।[१२] काम क्रोधादि दुर्गुण पहिले तरंग की भाँति क्षुद्र आकार में आकर भी दुःसग से विशाल सागर का रूप धारण कर लेते है।[१३] जो कर्म-फल का त्याग करता है, कर्मो का भी त्याग करता है, जो तीनों गुणों से परे हो जाता है, जो योग-क्षेम का परित्याग कर देता है तथा सब कुछ त्याग कर निर्द्वन्द्व हो जाता है, वह वैदिक कर्मो से सन्यास ले लेता है तथा अखण्ड असीन, भगवत्-प्रेम प्राप्त कर लेता है।[१४] वह स्वय तरता है तथा लोक को भी तारता है।[१५]

इस भगवत्-प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है।[१६] गूगे के स्वाद की भाँति[१७] किसी बिरले योग्य पात्र मे ही यह प्रेम प्रकाशित होता है।[१८] यह प्रेम गुणरहित है, कामनारहित है, प्रति-

---

१. तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके। ना० भ० सू० ।२८।
२. अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये। ना० भ० सू० ।२९।
३. स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः। ना० भ० सू० ।३०।
४. तत्तु विषयत्यागात् संगत्यागाच्च। ना० भ० सू० ।३५।
५. अव्यावृतभजनात्। ना० भ० सू० ।३६।
६. लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्तनात्॥ ना० भ० सू० ।३७।
७. मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा॥ ना० भ० सू० ।३८।
८. महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च॥ ना० भ० सू० ।३९।
९. लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव। ना० भ० सू० ।४०।
१०. तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्॥ ना० भ० सू० ।४१।
११. दुःसंगः सर्वथैव त्याज्यः॥ ना० भ० सू० ।४३।
१२. कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाशसर्वनाशकारणत्वात्॥ ना० भ० सू० ।४४।
१३. तरंगायिता अपीमे संगात्समुद्रायन्ति॥ ना० भ० सू० ।४५।
१४. वेदानपि संन्यस्यति, केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते॥ ना० भ० सू० ।४९।
१५. स तरति स तरति स लोकांस्तारयति। ना० भ० सू० ।५०।
१६. अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्॥ ना० भ० सू० ।५१।
१७. मूकास्वादनवत्॥ ना० भ० सू० ।५२।
१८. प्रकाशते क्वापि पात्रे। ना० भ० सू० ।५३।

क्षण बढ़ता रहता है, विच्छेद रहित है, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर है और अनुभव रूप है।[1] इस प्रेम को प्राप्त कर प्रेमी एक प्रेम को ही देखता है, प्रेम को ही सुनता है, प्रेम का ही वर्णन करता है और प्रेम का ही चिन्तन करता है।[2] तात्पर्य यह प्रेमी का प्रत्येक कार्य प्रेम मे ही सम्पादित होता है। उसके लिए जगत् प्रेममय हो जाता है। प्रेमाभक्ति स्वयं प्रमाण है। इसके लिए अन्य प्रमाण की आवश्यकता नही है।[3] इसीलिए वह सुलभ है।[4]

अब महर्षि नारद द्वारा, प्रस्तुत भक्त के लक्षणो पर हम दृष्टिपात करेंगे। भक्त को लोक-हानि की चिन्ता नहीं होती, क्योंकि वह अपने सब प्रकार के कर्मों को तथा स्वय को भगवान् के अर्पण कर चुका है।[5] स्त्री, धन, नास्तिक तथा वैरी का चरित्र नहीं सुनता[6] तथा अभिमान दम्भ आदि को त्याग देता है।[7] सब आचार भगवान् को अर्पण कर चुकने पर यदि काम, क्रोध, अभिमान आदि होते भी है तो उन्हे भी भगवान् के प्रति ही करता है।[8] भक्तो में जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रियादि का भेद नही होता।[9] क्योंकि सब भक्त भगवान् के ही हैं।[10] प्रेमाभक्ति का साधन अहिंसा, सत्य, शौच, दया, आस्तिकता आदि आचरणीय सदाचारों का भलीभाँति पालन करता है।[11] सब समय, सर्व-भाव से निश्चिन्त होकर केवल भगवान् का ही भजन करता है।[12]

संक्षेप में कह सकते है कि तीनो (कायिक, वाचिक, मानसिक) सत्यों मे अथवा तीनों कालो में सत्य भगवान् की भक्ति ही श्रेष्ठ है।[13] सनतकुमार, वेदव्यास, शुकदेव, शाण्डिल्य, गर्ग, विष्णु, कौण्डिन्य, शेष, उद्धव, आरुणि, बलि, हनुमान, विभीषण आदि भक्तितत्व के आचार्य लोकनिन्दा-स्तुति की कुछ भी परवाह न करके एक मत से कहते हैं कि भक्ति ही श्रेष्ठ है।[14]

इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भगवत् अनुग्रह से जिस योग्य साधक में प्रेमाभक्ति प्रकट होती है वह उसके समस्त भावो (Emotions) तथा ज्ञाने-

---

१. गुणरहितं कामनारहित प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम् ॥ ना० भ० सू० ।५४।
२. तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति ॥ ना० भ० सू० ।५५।
३. प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात् स्वयप्रमाणत्वात् ॥ ना० भ० सू० ५९।
४. अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ ॥ ना० भ० सू० ।५८।
५. लोकहानौ चिन्ता न कार्या निवेदितात्मलोकवेदत्वात् ॥ ना० भ० सू० ।६१।
६. स्त्रीधननास्तिकवैरिचरित्रं न श्रवणीयम् ॥ ना० भ० सू० ।६३।
७. अभिमानदम्भादिकं त्याज्यम् ॥ ना० भ० सू० ।६४।
८. तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम् ॥ ना० भ० सू० ।६५।
९. नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः ॥ ना० भ० सू० ।७२।
१०. यतस्तदीयाः । ना० भ० सू० ।७३।
११. अहिंसासत्यशौचदयास्तिक्यादिचारित्र्याणि परिपालनीयानि । ना० भ० सू० ।७८।
१२. सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तितैर्भगवानेव भजनीयः । ना० भ० सू० ।७९।
१३. त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी । ना० भ० सू० ।८१।
१४. इत्येवं वदन्ति जनजल्पनिर्भया एकमताः कुमारव्यासशुकशाण्डिल्यगर्गविष्णुकौण्डिन्यशेषोद्धवारुणिबलिहनुमद्विभीषणादयो भक्तत्याचार्याः । ना० भ० सू० ।८३।

न्द्रियों को व्याप्त करके अनिर्वचनीय चेतना से परिपूरित कर देती है। यह वर्णन से परे है। इस चेतना की प्राप्ति के पश्चात् साधक सभी लौकिक तथा वैदिक व्यापारों से पृथक् होकर सिद्ध, स्तब्ध, संतुष्ट तथा आत्माराम हो जाता है। इसी भावभूमि को हम रहस्यात्मक अनुभूति कहते हैं।

रहस्यवादी अनुभूति के लिए जो अनवरत अटूट स्मरण अपेक्षित है, वह नारद-भक्ति-सूत्र में विद्यमान है। समस्त चेतना को एक में केन्द्रीभूत करने की आवश्यकता साधक को होती है उसका भी आदेश यहाँ हुआ है। समस्त साधनों के एकत्र हो जाने पर ईश्वर अनुकम्पा से जो अनिर्वचनीय परम ज्ञानरूपा स्वयं प्रमाण अनुभूति होती है उससे तन्मय होकर भक्त का कठ अवरुद्ध हो जाता है, रोमाच हो जाता है और नेत्र साश्रु हो जाते हैं।[1] यही है रहस्यात्मक अनुभूति जो रहस्यवाद की मूल भित्ति है। अस्तु इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि नारद-भक्ति-सूत्र में भक्तिपरक रहस्यभावना का सुन्दर निदर्शन हुआ है।

---

१. कंठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च। ना० भ० सू० ।६८।

तृतीय परिच्छेद

माया

साहित्य में माया शब्द का प्रयोग वैदिककाल से निरन्तर होता आया है। कालानुक्रम से माया के अर्थ तथा उसके सम्बन्ध में विद्वानों की धारणाओं में अन्तर होता गया है।

ऋग्वेद में इन्द्र अपनी माया के द्वारा अनेक रूपों को धारण करते हुए दिखाई पड़ते हैं।[1] प्रोफेसर दासगुप्ता के अनुसार माया शब्द ऋग्वेद में अलौकिक शक्ति और अद्भुत कौशल के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[2]

श्वेताश्वतर उपनिषद् में प्रकृति को माया तथा परमेश्वर को महान् मायावी कहा गया है।[3] श्वेताश्वतर में उल्लेख है कि इसी माया-शक्ति के द्वारा परमात्मा संसार का सृजन करता है तथा आत्मा इसी माया से आबद्ध रहती है।[4]

इसके अतिरिक्त ध्यान के द्वारा जब तक परमब्रह्म की प्राप्ति नही हो जाती, उससे एकाकार नही हुआ जाता, तब तक विश्वमाया से निवृत्ति नही होती।[5] प्रश्नोपनिषद् के अनुसार कुटिलता, अनृत तथा माया के त्याग के बिना ब्रह्मलोक की प्राप्ति असम्भव है।[6] उपनिषदों के कुछ अशो पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि यद्यपि उपनिषदो में कही-कही प्रत्यक्ष रूप से माया शब्द प्रयुक्त नही हुआ है परन्तु कुछ अश स्पष्टतया माया की ओर इगित करते हुए प्रतीत होते है। शकराचार्य ने अपने मायावाद को वैदिक सिद्ध करने मे इन अशों मे प्रतिपादित भावो को अपनाया है। हिरण्यमय पात्र से सत्य का पिहित मुख[7], अज्ञान मे रहते हुए भी स्वय को बुद्धिमान् मानकर अन्धे के द्वारा अन्धे का नेतृत्व[8],

---

१. रूपं रूप प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभि पुरुरूप इयते युक्ता ह्यस्य हरयः शतादशेति ॥ ऋ० ६।४७।१८, बृ० २।५।१९

२. The word maya was used in the Rig-Veda in the sense of supernatural power and wonderful skill. *S.N.D. Vol. I. P. 469.*

३. मायां तु प्रकृति विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ॥ श्वे० ४।१०

४. अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्।
तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः ॥ श्वे० ४।९

५. तस्याभिध्यानात् योजनात् तत्त्वभावात्।
भूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्तिः ॥ श्वे० १।१०

६. तेषां असौ विरजो ब्रह्म लोको।
न येषु जिह्मं अनृतं न माया चेति ॥ प्र० १।१६

७. हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ ई० ।१५

८. दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पंडितं मन्यमानाः। दंद्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथांधाः ॥ क० १।२।४,५

अविद्या की ग्रन्थि की भाँति प्रतीति ।[1] ज्ञान को पौरुष तथा अज्ञान को उसके विरोधी की मान्यता ।[2] असत्, तम तथा मृत्यु से सत, प्रकाश तथा अमरता की ओर प्रस्थान ।[3] ऋषियों का इस संसार के अध्रुव में ध्रुव न देखना ।[4] पृथ्वी के अन्दर छिपे हुए स्वर्ण के अदृष्ट होने की भाँति सत्य का असत्य के द्वारा आच्छादन ।[5] परमात्मा के द्वारा जाल बिछाकर संसार के समस्त जीवों को उसमें फँसाकर उन पर शासन ।[6] नाम रूप की अवास्तविकता ।[7] प्रभृति विचार जो उपनिषदों में द्रष्टव्य हैं अप्रत्यक्ष रूप से माया विषयक धारणा के अभिव्यंजक हैं । कुछ तो बिल्कुल भ्रम (Illusion) के ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं । इसी अन्तः साक्ष्य के आधार पर शंकर ने अपने अद्वैत दर्शन के अन्तर्गत मायावाद का प्रतिपादन किया है ।

गीताकार का मत है कि माया के द्वारा अपहृत ज्ञान के कारण दुष्कृती अधम व्यक्ति परमात्मा को भी नहीं भजते ।[8] एक और स्थल पर कहा गया है कि ईश्वर अपनी माया के द्वारा कठपुतलीरूपी सम्पूर्ण प्राणियों को सूत्रधार की भाँति नचाता है ।[9]

सूर्य पुराण में माया सत्, असत्, सदासद तीनों से भिन्न अनिर्वचनीय नित्य मिथ्याभूता कही गई है .

न सद्रूपानऽसद्रूपा माया न चोभयात्मिका ।
सदासद्भ्याम् अनिर्वाच्य मिथ्या भूता सनातनी ॥

यह धारणा शंकर के माया विषयक मत के अनुरूप है । अविद्या का सदासद भिन्न अनिर्वचनीय स्वरूप वस्तुतः शंकर मतावलम्बियों द्वारा स्वीकृत हुआ है ।

बृहदारण्यक प्रश्न व श्वेताश्वतर उपनिषदों में इन्द्रजाल(Magic)जादू के अर्थ में[10]और बुद्ध धर्म के प्राचीन पाली-ग्रथों में यही शब्द कपट या कपटपूर्ण आचरण के अर्थ में व्यवहृत हुआ

---

१. पुरुष एवेदं विश्वम् .एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य ॥ मु० २।१।१०
२. नाना तु विद्या च अविद्या च । यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदारदेव वीर्यवत्तरं भवतीति ॥ छा० १।१।१०
३. असतो मा सद्गमय । तमसो मा ज्योतिर्गमय । मृत्योर्मा अमृतंगमय ॥ बृ० १।३।२८
४. अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥ क० २।१।२
५. त इमे सत्याः कामा अनृतापिधानास्तेषाँ् सत्यानाँ् सताम अनृतमपिधानं । छा० ८।३।१
यथथा हिरण्यनिधिं निहित अक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुः ॥ छा० ८।३।२
६. एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन्क्षेत्रे संहरत्येष देवः ।
भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ॥ श्वे० ५।३
७. यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो
नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥ छा० ६।१।४
८. न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिता ॥ गी० ७।१५
९. ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥ गी० १८।६१
१०. In the Brhadaranyaka, Prasna, and Svetasvatara Upanisads the word means magic. *S.N.D., Vol. I, P. 964*

है ।[1] आचार्य बुद्धघोष ने इस शब्द को ऐन्द्रजालिक शक्ति के अर्थ में लिया है ।[2] नागार्जुन के मत से माया का अभिप्राय भ्रम या (Illusion) है ।[3] शकराचार्य ने माया को संसार की उत्पत्ति में शक्ति रूप से निमित्त कारण तथा दृष्ट सृष्टि की भ्रमात्मकता तथा मिथ्यापन के अर्थ में माना है ।[4] नित्य आत्मा पर माया के अध्यास के द्वारा संसार की प्रतीति होती है—ऐसा गौड़पाद का मत है ।[5] अष्ट साहस्रिका प्रज्ञा पारमिता मे मुभूति ने भगवान् बुद्ध से कहा है–वेदना (Fceling), संज्ञा (Conccpt) तथा संस्कार (Conformations) सभी माया हैं ।[6] समस्त सृष्टि विषयक पदार्थों मे कोई वास्तविक सार नही होता । वे न उत्पन्न होते हैं, न नष्ट होते हैं, न उनका आगमन होता है, न गमन होता है । केवल माया अथवा अज्ञान के कारण दृष्टिगोचर होते हैं तथा प्रेक्षणीय मात्र हैं ।[7] नागार्जुन के सहृल्लेख में माया को द्विधा के अर्थ में प्रयुक्त करते हुए कहा गया है कि मात्सर्य, शठता, माया, कासिद्य, मान, राग, द्वेष, मद आदि को शत्रुवत् समझना चाहिए ।[8] समस्त दृष्ट सृष्टि पदार्थ और विषय, विषय और विषयी के रूप मे माया के द्वारा ही भासित होते हैं ।[9] ससार केवल माया और स्वप्न की भाँति है जिसका कोई अस्तित्व नहीं है । जो न शाश्वत है, न क्षयशील, जिसका न अस्तित्व

---

१. In early Palı Buddhist writings it occurs only in the sense of deception or deceitful conduct. *S.N.D., Vol. I P. 470*

२. Buddhaghosa uses it in the sense of magical power. *S.N.D., Vol. I.P. 470*

३. In Nagarjuna and the Lankavatara it has acquired the sense of illusion. *S.N.D., Vol. I.P. 470*

४. In Sankara the word maya is used in the sense of illusion, both as a pıinciple of creation as a sakti (Power) or accessory cause, and as the phenomenal creation itself, as the illusion of world-appearance. *S.N.D., Vol. I.P. 470*

५. The world subsists in the atman through Maya. *S.N.D.Vol. I.P. 470.*

६. Thus we find Subhuti saying to the Buddha that vedana (feeling) sangya (concepts) and the samskars (conformations) are all maya (illusion) *S.N.D., Vol. I.P. 127*

७. As the phenomena have no essence they are neither produced nor destroyed; they really neither come nor go. They are merely the appearance of maya or illusion. *S.N.D., Vol. I. P. 141*

८. View as enemies, avarice(matsaryya), deceit(sathya) duplicity(maya), Lust, indolence (Kausidya), pride (mana), greed (raga), hatred (dvesa) and pride (mada) concerning family, figure, glory, youth, or power. *S.N.D., Vol. I. P. 144.*

९. It is only due to maya (illusion) that the phenomena appear in their twofold aspect as subject and object. *S.N.D., Vol. I. P. 146.*

है, न अनस्तित्व। केवल मूर्खों के द्वारा उसका अस्तित्व कल्पित किया जाता है[1]। वास्तव में जब यह कहा जाता है कि संसार माया अथवा भ्रम है तो उसका अभिप्राय यह होता है कि माया की कोई स्थिति नहीं है और न उसका कोई वास्तविक कारण ही है।[2]

जैन दर्शन में काषायों का वर्णन करते हुए माया को भी एक काषाय माना गया है तथा उसे छल और कपटपूर्ण वृत्ति कहा गया है। जैनों के चार काषाय क्रोध, अभिमान, माया तथा लोभ हैं।[3] सांख्य दर्शन के अनुसार ही परवर्ती वेदान्तियों ने माया को सत्व, रज तथा तम गुणों से निर्मित माना है।[4] माया अपरिभाषिणीय, अनिश्चित तथा अप्रमाण्य है।[5] माया शब्द वेदान्त दर्शन में सबसे अधिक प्रयुक्त हुआ है तथा अनेक दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाने में उसका व्यापक प्रयोग किया गया है। अद्वैत वेदान्त दर्शन की मूल भित्ति आत्मा माया के द्वारा ही समस्त सृष्टि की निमित्तोपादान कारण है तथा उसी माया की निवृत्ति से एक ब्रह्म अथवा आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं रहता। निम्न श्लोक में अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्त के विषय में इसी भाव की पुष्टि हुई है।

> अद्वैते ब्रह्म सत्यम् जगत् इदमनृतं मायया भासमानं।
> जीवो ब्रह्म स्वरूपो अहमिति ममचेत अस्ति देहेभिमानः।
> श्रुत्वा ब्रह्म अहमस्मि अनुभवमुदिते नष्ट कर्माभिमानात्।
> माया संसार मुक्ते इह भवति सदा सच्चिदानन्दरूपः।

वेदान्त के विभिन्न आचार्यों ने माया के स्वरूप तथा गुणों के विषय में मत व्यक्त किये है। महर्षि व्यास ने माया के रूप का चित्रण इस प्रकार किया है :

> गुणानाम् परमम् रूपम् न दृष्टपथ मृच्छति।
> यत्तु दृष्टि पथम् प्राप्तम् तन्मायैव सुतुच्छकम्॥ व्यास भाष्य ४।१३।

---

१. There is thus only non-existence, which again is neither eternal nor destructible, and the world is but a dream and a maya...... things which are neither existent nor non-existent are only imagined to be existent by fools. *S.N.D., Vol. I. P. 149.*

२. When it is said that the world is maya or illusion, what is meant to be emphasized is this, that there is no cause, no ground. *S.N.D., Vol. I. P. 151.*

३. The four kasayas are krodha (anger) mana (vanity and pride), maya (insincerity and the tendency to dupe others), and lobha (greed). *S.N.D., Vol. I. P. 201.*

४. In later times Vedanta......also sometimes described maya as being made up of sattva, rajas, and tamas. *S.N.D., Vol. I. P. 492*

५. Maya however was undemonstrable, indefinite, and indefinable in all forms; it was a separate category of the indefinite......there was only one soul or self, which appeared as many by virtue of the maya transformations. *S.N.D., Vol. I. P. 493*

यद्यपि सभी वस्तुएँ गुणों के द्वारा ही प्रतिभासित होती हैं परन्तु गुणों की वास्तविक प्रकृति इन्द्रिय ज्ञान के द्वारा ग्राह्य नहीं है। जो कुछ भी इन्द्रियों का विषय है, वह सब इन्द्रजाल की भाँति माया तथा भ्रम है।[१] गौड़पादाचार्य ने सृष्टि सम्बन्धी कुछ सामान्य सिद्धान्तों का उद्धरण देते हुए कहा है ·····कतिपय (मनीषी) सृष्टि की, स्वप्न तथा माया की भाँति कल्पना करते हैं।[२] यदि दृष्ट सृष्टि का अस्तित्व वास्तविक होता तो उसका विनाश भी सम्भव होता परन्तु समस्त द्वित्व केवल माया है। केवल एक ब्रह्म ही परमार्थतः सत्य है।[३] समस्त सयुक्त पदार्थ जो दृष्टिगोचर होते हैं केवल माया (Magic) हैं।[४] स्वयं गौड़पाद के अनुसार माया के द्वारा आत्मा में ही समस्त जगत प्रतिभासित होता है।[५]

शंकराचार्य ने सिद्धान्त प्रतिपादन के लिए माया को कोई विशेष स्वरूप नहीं प्रदान किया है। यह काम उनके अनुयायियों द्वारा सम्पादित हुआ। शंकराचार्य ने यह कभी भी सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया कि ससार माया है वरन् उन्होंने उसे स्वतः सिद्ध ही माना। उनके अनुसार केवल आत्मा ही सत्य है और जब केवल आत्मा ही सत्य है तो यह निश्चित है कि शेष सब माया तथा भ्रम है। सब जगत माया का ही खेल है। शरीर को आत्मा मानकर उसके सुख-दुख आदि का ज्ञान तथा आत्मा पर आरोप अनादि अज्ञान माया के कारण हैं।[६] इसी कारण आत्मा के अतिरिक्त सभी कुछ माया है ऐसा समझ लेने

---

१. Though all things are but the modifications of gunas yet the real nature of the gunas is never revealed by the sense-knowledge. What appears to the senses are but illusory characteristics like those of magic (maya), *S.N.D., Vol. I. P.* 273.

२. Others imagine that creation is like dream (svapna) and magic (maya). *S.N.D., Vol. I.P.* 424

३. The world-appearance (prapancha) would have ceased if it had existed, but all this duality is mere maya (magic or illusion), the one is the ultimately real (paramarthatah). *S.N.D , Vol. I.P.* 425

४. All things that appear as compounded are but dreams (svapna) and maya (magic). *S.N.D., Vol. I.P.* 426

५. The world subsists in the atman through maya. *S. N. D., Vol.I.P.* 470

६. Sankara *never* tries to prove that the world is maya, but accepts it as indisputable. For if the self is what is ultimately real, the necessary conclusion is that all else is mere illusion or maya. An *identification* of the self with the body, the senses, etc. and the imposition of all phenomenal qualities of pleasure, pain, etc. upon the self; and this with Sankara is a beginningless illusion. *S. N. D., Vol. I. P.* 435

पर वैदिक विधि-निषेधों का कोई महत्त्व नहीं रह जाता।[1] यदि ईश्वर को लीला के लिए सृष्टि का कर्ता मान लिया जाय, तो वह भी सत्य नहीं है। वास्तव में सम्पूर्ण सृष्टि भी माया तथा भ्रम है, और साथ ही सृष्टा भी। ब्रह्म ही संसार का निमित्त तथा उपादान कारण है।[2]

माया तथा ब्रह्म के साहचर्य का आरम्भ चाहे वह व्यक्ति तथा जीव के रूप में हो, चाहे संसार या समष्टि के रूप में, किसी काल-विशेष से नहीं हुआ। माया कोई सत्य वस्तु नहीं है, अविद्या के द्वारा सब दृष्टिगत होता है। यथार्थ सत्य का ज्ञान हो जाते ही माया, अविद्या तथा उसकी प्रतीति के कार्य सब विलीन हो जाते हैं।[3] ब्रह्म और माया का कोई सम्बन्ध सम्भव नही। सत्य का अनृत से कोई सम्बन्ध नही हो सकता, यह दिखावा मात्र (Appearance) है।[4] दृष्ट सृष्टि, नियत सिद्धान्त, अनन्त नाम रूपात्मक सत्ता सब अविद्या, अज्ञान या माया-जनित हैं तथा यह सब सुबोध नही है।[5] यही नहीं, माया सत् तथा असत् दोनों से भिन्न श्रेणी (स्वतःसिद्ध कल्पना) में मानी गई है। तर्क की किसी भी कोटि में यह नहीं आती, न अस्ति में, न नास्ति मे, न दोनो से भिन्न में ही। इसे

१. When once a man realized that the self alone was the reality and all else was maya, all injunctions ceased to have any force with him. *S. N. D., Vol. I. P. 437*

२. But "it may be conceived that God (Isvara) created the world as a mere sport, from the true point of view there is no Isvara who creates .... In reality all creation is illusory and so the creator also is illusory. Brahman, the self, is at once the material cause (upadana-karana) as well as the efficient cause (nimitta-karana) of the world. *S. N. D., Vol, I. P. 438*

३. ......this association did not begin in time either with reference to the cosmos or with reference to individual persons..... ...Maya or illusion is no real entity, it is only false knowledge (avidya) that makes the appearance, which vanishes when the reality is grasped and found. Maya or avidya has an apparent existence only so long as it lasts, but the moment the truth is known it is dissolved. *S. N. D., Vol. I. P. 442.*

४. Brahman, the truth, is not in any way sullied or affected by association with maya, for there can be no association of the real with the empty, the maya, the illusory. It is no real association but a mere appearance. *S. N. D., Vol. I. P. 442*

५. That all the phenomena of the world, the fixed order of events, the infinite variety of world-forms and names, all these are originated by this avidya, ajnana or maya is indeed hardly comprehensible. *S, N. D., Vol. I. P. 461*

"तत्वान्यत्वाभ्याम् अनिर्वचनीया" कहा गया है।[१] संसार का दिखावा, माया या अविद्या को अनिर्वचनीय, अवर्णनीय माना गया है।[२] जगत् कार्य है। कार्य के सभी गुण माया के अवर्णनीय एवं अनिर्वचनीय अज्ञान हैं।[३]

शंकर मतावलम्बियो ने कभी-कभी माया तथा अविद्या में भेद माना है। माया संसार के समष्टि भ्रम का कारण है तथा अविद्या उसी आच्छादक स्वरूप का जीव-गत भेद है।[४] वाचस्पति मिश्र के मतानुसार माया सहकारी है जिसके कारण एक ब्रह्म, जीव को लौकिक दृष्टि से बहुत प्रकार से दिखलाई पड़ता है।[५] प्रकाशानन्द ने जगत् को माया का कार्य माना है जो कि जगत् के भ्रम का निमित्त तथा उपादान दोनो ही कारण है।[६]

इस प्रकार वेदों से लेकर वेदान्त-दर्शन तक माया शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। कभी वह अलौकिक शक्ति, अद्भुत कौशल, कभी छल-कपट तथा भ्रम के अर्थ का द्योतक रहा है। कही धोखे व कपटपूर्ण आचरण के अर्थ से और कही द्विधा व मिथ्या ज्ञान के अर्थ से माया की धारणा समन्वित रही है। शाकर मतानुयायियों द्वारा अविद्या तथा माया में भी अन्तर मानते हुए ब्रह्म को आवरित करने वाली माया सृष्टि का कारण मानी गई है। आगे चलकर हिन्दी सन्त-कवियों ने भी माया के प्रायः उपर्युक्त सभी अर्थों एव रूपों को ग्रहण किया है।

तुलसी के मानस में माया शब्द कही पर साधारण छल के अर्थ में[७] और कही पर इन्द्रजाल के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। नट बडा विकट कपट करके लोगो को मोहित कर लेता है। दर्शक उस ऐन्द्रजालिक प्रयोग से आकर्षित होकर वास्तविकता से भिन्न देखते है परन्तु

---

१. Maya therefore is a category which baffles the ordinary logical division of existence and non-existence and the principle of excluded middle. For the maya can neither be said to be "is" nor "is not". *S. N. D., Vol. I. P. 442.*

२. ......the world-appearance, the phenomena of maya or ajnana, are indefinable or anirvacaniya. *S. N. D., Vol. I. P. 465*

३. All the characteristics of the effects are indescribable and indefinable ajnana of maya. *S. N. D., Vol. I. P. 467*

४. Others however make a distinction between maya as the cosmical factor of illusion and avidya as the manifestation of the same entity in the individual or jiva. *S. N. D., Vol. I. P. 469*

५. Maya is thus only a sahakari or instrument as it were, by which the one Brahman appears in the eye of the jiva as the manifold world of appearance. *S. N. D., Vol. I. P. 469.*

६. ......the whole field of world-appearance, is the product of maya, which is both the instrumental and the upadana (causal matter) of the world-illusion. *S. N. D., Vol. I. P. 469.*

७. साहस अनृत चपलता माया। भय अबिबेक असौच अदाया। तु० रा०, लं० का० १५-२

इस प्रकार के जादू का प्रभाव इन्द्रजालिक के साथ कार्य करने वाले उसके सेवक को प्रभावित नहीं करता। उससे वास्तविकता छिपी नही रहती।[1] खरदूषण-युद्ध के समय राक्षसों ने उन तमाम युद्ध-विधियों को ग्रहण किया था जो कि असाधारण होने के कारण सामान्य-जनों में कौतूहल उत्पन्न करने वाली थी। समान आकृति के सहस्रो व्यक्तियो का युद्ध के लिए सन्नद्ध दिखाई पड़ना, उनका मृत्यु को प्राप्त कर युद्ध-क्षेत्र मे गिर पड़ना तथा पुनः शवों का उठकर युद्ध प्रारम्भ करना आदि ऐसे ही कौतुक-पूर्ण कार्य थे। यथार्थ से भिन्नता के कारण यह ऐन्द्रजालिक भ्रम की भाँति ही है।[2] ऐसे अवसर पर मायानाथ राम भला कब चुप रहने वाले थे। उन्होंने अपने कौतुक-पूर्ण कार्य से सब राक्षसो को राम के समान स्वरूप वाला कर दिया और वे परस्पर एक दूसरे से युद्ध करते हुए लड़ मरे। इस प्रकार का अज्ञान भी (Optical Illusion) प्रकाशीय भ्रम ही है।[3] इसी अर्थ में अन्यत्र भी माया शब्द आया है :

(१) देखि महा मर्कट प्रबल रावन कीन्ह विचार।
अंतरहित होइ निमिष महँ कृत माया विस्तार॥

(२) "जब हरि माया दूरि निवारी। नहिं तहँ रमा न राजकुमारी।"

(३) "जानि न जाइ निसाचर माया। काम रूप केहि कारन आया।"

आदि पक्तियों में माया छल तथा अविश्वास के पुट से समन्वित दिखाई पडती है। माया शब्द कपट के अर्थ मे भी प्रयुक्त हुआ है।[4] राक्षसी माया के द्वारा नागफाँस में समस्त वानर-सेना के बद्ध होने के प्रसंग मे माया भ्रम के अर्थ में व्यवहृत हुई है। गरुड़ के द्वारा माया-नागों के भक्षण कर लिये जाने पर समस्त वानर-समूह माया-विगत हो भ्रम से मुक्त होकर अत्यन्त हर्षित हुआ।[5] इसी प्रकार कामदेव ने अपनी माया के द्वारा बसत का सृजन किया, यह भी एक प्रकार का भ्रम ही है। यहाँ पर माया से तात्पर्य है सृजन-शक्ति का।[6] पूर्व-वर्णित भ्रम (नागफाँस का प्रसग) की भाँति काम का बसत-विस्तार भी भ्रम का ही द्योतक है। अन्तर केवल इतना है कि प्रथम प्रकार का भ्रम अत्यन्त क्षणिक तथा निम्नकोटि के पात्रों द्वारा समुत्पन्न हुआ था, जबकि यह भ्रम अपेक्षत. दीर्घकालिक तथा उच्चकोटि के

---

१. नटकृत विकट कपट खगराया। नट सेवकहि न व्यापइ माया। — तु० रा०, उ० का० १०३-४
हरि माया कृत दोष गुन बिनु हरि भजन न जाहिं॥ — तु० रा०, उ० का० १०४ (क)
२. महि परत उठि भट भिरत मरत न करत माया अति घनी।
सुर डरत चौदह सहस प्रेत बिलोकि एक अवध धनी॥ — तु० रा०, अर० का० १९-४
३. सुर मुनि सभय प्रभु देखि माया नाथ अति कौतुक करयो।
देखहिं परसपर राम करि संग्राम रिपुदल लरि मर्यो॥ — तु० रा०, अर० का० १९-४
४. कहइ करउ किन कोटि उपाया। इहाँ न लागिहि राउरि माया॥ — तु० रा०, अयो० का० ३२-३
५. खगपति सब धरि खाये माया नाग बरूथ।
माया बिगत भये सब हरषे बानर जूथ॥ — तु० रा०, लं० का० ७४ (क)
६. तेहि आश्रमहिं मदन जब गयऊ। निज मायाँ बसन्त निरमयऊ।
कुसुमित बिबिधि बिटप बहुरंगा। कूजहिं कोकिल गुंजहिं भृंगा॥ — तु० रा०, बा० का० १२५-१

पात्र द्वारा समुपस्थित किया गया है। भारतीय दर्शन में माया के वास्तविक स्वरूप को स्थिर करने में काल एवं पात्र के इसी भेद का उपयोग किया गया है। परमात्मा की शक्ति व भ्रम को माया तथा जीवगत भ्रम को अज्ञान या अविद्या कहा गया है।

सिद्धान्त रूप से मै, मेरा, तू, तेरा, अहं तथा पर का भाव ही माया है और इसने सभी जीवों को वश में कर रक्खा है, ऐसा तुलसीदास ने माना है। जहाँ तक इन्द्रियों एवं मन की गति है सब माया है।[१] इसी भाव की पुनरावृत्ति प्राय गुलाल में भी हुई है। उनके मत से जो कुछ भी दृष्टिगत होता है सब माया ही है।[२] इस माया के दो स्वरूप हैं : एक विद्या तथा दूसरी अविद्या। अविद्या माया अत्यन्त दुष्टा तथा दुःखरूपिणी है जिसके वशीभूत होकर जीव भवकूप में पड़ा है। माया का यह अविद्यात्मक रूप जीव को आसक्त करने वाला है। दूसरी विद्यात्मक माया है जो कि जगत्-रचना की कारण है। यद्यपि माया के आधीन त्रिगुण हैं तथा माया जगत् की निर्मात्री है परन्तु उसमें स्वयं का कोई बल नहीं है। वह परमात्मा की प्रेरणा से उसी से शक्ति प्राप्त करके सृजन-कार्य सम्पादित करती है।[3]

शंकर के परवर्ती वेदान्तियों को माया के दो रूप मान्य थे। उपनिषदों में वर्णित परा और अपरा विद्या ज्ञान की दो कोटियाँ कही गई है। इसी प्रकार तुलसी ने माया को दो श्रेणियों में विभक्त किया है --विद्या तथा अविद्या। विद्या ईश्वर की उपाधि के रूप में तथा अविद्या जीव के आच्छादक रूप मे मानी गई है।

माया ईश्वर की वशवर्तिनी तथा गुणों की खान है। परमात्मा की प्रेरणा से माया जीव को अपने में रत रखती है। माया के वशीभूत होकर ही जीव में 'ग्रहम्' का बोध होता है। यदि एक रस अखण्ड ज्ञान हो जाय तो जीव तथा ईश्वर मे कोई भेद नही है। एक तथा अनेक का भेद माया का ही कार्य है।[४] जीव स्वय सच्चिदानन्द परमात्मा का अंश है परन्तु माया के कारण ही 'कीर' और 'मरकट' की भाँति स्वय अपने बन्धन का कारण होता है।[५]

---

१. मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हे जीव निकाया।
गो गोचर जँह लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥ तु० रा०, अर० का० १४-१, २

२. जो कुछ इन नयननि लखि आई। सो सब माया लखब कहाई॥ गुलाल, पृ० १६५

३. तेहिकर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ।
एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जा बस जीव परा भवकूपा।
एक रचइ जग गुनबस जाकें। प्रभु प्रेरित नहि निज बल ताकें॥ तु० रा०, अर० का० १४-३

४. एतना मन आनत खगराया। रघुपति प्रेरित व्यापी माया।
ग्यान अखण्ड एक सीतावर। माया बस्य जीव सचराचर।
जौं सब कें रह ग्यान एक रस। ईश्वर जीवहि भेद कहहु कस।
माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुन खानी।
परबस जीव स्वबस भगवन्ता। जीव अनेक एक श्री कन्ता।
मुधा भेद यद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया। तु० रा०, उ० का० ७७-१ से ४

५. ईश्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी।
सो माया बस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं। तु० रा०, उ० का० ११६-१, २

माया परमात्मा के दरबार की नर्तकी है एवं भक्ति परमात्मा की प्रियतमा पत्नी है। माया, ज्ञान-वैराग्य आदि (जिनकी कल्पना तुलसी ने पुरुष वर्ग की कोटि में की है) मुक्ति के साधनों को मोहित कर सकती है परन्तु भक्ति से वह सदा भयभीत और संकुचित रहती है। भक्त के ऊपर वह कोई प्रभुत्व स्थापित नहीं कर सकती।[१] तुलसी के इस भाव से मिलता-जुलता भाव कबीर में भी उपलब्ध है। जिसमें उन्होंने जगत् को हाट, विषय-रस को स्वाद तथा माया को वेश्या कहा है।[२] जिस माया के वशवर्ती होकर सम्पूर्ण जगत् विविध प्रकार के नाच नाचता है तथा जिसका चरित्र किसी को विदित नहीं, परमात्मा के भ्रू-विलास से—सकेत मात्र से—वही माया अपने समाज सहित नटी के समान नृत्य करती है।[३] माया परमात्मा की नर्तकी अथवा नटी ही नहीं, उसकी दासी भी है। परन्तु ज्ञान हो जाने पर यह दासी भाव भी मिथ्या हो जाता है। तात्पर्य यह है कि माया का अस्तित्व तभी तक रहता है जब तक ज्ञान का प्रकाश नहीं हो जाता है। इसमें सदेह नहीं कि परमात्मा की कृपा से ही माया से मुक्ति सभव है।[४] सब प्रकार से गहन माया भगवान के सम्मुख सभीत तथा करबद्ध होकर उपस्थित रहती है परन्तु वही माया कठपुतली रूपी जीव को सूत्रधार की भाँति मन-चाहा नाच नचाया करती है।[५] इस भावना की तुलसी मे कई बार आवृत्ति हुई है—जिस माया ने चराचर जीवो को वश में कर रक्खा है वही माया परमात्मा से भयभीत रहती है तथा उसी के इगित पर स्वयं नृत्य करती है।[६]

ईश्वर की सत्ता से ही माया का अस्तित्व एवं कर्तृत्व तुलसी को मान्य था यह निम्न दोहे से और अधिक स्पष्ट हो जाता है—

माया जीव सुभाव गुन काल करम, महदादि।
ईस अंक ते बढ़त सब ईस अंक बिनु बादि॥ तु० प्र०, पृ० १००

ईश्वर का आधार प्राप्त करके ही माया जीव आदि अपना अस्तित्व धारण करते तथा वृद्धि को प्राप्त होते है। ईश्वर के अन्यथा कुछ भी नही रहता। यही नहीं पुरुष सूक्त

---

१. माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ। नारि वर्ग जानइ सब कोऊ।
पुनि रघुवीरहिं भगति पियारी। माया खलु नर्तकी बिचारी।
भगतिहिं सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया।
राम भगति निरुपम निरुपाधी। बसइ जासु उर सदा अबाधी।
तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई। तु० रा०, उ० का० ११५-२,३,४

२. जग हटवाड़ा स्वाद ठग माया बेसां लाइ।
राम चरन नीका गही जिनि जाइ जनम ठगाइ॥ क० ग्र०, पृ० ३२

३. जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा।
सोइ प्रभु भ्रू बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा। तु० रा०, उ० का० ७१-१

४. सो दासी रघुवीर कै समुझें मिथ्या सोपि।
छुटै न राम कृपा बिनु नाथ कहउँ पन रोपि॥ तु० रा०, उ० का० ७१ (ख)

५. देखी माया सब बिधि गाढ़ी। अति सभीत जोरें कर ठाढी।
देखा जीव नचावइ जाही। देखी भगति जो छोरइ ताही॥ तु० रा०, बा० का० २०१-२

६. जीव चराचर बस कै राखे। जो माया प्रभु सों भय भाखे।
भ्रकुटि बिलास नचावइ ताही। अस प्रभु छाड़ि भजिअ कहु काही। तु० रा०, बा० का० १६६-२,३

की शैली के समान तुलसी ने परमात्मा का वर्णन करते हुए माया को परम पुरुष का 'हास' कहा है।[1]

कमल सघन होकर जलराशि को इस प्रकार आच्छादित कर लेते हैं कि जल दृष्टि-गोचर नही होता; इसी प्रकार माया ब्रह्म को इस प्रकार आच्छादित किये हुए है कि वह जीव को दिखलाई नही पड़ता। यदि ब्रह्म और जीव के बीच माया का आवरण न होता तो जीव ब्रह्म के स्वरूप का सदैव ही प्रत्यक्ष किया करता। माया से जिस प्रकार ब्रह्म परिछिन्न है, उसी प्रकार जीव भी माया से आवरित है।[2] दादू का भी यही मत है कि परमात्मा ने सृष्टि-रचना करके और माया का परदा डालकर अपने को अदृष्ट कर दिया है। इसीलिए वह सर्व साधारण की आँखों से परे है।[3]

कबीर ने माया को छाया के सदृश माना है, जो पकड़ने का प्रयत्न करने पर तो दूर भागती है और पकड़ में नही आती परन्तु उससे दूर भागने वाले का वह पीछा नहीं छोडती—साथ ही लगी रहती है।[4] तुलसीदास के मत से माया की अभिवृद्धि अथवा न्यूनता उसके परमात्मा के समीप या दूर होने पर निर्भर है। सूर्य के आकाश मे दूरस्थित होने पर छाया वृद्धि को प्राप्त होनी है तथा निकट होने पर छाया अत्यन्त लघु हो जाती है। इसी प्रकार परमात्मा के निकटस्थ जीव को माया कम तथा दूरस्थ को अधिक प्रभावित करती है।[5]

माया को ठगिनी रूप में भी आलोच्य कवियों ने प्रस्तुत किया है। माया ठगिनी समस्त जगत् को ठगती रहती है, परन्तु परमात्मा के द्वारा वह ठगिनी भी ठगी जाती है।[6] माया ने किसी को ठगने मे नही छोडा परन्तु इसको किसी ने नही ठगा। जो इसको ठग सके उसे ही सच्चा भक्त समझना चाहिए।[7] साथ ही साथ माया सबको मोहित करने वाली है जो कि प्राप्त करने का प्रयत्न करने पर नही मिलती परन्तु मिथ्या समझ कर त्याग देने

---

१. अधर लोभ जम दसन कराला। माया हास बाहु दिगपाला॥ — तु० रा०, लं० का० १४-३

२. पुरइन सघन ओट जल बेगि न पाइय मर्म।
मायाछन्न न देखिअ जैसे निर्गुन ब्रह्म॥ — तु० रा०, अर० का० ३९ (क)

३. बाजी चिहर रचाइकै रह्या अपरछन होइ।
माया पट पड़दा दिया तार्थं लखै न कोइ॥ — दादू, भा० १, पृ० १२४

४. माया छाया एक सी बिरला जानै कोय।
भगता के पीछे फिरै सन्मुख भागै सोय॥ — कबीर, सं० वा० सं० भा० १, पृ० ५७

५. राम दूरि माया बढति घटति जानि मन माँह।
भूरि होति रवि दूर लखि सिर पर पगतर छाँह॥ — तु० ग्र०, पृ० ९१

६. माया तो ठगिनी भई ठगत फिरै सब देस।
जा ठग या ठगनी ठगी ता ठग को आदेश॥ — कबीर, सं० वा० सं० भा० १, पृ० ५७

७. माया ठगिनी जग ठगा इहकै ठगा न कोय।
पलटू यहिकै सो ठगै (जो) साचा भक्ता होय॥ — पलटू, सं० वा० सं० भा० १, पृ० २२३

पर पीछे लगी फिरती है।[1] माया का यह महामोहिनी रूप इतना प्रबलतम है कि वह जीव को किसी प्रकार छोड़ती ही नही। भ्रम, मोह आदि विकारों से रहित प्राणी को भी अपने आकर्षक एवं मोहक रूप से छलपूर्वक लुभा लेती है।[2] दादू ने माया को मृदुभाषिणी कहा है। देखने से वह बड़ी ही विनम्र प्रतीत होती है परन्तु अन्तर में प्रविष्ट होने का अवसर पाते ही राक्षसी के समान कृत्य करने लगती है, मर्म का भक्षण करती है।[3] माया ऐसी सर्पिणी के समान है जो जीवों का आगे-पीछे जिधर से भी अवसर मिले, सब तरफ से भक्षण करने वाली है।[4] माया स्वयं तो सर्पिणी है ही, उसकी केचुल पहनकर विषयों और कर्मों में आसक्त होकर मनुष्य सर्प की भाँति बन जाता है। केचुल-रूपी माया के आवरण के कारण उसे सत्य दिखाई नही पड़ता और भटकता हुआ वह अपना सिर फोड़ता रहता है।[5] माया ने सारे संसार को अन्धा बना रक्खा है। स्वयं अदृष्ट होकर भी सबको भ्रम में डाले हुए है।[6]

नवनीत के समान मृदु हृदय माया रस के प्रभाव से पाषाणवत् कठोर हो जाता है।[7] माया मिश्री की छुरी के समान है जो कभी विश्वसनीय नही हो सकती। मौका पड़ने पर उससे आघात होना स्वाभाविक ही है। वास्तव मे जीव तथा ब्रह्म अभिन्न हैं। माया ने ही रसवाद के कारण इस अभिन्नता को मिटा कर दोनों की पृथक् स्थिति करके भेद उत्पन्न कर दिया है।[8] माया के द्वारा मनुष्य सब कार्य सम्पादित करता है। स्वयं उसकी शक्ति नही कि वह माया से विमुख हो जाय। जिस प्रकार कठपुतली नृत्य करती है परन्तु उसके अग-प्रत्यगो का संचालन तथा विविध कार्य उसकी शक्ति तथा वश में नही होते वरन् उनका सचालक सूत्रधार होता है उसी प्रकार जीव के कार्य-कलापों का सचालन माया के द्वारा होता है।[9] ससार की प्रपचपूर्ण स्थिति मे माया ने जीव को घेर रखा है, और लोभ, मोह आदि माया के अगो के वशवर्ती होकर जीव आवागमन के चक्कर

---

१. कबीर माया मोहिनी मांगे मिलै न हाथि।
मनह उतारी झूठ करि तब लागी डोलै साथि॥ — क० ग्र०, पृ० ६

२. भ्रम भागा गुरु वचन सुनि मोह रहा नहिं लेम।
तब माया छल हित किया महामोहनो मेम। — मलूकदास, भा० २, पृ० ३२

३. माया मीठी बोलणी नै नै लागै पाइ
दादू पैसै पेट में काढि कलेजा खाइ॥ — दादू, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ९७

४. सापिणि इक सब जीव कौं आगे पीछे खाइ — दादू, भा० १, पृ० १२३

५. विषै कर्म की केचुली पहिरि हुआ नर नाग
सिर फोडै सूझै नहीं कौ पाछिला अभाग॥ — क० ग्र०, पृ० ४१

६. उठे विहान पेट का धन्धा। माया लाभ किया जग अन्धा।
तन मन छीन कुटम्बे लाया। छिप रही आप लोग भर्माया॥ — मलूकदास, भा० २, पृ० १०

७. माखण मन पाहण भया माया रस पीया। — दादू, भा० १, पृ० ११८

८. माया मिसरी की छुरी मत कोई पतियाय।
इन मारे रसवाद के ब्रह्महिं ब्रह्म लड़ाय। — मलूकदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १०३

९. ज्यों नाचत कठपूतरी करम नचावत गात।
अपने हाथ रहीम ज्यो नहीं आपुने हाथ॥ — रहीम, पृ० ६

में पड़कर कष्ट उठाया करता है ।[1] माया से कोई बचा नहीं है, वह आकर्षक जो ठहरी । माया के झूले पर सभी अपनी शक्ति और सामर्थ्य भर झूलते हैं परन्तु उसका अंत न पाकर थक कर चूर होकर वहीं गिर जाते हैं ।[2] कबीर ने भी माया के इस झूले की कल्पना की है। परमात्मा ने क्रीडा (लीला) के लिए इस संसार की रचना की है। यहाँ कोई विरला ही ऐसा होगा जो माया के झूले में झूलने की इच्छा न करे। रात-दिन, मास, ऋतु, युग, कल्प तथा अनन्त समय बीत गया, परन्तु इस झूलने से अवकाश न मिला। अनेक बार नीचे-ऊँचे पेंग पर चढ़कर अनेक सुखद एवं दुखद परिस्थितियों में रहता हुआ जीव निरन्तर भ्रम में भूला ही रहता है । कबीर इस झूलने से ऊबकर तथा भ्रम से विराम-प्राप्ति के लिए माया से निवृत्ति चाहते हैं और इसी हेतु भगवान से प्रार्थना करते हैं क्योंकि माया का संचालक एवं नियंता एकमात्र वही है ।[3] परमात्मा ही सब कुछ है चाहे एक कहा जाय या अनेक, व्यापक माना जाय अथवा पूरक वही सर्वत्र विद्यमान है। उसके विविध रूपों का कारण एकमात्र माया है। परन्तु इसे सब कोई नहीं जानता। विरले को ही यह रहस्य विदित होता है।[4]

तुलसी के द्वारा माया नर्तकी और दासी के रूप में गृहीत हुई है, उसी प्रकार उन्होंने माया को रमा का विलास भी माना है तथा राम अनुरागी भक्तों के लिए माया को वमन की भाँति त्याज्य कहा है ।[5] इसीलिए मलूकदास ने भी माया को भक्तों के मार्ग में न आने के लिए सावधान किया है। यदि भगवान राम को यह ज्ञात हो गया कि माया भक्तों के प्रशस्त पथ में अवरोध उत्पन्न करती है, तो माया का कल्याण नहीं। क्योंकि उसका शासन-सूत्र प्रभु के हाथ में ही है। दीनों के रक्षक, अविनाशी भगवान् के भक्तों पर माया अपना प्रभाव डालने में समर्थ नहीं होती। इसलिए माया को अपने आकर्षक एवं मोहक रूप को त्याग कर, जिसमें कि वह सब प्राणियों को फँसाया करती है, भक्तजनों के सम्मुख अत्यन्त

---

१. जग रचना जंजाल जीव माया ने घेरा ।
   अरे हां तुलसी लोभ मोह वस पर करैं चौरासीफेरा । तुलसी साहब, सं० वा० सं० भा० २, पृ० २४०
२. माया रच्यो हिंडोलना सब कोउ झूल्यो आय ।
   पेंग मारि वहि गिरि गये काहू अन्त न पाय ॥ जगजीवन, सं० वा० सं० भा० १, पृ० ११८
३. बहु विधि चित्र बनाइकै हरि रच्या क्रीडा रास ।
   जेहि न इच्छा झूलिबे की ऐसी बुधि केहि पास ।
   झुलत झुलत बहु कलप बीते मन न छोडै आस ।
   रचि हिंडोला अहो-निसि हो चारि जुग चौमास ।
   कबहूं ऊँच से नीच कबहू सरग-भूमि ले जाय ।
   अति भ्रमत भरम हिंडोलवा हों नेकु नहिं ठहराय ।
   डरत हौं यहि झूलिवे को राखु जादवराय ।
   कहै कबीर गोपाल विनती सरन हरि तुम्ह पास ॥ क० ग्र० क०, पृ० ३२८
४. एक अनेक वियापक पूरक जित देखौं तित सोई ।
   माया चित्र विचित्र विमोहित विरला बूझै कोई ॥ नामदेव, सं० वा० सं० भा० २, पृ० ३१
५. तेहिं पुर बसत भरत बिनु रागा । चंचरीक जिमि चंपक बागा ।
   रमाविलासु राम अनुरागी । तजत बमन जिमि जन बड़भागी ॥ तु० रा०, अयो० का० ३२३-४

विनीत एवं सलज्ज रहना चाहिए।[1] माया तथा जीव दोनों ही ब्रह्म से उद्भूत हुए हैं। अस्तु जीव और माया में भाई-बहन का सम्बन्ध भी मान्य है। कबीर ने माया को भगिनी के रूप में भी देखा है। यदि कोई बहन चाहे कि वह अपने सहोदर को अपने नेत्र-कटाक्षों से आकर्षित कर ले तो यह पूर्णरूपेण अस्वाभाविक और अनैतिक है। इसके अतिरिक्त बहिन का दुराचारिणी होना किसी भी भाई के लिए उसके हर्ष का विषय न होगा। इन्ही दोनों कारणों से कबीर माया के लुभावने कटाक्ष-जाल को विषय के समान हेय, त्याज्य तथा घातक समझते हैं।[2]

दरिया साहब की माया-विषयक धारणा एक विशेषता रखती है। उनके अनुसार माया शब्द का प्रयोग सभी लोग करते हैं परन्तु माया के वास्तविक स्वरूप की पहचान किसी को नही है। केवल परमात्मा के नाम के साथ जो कुछ है उसके अतिरिक्त शेष सब माया है।[3] तुलसीदास ने माया को जीव और ब्रह्म के बीच स्थित बताते हुए उपमा के द्वारा स्पष्ट किया है :

आगे रामलखन पुनि पाछें। तापस वेस विराजत काछें।
उभय बीच सिय सोहति कैसे। ब्रह्म जीव बिच माया जैसे॥

तु० रा०, अयो० का० १२२-१

अब तक हमने माया के विभिन्न रूपों तथा अर्थों को देखा। हिन्दी साहित्य में माया शब्द धन या सम्पत्ति के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है और यह इस साहित्य की व्यक्तिगत मान्यता है। सस्कृत तथा पालि-साहित्य में माया शब्द इस अर्थ में कहीं भी नही आया। धन-सम्पत्ति से सम्बन्धित अनुराग, आसक्ति के अर्थ में भी माया यत्र-तत्र आई है :

आदि समय चेता नहीं, अंत समय अंधियार।
मध्य समय माया रते, पाकड़ लिये गँवार॥

सं० बा० सं० भा० १, पृ० १८६

इन पक्तियों में माया शब्द आसक्ति के अर्थ में ही व्यवहृत हुआ है।[4] माया देखने मे अत्यन्त विकट है और वह शरीर का साथ नही देती। शरीर नष्ट हो जाता है और वह यहीं छूट जाती है। इस प्रसंग मे माया, धन, सम्पत्ति, सासारिक ऐश्वर्य की प्रतीक है।

---

१. हमसे जनि लागै तू माया।
थोरे से फिर बहुत होयगी सुनि पैहैं रघुराया।
तर है चितै लाज करु जनकी डारु हाथ की फांसी।
जनते तेरो जोर न लहिहै रछपाल अविनासी।
कहै मलूका चुप करू ठगनी औगुन राखु दुराई। — मलूकदास, सं० बा० सं० भा० २, पृ० १०६

२. तुम घरि जाहु हमारी बहना। विष लागै तुम्हारे नैना। — क० ग्र०, पृ० १८०

३. माया माया सब कहै चीन्है नाही कोय।
जन दरिया निज नाम बिन सबही माया होय॥ — दरिया सार० ५०, पृ० ४१

४. माया बिहड़ै देखतां काया संग न जाइ।
कृत्तम बिहड़ै बावरे अजरावर ल्यौ लाइ॥ — दादू, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ६६

दादू ने माया का अस्तित्व मनुष्य की जीवितावस्था तक ही माना है। प्राणान्त हो जाने पर तथा परमात्मा का ज्ञान हो जाने पर माया से कोई सम्बन्ध नही रह जाता—स्पष्ट ही है कि मृत तथा भक्त के लिए सांसारिक विभूति का कोई मूल्य नही रह जाता।[1] कबीर की दृष्टि से माया ऐसी लता है जो मुक्ति तथा नरक दोनों को देने में समर्थ है। इसका सदुपयोग करते रहने से—खाने-खरचने से—यह मुक्ति की दात्री है परन्तु सचय करने से नरक की देने वाली है।[2] यहाँ पर भी माया शब्द द्रव्य या धन के लिए ही आया है।

बालापन सब खेल गँवाया तरुन भयो जब रूप घना।
वृद्ध भया जब आलस उपज्यो माया मोह भयो मगना॥

उपर्युक्त पंक्तियों में माया शब्द धन, सम्पत्ति, पुत्र-कलत्र आदि का द्योतक प्रतीत होता है। वृद्धावस्था के उपरान्त जीवन का अत हो जाने पर जब शरीर ही जीव का अपना नही होता तो माया—दारा, सुत, वित्त आदि ही जीव के किस प्रकार अपने बने रह सकते हैं।[3] इसीलिए सुन्दरदास ने माया-मोह सासारिक विषयासक्ति त्यागकर परमात्मा का स्मरण करने का उपदेश दिया है।[4] जगजीवन साहिब के द्वारा भी माया शब्द का यही अर्थ ग्रहीत हुआ है।[5]

आलोच्य कवियों ने जीव तथा ब्रह्म की अभिन्नता का दिग्दर्शन कराया है। जीव ब्रह्म ही है। अपने को भूल जाने के कारण ही उसकी तथा ब्रह्म की पृथकता प्रतीत होती है। जीव और ब्रह्म के पृथकत्व का कारण और कुछ न होकर जीव की आत्मविस्मृति अर्थात् अज्ञान मात्र है। श्वान काच के कक्ष मे अपना प्रतिबिम्ब देखकर और उसको अपना प्रतिद्वन्द्वी अन्य श्वान समझकर, ईर्ष्यावश भौक-भौक कर प्राण दे देता है। सिह कूप-जल में अपने ही प्रतिबिम्ब को देखकर उसे दूसरा सिह समझकर अपने अहकार पर आघात का अनुभव करता है और कुएँ में कूद कर जीवन का अन्त कर देता है। मदमत्त हाथी स्वच्छ स्फटिक-शिला में अपने प्रतिबिम्ब पर ही क्रोधवश प्रहार करता है और इस प्रकार अपने ही अज्ञान के कारण दाँतो को तोड़ बैठता है। बन्दर जिह्वा-रस के कारण एक मुट्ठी अन्न के प्रलोभन मे फँसकर स्वय ही अपने बन्धन का कारण होता है। चाहते अथवा न चाहते हुए भी उसे उदर-पूर्ति के लिए आत्म-सम्मान खोकर घर-घर नाच दिखाते हुए भीख माँगनी

---

१. जब लग काया तब लग माया रहै निरन्तर अवधूराया।
अमर अभै पद बैकुंठ वास छाया माया रहै उदास॥ — दादू, भा० २, पृ० १७०

२. कबीर माया रूखड़ी दो फल की दातार॥
खावत खरचत मुक्ति दे संचत नरक दुवार॥ — कबीर, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ५७

३. काया अपनी है नहीं माया कहँ से होय।
चरन कमल में ध्यान रख इन दोनों को खोय॥ — गरीबदास, सं० बा सं० भा० १, पृ० २०२

४. सुन्दर भजिये राम को तजिये माया मोह।
पारस के परसे बिना दिन दिन छीजे लोह॥ — सुन्दरदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १०८

५. सत्तनाम जपु जीयरा और वृथा करि जान।
माया तकि नहि भूलसी समुझि पाछिला ज्ञान। — जगजीवनसाहिब, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ११६

पड़ती है। तोते के बन्धन का कारण कोई बाहरी उपकरण नही होता स्वयं अपनी चंचु से वह अपने बन्धन-पाश को पकड़ता है। इसी प्रकार मनुष्य को माया के बन्धन में डालने वाला कोई अन्य नही है। स्वय उसकी हृदयस्थ दुर्वृत्तियाँ ईर्ष्या, अहंकार, क्रोध, तृष्णा आदि उसको फँसाये हुए हैं।[1] अस्तु हमने देखा कि मनुष्य अज्ञानवश ईर्ष्या, क्रोध आदि माया के अगों द्वारा बद्ध है।

मनुष्य को अपने में आसक्त कर उसकी आत्मविस्मृति का कारण बनने वाले माया के यह अग एक नही अनेक हैं। ये इतने असीम और प्रबल हैं कि इनसे शिव और चतुरानन भी भयभीत रहते है, अन्य जीव की गणना ही क्या। समस्त ससार माया के इस अवर्णनीय सैन्यदल से व्याप्त है, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, दम्भ, कपट, पाखण्ड आदि माया के प्रधान गण हैं। विश्व में मोह किस प्राणी को विवेक-शून्य नही बना देता, काम किसको आतुर नही कर देता, तृष्णा के वश होकर कौन बावला नही हो जाता, क्रोध से किसका हृदय संतापित नही होता ? ज्ञानी, तपस्वी, वीर, कवि, विद्वान, गुणवान ऐसा कौन है जिसकी लोभ के कारण विडम्बना न हुई हो। लक्ष्मी के मद से किसको गर्व नही होता और प्रभुता पाकर कौन मद-रहित रहता है, मृगनयनी के सौन्दर्य से कौन आकर्षित नही होता। सत्व, रज, तम गुणो के सन्निपात से कोई नही बचता अथवा यो भी कह सकते है कि अपने गुणों के कारण आत्मश्लाघा के सन्निपात से कौन बदहोश नही हो जाता। सम्मान के मद को कोई त्यागता नही, यौवन के कामज्वर से सभी पीडित होते हैं, ममता के वश होकर किसी को अपने यश-अपयश का ध्यान नही रह जाता। मत्सर के कारण सभी कलंकित होते है। शोक से सभी का हृदय कम्पित हो जाता है, ससार में कोई भी मनुष्य चिन्ता रहित नही तथा यहाँ ऐसा कौन है जो माया के इन उपकरणो से ग्रसित न हो। शरीर-रूपी काष्ठ को मनोरथ-रूपी कीट जर्जरित कर देता है; सुत, वित्त और लोकैषणा किसी की बुद्धि को भी मलिन करने से नहीं छोडती।[2] इसी ऐषणा त्रय का प्रतिरूप (Counterpart) हमे लिबिडो

---

१. अपनपौ आप ही बिसरो।
जैसे सोनहा कांच मंदिर मैं मरमत भूकि मरो।
जो केहरि बिपु निरखि कूप-जल प्रतिमा देखि परो।
ऐसेहि मदगज फटिक शिला पर दसननि आनि अरो।
मरकट मुठी स्वाद ना बिसरै घर घर नटत फिरो।
कह कबीर ललनी कै सुवना तोहि काने पकरो॥ — क० ग्र० क०, पृ० ३४४

२. तुम्ह निज मोह कही खग साईं। सो नहिं कछु आचरज गोसाईं।
नारद सिब बिरंचि सनकादि। जे मुनि नायक आतमवादी।
मोह न अंध कीन्ह केहि केही। को जग काम नचाव न जेही।
तृस्नां केहि न कीन्ह बौराहा। केहिकर हृदय क्रोध नहिं दाहा।
ग्यानी तापस सूर कवि कोविद गुण आगार।
केहि कै लोभ बिडंबना कीन्ह न एहि संसार॥
श्रीमद बक्र न कीन्ह केहि प्रभुता बधिर न काहि।
मृगलोचनि के नयन सर को अस लाग न जाहि॥

सिद्धान्त में यौन (Sex) की तीन अवस्थाओं Self-Reproduction, Self-Preservation तथा Self-expression (आत्म पुनर्जनन, आत्मसरक्षण, आत्म अभिव्यक्ति) में प्राप्त होता है। यही वृत्तियाँ मनुष्य को जीवन के विविध मार्गों में प्रवृत्त कराने वाली होती हैं। तुलसीदास ने माया के अग तम, मोह आदि को चोर व बटमार कहा है। उनका संत हृदय परमात्मा का पवित्र निवास स्थान है जिसमें बहुत से चोरों ने आकर अड्डा जमा लिया है। वे इतने प्रबल व क्रूर है कि अनुनय-विनय से भी नही पसीजते है। इन तम, मोह, लोभ, अहंकार-मद, क्रोध आदि चोरो ने अपने शत्रु बुद्धि को भी हत कर दिया। जीव को एकाकी जानकर वे उसका मर्दन करते है और उन अनेकों के सामने एक की पुकार किसी को सुनाई नही पड़ती। भागने पर भी तो इन तस्करो से पीछा नही छूटता। तुलसीदास को सबसे बड़ी चिन्ता यह है कि माया के इन गुणो से उनका हृदय जो भगवान का परम धाम है कही जय न कर लिया जाय और इस प्रकार प्रभु भी अपयशी हो।[1]

मोह, काम, क्रोध, लोभ, ममता आदि माया के उपकरणो को तुलसी ने मानस-रोगों के रूप में चित्रित किया है। ये विविध प्रकार से मनुष्य को कष्ट देते है। इनमें से मोह तो सब व्याधियो का मूल है। काम, क्रोध, और लोभ वात, पित्त तथा कफ रूप हैं। इनमे से किसी एक की भी वृद्धि कष्टकर होती ही है परन्तु यदि तीनों की ही वृद्धि हो जाय तब तो सन्निपात ज्वर की-सी घातकता उपस्थित हो जाती है। विषयो की अदम्य अभिलाषारूपी नाना प्रकार के शूल इतने अगणित एव दुर्बोध हैं कि उनका जानना तथा नामकरण करना भी सहज नही है। ममता को दाद, ईर्ष्या को खुजली, द्वेष को यक्ष्मा, दुष्टता एवं मन की कुटिलता को कुष्ट, अहकार को दुखद डमरुआ (एक रोग-विशेष) दभ, कपट, मदमान को

गुन कृत सन्यपात नहि केही। कोउ न मान मद तजेउ निबेही।
जोबन ज्वर केहि नहिं बलकावा। ममता केहि कर जस न नसावा।
मत्सर काहि कलंक न लावा। काहि न सोक समीर डोलावा।
चिन्ता सापिन को नहि खाया। को जग जाहि न ब्यापी माया।
कीट मनोरथ दारु सरीरा। जेहि न लाग घुन को अस धीरा।
सुत वित लोक ईसना तीनी। केहि कै मति इन कृत न मलीनी।
यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमित को बरनै पारा।
सिव चतुरानन जाहि डेराहीं। अपर जीव केहि लेखे माहीं।
ब्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचंड।
सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाखण्ड॥ — तु० रा०, उ० का० ७१ (क)

१. मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तंह बसे आय बहु चोरा।
अति कठिन करहि बरजोरा। मानहि नहि विनय निहोरा।
तम मोह लोभ अहंकारा। मद क्रोध बोध रिपुमारा।
अति करहि उपद्रव नाथा। मर्दहि मोहि जानि अनाथा।
मैं एक अमित बटपारा। कोउ सुनै न मोर पुकारा।
भागेहुं नहि नाथ उबारा। रघुनायक करहु संभारा।
कह तुलसिदास सुनु रामा। लूटहि तसकर तब धामा।
चिंता यह मोहि अपारा। अपजस नहि होहि तुम्हारा। — तुलसी, स० बा० सं० भा० २, पृ० ८६

नहरुआ, तृष्णा को उदर-वृद्धि (जलोदर), ऐषणात्रय (सुत, वित, लोकैषणा) की तिजारी, मत्सर, अविवेक को अनेक प्रकार के ज्वर तथा हर्ष-विषाद को ग्रह प्रदत्त कष्ट कहा गया है। किसी एक रोग-विशेष से पीड़ित होकर तो मनुष्य की मृत्यु हो ही जाती है फिर जो इस प्रकार के अनन्त असाध्य रोगों से निरन्तर पीड़ित रहे वह भला समाधि की आनन्दमयी स्थिति को किस प्रकार प्राप्त कर सकता है।[1]

तुलसी द्वारा वर्णित अनेक मानम रोगो में से काम, क्रोध, लोभ ये तीन अत्यन्त प्रबल दुष्ट हैं जो परम ज्ञानी मुनियो के शांत पावन चित्त को भी क्षण भर में ही क्षुभित कर देते हैं।[2] ससार में ऐसा कोई भी दृष्टिगत नहीं होता जो इन तीनो से मुक्त हो। विरला ही ऐसा होता है जो नारी के नेत्र-कटाक्षो द्वारा आबिद्ध नही किया जाता, क्रोधाग्नि से प्रज्वलित मिथ्याभिमान की भट्ठी में जिसका मन दग्ध नही हो जाता तथा मुट्ठी भर दाने के लिए मदारी के कपि की भाँति लोभ के वशीभूत होकर नाना प्रकार का नाच नाचता हुआ दर-दर भटकता नही फिरता। इन तीनों से जो बच जाता है उसे ही भगवान का सच्चा भक्त समझना चाहिए।[3] नामदेव ने विषयों को वन कहा है, ऐसा वन जहाँ पहुँच कर प्राणी विवेकशून्य होकर मतवाला हो जाता है। पानी में रहने वाली मछली अपने अंत की परवाह न करती हुई जिह्वा-स्वाद के लिए वशी मे लगे हुए खाद्य के साथ ही लोहे को भी खा लेती है और शिकारी के हाथो में पड़कर अपनी मृत्यु का कारण होती है। उसी प्रकार मनुष्य इन्द्रिय रस के लिए कचन और कामिनी के मोह में फँसकर आत्मबन्धन का कारण होना है। मधुमक्षिका मधु का संग्रह करती हुई भी उसका उपभोग नही कर पाती। मधु किसी दूसरे के द्वारा अपहरण कर लिया जाता है। मधुमक्खी के हिस्से में धूम्र की

---

१. सुनहु तात अब मानस रोगा। जिन्ह ते दुख पावहि सब लोगा।
मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला।
काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा।
प्रीति करहि जौं तीनिउ भाई। उपजइ सन्यपात दुखदाई।
बिषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब सूल नाम को जाना।
ममता दादु कंडु इरषाई। हरष बिषाद गरह बहुताई।
पर सुख देखि जरनि सोइ छई। कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई।
अहंकार अति दुखद डमरुआ। दंभ कपट मद मान नेहरुआ।
तृस्ना उदरवृद्धि अति भारी। त्रिबिधि ईषना तरुन तिजारी।
जुग बिधि ज्वर मत्सर अविवेका। कह लगि कहौ कुरोग अनेका।
एक ब्याधि बस नर मरहिं ए असाधि बहु ब्याधि।
पीड़हि संतत जीव कहुँ सो किमि लहै समाधि॥ तु० रा०, उ० का० १२१ (क)

२. तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि बिज्ञान धाम मन करहि निमिष महँ छोभ॥ तुलसीदास, सं० वा० सं० भा० १, पृ० ७४

३. भौंह कमान सँधान सुठान जे नारि बिलोकनि बान तें बाँचे।
कोप-कृसानु गुमान-अवाँघट ज्यों जिनके मन आँच न आँचे।
लोभसबै नट के बस ह्वै कपि ज्यो जग में बहु नाच न नाचे।
नीके हैं साधु सबै तुलसी पै तेई रघुबीर के सेवक साचे। तु० ग्र०, पृ० १६०

कटुता मात्र ही पड़ती है। माया के संचय के लिए मनुष्य रात-दिन अथक परिश्रम करता हुआ भी उसके उपभोग से अलग ही रह जाता है। इस संसार में सब कुछ क्षणिक है, जीव के साथ कुछ भी नहीं जाता। संचित माया अर्थात् धन-वैभव सब इसी मर्त्यलोक में पड़ा रह जाता है।[1]

संसार में आकर मनुष्य माया-जाल में ही फँसा पड़ा रहता है। काम और क्रोध ही जीव के परिधान हैं जो उसके यथार्थ रूप को आवरित किये रहते हैं। विषय की माला उसके कण्ठ में रहती है, मोह के नूपुर से गुंजित निन्दा के कटु शब्दों को वह रसमय समझता है। भ्रातिमान मन पखावज का काम देता है तथा हमेशा असंगत चाल चलता है। हृदय में स्थित तृष्णा नाना प्रकार के ताल देकर नाद करती है। माया का फेटा बाँधकर, लोभ का तिलक लगाकर मनुष्य अपने को सुसज्जित समझता हुआ देश और काल किसी की भी परवाह न करता हुआ करोड़ों प्रकार की कलाओ से युक्त नृत्य करता है। अविद्या के दूर होने पर ही इस मायिक नृत्य से मुक्ति मिल सकती है।[2] इसी प्रसंग में मीरा का कथन है कि मनुष्य का हृदय जब तक विकार रहित होकर निष्कनुष नही हो जाता, वह भक्ति मार्ग का पथिक बनने में अयोग्य रहता है। कृत्रिम बाह्याडम्बर बिल्कुल व्यर्थ है। सिर धोकर तिलक लगा लेने मात्र से कुछ नही होता। मोह चाण्डाल ने काम-कूकुर को लोभ की डोरी से बाँध रक्खा है। जो हृदय में किसी का (भगवान का) आगमन नही होने देता। इसके अतिरिक्त क्रोध-कसाई भी हृदय मे रहता है फिर भला भगवान से मिलन कैसे हो। जो विषय है वे लालची बिलार के सदृश हैं और मनुष्य सदैव इनकी क्षुधा-शान्ति के उपकरण जुटाया करता है और राम का नाम एक बार भी नही लेता। पुजारी तथा महत आदि देवता के स्थान पर अपनी पूजा कराकर फूले नही समाते। हृदय में स्थित अभिमान-टीले के कारण भगवत्-प्रेम-जल वहाँ नही ठहरता। जो परमात्मा सबके हृदय की जानता है

---

१. काहे रे विषया वन जाय। भूलो रे ठगमूरी खाय।
जैसे मीन पानी में रहै। काल जाल की सुधि नहि लहै।
जिभ्या स्वादी लीलत लोह। ऐसे कनक कामिनी मोह।
ज्यों मधुमाखी संचि अपार। मधु लीन्हो मुख दीन्हो छार।
गऊ बच्छ को संचै छीर। गला बांधि दुहि लेहि अहीर।
माया कारन श्रम अति करै। सो माया लै गाड़ै धरै।
अति संचै नहि समझै मूढ़। धन धरती तन ह्वै गयो धूल।
काम क्रोध तृष्णा अति जरै। साधु संगति कबहू नहिं करै॥ नामदेव, स० बा० सं० भा० २, पृ० ३२

२. अब मैं नाच्यौ बहुत गोपाल।
काम-क्रोध कौ पहिरि चोलना कण्ठ विषय की माल।
महामोह के नूपुर बाजत निंदा-शब्द-रसाल।
भ्रम-भोयो मन भयौ पखावज चलत असंगत चाल।
तृष्णा नाद करति घट भीतर, नाना विधि दै ताल।
माया को कटि फेंटा बांध्यौ लोभ तिलक दियौ भाल।
कोटिक कला काछि दिखराई जल थल सुधि नहि काल।
सूरदास की सबै अविद्या दूरि करौ नंदलाल॥ सूरसागर १५३, पृ० ८१

उससे कपट नहीं चल सकता। मुख से माला के द्वारा जप करने से कोई लाभ नहीं यदि हृदय में हरि का नाम नहीं आता।[1] काम, क्रोध, लोभ, मोह, अभिमान आदि माया के अंग भक्ति के मार्ग के बाधक कहे गये हैं। इन्हीं सबमें फँसे रहकर जीवन का पटाक्षेप हो जाता है। नानक को इसी कारण आत्मग्लानि होती है कि उन्होंने माया के मद में अपना अमूल्य जन्म खो दिया और राम-भजन में सलग्न न हो सके तथा मिथ्याभिमान को नहीं त्यागा।[2]

दादू का कथन है कि अपराधी मन परमात्मा या सतगुरु के उपदेशानुसार कार्य नही करता। कारण कि वह माया-मोह में मदमस्त तथा कनक-कामिनी में अनुरक्त रहता है। काम, क्रोध, अहंकार से युक्त विषय-विकार ही उसे रुचते हैं। उसे काल एव मृत्यु की अन्तिम भयावह गति दृष्टिगत नही होती और न वह स्वयं को ही जानने का प्रयत्न करता है।[3] जो कुछ दिखलाई पड़ता है वह सब मृगजल की भाँति केवल मायाकृत भ्रम है। यह व्यर्थ ही अपनी चमक-दमक से मनुष्य को लुभाता है और इसी बाह्य तड़क-भड़क के वशीभूत होकर मनुष्य इसे सत्य मान लेता है।[4] मलूकदास के अनुसार मायाकृत प्रभुता की प्राप्ति के लिए सभी निरन्तर प्रयत्न करते हैं परन्तु यदि परमात्मा की प्राप्ति के लिए वे प्रयत्नशील हो जायँ तो प्रभुता स्वयं उनकी दासी हो जायगी।[5] मलूकदास ने लोभ को सबसे बुरा कहा है। लोभ से व्यापार में लाभ हो सकता है परन्तु साधना के मार्ग में लोभ से दिन-दिन घाटा ही होता है। जब तक लोभ नही छूटता तब तक माया भी नही छूटती तथा माया

---

१. यहि विधि भक्ति कैसे होय।
मन का मैल हियते न छूटी दिये तिलक सिर धोय।
काम कूकर लोभ डोरी बांधि मोहि चन्डाल।
क्रोध कसाई रहत घर में कैसे मिले गोपाल।
बिलार विषया लालची रे ताहि भोजन देत।
दीन हीन ह्वै छुधारत से राम नाम न लेत।
आपहि आप पुजाय केरे फूले अंग न समात।
अभिमान टीला किये बहु कहु जल कहां ठहरात।
जो तेरे हिय अंतर की जानै तासो कपट न बनै।
हिरदे हरि को नाउ न आवै मुखते मनिया गनै।

२. माई मैं मन को मान न त्यागो।
माया के मद जनम सिरायो राम भजन नहिं लाग्यो॥ — नानक, सं० बा० स० भा० २, पृ० ५३

३. बाबा मन अपराधी मेरा। कह्या न माने तेरा।
माया मोह मद माता। कनक कामिनी राता।
काम क्रोध अहंकारा। भावे विषै विकारा।
काल मीच नहिं सूझै। आतम राम न बूझै॥ — दादू, भा० २, पृ० ४८

४. यहु सब माया मिर्गजल झूठा झिलमिल होइ।
दादू चिलका देखि करि सति करि जाना सोइ॥ — दादू, भा० १, पृ० ११६

५. प्रभुता ही को सब मरै प्रभु को मरै न कोय।
जो कोई प्रभु को मरै तो प्रभुता दासी होय॥ — मलूकदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १०५

का वशवर्ती जीव सर्वत्र भटका करता है ।[१] यद्यपि लोभ माया का ही (Constituents) अंग है परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि दादू ने लोभ के कुपरिणामों को भली-भाँति देखा था और इसीलिए लोभ को उन्होंने सर्वाधिक निकृष्ट कहा है। माया के अंग हर्ष और शोक की श्वान गति है। हर्ष और शोक से अभिभूत व्यक्ति श्वान के भौकने की भाँति आवेश में प्रलाप करता है। सर्प अपने विषैले दाँतों से काटकर मनुष्य के जीवन का अंत कर देता है, उसी प्रकार संशय आदि माया के उपकरण मनुष्य के जीवन को विषाक्त और कटु बना देते हैं। राग-द्वेष आदि राजरोग है जो यम के बन्धन में बाँधने वाले हैं ।[२] इस प्रकार गढ़रूपी शरीर में अगणित लुटेरे रहते हैं—सत्व, रज, तम युक्त शरीर में सर्वत्र माया-ममता आदि का ही विस्तार है ।[३] माया की शक्तिशाली असीम सेना के सम्मुख किसी का कोई उपाय नहीं चलता और मन के राजत्व में भक्ति कुछ नहीं कर पाती ।[४] स्वप्नावस्था में मनुष्य अपने अज्ञान के कारण जाग्रत से भिन्न अन्य जगत् की सृष्टि कर लेता है। यदि जाग्रतावस्था के जगत् को ज्ञान-दृष्टि से देखा जाय तो वह भी माया का ही कार्य है, वास्तविक नहीं ।[५]

माया का अस्तित्व दिखाने के लिए पलटू ने चक्की पीसने का एक रूपक उपस्थित किया है। माया की चक्की चल रही है। जिसमें सारा ससार पिस रहा है। कोई लाख यत्न करने पर भी बचता नजर नही आता। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह यही इस चक्की के चलाने वाले हैं। त्रिगुण उस चक्की में पिसने के लिए सभी को लाकर डाल देते हैं। कुबुद्धि ही उन पिसे हुए प्राणियों के चूर्ण को करम के तवे पर सेकती है। तृष्णा कुलटा स्त्री की भाँति जाकर सबका घर घालती है। इतना सब कुछ होने पर भी काल ऐसा बली है जो सबके कृत्यों पर पानी फेरकर अपने एक ग्रास मे ही सबका सफाया कर देता है। माया की चक्की से निस्तार दिलाने वाला केवल भगवत्-भजन ही है ।[६]

---

१. सबसे लालच का मत खोटा।
लालच तें बैपारी सिद्धी दिन दिन आवे टोटा।
जब तक जिव का लोभ न छूटै तब लग तजै न माया।
घर घर द्वार फिरै माया के पूरा गुरु नहि पाया। — मलूकदास, भा० २, पृ० ११

२. हरस सोग है स्वान गति समा सरप सरीर।
राग द्वेष बड़ रोग हैं जम के परे जंजीर। — गरीबदास, स० वा० सं० भा० १, पृ० १६२

३. रहजन कोटि अनन्त है काया गढ माही।
ममता माया विस्तरी तिर्गुन तन माही॥ — गरीबदास, सं० वा० सं० भा० १, पृ० १६७

४. बांकी फौज पुरंजना कुछ पार न पावे।
मन राजा के राज में क्या भगति करावे॥ — गरीबदास, स० वा० सं० भा० १, पृ० १६७

५. कोटि बरस इक छिन लगै ज्ञान दृष्टि जो होय।
बिसरि जगत औरैं बनै सहजो सुपने सोय॥ — सहजोबाई, सं० वा० सं० भा० १, पृ० १६२

६. माया की चक्की चलै पीसि गया संसार।
पीसि गया संसार बचै न लाख बचावै।
दोउ पाट के बीच कोउ ना साबित जावै।
काम क्रोध मद लोभ मोह चक्की के पीसनहारे।

मनुष्य की तृष्णा कभी तृप्त नहीं होती। कोई कृशकाय घसियारा जिसको रोटियों के भी लाले हों यदि स्वर्ण पर्वत के समान विशाल धनराशि प्राप्त कर लेता है तो उसका घर तो उस अपार धन से भर जाता है परन्तु उसकी तृष्णा की पूर्ति नहीं होती। धन का अभाव अथवा आधिक्य दोनों ही दुःखप्रद होते हैं। तृष्णा की इसी अपरिमित स्थिति को देखकर तुलसी-दास को राम-भक्ति ही एक सत्य मार्ग समझ पड़ता है।[1]

सुन्दरदास भी तृष्णा को कभी न शान्त होने वाला मानते हैं। यदि किसी को दस रुपये प्राप्त हो जाते हैं तो उसे बीस प्राप्त करने की इच्छा होती है, बीस प्राप्त हो जाने पर पचास, पचास हो जाने पर सौ, सौ के बाद हजार, फिर लाख, करोड़, अरब, खरब भी उपलब्ध हो जाने पर समस्त धरती का राजा होने की इच्छा होती है। धरती का राज्य भी उसे संतुष्ट करने के लिए पर्याप्त नहीं होता तथा स्वर्ग और पाताल में भी राज्य करने की लालसा बनी रहती है। तृष्णा का यही धर्म है कि एक चाह की पूर्ति से अन्य चाहे उसी प्रकार उद्दीप्त होती हैं जिस प्रकार घृत से अग्नि। तृष्णा केवल संतोष से शान्त हो सकती है।[2] नन्हा-सा बीज अपने अन्दर विशाल वृक्ष का आकार छिपाये रहता है; उसी प्रकार नगण्य प्रतीत होने वाली चाह या तृष्णा के अन्दर ही सब मानस रोग समाये रहते हैं। तृष्णा ही अंकुरित होकर और वृद्धि को प्राप्त होकर विविध मानसिक विकारों का रूप धारण कर लेती है।[3]

धन, राज्य आदि भोगों के विषय में ही आशा-तृष्णा की निवृत्ति दुष्कर नहीं है वरन् संन्यास और योग के साधना भाग से भी तृष्णा या आशा उसी प्रकार सम्बद्ध है। एक

तिरगुन डारे झीक पकरि कै सबै निकारे।
दुरमति बड़ी सयानि सानि के रोटी पोवै।
करम तवा में धारि सेंकि कै साबित होवै।
तृष्णा बड़ी छिनारि जाइ उन सब घर घाला।
काल बड़ो बरियार किया उन एक निवाला।
पलटू हरि के भजन बिनु कोउ न उतरै पार
माया की चक्की चलै पीसि गया संसार। पलटू, सं० वा० सं० भा० २, पृ० २१६

१. कृशगात ललात जो रोटिन को घर वात भरे खुरपा खरिया।
तिन सोने के मेरु ते ढेर लहे मन तो न भरो घर पै भरिया।
तुलसी दुख दूनो दसा दुहु देखि कियो मुख दारिद को करिया।
तजि आस भो दास रघुपति को दशरत्थ को दानि दया करिया।

तु० ग्र०, पृ० १७५

२. जो दस बीस पचास भये सत, होइ हजार तो लाख मंगैगी।
कोटि अरब्ब खरब्ब असंख्य, पृथ्वीपति होन की चाह करैगी।
स्वर्ग पताल का राज करौं, तृष्णा अधिको अति आग लगैगी।
सुन्दर एक सन्तोष बिना सठ, तेरी तो भूख कभी न भगैगी॥ सुन्दरदास, सं०वा०सं० भा० २, पृ०१२१

३. बीज के मांहि ज्यो वृक्ष विस्तार।
यों चाह के मांहि सब रोग आवे॥ कबीर, सं० वा० सं० भा० २, पृ० २४

गृह-त्यागी जो स्त्री-पुत्र के स्नेह-बंधन को तोड़कर शरीर में विभूति रमाता है, मूसलाधार वर्षा, कँपाते हुए शीत और प्रचण्ड ग्रीष्म में पंचाग्नि के ताप को सहर्ष सहन करता है, वृक्ष के नीचे निवास करते हुए गृह-विहीन होकर क्षुधा को भी सहता है, वस्त्रों का परित्याग करके कुशासन पर सोता है परन्तु खेद है कि ऐसे गृह-त्यागी विरागी जो भोजन, छादन और निवास की भी परवाह नही करते, आशा से मुक्त नही हो पाते ।[1]

वन की हरियाली देखकर मृग मोह में पड़कर इस प्रकार अंधा हो जाता है कि निकटवर्ती काल का फंदा भी उसे नहीं दिखलाई पड़ता । वह सारे वन में फूला-फूला घूमता है परन्तु शिकारी उसके सिर पर कमान ताने घूम रहा है, इस ओर उसका ध्यान नहीं जाता ।[2] माया से आवृत्त जीव ही यह भटकता हुआ मृग है । मन दसों दिशाओ में दौड़ता है तथा परमात्मा जो अत्यन्त समीप है उसे नहीं देखता । यह मन विषयों के वश है, प्राणी के वश नहीं । जिह्वा स्वाद की ओर दौड़ती है, इन्द्रियाँ अपने भोग्य विषयों की ओर जाती हैं, श्रवणों को सत्य से प्रीति नहीं होती, उन्हें आत्मश्लाघा एवं चाटुकारी रुचती है, नेत्रों को जहाँ पर भी रूप दिखाई पड़ता है वहीं दृष्टि जमा लेते हैं । काम, क्रोध कभी कम नही पड़ता, लालचवश विषयों का रस मनुष्य पान किया करता है । अत: मन में विषय-विकारों का वास होने के कारण हरि-रस अमृत की प्राप्ति नहीं हो पाती ।[3]

विषयों को तुलसीदास ने परनारी कहा है । जीव तरुण अवस्था मे पहुँच कर विषयों में इतना अधिक लिप्त हो जाता है कि उसे न तो यम-यातना का भय रह जाता है और न वियोग आदि दुखों को देखकर वह उनसे विरक्त ही होना चाहता है । जीवन के प्रलोभनों की ममता में वह सब कुछ भूल जाता है । काल का सन्देश आ जाता है परन्तु जड़ जीव

---

१. गेह तज्यो पुनि नेह तज्यो पुनि खेह लगाइ कै देह सँवारी ।
मेघ सहै सिर सीत सहै तन धूप समय जु पंचागिनि बारी ।
भूख सहै रहि रूख तरे पर सुन्दरदास सहै दुख भारी ।
डासन छाडि कै कासन ऊपर आसन मारि पै आस न मारी ॥ संं० वा० सं० भा० २, पृ० १२३

२. मोह्यो मृग देखि बन अंधा । सूझत नाहि काल के फंधा ।
फूल्यो फिरत सकल जग माहीं । सिर साधे सर सूझत नाहीं ।
उनमद मातौ बन के ठाठ । छाडि चल्यो सब बारह बाट ।
फंध्यो न जाने बन के चाइ । दादू स्वाद बधानौ आइ ॥ दादू, भा० २, पृ० १४

३. क्योंकरि मिलै मो का राम गुसाईं ।
यहु विषया मेरे बसि नाहीं ।
यहु मन मेरा दह दिसि धावै । नियरे राम न देखन पावै ।
जिभ्यास्वाद सबै रस लागै । इन्द्री भोग विषै को जागै ।
श्रवणहु सांच कदे नहि भावै । नैन रूप तहँ देखि लुभावै ।
काम क्रोध कदे नहि छीजै । लालच लागि विषै रस पीजै ।
दादू देखि मिलै क्यों साईं । विषै बिकार बसै मन माहीं । दादू, भा० २, पृ० ७

सचेत नहीं होता।[1] जो विषय संत जनों के द्वारा त्याग दिये गये हैं उनको मूढ़ जीव अपनाता है। यह बहुत ही त्याज्य तथा घृणित है।[2] विषयों से आकृष्ट प्राणी अपनी बुद्धि को ठिकाने नहीं रख पाता। विषयों से विमुख नहीं होता। अति दीन होकर दारा, सुत आदि में फँसा हुआ स्वय अपने पैरों का बन्धन बना रहता है। वह नहीं जानता कि संसार का यह सब प्रसार स्वप्न की भाँति मिथ्या है। प्राणी अपने अज्ञानवश परमात्मा का स्मरण नहीं करता जिसकी माया दासी है।[3]

विषयों के अन्तर्गत कंचन और कामिनी को संत कवियों ने निकृष्टतम कहा है। कबीर के मतानुसार कंचन और कामिनी से उत्पन्न फल को देखने से ही विष चढ़ जाता है तथा उसके चखने से ही आत्मनाश हो जाता है।[4] कनक अर्थात् धन शतशः पापों का मूल है। परमात्मारूपी धनराशि को त्याग कर मनुष्य इन पापों के संग्रह में तल्लीन रहता है।[5] संसार में सर्वत्र कनक और कामिनी के ही विविध रूप दिखलाई पड़ते हैं और इन सब में आसक्त जीव मानो अपने घर के कूप—माया मे डूब रहा है।[6] काल* कामिनी और कनक का संग सर्वथा त्याज्य है क्योंकि संसार इनसे आकृष्ट होकर इस भाँति जलकर नष्ट हो रहा है जैसे दीपक की ज्योति से आकर्षित होकर शलभ जल मरता है।[7] तन, धन आदि माया के प्रसार को देखकर मनुष्य भूला हुआ है परन्तु यह सब आजकल में ही अति शीघ्र विनष्ट हो जाने वाला है।[8] कनक और कामिनी का रूप धारण कर मायारूपी सर्पिणी

---

१. विषया परनारि निसा-तरुनाई सु पाइ पर्यो अनुरागहि रे।
जम के पहरु दुःख रोग वियोग विलोकत हूँ न विरागहि रे।
ममता बस तैं सब भूलि गयो भयो भोर महा भय भागहि रे।
जठराइ दिसा रवि काल उग्यो अजहूँ जड़ जीव न जागहि रे॥ — तु० ग्र०, पृ० १७३

२. जो विषया संतन तजि मूढ ताहि लपटात
ज्यों नर डारत वमन कर स्वान स्वाद सो खात॥ — रहीम, पृ० ६

३. विषयन सो अति लुभान मति नाहिन फेरी।
दारा सुत भयो दीन पगहु परी बेरी।
नानक जन कह पुकार सुपने ज्यों जग पसार।
सिमरत नहि क्यों मुरार माया जाकी चेरी। — नानक, सं०बा० सं० भा० २, पृ० ५४

४. एक कनक अरु कामिनी विष फल लिया उपाय।
देखत ही तें विष चढ़ै चाखत ही मरि जाय। — कबीर, सं० बा० सं० भा १, पृ० ५६

५. सौ पापन को मूल है एक रुपया रोक।
साधू है संग्रह करै हारै हरि सा थोक॥ — कबीर, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ५७

६. बूड़ि रह्यो रे बापुरे माया गृह के कूप।
मोह्यो कनक अरु कामिनी नाना विधि के रूप। — दादू, भा० १, पृ० ११६

* जो जो मन में कल्पना सो सो कहिये काल।
सुन्दर तू निःकल्प हो छाड़ि कल्पना जाल। — सुन्दरदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १११

७. काल कनक अरु कामिनी परिहरि इनका संग।
दादू सब जग जलि मुवा ज्यों दीपक ज्योति पतंग। — दादू, भा० १, पृ० १२३

८. कुछ चेति रे कहि क्या आया।
इनमें बैठा फूलि करि तैं देखी माया।

ने सबको डसा है। इससे त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी नहीं बच सके हैं।[1] कनक और कामिनी के सम्पर्क में रहने वाला प्राणी माया की अग्नि से दग्ध हो जाता है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार रूई से लपेटी आग रूई को जलाकर राख कर देती है।[2]

माया के दो रूपों, कंचन और कामिनी में संत कवियों ने कामिनी को अधिक हेय ठहराया है। कंचन से प्राणी चाहे किसी प्रकार बच भी जाय परन्तु कामिनी से बचना किसी प्रकार भी सभव नही। कारण यह है कि यौन (Sex) जीवन की सबसे प्रधान वृत्ति है, इसे कोई भी मनोविज्ञानवेत्ता अस्वीकार नहीं करेगा। कामवासना से मुक्त स्त्री ध्रुव-प्रह्लाद जैसे भक्त शिरोमणियों की जननी के रूप में सर्वदा स्तुत्य हैं।[3] फिर भी कबीर ने साधक के लिए स्त्री का संग त्याज्य ही बताया है। यदि स्त्री खरे स्वर्ण की भी हो और स्वर्ण में न होने वाली सुगंधि से भी युक्त हो साथ ही वह निज जननी भी हो, तो भी उसके निकट बैठना उचित नहीं।[4] इतना ही नही पलटूदास का तो यहां तक कहना है कि अस्सी वर्ष की वृद्धा स्त्री भी विश्वसनीय नहीं होती। पुरुष के जीवन काल में वह उसके रक्त-मांस की शोषिका बनी रहती है तथा उसकी मृत्यु के बाद उसके नरकवास का कारण होती है।[5] स्त्री यदि पुरुष के समीप हो तो तीनों गुणों को नष्ट कर देती है। उसके कारण पुरुष भक्ति, मुक्ति, ध्यान एवं आत्मज्ञान के कार्य में प्रविष्ट नहीं हो सकता।[6] यह है स्त्री के सान्निध्य मात्र का कुप्रभाव।

भगवान से विमुख कामी पुरुष स्त्री का त्याग नही कर सकते। विरक्त, धीरमति पुरुष ही ऐसा कर सकते है, परन्तु परम ज्ञानी वे मुनि भी मृगनयनी के मुखचन्द्र को देखकर विह्वल हो जाते हैं। वास्तव में परमात्मा की मूर्तिमान माया ही नारी है अथवा विष्णुमाया

तू जिनि जानै तन धन मेरा मूरख देखि भुलाया।
आज कालि चलि जावै देहीं ऐसी सुन्दर काया। — दादू, भा० २, पृ० ११८

१. माया सापणि सब डसै कनक कामिनी होइ।
ब्रह्मा विष्णु महेश लौं दादू बचै न कोइ॥ — दादू, भा० १, पृ० १३१

२. माया की झल जग जल्या कनक कामिणी लागि।
कहु धौं केहि विधि राखिये रूई लपेटी आगि॥ — क० ग्र०, पृ० ३८

३. नारी निंदा जिनि करै नारी नर की खानि।
नारी ते नर होत हैं ध्रुव प्रहलाद समान। — अज्ञात

४. सब सोने की सुन्दरी आवै वास सुवास।
जो जननी है आपनी तऊ न बैठै पास॥ — कबीर, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ५८

५. असिउ बरस की नारि को पलटू ना पतियाय।
जियत निकोवै तत्व को मुए नरक ले जाय॥ — पलटू, सं० बा० सं० भा० १, पृ० २२३

६. नारि नसावै तीन गुन जो नर पासे होय।
भक्ति मुक्ति निज ध्यान में पैठि न सक्कै कोय॥ — कबीर, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ५८

संसार में स्त्री-रूप में प्रकट है।[1] तुलसीदास ने काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि माया के अंगों को अहितकर एवं कष्टप्रद कहा है परन्तु उनके मत से साक्षात् मायारूपिणी नारी अत्यन्त दारुण एवं दुखद है। वेद, पुराण, संत सभी एक मत हैं कि मोहरूपी वन को प्रफुल्लित करने वाली बसन्त ऋतु नारी है। स्त्री ग्रीष्म ऋतु बनकर जप, तप, नियमरूपी समस्त जलाशयों का शोषण करती है। काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि दादुरों के लिए स्त्री हर्षप्रद वर्षा ऋतु की भाँति है। दुर्वासनारूपी कुमुद-समूह के लिए नारी शरद् के समान सर्वथा सुखदायक है। धर्म आदि समस्त आचरणों रूपी पंकजों की हेमन्त की भाँति नाशक होती है। ममता आदि जवास नारीरूपी शिशिर को पाकर ही अंकुरित होते हैं। पाप उलूक-समूह के लिए स्त्री घनघोर काली रात्रि के समान सुखदायक है। बुद्धि, बल, शील, सत्य-रूपी मछलियों के लिए स्त्री बंशी के समान मृत्यु स्वरूप है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि स्त्री समस्त अवगुणों की मूल, शूलप्रद तथा सब दुखों की खान है।[2]

मलूकदास ने तो नारी की ओर दृष्टिपात करने तक का निषेध किया है क्योंकि वह सदैव नेत्र-कटाक्षों से आघात किया करती है। भगवान् का अवलम्ब लेकर ही कोई विरला इससे त्राण पाता है।[3] नारी को देखकर पुरुष को उसके नयन-बाण के प्रहार का भय चाहे कम हो परन्तु स्वयं अपनी प्रवृत्ति के कारण उसमे पतन का भय अवश्य है। सारा संसार स्त्रीरूपी मद का सेवन करने वाला है।[4] मयूरी को देखकर मयूर हर्षोल्लास से पंख फैला-कर नृत्य करने लगता है। इसी प्रकार मनुष्य न मालूम कितनी बार अपने गृह-प्रांगण में

---

१. पुरुष त्याग सकै नारिहि जो बिरक्त मति धीर।
न तु कामी बिषयाबस बिमुख जो पद रघुबीर ॥
सोउ मुनि ग्यान निधान मृगनयनी बिधु मुख निरखि।
बिकल होहिं हरिजान नारि बिष्नु माया प्रगट ॥ तु० रा०, उ० का० ११५ (क)

२. काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि।
तिन मँह अति दारुन दुखद माया रूपी नारि ॥ ४३
सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता। मोह बिपिन कहुँ नारि बसंता।
जप तप नेम जलाश्रय झारी। होइ ग्रीषम सोषइ सब नारी।
काम क्रोध मद मत्सर भेका। इनहि हरषप्रद बरषा एका।
दुर्बासना कुमुद समुदाई। तिन्ह कह सरद सदा सुखदाई।
धर्म सकल सरसीरुह बृंदा। होइ हिम तिनहि दहइ सुख मंदा।
पुनि ममता जवास बहुताई। पलुहइ नारि सिसिर रितु पाई।
पाप उलूक निकर सुखकारी। नारि निबिड़ रजनी अँधियारी।
बुधि बल सील सत्य सब मीना। बनसी सम त्रिय कहहिं प्रबीना।
अवगुन मूल सूलप्रद प्रमदा सब दुख खानि।
ताते कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जियं जानि ॥ तु० रा०, अर० का० ४४

३. नारी नाहिं निहारियै करै नैन की चोट।
कोइ एक हरिजन ऊबरै पार ब्रह्म की ओट ॥ मलूकदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १०३

४. नारी बूँटी अमल की अमली सब संसार। मलूकदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १०३

स्त्री को देखकर हर्षोन्मत्त होकर नृत्य कर चुका है ।[१] नारी नाना प्रकार के वेष धारण करके अपने मनोनुकूल पुरुषों को ग्रहण करती है । योगिनी होकर योगी को, सर्पिणी होकर शेषनाग को, भक्तिमती होकर भक्त को प्राप्त करती है ।[२] इस संसाररूपी सघन वन में मायारूपी हस्तिनी के साथ मतवाला मूर्ख मन निर्भय विचरण करता है तथा सावधान नही होता ।[३] कीट जिस प्रकार काष्ठ को खाकर उसे जर्जरित कर देता है तथा जग जिस प्रकार लोहे जैसे कठोर पदार्थ को भी काट देता है उसी प्रकार काम के द्वारा मानव-शरीर जीर्ण होकर कहीं का नहीं रह जाता ।[४]

स्त्री ही सर्वथा दोषी नही है और न वही केवल पुरुष की वैरिणी है । काम-वासना में स्त्री के लिए पुरुष का वही स्थान होता है जो पुरुष के लिए स्त्री का होता है । इसलिए पुरुष स्त्री का उतना ही वैरी अथवा अहितकर है जितना स्त्री पुरुष की । कुछ भी हो दोनो का ही अन्त मृत्यु मे होता है । यहाँ किसी को भी अमृतत्व प्राप्त नही ।[५] अतः पलटू ने ससार-पुरुष को खरबूजा तथा नारी को छुरी कहा है । चाहे छुरी खरबूजे पर गिरे चाहे खरबूजा छुरी पर, परिणाम दोनों का एक ही होगा । नारी के सम्पर्क से ससार का—उसके प्राणियों का, पुरुषों का नाश अवश्यम्भावी है । यही नही नारी के नेत्र बाहर से न दिखाई पडने वाले बघनख के समान भयंकर तथा घातक होते है ।[६] लोक के सम्मुख सन्यासी का वेष धारण करने वाले, जटाजूट और विभूति से युक्त योगी भी स्त्री-माया से अलग नही दिखलाई पड़ते । गृहस्थ के धर्म को पूरा करते हुए पुत्र को बगल में दबाये घूमते है और उस पर भी अपने को योगी बताते है ।[७]

---

१. मोरा मोरी देखि करि नाचै पंख पसारि ।
यों दादू घर आगणें हम नाचैं कै बारि ।। — दादू, भा० १, पृ० १२७

२. जोगिण है जोगी गहै सोफणि है करि सेस ।
भगतणि है भगता गहै करि करि नाना भेस ।। — दादू, भा० १, पृ० १२६

३. मन हस्ती माया हस्तिनी सघन वन संसार ।
तामे निर्भय है रह्या दादू मुगध गँवार ।। — दादू, भा० १, पृ० १२१

४. ज्यों घुन लागै काठ कौं लोहे लागै काट ।
काम किया घट जाजरा दादू बारह बाट ।। — दादू, भा० १, पृ० १२१

५. नारी वैरिणि पुरुष की पुरिषा वैरी नारि ।
अंति काल दून्यू मुए दादू देखि विचारि ।। — दादू, भा० १, पृ० १३२
नारि पुरुष को ले मरी पुरुष नारि के साथ ।। — पी० द० ब०, पृ० १८२

६. खरबूजा संसार है नारी छूरी बैन ।
पलटू पंजा सेर का यों नारी का नैन ।। — पलटू, सं० बा० सं० भा० १, पृ० २२३

७. पलटू जटा रखाय सिर तन में लाये राख ।
कहत फिरैं हम जोगी लरिका दाबे कॉख ।। — पलटू, सं० बा० सं० भा० १, पृ० २१६

कवियों ने विविध रूपकों तथा उपमाओं द्वारा नारी के अनेक अवगुणों पर प्रकाश डाला है परन्तु यहाँ ध्यान देने की एक बात यह है कि यह अवगुण वही हैं जो कि साधक के भगवत्-प्राप्ति के मार्ग में किसी प्रकार से बाधक प्रतीत होते है। यह दोष अथवा अवगुण स्त्री-पुरुष के यौन सम्बन्ध के कारण ही हैं न कि किसी स्त्री या पुरुष के जातीय गुण के कारण। पुरुष को जो कुफल स्त्री के सम्बन्ध से प्राप्त होता है वही कुफल पुरुष के साथ से स्त्री भी प्राप्त करती है। दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। काम-वासना के सम्बन्ध से ही सन्तों द्वारा स्त्री की अवहेलना तथा निन्दा हुई है।

आज का मनोविज्ञान यौन (Sex) के महत्त्व को तथा उसके तीन स्वरूपों के द्वारा तीन प्रकार की अभिव्यक्तियों को भलीभाँति स्वीकार करता है। समस्त ज्ञान-विज्ञान, जप-तप, आत्मसाक्षात्कार आदि यौन के उन्नयन (Sublimation) के द्वारा संभव होते हैं तथा वही यौन-वासना विषय-भोग के रूप में भी व्यक्त होती है। प्रसिद्ध यौन मनोवैज्ञानिक हैवलाक एलिस ने धार्मिक प्रवृत्ति और यौनवृत्ति को एक ही माना है। पर्याप्त निरीक्षण और अनुभव के द्वारा वे इस निर्णय पर पहुँचे है कि अत्यन्त कामुक व्यक्ति किसी घटना अथवा परिवर्तन विशेष से अत्यन्त धार्मिक हो जाते है। इसके विपरीत अत्यन्त धार्मिक मनुष्यों को बहुत ही कामुक होते भी देखा गया है। इसमे सन्देह नहीं कि इन दोनों रूपों के मूल मे कोई रहस्यात्मक शक्ति अवश्य है। फ्रायड ने नो सार्वभौम यौनवाद का भी समर्थन किया है जिसके स्वरूप का अधिक स्पष्ट दर्शन हमें 'मानस' के काम-दहन प्रसंग में होता है। उस वातावरण में समस्त चेतन ही पुरुष-नारि भेद से एक दूसरे से आकृष्ट नहीं हो गये थे वरन् अचेतन भी केवल नाम के लिए भेद से ही परस्पर के आकर्षण से सम्मोहित हो गये थे।[1] हिन्दी संत-कवियों ने यौन की इसी महत्ता को स्वीकार करते हुए इस वृत्ति के निरन्तर उन्नयन (Sublimation) पर ही बल दिया है और इसीलिए स्त्री-पुरुष के वासनामय यौन-सम्बन्ध को भगवत्-प्राप्ति के मार्ग में सब से जटिल विघ्न माना है।

माया अपने कटक अथवा परिवार के साथ समस्त ससार मे व्याप्त है। इसने सब को अपने वशीभूत कर रक्खा है तथा जो वास्तविक धन परमात्मा है उससे संसार को पृथक् कर दिया है। माया ने, जिसे कबीर ने रमैया की दुलहिन कहा है, समस्त सृष्टि में लूट मचा रक्खी है। पृथ्वीलोक ही नहीं, देवलोक तथा नागलोक भी उसकी लूट से नहीं बच सके हैं। वहाँ भी त्राहि-त्राहि मची हुई है। नारद, शृंगी, पाराशर आदि मुनियों को भी उसने नहीं छोड़ा तथा ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि त्रिदेव भी उससे छुटकारा न पा सके। चित्कासी, योगेश्वर तथा ज्ञानमार्गी भी माया ठगिनी से अछूते नही रहे। रमैया की दुलहिन परमात्मा की अर्धांगिनी माया में वह शक्ति है जिसके द्वारा ठगे जाने से कोई भी जीव नही बचा।[2]

---

१. जे सजीव जग अचर चर नारि पुरुष अस नाम।
ते निज निज मरजाद तजि भए सकल बस काम॥ तु० रा०, बा० का० ८४

२. रमैया की दुलहिन लूटा बजार।
सुरपुर लूट नागपुर लूटा तीन लोक मचा हाहाकार।
ब्रह्मा लूटे महादेव लूटे नारद मुनि के परी पछार।

माया का त्याग करना बड़ा ही दुष्कर है। जो मनुष्य लौकिक सम्बन्धों को त्यागकर संन्यास ले लेते हैं वे घर छोड़कर आश्रमवास करते हैं, फिर उसे भी त्यागकर सर्वत्र भ्रमण करने लगते हैं, पुत्र के स्नेह को तिलांजलि देकर घर से चले जाते हैं परन्तु वह स्थान रिक्त नहीं रहता और उसकी पूर्ति शिष्य से हो जाती है। इस प्रकार माया वहाँ भी पीछा नहीं छोड़ती। माया की स्थिति वृक्ष पर लिपटी हुई लता की भाँति है जो बहुत प्रयत्न करने पर भी वृक्ष से पृथक् नहीं हो पाती। मनुष्य यदि प्रयत्न करके किसी प्रकार काम पर विजय भी प्राप्त कर लेता है तो क्रोध से नही बच पाता। क्रोध भी यदि किसी प्रकार छूट जाय तो लोभ बना ही रहता है तथा लोभ से मुक्ति मिलने पर भी मान, बड़ाई, शोभा आदि लोकैषणा पीछा नहीं छोडतीं।[1]

विषयों के सम्मुख बुद्धि की निर्बलता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। बुद्धि की कृषि को विषय-मृगों ने उजाड़ डाला है, रात-दिन वे अपने उपद्रव में लगे ही रहते हैं, भगाने से भी नहीं भागते। यह विषय-मृग पृथक्-पृथक् रस के लोभी हैं तथा अपने-अपने ढंग से उनका सेवन करते हैं। उस पर भी अभिमानी इतने है कि किसी की परवाह ही नही करते। बहुत लोग प्रयत्न करके हार चुके है। इन विषय-मृगों मे बुद्धि-कृषि को बचाने वाला गुरु तथा राम नाम ही है।[2] ऐसा कौन ज्ञानी है जिसे भगवान् की बलवती माया से मोह नही होता। भगवान् विष्णु का वाहन गरुड़ जो कि भक्तों में शिरोमणि है उसे भी माया ने मोहित कर लिया तो साधारणजन की बात ही क्या। और तो क्या शकर और ब्रह्मा को भी माया मोहित कर लेती है बेचारे प्राणी की तो कोई गणना ही नही।[3] संसार मे ऐसा कोई

सिंगी की भिंगी करि डारी पाराशर के उदर विदार।
कनफूका चिदकासी लूटे लूटे जोगेस्वर करत विचार। — क० ग्र०, पृ० ६८

१. अवधू माया तजी न जाई।
गिरह तजिके वस्तर बाँधा वस्तर तजि के फेरी।
लड़िका तजि के चेला कीन्हा तहु मति माया घेरी।
जैसे बेल बाग में अरुभी गांहि रही अरुझाई।
छोरे से वह छूटै नाही कोटिन करै उपाई।
काम तजे तें क्रोध न जाई क्रोध तजे तें लोभा।
लोभ तजे अहकार न जाई मान-बड़ाई-सोभा। — ह० प्र० क०, पृ० २३४

२. जतन बिन मृगनि खेत उजारे।
टारे टरत नहीं निसि बासुर विडरत नही बिडारे।
अपने अपने रस के लोभी करतब न्यारे न्यारे ॥
अति अभिमान बदत नहिं काहू बहुत लोग पचिहारे।
बुधि मेरी किरषी गुरु मेरा बिभुका आखर दुइ रखवारे॥ — क० ग्र०, पृ० २१९

३. प्रभु माया बलवन्त भवानी। जाहि न मोह कवन अस ग्यानी ॥
ग्यानी भगत सिरोमनि त्रिभुवन पति कर जान।

उत्पन्न ही नहीं हुआ जो भगवान् की अति प्रचण्ड माया के वशीभूत नहीं हुआ ।[1] समस्त ब्रह्माण्ड का उत्पादनकर्त्ता ब्रह्मा अपने मन में माया की सर्वव्यापकता पर विचार-रत हैं। संसार में ऐसा कोई नहीं है जो माया से व्याप्त न हो; कवि, कोविद, ज्ञाता कोई भी उससे नहीं बच सका। जिन ब्रह्मा ने अखिल विश्व का सृजन किया है उन्हें भी माया न जाने कितनी बार मनचाहा नाच नचा चुकी है ।[2] यही नहीं माया ज्ञानियों के चित्त-चैतन्य का अपहरण करके उन्हें बलात् विमोहित कर लेती है। देवर्षि नारद इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। उन्हें माया अनेक बार भ्रम में डालकर नचा चुकी है ।[3] अस्तु इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि सुर, नर, मुनि, ज्ञानी सभी माया के आकर्षण में फँसे हुए हैं ।[4]

भगवान् की माया बड़ी ही प्रबल है। सुर, नर, मुनि सभी विषयों के वश हैं। ऐसा कोई दृष्टिगत नहीं होता जो नारी के नयन-बाण से आहत न हुआ हो, घोर क्रोध से अभिभूत न हो तथा लोभ ने जिसके कण्ठ को बाँध न रखा हो। जो इन विषयों से मुक्त है उसे परमात्मरूप ही समझना चाहिए। यह गुण किसी साधन से प्राप्त नहीं होते, भगवान् की कृपा से विरले को ही इनकी प्राप्ति होती है ।[5] भगवान् की माया विषम भी है। काल, कर्म और गुणों से युक्त सांसारिक मार्ग पर अहर्निश अनन्त समय तक भटकते सुर, असुर, नाग, नर, स्थावर, जगम सब इसी विषम माया के वशवर्ती हैं। इससे निस्तार केवल प्रभु के अनुग्रह से ही मिल सकता है ।[6] काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि विषयों ने तीनों लोकों

ताहि मोह माया नर पाँवर करहिं गुमान ।।६२ (क)
सिव बिरंचि कहु मोहइ को है बपुरो आन ।
अस जियँ जानि भजहिं मुनि मायापति भगवान ।। — तु० रा०, उ० का० ६२ (ख)

१. अति प्रचंड रघुपति कै माया । जेहि न मोह अस को जग जाया ।। — तु० रा०, बा० का० १२७-४

२. मन महुँ करइ बिचार बिधाता । मायाबस कबि कोबिद ग्याता ।
हरिमाया कर अमित प्रभावा । बिपुल बार जेहि मोहि नचावा ।।२
अग जगमय जग मम उपराजा । नहिं आचरज मोह खगराजा । — तु० रा०, उ० का० ६०

३. ब्याकुल गयउ देवरिषि पाहीं । कहेसि जो संसय निज मन माहीं ।
सुनि नारदहि लागि अति दाया । सुनु खग प्रबल राम कै माया ।२
जो ग्यानिन्ह कर चित अपहरई । बरिआईं बिमोह मन करई ।
जेहि बहु बार नचावा मोही । सोइ ब्यापी बिहंगपति तोही ।३
हरिमाया बल बरनत पुनि पुनि परम सुजान ।। — तु० रा०, उ० का० ५९

४. सुर नर मुनि कोउ नाहिं जेहि न मोह माया प्रबल ।
अस बिचारि मन माहिं भजिअ महामाया पतिहि ।।१ — तु० रा०, उ० का० १४०

५. अतिसय प्रबल देव तव माया । छूटइ राम करहु जौं दाया ।१
बिषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी । मैं पाँवर पसु कपि अति कामी ।।
नारि नयन सर जाहि न लागा । घोर क्रोध तम निसि जो जागा ।२
लोभ पाँस जेहिं गर न बँधाया । सो नर तुम्ह समान रघुराया ।
यह गुन साधन तें नहिं होई । तुम्हरी कृपाँ पाव कोइ कोई ।।३ — तु० रा०, कि० का० २०

६. तव बिषम माया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे ।

को जय कर लिया है। इनसे छुटकारा दिलाने वाले केवल भगवान् ही हैं।[1] देव, मानव, ऋषि ऐसा कोई नहीं है जिसे प्रबल माया ने मोहित न किया हो। यह विचार कर भगवान् का स्मरण करना चाहिए क्योंकि वे ही मायापति हैं।[2]

भगवान् की माया बड़ी ही रहस्यमयी है, उससे कोई भी अछूता नही रह सका। मनुष्य को अपनी उत्पत्ति, जन्म तथा मृत्यु के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं। जो कार्य वह सम्पादित करता है उसका वास्तविक कर्त्ता वह नही है। जो अपने कर्मों का भरोसा करते हैं, 'अहं' भाव रखते हैं, उन्हें निश्चित ही नरक-यातना भोगनी पड़ती है। वास्तव में सब की कर्त्री तथा नियामिका भगवान् की रहस्यमयी महामाया ही है।[3]

मलूकदास ने माया को काली नागिनी कहा है जिसने ससार में छोटे-बड़े सभी को डसा है। इन्द्र, ब्रह्मा, नारद, व्यास सभी इसके द्वारा ग्रसित हो चुके हैं। भगवान् शकर भी इससे नहीं बच सके। कंस, शिशुपाल, रावण जैसे अधिपति तथा महारथी भी इससे मुक्त नही रह सके। दस मस्तकों के अर्पण से बड़ी साधना तथा तपस्या से रावण को जिस लंका की प्राप्ति हुई थी वह क्षण भर में नष्ट-भ्रष्ट हो गई। सर्प का विष उतारने वाले, माया से मुक्ति दिलाने वाले बड़े-बड़े महात्माओं तथा गोरख जैसे सिद्धो को भी माया ने अपने आकर्षणों से पृथक् नही रहने दिया। बड़े-बडे शूरवीरो को जिनसे जगत् को कुछ आशा थी इसने डस लिया।[4] जो 'जडमूल' से त्यागी परम विरागी कहे जाते हैं, माया उन्हें भी नही

भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे।
जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिबिधि दुख ते निर्बहे।		तु० रा०. उ० का० १२ (ग) २

१. को न क्रोध निरदह्यो, कामबस केहि नहिं कीन्हों ?
को न लोभ दृढ़ फन्द बाधि त्रासन करि दीन्हों।
कौन हृदय नहिं लाग कठिन अति नारि नयन सर ?
लोचन जुत नहिं अंध भयो श्री पाय कौन नर ?
सुर-नाग-लोक महिमंडलहु को जु मोह कीन्हों जय न ?
कह तुलसीदास सो ऊबरै जेहि राख राम राजिव नयन।।११७		तु० ग्र०, पृ० ११०

२. सुर नर मुनि कोउ नाहि जेहि न मोह माया प्रबल।
अस बिचारि मन माहि भजिय महा माया पतिहि।।२७६		तु० ग्र०, पृ० १०५

३. साधो भाई अपनी करनी नाहीं।
जो करनी का करै भरोसा ते जम के घर जाहीं।
ना जानूँ धौं कहाँ मुये थे ना जानूँ कहँ आये।
ना जानूँ हरि गर्भ बसेरा कौने भांति बनाये।
महा कठिन यह हरि की माया या तें कौन बचावै।३		मलूकदास, भा० २, पृ० १६

४. माया काली नागिनी जिन डसिया सब संसार हो।
इन्द डसा ब्रह्मा डसा डसिया नारद व्यास।
बात कहत सिव को डसा जिन धरि एक बैठे पास हो।
कंस डसा सिसुपाल डसा उन रावनड सिया जाय।

छोड़ती ।[1] इस रहस्यमयी माया के विषय में एक और विशेष बात है। यही माया जो सुर, नर, मुनि, त्रिदेव सब पर नियमन एवं शासन करती है वह साधु के पग-तल-गत धूलि की भाँति रहती है।[2]

माया के असीम बल को देखकर मनुष्य अहंकारवश अंधा हो जाता है तथा यह नहीं सोचता कि परमात्मा के सम्मुख उसकी क्या गति होगी।[3] इस मायारूपी डाकिनी ने कितनों का ही भक्षण किया है। जो इसके साथ गये वे पुनः लौट कर नहीं आये, समूल नष्ट हो गये।[4] यह माया मन को उसी प्रकार बिगाड़ देती है जिस प्रकार कांजी दूध को बिगाड़ देती है।[5] ऐसा कोई नहीं दिखाई पड़ता जो माया से बिगड़े हुए मन को ठीक करदे। माया ने चौरासी लक्ष योनियों में भी जीव को प्रभावित करना नहीं छोड़ा परन्तु जो जन परमात्मा में अनुरक्त हैं उनका वह कुछ नहीं बिगाड़ सकती क्योंकि भगवान् मायापति हैं।[6] माया के रस में मस्त होकर सारा संसार परमात्मा को भूल गया है। विषयों के रस को सत्य समझकर उसी में सब अनुरक्त हो रहे हैं।[7] माया से आक्रान्त मन अपना स्वतंत्र अस्तित्व नही रख पाता। वह सदैव काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद विकारों का वशवर्ती रहता है। ये विकार मन के वश मे नही रहते। इसी कारण मानव-मन सर्वत्र दुख और पीड़ा का साम्राज्य ही देखता है और इनसे त्राण के लिए वह जहाँ भी शरण लेता है, उसे संतापों का ही सामना करना पड़ता है।[8]

दस सिर दै लंका मिली सो छिन में दई बहाय हो।
बडे बडे गारुड़ डसे कोउ इक थिर न रहाय।
कच्छ देश गोरख डसा जा का अगम विचार हो।
चुनि चुनि खाये सूरमा जाकी करे जग त्रास। — मलूकदास, भा० २, पृ० ६

१. जौन कहै जड़ मूलहि त्यागी तिनकों हाथ लगावै। — मलूकदास, भा० २, पृ० १६

२. सुर नर मुनियर वसि किये ब्रह्मा विष्णु महेस।
सकल लोक के सिर खडी साधू के पग हेठ।।७ — दादू, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ६७

३. माया का बल देखि करि आया अति अहंकार।
अंध भया सूझै नहीं का करि है सिरजनहार।।१६ — दादू, भा० १, पृ० ११७

४. माया के सँगि जे गये ते बहुरि न आये।
दादू माया डाकिणी इन केते खाये।।२५ — दादू, भा० १, पृ० ११८

५. माया सौं मन बीगड्या ज्यों काँजीकरि दूध।
है कोई संसार में मन करि देवै सूध।।२२ — दादू, भा० १, पृ० ११८

६. माया सब गहले किये चौरासी लख जीव।
ताका चेरी क्या करै जे रँगराते पीव।।१०१ — दादू, भा० १, पृ० १२५

७. काहू तेरा मरम न जाना रे, सब भये दीवाना रे।
माया के रस राते माते, जगत भुलाना रे।
को काहू को कह्या न मानै भये अयाना रे।
माया मोहे मुदित मगन खानखानाँ रे।
विषिया रस अरस परस सांच ठाना रे।१०६ — दादू, भा० २, पृ० ४५

८. मन पांचों के वसि परा मन के बसि नहिं पाँच।
जित देखूँ तित दौ लगि जित भागू तित आँच।। — क० ग०, पृ० ६७

माया-प्रेरित मनुष्य के लौकिक कार्यों की ओर संकेत करते हुए दूलनदास का कथन है कि "माया से रात-दिन मेरा मन व्याकुल रहता है तथा हरि स्मरण करने की सुध ही नहीं रहती। मैं परमात्मा से स्नेहसूत्र जोड़ना चाहता हूँ परन्तु माया उसे तोड़ देती है तथा जब मैं उलझे हुए सूत को सुलझाने का प्रयत्न करता हूँ तब वह उसे और भी उलझा देती है। हमारे चित्त को सत्य के सम्मुख नहीं ठहरने देती, इधर-उधर भ्रमाया करती है। इस प्रकार नाचते-नाचते मैं थक गया हूँ, अब केवल तुम्हारी कृपा से ही मुक्ति लाभ हो सकता है।"[१] गरीबदास का विचार यह प्रतीत होता है कि साधना मार्ग से पतित कराने वाली तथा सम्पूर्ण दोषों की उत्तरदायी माया ही है। नारद जैसे ज्ञानी मन माया के कारण पथ-भ्रष्ट हुए तथा शृंगी और पाराशर जैसे विरागी भी गृही बने।[२] मनुष्य माया की विषयरूपी मिठाई में पगा हुआ है तथा काम, क्रोध आदि में पूर्णतया रत है। मनुष्य ही नहीं देव, नर, मुनि, गंधर्व सभी माया की मिठाई का थोड़ा-थोड़ा आस्वादन करते हैं। इसीलिए सभी त्रिविध ताप के फन्दे में बँधे हुए हैं और अपने सन्निकट भी काल को देखने में असमर्थ रहते हैं।[3]

पलटू ने माया को एक बड़ी ठगिनी के रूप मे देखा है जो हर समय रात-दिन सब को प्रवंचित किया करती है। अपार धन का सचय करने वाला व्यक्ति भी यहाँ से खाली हाथ ही जाता है तथा राजा और रक सभी समान रूप से ही निर्वस्त्र होकर परलोक गमन करते हैं। माया का अपनत्व केवल प्रवचना है।[४] इस प्रकार अपार बलशालिनी कठिन

---

१. राम तोरी माया नाचु नचावै।
निसु वासर मेरो मनुवां व्याकुल सुमिरन सुधि नहि आवै।
जोरत तूरै नेह सूत मेरा निरवारत अरुझावै।
केहि विधि भजन करों मेरे साहिब बरबस मोहिं सतावै।
सत सन्मुख थिर रहे न पावै इत उत चित्तहि डुलावै।
आरत पवरि पुकारों साहिब जन फिरियादिहिं पावै।
थाकेउ जन्म जन्म के नाचत अब मोहिं नाच न भावै।
दूलनदास के गुरु दयाल तुम किरपहि ते बनि आवै ॥१० — दूलनदास, भा० २, पृ० १६

२. मन के मारे मुनि बहे नारद से ज्ञानी।
सिंगी रिषि पारासरा कीन्हें रजधानी ॥४६ — गरीबदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १६७

मन की गति है अटपटी झट पट लखै न कोय।
जो मन की खटपट मिटै चटपट दरसन होय। —अज्ञात

३. पागा माया विषै मिठाई काम क्रोध रत सोई।
सुर नर मुनि गन गन्धर्व कछु कछु चाखत है सब कोई।
त्रिविध ताप को फंद परो है सूझत वार न पारा।
काल कराल बसै निकटहिं धरि मारि नर्क महँ डारा ॥ — भीखा, स० बा० सं० भा० २, पृ० २०१

४. माया ठगिनी बड़ी ठगे यह जात है।
बचै न यासे कोउ लगी दिन रात है।

माया सब के साथ लगी है । इसके कष्ट से कोई विरला ही बच पाता है और वही गगन मण्डलस्थ उच्च पद प्राप्त करने में समर्थ होता है ।[1]

तुलसीदास के मतानुसार समस्त ब्रह्माण्ड की रचना माया करती है तथा वह अपनी शक्ति परमात्मा से प्राप्त करती है ।[2] पुन: वे समस्त ब्रह्माण्ड को तो माया की रचना कहते ही हैं परन्तु परमात्मा को मायातीत मानते हैं ।[3] वह मायातीत जिसकी आज्ञा से माया क्षण के अंशमात्र में समस्त लोकों का निर्माण करने में सक्षम होती है ।[4] भगवान् की अर्द्धांगिनी माया केवल सृजन-कार्य ही नहीं करती, वह परमात्मा से संकेत पाकर जगत् का पालन तथा संहार भी करती है ।[5] हरि-माया के गुण-दोष बिना हरि-भजन के नहीं मिटते ।[6] यद्यपि माया-कृत अनेक गुण और दोष है परन्तु वे केवल अविद्या के कारण ही दिखलाई पड़ते हैं, उनमे वास्तविकता नहीं होती । वे केवल प्रतिभासित होते हैं ।[7]

हरि-मायावश होने के कारण हृदय में उपदेश का प्रभाव नहीं पड़ता जैसा कि सती के विषय में प्रत्यक्ष द्रष्टव्य है ।[8] राम की माया ने सती को प्रेरित करके उनको असत्य भाषण करने के लिए बाध्य किया ।[9] परमात्मा की माया के वश होकर जड़ता को प्राप्त हुआ जीव निरंतर भूला हुआ फिरता है ।[10] भगवान् अपनी माया के प्रेरक हैं जिसकी करनी अत्यन्त कठिन है ।[11] माया के कारण आत्म-विस्मृत मनुष्य परमात्मा को पहचानने में सफल

कौडी नाहीं संग करोरिन जोरि कै ।
अरेहा पलटू गये है राजा रक लॅगोटा छोरि कै ।।६ — पलटू, सं० बा० सं० भा० २, पृ० २३८

१. कठिन माया है अपरबल सग सबके लागि ।
सूल तें कोइ बचे बिरले गगन बैठे भागि । — जगजीवन, सं० बा० सं० भा० २, पृ० १४२

२. सुनु रावन ब्रह्माण्ड निकाया । पाइ जासु बल बिरचति माया ।। — तु० रा०, सु० का० २०-२

३. माया गुन ग्यानातीत अमाना वेद पुरान भनंता । — तु० रा०, बा० का० १९१-२
ब्रह्माण्ड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति वेद कहै ।। — तु० रा०, बा० का० १९१-३

४. लव निमेष महुं भुवन निकाया । रचइ जासु अनुसासन माया । — तु० रा०, बा० का० २२४-२

५. श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी ।
जो सृजति जगु पालति हरनि रुख पाइ कृपानिधान की । — तु० रा०, अयो० का० १२५-५

६. हरिमाया-कृत दोष गुन बिनु हरिभजन न जाहिं । — तु० ग्र०, पृ० ९५

७. सुनहु तात मायाकृत गुन अरु दोष अनेक ।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अविवेक ।। — तु० रा०, उ० का० ४१

८. लाग न उर उपदेश जदपि कहेउ सिव बार बहु ।
बोले बिहसि महेसु हरिमाया बलु जानि जिंय । — तु० रा०, बा० का० ५१

९. बहुरि राममायहि सिरु नावा । प्रेरि सतिहि जेहिं झूंठ कहावा । — तु० रा०, बा० का० ५५-३

१०. तव माया बस फिरउ भुलाना । ताते मैं नहिं प्रभु पहिचाना ।
तव माया बस जीव जड़ संतत फिरइ भुलान ।
तेहि पर क्रोध न करिय प्रभु कृपासिंधु भगवान । — तु० रा०, उ० का० १०८ (ग)

११. तब नारद हरि पद सिर नाई । चले हृदयँ अहमिति अधिकाई ।
श्रीपति निज माया तब प्रेरी । सुनहु कठिन करनी तेहि केरी ।। — तु० रा०, बा० का० १२८-४

नहीं होता। परमात्मा की माया से निस्तार उन्हीं की कृपा से संभव है।[1] हरि-मायावश भ्रमित सांसारिक जीवों का कुछ भी कहना तथा करना अघटित नहीं है।[2] नेत्ररोग से पीड़ित व्यक्ति को जिस प्रकार श्वेत चन्द्र पीत दृष्टिगोचर होता है, दिग्भ्रम होने पर पूर्व में सूर्य को उदय होता देखकर भी वह उसे पश्चिम ही समझता है, इसी प्रकार नौकारूढ़ मनुष्य भ्रमवश स्वयं को स्थिर मानता है तथा संसार के अचल पदार्थ वृक्ष, पर्वत, तट आदि उसे गतिशील प्रतीत होते हैं। बालक जब घुमनी का खेल खेलते हैं तब उन्हें सम्पूर्ण वस्तुओं सहित गृह घूमता हुआ दिखाई देता है परन्तु वास्तव में घर आदि नहीं घूमते, घूमते तो केवल बालक हैं। इसी प्रकार परमात्मा के सत्य स्वरूप को अपने अज्ञानवश न देखकर प्राणी भिन्न-भिन्न कथन उस स्वरूप के सम्बन्ध में करता है, स्वयं अपने अज्ञान का आरोप परमात्मा के स्वरूप में करता है। यह सब माया के द्वारा ही हो रहा है।[3]

तुलसीदास ने माया के कृत्यों का विवेचन करते हुए कहा है कि वह बुद्धि को लुभाने के लिए ऋद्धि-सिद्धि को प्रेरित करती है, वह किसी भी प्रकार से छल-बल करके विज्ञान-दीप को बुझाने का प्रयत्न करती है। इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवगण भी विषय को शरीर में प्रवेश होने देते है और वे विषयों के सम्मुख जीव की रक्षा नहीं करते, वरन् उसके द्वारा भक्षण होने को छोड़ देते हैं। इन्द्रियों एवं उनके देवताओं को ज्ञान में रुचि नहीं रहती, उनकी रुचि रहती है विषय-भोगों में। भगवान् की माया ऐसी दुस्तर है कि सरलता से उसका पार नहीं पाया जा सकता।[4] माया की अज्ञानात्मिका शक्ति बड़ी ही प्रबल है तथा उसके कार्य जीव की बुद्धि को भ्रष्ट व भ्रमित करने वाले हैं। यही भाव निम्न दोहे में भी व्यक्त हुए हैं—

---

१. नाथ जीव तव मायां मोहा। सो निस्तरइ तुम्हारेहि छोहा॥ — तु० रा०, कि० का० २-१

२. हरिमाया बस जगत भ्रमाही। तिन्हहि कहत कछु अघटित नाही॥ — तु० रा०, बा० का० ११४-३

३. नयन दोष जा कहँ जब होई। पीत बरन ससि कहुँ कह सोई।
जब जेहि दिसि भ्रम होइ खगेसा। सो कह पच्छिम उयउ दिनेसा।२
नौकारूढ चलत जग देखा। अचल मोह बस आपुहि लेखा।
बालक भ्रमहिं न भ्रमहि गृहादी। कहहिं परस्पर मिथ्यावादी।३
हरि विषयक अस मोह विहंगा। सपनेहुं नहि अग्यान प्रसंगा।
मायावस मतिमंद अभागी। हृदयँ जमनिका बहुविधि लागी।४
ते सठ हठ बस संसय करहीं। निज अग्यान राम पर धरही। — तु० रा०, उ० का० ७२-५

४. छोरत ग्रंथि जानि खगराया। बिघ्न अनेक करइ तब माया।३
रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहि लोभ दिखावहि आई।
कल बल छल करि जाहि समीपा। अंचल बात बुझावहिं दीपा।
इंद्री द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना।
आवत देखहिं विषय बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी।६
इन्द्रिन्ह सुरन्ह न ग्यान सोहाई। विषय भोग पर प्रीति सदाई।
तब फिरि जीव विविधि विधि पावइ संसृति क्लेस।
हरिमाया अति दुस्तर तरि न जाइ विहगेस॥ — तु० रा०, उ० का० ११८ (क)

जो न होहिं मंगल मग सुर विधि बाधक।
तो अभिमत फल पावहिं करि स्रमु साधक॥ तु० ग्र०, पृ० २७

अविनाशी जीव चेतन, अमल, सहज, सुखराशि, ईश्वर का ही अंश है और वही माया के वश में होकर कीर, मरकट की भाँति बँध गया है। इस प्रकार जड़ और चेतन के बीच ग्रंथि पड़ गई है जो मिथ्या होने पर भी सरलता से छूटती नहीं।[1] मानव-मन माया में इतना लिप्त रहता है कि वह किसी सीख को न मानकर मनमाने कार्य करता है, दुरमति से हटता नहीं तथा दूसरो को अपनी ही भाँति बनने की शिक्षा देता है। माया के वश में होकर हरि-यश का उच्चारण नही करता। जगत् के प्रपंचों में पड़कर ही अपनी उदर-पूर्ति किया करता है तथा श्वान की पूँछ की भाँति कुटिलता को त्यागकर सीधा नहीं हो जाता।[2]

मलूकदास के मत से तीनों लोक परमात्मा की माया हैं। परमात्मा के अतिरिक्त और कहीं से इसे कोई नहीं लाया। परमात्मा सभी का है और सब परमात्मा के हैं। उसे समस्त जीव-जन्तु तक प्रिय हैं।[3] जादूगर की पुतली जिस प्रकार बदर को मोहित करती है, उसी प्रकार परमात्मा की माया ने सारे ससार को लुभा रक्खा है।[4] परमात्मा की माया के चरित्र से सभी स्थावर, जंगम मोहित हैं, ब्रह्माण्ड मोहित है, खण्ड मोहित है, पवन, पानी, परमेश्वर, मुनि, रवि, शशि, सप्त सागर, धरणीधर, पर्वत, मेरु आदि सभी मोहित हैं।[5]

माया स्वयं परमात्मा बनकर बैठी हुई है जिससे कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश तक आवागमन मे पड़े हुए हैं।[6] राम बनकर बैठी हुई इस माया को कोई नही देखता वरन् संसार इसे

---

१. ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी।१
सो मायावस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं।
जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई। तु० रा०, उ० का० ११६-२

२. यह मन नेक न कह्यो करै।
सीख सिखाय रह्यो अपनी सी दुरमति तें न टरै।
मद माया बस भयो बावरो हरिजस नहि उच्चरै।
करि परपंच जगत के डहकै अपनो उदर भरै।
स्वान पूंछ ज्यों होय न सूधो कह्यो न कान धरै।३ नानक, सं० वा० सं० भा० २, पृ० ५३

३. सबहिन के हम सबै हमारे। जीव जन्तु मोहिं लगैं पियारे।
तीनों लोक हमारी माया। अंत कतहु से कोइ नहिं लाया।२ मलूकदास, भा० २, पृ० २३

४. बाजीगर की पूतरी ज्यूँ मरकट मोह्या।
दादू माया राम की सब जगत बिगोया।।११२ दादू, भा० १, पृ० १२७

५. ये सब चरित तुम्हारे मोहनाँ मोहे सब ब्रह्मंड खंडा।
मोहे पवन पाणी परमेसुर सब मुनि मोहे रवि चन्दा।
साइर सप्त मोहे धरणीधरा अष्ट कुली पर्वत मेर मोहे।
तीन लोक मोहे जगजीवन सकल भुवन तेरी सेव सोहे।।६३ दादू, भा० २, पृ० ४१

६. माया बैठी राम है कहै मैं ही मोहन राइ।
ब्रह्मा विष्णु महेश लौं जोनी आवै जाइ।।१४३ दादू, भा० १, पृ० १२६

सत्य मान बैठा है। यह बड़े आश्चर्य की बात है।[1]

प्रत्यक्ष रूप से परमात्मा की प्राप्ति के साधन भी आत्मा के साक्षात्कार कराने वाले न होकर शक्ति के दाता बने रहते हैं तो वह सच्ची साधना न होकर माया का ही कार्य कहा जायगा। मत्स्येन्द्रनाथ ने इसी प्रकार के एक साधक के विषय में लिखा है कि संसार छोड़कर भस्म रमाकर वन में वास करता है, वज्रासन, खेचरी आदि मुद्राएँ धारण करता है, सिद्धि प्राप्त करके अदृष्ट हो जाने तथा इच्छित स्थान पर पहुँच जाने की कला में भी दक्ष हो जाता है। यही नहीं, शरीर से प्राण भी निकाल सकता है, योग में सफल है, ब्रह्मरंध्र तक कुण्डलिनी को चढ़ा लेता है, पानी के ऊपर चलता है तथा उसकी वाणी से निकला हुआ कथन सत्य हो जाता है। सारी आयु तीर्थ, व्रत आदि में समाप्त कर दी, कंचन-कामिनी की ओर देखा तक नहीं, शास्त्रों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया है तथा वेद-विधि के मार्ग से चलकर शरीर को काष्ठ की भाँति जड़ बना लिया है परन्तु इतना होने पर भी वह कच्चा है। वास्तविक पक्वता उसमें नहीं आई।[2] गीता में भी वेदों को त्रिगुण कहा गया है तथा अर्जुन को निस्त्रैगुण्य होने का आदेश दिया गया है। त्रिगुणमयी समस्त साधना माया का कार्य है।

हिन्दू समाज में प्रचलित इस प्रकार की आडम्बरपूर्ण मायामयी पूजा-पद्धति की नि:सारता समझाते हुए कबीर ने कहा है—मालिन पूजा के लिए पत्र-पुष्प तोडती है। वह नहीं जानती कि उस पत्ती-पत्ती में जीव है परन्तु जिस मूर्ति को अर्पित करने के लिए वह उन्हें तोड़ती है, वह मूर्ति निर्जीव है। विश्वास न हो तो देखलो मूर्तिकार मूर्ति को पैर से दाबकर उसकी गढाई करता है। यदि उसमें कोई शक्ति होती, तो अपने वक्ष पर

---

१. माया बैठी राम ह्वै ताकूं लखै न कोइ।
सब जग मानै सत्त करि बड़ो अचभो मोहि।। वानी कबीर, पृ० २१६

२. तो भी कच्चाबे कच्चा वे।
नहीं गुरू का बच्चा।।
दुनियां तजकर खाक लगाई जाकर बैठा बन में।
खेचरि मुद्रा वज्रासन पर ध्यान धरत है मन में। १
गुपत होके परगट होवे जावे मथुरा कासी।
प्राण निकाले सिद्ध भया है सत्य लोक का वासी। २
तीरथ कर कर उमर खोई जोग जुगत में सारी।
धन कामिनि को नजर न लावे जोग कमाया भारी। ३
कुण्डलिनी को खूब चढावे ब्रह्मरंध्र में जावे।
चलता है पानी के ऊपर मुख बोले सो होवे। ४
शास्त्रों में कुछ रहा न बाकी पूरा ज्ञान कमाया।
वेद विधी का मार्ग चालकर तन का लकड़ा कीया। ५
कहे मछेन्द्र सुनो हो गोरख तीनो ऊपर जाना।
कृपा भई जब सतगुरु जी की आप आपको चीन्हा।। ६
वो ही सच्चाबे सच्चाबे वही गुरू का बच्चा।।

पैर रखकर गढ़ने वाले का वह अनिष्ट अवश्य करती।[1] पत्र-पुष्प आदि से मूर्ति का पूजन करके भक्तगण उसे पतित-पावन, भवतारण कह कर संतोष-लाभ करते हैं परन्तु शायद वे नहीं जानते कि यदि पत्थर की मूर्ति में परमेश्वर का वास हो और वह अपार भवसागर को तारने में समर्थ हो तो फिर वह क्षुद्र जल को तैर कर क्यों न पार हो जावे।[2] निर्जीव मूर्ति को विविध प्रकार की भोग-सामग्रियाँ अर्पित की जाती हैं परन्तु पुजारी उनमें से तनिक भी अंश मूर्ति को न देकर सब स्वयं ही ले लेता है।[3] यदि पाषाण-प्रतिमा की पूजा करने से परमात्मा का मिलन संभव है, तो पाषाणों के अपार भण्डार पर्वत की पूजा से महत्तर फल की प्राप्ति होनी चाहिए, जैसा कि नहीं होता। इसी कारण श्रेयस्कर तो यह है कि पत्थर की मूर्ति के स्थान पर पत्थर की चक्की की पूजा की जाय जिससे आटा पीसकर प्राणियों की उदर-पूर्ति होती है, मूर्ति से तो किसी कार्य की सिद्धि नहीं होती। वह पूर्णतया निष्प्रयोजन है।[4] इस विचार के अक्षरशः दर्शन हमे मलूकदास में भी होते हैं।[5] इस प्रकार के माया-जाल मे एक दो नहीं, समस्त संसार भूला हुआ है।[6] संसार में भेड़ियाधसान की स्थिति चल रही है। असत्य एव मिथ्या मार्ग में चलकर चाहे सब विनष्ट ही हो जाय पर इसकी उन्हें किंचित मात्र भी चिन्ता नही।[7]

मनुष्य यह भूल जाता है कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश एक ही अनन्त सत्ता के प्रतीक हैं। मनुष्य इनकी पृथक्-पृथक् सेवा आराधना करता है, वह उसका अज्ञान है। विभिन्नता की यह भावना भी माया का ही कार्य है।[8] परमात्मस्वरूप आत्मा को यदि मनुष्य नहीं पहचानता तो निरन्तर साधना करने, नग्न रहने अथवा चर्म-धारण करने से कोई लाभ नहीं।

---

१. भूली मालिनी हे गोब्यद, जागतौ जगदेव, तूं करै किसकी सेव ।।
भूली मालिनी पाती तोड़ै पाती पाती जीव।
जा मूरति कौं पाती तोड़ै सो मूरति निरजीव।
टांचणहारै टांचियां दे छेती ऊपरि पाव।
जो तूं मूरत सकल है तो घड़णहारे को खाव। १९८ — कबीर, क० ग्र०, पृ० १५५

२. पाती तोड़ पूजि रचावै तारन तरन कहै रे।
मूरति माहि बसै परमेसुर तो पानी माहि तिरैरे ।। — बानी, पृ० २२

३. लाडू लावण लापसी पूजा चढ़ै अपार।
पूजि पुजारी ले गया दे मूरति कै मुहि छार ।।१९८ — कबीर, क० ग्र०, पृ० १५५

४. पाहन पूजे हरि मिलै तो मैं पूजूं पहार।
ता तें ये चाकी भली पीसि खाय संसार ।।५ — कबीर, सं० बा०सं० भा० १, पृ० ६२

५. देवल पूजै कि देवता की पूजै पाहाड़।
पूजन को जाँता भला जो पीस खाय संसार ।।३ — मलूकदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १०४

६. एक न भूला दोइ न भूला भूला सब संसारा ।।१९८ — कबीर क० ग्र०, पृ० १५५

७. ऐसी गति संसार की ज्यों गाडर की ठाट।
एक पड़ा जेहि गाड़ में सबै जाहिं तेहि बाट ।।३३ — कबीर, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ११

८. पाती ब्रह्मा पुहुपे विष्णु फूल फल महादेव।
तीन देवौं एक मूरति करै किसकी सेव ।।१९८ — कबीर, क० ग्र०, पृ० १५५

यदि केवल नग्न रहने से मुक्ति मिल जाय तो काननचारी सभी पशु जो नग्न ही रहते हैं, जीवन-मुक्त हो जायें। यदि बिन्दु धारण करने मात्र से मुक्ति-लाभ हो तो जलाशयों को सर्वप्रथम परमगति प्राप्त होनी चाहिए क्योंकि वे अगणित जल-बिन्दुओं के आगार हैं। यदि पढ़ना-गुनना ही मुक्ति-प्राप्ति का साधन माना जाय, तो वह भी ठीक नही। केवल पढ़ना-गुनना भी अहंकार का वर्धक होता है।[१] उससे मुक्ति तो होती नही, अधबीच डूबने का भय अवश्य रहता है।[२] यदि मूड मुड़ाने से सिद्धि[३] हो तो भेड़ों को अवश्य ही स्वर्ग मिलना चाहिए क्योंकि उनका केवल सिर ही नहीं सम्पूर्ण शरीर बार-बार मूड़ा जाता है।[४] भला बेचारे केश कौन-सा अपराध करते है जिसके प्रायश्चित्त में भक्तजन उन्हें बार-बार मुड़ाते हैं। वास्तव में मूड़ना चाहिए उन्हें अपना मन जो सदैव विषय-विकारों से पूरित रहता है तथा जिसके मूड़ने, निर्विकार होने से परमगति की प्राप्ति हो सकती है।[५]

साधना के मार्ग में तीर्थ, व्रत, मूर्ति-पूजा, जप, तप, मूड़ मुड़ाना आदि कर्मकाण्ड जिस प्रकार महत्त्वपूर्ण समझे जाते है उसी प्रकार स्नान पर भी ज़ोर दिया जाता है। हिन्दी सन्त कवियों ने इन सब बाह्याडम्बरों की निःसारता पर भरपूर प्रकाश डाला है। यह सब क्रियाएँ परमात्मा-प्राप्ति के वास्तविक साधन नही हैं। शरीर को जल से धोने, स्नान करने से कुछ नही होता। विष्णु-ध्यानरूपी स्नान से ही शारीरिक तथा मानसिक पवित्रता होती है। सत्य के बिना हृदय परमात्म-रस से अभिषिक्त नही हो सकता। जीव माया के जजाल में फँसा है, उसे अपनी सुधि नही है। कोई शरीर पर कितना ही जल क्यो न डालता रहे परन्तु वह अभ्यन्तर को भेदकर आन्तरिक पवित्रता का कारण नही होता। यथार्थ में, निष्कर्म नदी मे ज्ञानरूपी जल मे शून्य मण्डल मे सयमरूपी घाट पर जहाँ पर पश्चिम-वाहिनी पवित्र गगा की भाँति इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना उपस्थित है, वहाँ स्नान करे तभी समस्त कलुष दूर होकर पवित्रता प्राप्त होती है।[६] इस प्रकार के अभ्यन्तर स्नान का प्रसग महाभारत में भी एक स्थान पर आया है:—

---

१. धन मद बल मद मान मद विद्या ने मद हद।

२. का नागें का बाधे चाम जो नहि चीन्हसि आतमराम।
नांगें फिरें जोग जे होई बन का मृग मुकति गया कोई।
ब्यद राखि जे खेलै है भाई तो घुसरै कौण परंम गति पाई।
पढ़ें गुनें उपजै अहकारा अधधर डूबे वार न पारा ।।१३२ — क० ग्र०, पृ० १३०

३. तीरथ गये मुड़ाये सिद्धि।

४. मूड़ मुडाये हरि मिलै सब कोई लेय मुड़ाय।
बार बार के मूडते भेड न बैकुण्ठ जाय।।

५. केसन कहा बिगाड़िया जो मूड़ो सौ बार।
मन को क्यों नहिं मूड़िये जामे भरे विकार।। — क० व०, पृ० ३६

६. विष्णु ध्यान सनान करि रे बाहरि अग न धोइ रे।
साच बिन सीझसि नही कोई ग्यान दृष्टै जोइ रे।
जंजाल मांहैं जीव राखै सुधि नही सरीर रे।
अभिअंतरि भेदै नहीं कांई बाहरि न्हावै नीर रे।

आत्मा-नदी संयम-पुण्यतीर्थे सत्योदका शीलतटादयोर्मि ।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डु-पुत्र न वारिणां शुध्यति चान्तरात्मा ॥

आत्मारूपी नदी में, सयमरूपी पुण्य तीर्थ पर, सत्यरूपी जल से शीलो की तट वाली भूमि पर स्नान करने को कहा गया है, जल से अन्तरात्मा की शुद्धि नहीं होती। कबीर ने आत्मा नदी के स्थान पर विष्णु-ध्यानरूपी स्नान को महत्त्व प्रदान किया है। तथा योग की कुछ क्रियाओं को भी अंत शुद्धि में स्थान दिया है। वास्तव मे प्रयत्न दोनों का बाह्य शारीरिक स्नान की गौणता तथा आतरिक पवित्रता की श्रेष्ठता प्रतिपादन करना ही है। योगी, यती, तपी, संन्यासी सब काशीवास करते हुए दिन में तीन बार स्नान करते हैं परन्तु जिस शरीर को वे बार-बार धोते है उसके अंतर की ओर उनका ध्यान नहीं रहता। मदिरो में भटकते घूमते हैं परन्तु हरि-नामस्मरण नहीं करते। वे लोग काशी इसलिए नहीं छोडते कि परमात्मा की सेवा पूरी तरह उनमे नही बन पड़ती। वे सेवा-चोर हैं तथा उन्हें काशीवास से ही मुक्ति की आशा है, परमात्मा की भक्ति मे नहीं। कबीरदास नरक में जाने को तैयार है परन्तु काशी मे शरीर त्यागकर मुक्ति-लाभ के लिए राजी नही क्योंकि उससे परमात्मा के यश को ठेस लगेगी और काशी का ही यश होगा।[1]

शारीरिक स्नान के द्वारा पवित्रता को सत रैदास ने भी व्यर्थ ही माना है क्योंकि हृदय जो अनेक विकारो से पूर्ण है शारीरिक स्नान के उपरान्त भी अपवित्र ही रहता है।[2] परमात्मा की भक्ति के बिना साधना के अन्य सभी साधनो को तुलसीदास ने भी व्यर्थ माना है। जप, तप, योग, विराग, यज्ञ, दान, दया, दम; इन्द्र, गणेश, महेश आदि देवताओं की सेवा; वेद, शास्त्र, पुराण आदि के अध्ययन मे दुःख की वास्तविक निवृत्ति नहीं होती।[3] विद्याभिमानी मूर्ख पण्डित जन करणीय और अकरणीय, पठनीय और अपठनीय के परिणाम को ध्यान में न रखकर भेद-निरूपण पर विचार नहीं करते। सब कामनाओं की पूर्ति करने

निहकर्म नदी ग्यांन जल सुंनि मंडल मांहि रे।
औधूत जोगी आतमा काई पेखै संजमि न्हाहि रे।
इला पिंगला सुषमना पछिम गंगा बाहिरे।
कहै कबीर कुसमल झड़ै कांई माहिलो अग पखालि रे ॥३८१ — क० ग्र०, पृ० २१८

१ वै क्यूं कासी तजै मुरारी। तेरी सेवा-चोर भये बनवारी ॥
जोगी जती तपी संन्यासी। मठ देवल बसि परसैं कासी ॥
तीन बार जे नित प्रति न्हावै। काया भीतरि खबरि न पावै ॥
देवल देवल फेरी देंही। नाव निरंजन कबहुं न लेही ॥
चरन बिरद कासी कौ न देहू। कहै कबीर भल नरकहि जैहूँ ॥१९० — ह० प्र० क०, पृ० ३२८

२. बाहर उदक पखारिये घट भीतर विविध बिकार।
सुद्ध कवन पर होइबो सुचि कुंजर विधि ब्योहार ॥ — सं० वा० सं० भा० १, पृ० ६६

३. जप, जोग, विराग, महा मख-साधन, दान दया, दम कोटि करै।
मुनि सिद्ध, सुरेस, गनेस, महेस से सेवत जन्म अनेक मरै।
निगमागम, ज्ञान पुरान पढ़ै तपसानल में जुग-पुंज जरै।
मन सों पन रोपि कहै तुलसी रघुनाथ बिना दुख कौन हरै ॥ — तु० ग्र०, पृ० १७६

वाले, राम के नाम को स्वार्थ और परमार्थ दोनों के लिए ही विस्मृत कर देते हैं। वाद-विवाद में फँसकर विषाद उत्पन्न करते हैं तथा तत्त्वबोध की प्राप्ति के स्थान पर अपने तथा दूसरों के हृदय को संतापित करते हैं। वे पण्डित जन चारों वेद, षट शास्त्र, नव व्याकरण तथा अठारह पुराणों के पाठ को ईंधन के काष्ठ की भाँति फाड़ते हैं—उसके खण्ड-खण्ड करके मनमाने सत्य अथवा असत्य अर्थ लगाते हैं।[1] बहुत-से विद्वानों ने वेद आदि धर्म-ग्रन्थों को मृषा कहा है परन्तु कबीर के दृष्टिकोण से वेद, कुरान आदि असत्य नहीं हैं वरन् असत्य हैं वे लोग जो इनके विषय में उचित विचार नहीं करते। वेद आदि पवित्र धर्म-ग्रंथों के अनुसार ईश्वर सर्वत्र सब में विद्यमान है। यदि ऐसा है तो लोग जीव-हिंसा (जिबह या बलिदान) क्यों करते हैं क्योंकि सभी जीवों मे परमात्मा ही व्याप्त है। वेद-पुराण के अध्ययन मात्र से कोई विद्वान् नहीं बन जाता। गधे पर लदा हुआ चन्दन का बोझ उसे सुवासित या पवित्र नहीं बना पाता। वह भार-वाहक ही बना रहता है। वेदों के अध्ययन का वास्तविक परिणाम यह होना चाहिए कि सर्वत्र सब कुछ राममय ही प्रतीत हो, राम से अन्य कुछ रह ही न जाय। जीव-हिंसा करने वाले भी धार्मिक कहलाते है तो अधार्मिको की क्या स्थिति होगी। ऐसे लोग स्वयं तो त्यागी, तपस्वी, मुनि कहलाने का दम भरते हैं, भला कसाई किसे कहा जाय। जब कि वे वास्तव मे कसाई का ही कार्य (जीव-हिंसा) करते हैं।[2]

दादू का कथन है कि जहाँ रूप, राग, गुण आदि होते है वही माया गमन करती है तथा विद्या-अक्षर-पण्डितों का वही निवास होता है।[3] इस प्रकार वेद-विधि का अनुगमन करने वाले कर्मों के भ्रम में उलझे हुए पण्डित जन मर्यादा के फेर में ही पड़े रहते है, उनसे यथार्थ रूप में हरिस्मरण नही होता।[4] इन पण्डितों को मुक्ति-लाभ नही होना। यदि हृदय निर्मल न हो तो ध्यान लगाने से कोई लाभ नही। यदि केवल ध्यान से ही मुक्ति हो जाती तो संभवतः कोई भी बगुला मुक्त होने से न बचता।[5] इन बगुला-भक्तों की यह स्थिति

---

१. कीबे कहा पढ़िबे को कहा ? फल बूझि न वेद को भेद विचारै।
स्वारथ को परमारथ को कलि कामद राम को नाम बिसारै।
बाद विवाद विषाद बढ़ाइकै छाती पराई औ आपनी जारै।
चारिहु को छहु को नव को दस आठ को पाठ कुकाठ ज्यों फारै।।१०४ — तु० ग्र०, पृ० १८७

२. वेद कतेब कहहु मत झूठे झूठा जो न विचारै।
जो सब मै एकु खुदाइ कहतु हौ तौ क्यों कुकड़ी मारै।
वेद पुराण पढ़त अस पांडे जस खर चन्दन भारा।
वेद पढ़्या का फल यहु पांडे सब घट देखहु रामा।
जीव बधत अरु धरम करत हौ अधरम कहा है भाई।
आपन तो मुनि जन ह्वै बैठे कासों कहौं कसाई।। — कबीर, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ४६

३. रूप राग गुण अँड़सरे जहँ माया तंह जाइ।
विद्या अच्छर पंडिता तहां रहे घर छाइ।।२७ — दादू, भा० १, पृ० ११८

४. दादू बांधे वेद विधि भरम करम उरझाइ।
मरजादा माहै रहै सुमिरिन किया न जाइ।।१५८ — दादू, भा० १, पृ० १३१

५. ध्यान धरें का होत है जे मन नहि निर्मल होइ।
तौ बग सबही उधरैं जे एहि विधि सीझै कोइ।।६ — दादू, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ६६

है कि कोई योग तथा ध्यान में लिप्त है, कोई कुल की मर्यादा पालन करने में दत्तचित्त है, कोई सब देवताओं की उपासना में लगा है, कोई सिद्धियों के लिए कामना करता हुआ उन्हें प्राप्त करता है, कुछ वेद-पुराणों में मस्त हैं, कुछ देश-देशान्तर में भ्रमण करते घूमते हैं, कोई ज्ञानी बनकर भाषण करते हैं, कोई तप के द्वारा नाना प्रकार से शरीर को कष्ट देते हैं तथा कुछ अनन्त जीवन की आशा मे तपस्या करते हुए गुफाओ में निवास करते हैं, कुछ माया में अनुरक्त है परन्तु सत्य मार्ग परमात्मा के नाम में कोई रत नहीं।[1]

समस्त पंथ तथा साधनाएँ माया ही का कार्य हैं। मनुष्य इन्ही प्रतिभासमानों में उलझा हुआ सत्य के निकट नही पहुँच पाता। सत्य मार्ग वही है जो परमात्मा स्वयं अपने भक्त को दिखलाता है अथवा जिस अपार पथ में चलकर आत्मदर्शन होता है उसे ही परमात्मा की प्राप्ति होती है, ससार में कोई हिन्दू है, कोई मुसलमान तथा कोई किसी अन्य मत का अनुयायी है। कोई सूफी, कोई सेवडे, तथा कोई सन्यासी, कोई योगी, कोई जंगम, कोई शक्ति पथ के अनुयायी हैं, कोई वेशभूषा को ही बहुत महत्त्व देते हैं परन्तु यह सभी माया के असत्य मार्ग को पकड़े हुए हैं। दादू को ससार का सृजनकर्त्ता परमात्मा ही केवल मान्य है।[2] जिसमे मार्गों या दर्शनो की भिन्नता की भाँति कोई भेद नही है।

सारा ससार यथार्थ आराधना न करके पूजन की विधि व आचार (क्रिया) में व्यस्त है जो कि केवल अविद्या का कार्य है। सत्य काम आत्मा का साक्षात्कार है और उससे मनुष्य विमुख है। समस्त धर्मों का अध्ययन भी हमें इसी परिणाम पर पहुँचा देता है कि सभी धर्म अपने प्रारम्भ में एक सत्य के स्वरूप के साक्षात्कार से उत्पन्न होते हैं। ऋषि, द्रष्टा, पैगम्बर अथवा अवतार सत्य का प्रत्यक्ष करता है तथा उसी को प्राप्त करने के लिए ज्ञान और विधि प्रदान करता है। कालान्तर में धर्म का प्राण—मानव द्वारा सत्य का साक्षात्कार—उससे निकल जाता है, केवल धर्म-प्रवर्तक द्वारा सम्पादित अथवा उपदिष्ट जीवन-यापन की विधियाँ शेष रह जाती हैं। उन्ही का पालन करना मात्र किसी धर्म का स्वरूप

---

१. केई जोग ध्यान गहि रहिया केई कुल के मारग बहिया।
केई सकल देव कौं ध्यावैं केई रिधि सिधि चाहे पावैं।
केई वेद पुरानां मानै केई माया के संगि राते।
केई देस दिसन्तर डोलैं केई ज्ञानी है बहु बोलैं।
केई काया कसैं अपारा केई मरैं खड़ग की धारा।
केई अनंत जीवन की आसा केई करैं गुफा में बासा।।३०८ दादू, भा० २, पृ० १३१

२. मैं पंथि एक अपार के मन और न भावै।
सोई पंथि पावै पीव का जिस आप लखावै।
को पंथि हिन्दू तुरक के को काहू राता।
को पंथि सोफी सेवड़े को सन्यासी माता।
को पंथि जोगी जंगमा को शक्ति पंथ धावै।
को पंथि कमड़े कापड़ी को बहुत मनावै।
को पंथि काहू के चलै मैं और न जानौं।
दादू जिन जग सिरजिया ताही कौ मानौं।।१९८ दादू, भा० २, पृ० ८४

रह जाता है। किसी धर्म का अनुयायी होने से आजकल यही समझा जाता है कि वह व्यक्ति किसी विशेष अवतार, पैगम्बर अथवा धर्म-ग्रन्थ का अनुयायी है। उसके धार्मिक तथा सामाजिक संस्कारों की रीति-नीति कुछ विशेष है। एक क्षण के लिए भी मनुष्य यह नहीं सोचता कि सत्य का जो साक्षात्कार उस आदि प्रवर्तक ने किया था तथा जिस तत्कालीन प्रचलित असत्य को दूर करने का उसने प्रयत्न किया था उस दिशा में वह कोई कार्य कर भी रहा है या नहीं। धर्म से सम्बन्धित यह सब धारणाएँ तथा क्रियाएँ अविद्या का ही कार्य हैं।

परमात्मा की खोज कही अन्यत्र नहीं करनी पड़ती। वह स्वयं सबके हृदय में, घट में निवास करता है। अज्ञानवश उसे कोई प्रयाग में ढूंढता फिरता है, कोई काशी में तथा बहुत लोग निर्जन स्थानों में झख मारते घूमते है। अपने हृदयस्थ परमात्मा को नही खोजते।[1] वह सर्वव्यापक है। हाथी, चींटी, पशु, मनुष्य सब मे एक ही परमात्मा है। परमात्मा के समर्पण के लिए पशु का गला काटकर परमात्मा का ही गला काटते है तथा अपने को कृत-कृत्य समझते हैं।[2] क्रिया, कर्म, आचार सब भ्रम है तथा यही लौकिक मायाजाल है। अज्ञानान्ध मनुष्य सत्य और असत्य का भेद नही देख पाता।[3] दुनिया मदिर में मस्तक झुकाने जाती है परन्तु वह नही जानती कि परमात्मा का निवास हृदय में ही है तथा उसी की आराधना करनी चाहिए। मदिर में जाने की कोई आवश्यकता नही।[4] युग बीत गये भक्त जन माला फेरते रहे परन्तु उनके मन के विकार दूर न हुए इसीलिए हाथ की माला त्यागकर मन की माला फेरने अर्थात् मन को निर्विकार बनाकर परमात्मा का स्मरण करने के लिए कहा गया है।[5] लौकिक प्रथाओ मे बँधकर कर्म करना अथवा आराधना या धर्म का प्रतिपालन करना भ्रम है। आचार-पद्धति के अनुकूल कार्य करने वाले काजी और मुल्ला दोनों माया मे पड़े हुए है। वे हिंसा मे रत हृदय से सत्य धर्म भूले हुए है।[6] सारा ससार अधे की भाँति है। अपने निकटवर्ती वस्तु को नही देखता परन्तु दीपक जलाकर खोजने का उपक्रम करता है जब कि अधे के लिए दीपक का कोई प्रयोजन नही होता। इस प्रकार अध-

---

१. राम राय घट मे बसैं ढूंढत फिरै उजाड़।
कोई काशी कोइ प्राग मे बहुत फिरैं झखमार ॥७ — मलूकदास, स० बा० सं० भा० १, पृ० १०५

२. कुंजर चींटी पसू नर सब मे साहिब एक।
काटै गला खुदाय का करै सूरमालेख ॥२ — मलूकदास, स० बा० सं० भा० १, पृ० १०३

३. किरिया करम अचार भरम है यही जगत का फंदा।
माया जाल में बाधि अंडाया क्या जानै नर अंधा ॥१० — मलूकदास, भा० २, पृ० २०

४. कबीर दुनियां देहुरै सीस नवांवण जाइ।
हिरदा भीतर हरि बसै तु ताही सौं ल्यौ लाइ ॥११॥४३६॥ — क० ग्र०, पृ० ४४

५. माला फेरत जुग भया पाया न मन का फेर।
करका मनका छाड़ि दे मन का मनका फेर ॥८ — क० ग्र०, पृ० ४५

६. काजी मुलां भ्रमिया चल्या दुनी के साथि।
दिल थैं दीन बिसारिया करद लई जब हाथि ॥७ — क० ग्र०, पृ० ४२

कार में फँसे हुए एक दो प्राणी नही हैं, सभी मनुष्य पेट के धंधे में पड़े हुए इसी अंधकार में भटक रहे हैं।[1]

मनुष्य मिथ्याभिमान में इस प्रकार फँसा हुआ है कि यदि कोई तत्त्वदर्शी कुछ सार-पूर्ण कथन करता है तो उसको न कोई जानता है न मानता ही है। सभी अपने-अपने मार्ग के पथिक है और "मै", "मेरी" मे इस शरीर को नष्ट करके भी तत्त्व को नही समझते।[2] प्रत्येक जीव के अन्तस्तल में परमात्मा की ज्योति जगमगा रही है परन्तु अविद्या से ग्रस्त मनुष्य उस सहज प्रकाश का साक्षात्कार नही कर पाते। यदि वह हृदयस्थ प्रकाश दृष्टिगोचर हो जाय तो आवागमन से मुक्ति प्राप्त हो जाय। वह ज्ञान-प्रकाश किसी क्रिया-कर्म अथवा कथन-श्रवण से प्राप्तव्य नहीं। योग में लीन व्यक्ति परमात्मा के साक्षात्कार के बिना उसे अति दूर समझते हैं। यद्यपि वह परमात्मा अत्यन्त समीप, प्रत्येक श्वास में स्थित है फिर भी उसे प्राप्त करने के लिए खजूर पर चढ़ने के प्रयत्न की भाँति योग-साधना आदि में व्यर्थ का श्रम करते है। ब्राह्मण घर-घर दीक्षा देता घूमता है, पत्थर की मूर्ति की पूजा का विधान करता है परन्तु इस प्रकार वह केवल घर घालता ही फिरता है, सत्य-शिक्षा का प्रयोजन तनिक भी हल नही होता। परमात्मा तो निकट ही है उसके लिए पत्थर की पूजा की कोई आवश्यकता नही। वह योग, जप, पुण्य, पाप किसी से प्राप्त होने वाला नही है।[3] यह सभी कार्य माया

---

१. या जग अंधा मैं केहि समुझावौं।
इक दुइ होयँ उन्हें समुझावौं सब ही भुलाना पेट के धंधा।
पानी कै घोड़ा पवन असवरवा ढरकि पैर जस ओस के बुन्दा।
गहिरा नदिया अगम बहै धरवा खेवनहारा पडिगा फन्दा।
घर की वस्तु निकट नहि आवत दियना बारि के ढूंढत अंधा। सं० बा० सं० भा० २, पृ० २५

२. कहूं रे जे कहिबे का होइ।
नां को जांनैं नां को मांनैं तार्थे अचिरज मोहि।
अपनैं अपनैं रग के राजा मांनत नाही कोइ।
अति अभिमांन लोभ के घाले चले अपनपौ खोइ।
मैं मेरा करि यहु तन खोयौ समझत नही गँवार।
भौजलि अधफर थाकि रहे हैं बूडे बहुत अपार।।३१८ क० ग्रं०, पृ० १९६

३. घर घर दीपक बरै लखै नहि अन्ध है।
लखत लखत लखि परै कटै जम फन्द है।
कहन सुनन कछु नाहि नहीं कछु करन है।
जीते जी मरि रहै बहुरि नहीं मरन है।
जोगी पड़े वियोग कहै घर दूर है।
पासहि बसत हजूर तू चढ़त खजूर है।
बाम्हन दिच्छा देत घर घर घालि है।
मूर सजीवन पास तू पाहन पालि है।
ऐसन साहब कबीर सलोना आप है।
नहीं जोग नहीं जाप पुन्न नहीं पाप है।२१ ह० प्र० क०, पृ० २५१

या अविद्या के हैं, आत्मा के नहीं। तुलसीदास ने इसी प्रकार पेट के धंधे के लिए देश-देश के राजाओं से धन की याचना करने को गर्हित कहा है। उन्होंने अनेक देवताओं की सेवा तथा श्मशान आदि में तांत्रिक साधनाओं को भी माया का कार्य माना है। वे मनुष्य के विश्वास की अविद्या-जनित उस स्थिति का उल्लेख करते हैं जिसके वश वह मुक्ति-प्राप्ति के लिए प्रयाग में शरीर-त्याग करता है अथवा पुनर्जन्म में धनवान् होने की लालसा से कुरुक्षेत्र में दान करता है।[1]

बगुले की भाँति बाहर से उज्ज्वल दिखाई पड़ने वाले परन्तु अन्तर में कपट रखने वाले दुरंगे दुर्जनों की अपेक्षा एक ही रंग वाले कुटिल अधिक भले होते हैं क्योंकि वह जो कुछ हैं अपने सत्य रूप में हैं।[2] उनसे भ्रम में पड़ने की आशंका नहीं रहती। वेष का स्वाग बनाकर भ्रम में रखने वाले विनाश को प्राप्त होते हैं।[3] ज्ञानी अपने ज्ञान के गर्व के कारण अपने को ही कर्त्ता मान बैठते हैं। परमात्मा की शक्ति वह अपने में ही अन्तर्हित देखते हैं। इन ज्ञानियों की अपेक्षा वे सांसारिक मूर्ख जन श्रेष्ठ हैं जो परमात्मा के अस्तित्व को मानते हैं तथा उस शाश्वत शक्ति से भयभीत रहने के कारण असत्य-मार्ग से बचने का प्रयत्न करते हैं।[4] गरीबदास के मतानुसार संसार में आकर यदि सुआरूपी जीव ने शाल्मली वृक्षरूपी लौकिक मायाजाल का ही सेवन किया तो उसका जीवन ही व्यर्थ हुआ।[5] भक्त का वेष बनाने वाले परन्तु परमात्मा से प्रीति न करने वाले को पलटूदास वेश्या की श्रेणी में रखते हैं जो दूसरे का धन हरण करने के लिए स्वशरीर विक्रय कर देती है, प्रीति के लिए अपना शरीर अर्पित नहीं करती।[6]

माया इस प्रकार अनिर्वचनीय है कि उसका वर्णन करने में कवि जन भी अपने को असमर्थ पाते हैं। जगजीवनदास को अपने में उतनी बुद्धि नहीं दिखाई पड़ती कि वह कुछ कह सकें। बन्दर के नाच में मदारी हाथ में रस्सी लेकर उसमें बन्दर को बाँधकर नचाता

---

१. काहे को अनेक देव सेवत जागै मसान
खोवत अपान सठ होत हठि प्रेत रे।
काहे को उपाय कोटि करत मरत धाय।
जांचत नरेस देस देस के अचेत रे।
तुलसी प्रतीति बिनु त्यागै तैं प्रयाग तनु,
धन ही के हेतु दान देत कुरुखेत रे।।१६२ — तु० ग्रं०, पृ० २००

२. बाहर से उज्वल दसा भीतर मैला अंग।
ता सेती कौवा भला तन मन एकहि रंग। — दरिया बिहार, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १३२

३. बूड़े भेख अलेख स्वांग धरि कालबली धरि खाय। — दरिया, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १२५

४. ज्ञानी मूल गँवाइया आपण भये करता।
तार्थे संसारी भला मन मैं रहे डरता ।।२७।।४०४।। — क० ग्रं०, पृ० ४१

५. संसारी में आन करि कहा कियो रे मूढ़।
सुआ सेमर सेइया लागे डोंबे टूट ।।१० — गरीबदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १८६

६. भेष बनावै भक्त का नाहिं राम से नेह।
पलटू पर-धन हरन को बिस्वा बेचै देह ।।४ — पलटू, सं० बा० सं० भा० १, पृ० २१६

है। कठपुतली के नृत्य में सूत्रधार के हाथ में सूत्र रहता है और उसी के संकेत से कठपुतली नाचती है। इस संसार में मनुष्य बिना सूत्रधार के ही भ्रमित होकर नृत्य कर रहे हैं। परमात्मा सूत्रधार के इंगित पर नाचने से तो मनुष्य का कल्याण ही होता। संभवतः वह सूत्र ही खण्डित हो गया है जो कि सूत्रधार और कठपुतली के बीच में सम्बन्ध स्थित रखता है। अपने अहं भाव के कारण वे अवगुणों के शिकार होते हैं परन्तु अपने अवगुणों का दोष मढ़ते हैं भगवान् के मत्थे। यही संसार की रीति है।[1] तुलसीदास भी इस विचित्र सृष्टि-रचना को देखकर अत्यन्त आश्चर्यचकित होते हैं। भगवान् की विचित्र माया को देखकर कुछ कहते नहीं बन पड़ता, मन में ही उसका अनुभव किया जा सकता है। इस सृष्टि-रचना में शून्य भित्ति पर रंग आदि उपकरणों के बिना ही चित्रों का अंकन हुआ है और उन चित्रो का चितेरा अशरीर है। यह चित्र धोने से नहीं मिटते, (जीव अमर है) केवल भित्ति नष्ट हो जाती है। इतना होने पर भी इन चित्रों को देखकर दुःख ही उत्पन्न होता है। इस संसार के मृगतृष्णा-जल में अत्यन्त भयंकर मकर (अज्ञान) निवास करता है जो मुखहीन होने पर भी उस जलपान के लिए गये हुओं का भक्षण कर लेता है। कोई इसे सत्य कहता है, कोई झूठ तथा कोई इसे सत्यासत्य दोनो ही मानता है।[2]

मनुष्य अपने आपको कर्त्ता मानता है। इसी अविद्या-जनित भावना के कारण कर्तृत्व के परिणाम का भोक्ता भी बनता है परन्तु यथार्थ में मनुष्य कर्त्ता नही है। मनुष्य की स्थिति उस श्वान की भाँति है जो कि रथ के नीचे केवल चलते रहने के कारण श्रम का अनुभव करता है और यह समझता है कि रथ का सम्पूर्ण भार वही वहन कर रहा है।[3] तुलसीदास ने भी कर्तृत्व मे जीव को विशेष स्थान नहीं दिया है। माया के वश मनुष्य ईश्वर की प्रेरणा से भले अथवा बुरे कार्यों का कर्त्ता होता है। वे किसी मनुष्य को ज्ञानी

---

१. साहिब अजब कुदरत तोर।
देखि गति कहि जात नाही केतिक मति है मोर।
नाचत सब कोउ काछि काछनो भ्रमत फिरत बिन डोर।
होत औगुन आप तें सब देत साहिब खोर।
कौल करि जग पठै दीन्ह्यो तौन डारयो तोर।
करत कपट संत सेती कहै मोरी मोर।
ऐसो जग की रीति आहै कहा कहिये टेर ।।१० — सं० बा० सं० भा० २, पृ० १३८

२. केशव कहि न जाय का कहिए।
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहि मनै रहिए।
सून्य भीति पर चित्र रंग नहि तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोए मिटै न मरै भीति-दुख पाइय यह तनु हेरे।
रविकर नीर बसइ अति दारुण मकर रूप तेहि माहीं।
बदनहीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं।
कोऊ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल करि मानै ।।१११ — तु० ग्र०, पृ० ४२६

३. सुन्दर तेरो मति गई समझत नहीं लगार।
कूकर रथ नीचे चलै हूं खैचत हौं भार ।।३ — सं० बा० सं० भा० १, पृ० ११०

अथवा मूढ़ नहीं मानते। जिसको जब जैसा परमात्मा करना चाहता है वह उसी क्षण वैसा हो जाता है।[1] पलटू भी अपने को न कर्त्ता मानते हैं, न कर्तृत्व शक्ति ही मानते हैं। उनके अनुसार स्वयं परमात्मा अपनी माया के द्वारा कार्य करता है। कर्तृत्व का आरोप केवल अज्ञानवश ही जीव पर किया जाता है।[2]

तुलसीदास परमात्मा की माया को बुद्धिगम्य नहीं मानते। स्वप्न की अवस्था में मनुष्य जिस प्रकार स्वयं अपने भावजगत् का निर्माण करता है परन्तु वह दृष्ट जगत् की भाँति सत्य नहीं होता तथा निद्रा समाप्त होते ही विनष्ट हो जाता है उसी प्रकार इस तथाकथित संसार की भी स्थिति है जो कि माया या अविद्या-पर्यन्त विद्यमान रहता है। अविद्या का आवरण मिटते ही उसका अस्तित्व शेष नही रह जाता।[3] अपरम्पार माया अलक्ष है जिसका कार्य, जिसका स्वरूप दृष्टिगोचर होना संभव नही है, फिर उसका वर्णन किस प्रकार से हो सकता है। इसीलिए जगजीवनदास इस प्रकार की अनिर्वचनीय माया से इस लोक के झूले में अपने को न झुलाने के लिए प्रार्थना करते हैं।[4]

अब तक हमने हिन्दी कवियों द्वारा प्रयुक्त माया के विभिन्न अर्थ, स्वरूप, क्षेत्र, परिवार तथा उसकी अनिर्वचनीयता आदि का विवेचन किया। हिन्दी सन्त कवियों पर अपने परवर्ती दर्शनो तथा धारणाओं का प्रभाव तो निश्चित ही था परन्तु माया की धारणा मे उन्होंने कुछ और नवीन जोड़ा। उन्होंने माया का दार्शनिक अर्थ में प्रयुक्त धारणा के रूप में ही प्रयोग नहीं किया वरन् उससे एक वैयक्तिक सम्बन्ध भी माना। परमपिता परमात्मा के सम्बन्ध से वे उसे बहिन आदि तक मानने को प्रस्तुत दिखलाई पड़ते हैं। माया को उन्होंने जिस प्रकार सम्बोधित किया है वह उससे अत्यन्त सान्निध्य के अनुभव द्वारा ही सम्भव हो सकना है। माया का धन-दौलत पुत्र-कलत्र के समुच्चय अथवा पृथक्-पृथक् एक के अर्थ मे प्रयोग भी मध्यकालीन हिन्दी कवियो की ही देन है। माया का धन के अर्थ मे व्यवहार ग्रामीण जनता में सर्वविदित है परन्तु इन कवियों ने साहित्य मे भी इस अर्थ का प्रयोग धडल्ले से किया। माया उन्हें ग्राह्य भी थी और त्याज्य भी; इसीलिए उन्होंने दो प्रकार की माया एक राम को प्राप्त कराने वाली तथा दूसरी नरक ले जाने वाली मानी है।[5] इस प्रकार हिन्दी संत तथा भक्त कवियों ने माया के रहस्यमय स्वरूप का, जिसका उन्होंने प्रत्यक्ष

---

१. बोले बिहसि महेस तब ग्यानी मूढ़ न कोइ।
जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ॥ — तु० रा०, बा० का० १२४ (क)

२. ना मैं किया न करि सकौं साहिब करता मोर।
करत करावत आपु है पलटू पलटू सोर॥ — पलटू, सं० बा० सं० भा० १, पृ० २१७

३. दुखसागर सुखनींद बस, सपने सब करतार।
माया मायानाथ की को जग जाननहार॥ २४५ — तु० ग्र०, पृ० १०३

४. माया बहुत अपरबल अलख तुम्हार बनाउ।
जगजीवन बिनती करै बहुरि न फेरि झुलाउ॥ — जगजीवन, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ११८

५. माया है दुइ भांति की देखो ठोंकि बजाय।
एक मिलावै राम को एक नरक लै जाय॥ — कबीर, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ५८

किया था, मनुष्य के दैनिक जीवन से सम्बन्धित भिन्न-भिन्न उपमाओं तथा रूपकों के द्वारा स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न किया। माया का कोई एक रूप नहीं है न कोई एक अर्थ। कभी वह कुछ कही गई है, कभी कुछ। कहीं-कहीं पर वह दो विरोधाभासों के मध्य में भी दिखाई पड़ती है। परमात्मा से पृथक् परमात्मा को जीव से दूर रखने वाली सृष्टि की संचालिका शक्ति, असीम बलशाली जो कुछ भी दृष्ट है, सब माया ही है। माया के इस रहस्यमय स्वरूप को अवर्णनीय तथा अनिर्वचनीय समझकर संतोष कर लेना ही पर्याप्त है।

चतुर्थ परिच्छेद

प्रवर्त्तक कारण

सामान्य जीवन से अध्यात्म की ओर उन्मुख कराने वाले कौन से प्रवर्त्तक कारण हैं ? जीवन की किन कटु स्थितियों से प्रेरित होकर सत्यान्वेषी साधक सासारिक आकर्षणों एवं प्रलोभनों से विरत होकर भगवत्-प्रेम में प्रवृत्त होता है । क्या संसार का मोह-जाल उसे अपने में लिप्त नहीं रख पाता अथवा उसकी प्रवृत्ति ही उससे दूर रहने की होती है ? वह अपने नित्य के जीवन में घटित जरा, रोग और मृत्यु की अनिवार्यता, बीभत्सता तथा दुःख-मयता को देखकर तिलमिला उठता है और इन्हीं से प्रेरित होकर आध्यात्मिक पथ का पथिक बन जाता है ।

जन्म लेते ही मनुष्य माया से आवृत हो जाता है जैसा कि तुलसीदास ने कहा है—"**भूमि परत भा ढाबर पानी । जिमि जीवहिं माया लपटानी ।**"[1] यह माया मनुष्य को अपने वशीभूत करके नाना नाच नचाया करती है—('**जो माया सब जगहि नचावा ।**') यहाँ पर हमें उन कारणों का अन्वेषण करना अभीष्ट है जो माया का नाश करके तथा उससे मनुष्य को निवृत्ति दिलाकर भक्ति-मार्ग में प्रवृत्त करने वाले हैं । पौराणिक साहित्य में अनेक महान् व्यक्तित्व दृष्टिगत होते है जो किसी घटना विशेष से प्रभावित होकर संसार से विरक्त हो गये और परमार्थ-पथगामी बन गये । बालक ध्रुव को विमाता के कटु-तीक्ष्ण व्यंग ने उस मार्ग का पथिक बना दिया जिस पर चलकर वह स्वय तो मुक्त हो ही गया साथ ही उसे विस्तृत आकाश के मध्य वह शाश्वत पद प्राप्त हुआ जो चिरकाल से मानव का पथ-प्रदर्शक बना चला आ रहा है । भगवान् बुद्ध ने जरा, रोग और मृत्यु से आक्रांत मनुष्यों को देखा । उनके दुःखद अन्त पर सहृदयता से विचार किया फलतः राज्य-सुख, ऐश्वर्य तथा सम्पूर्ण विभव को त्याग कर परिव्राजक हो गये । राज्य-पद की महत्त्वाकांक्षा, नाना भोग-विलासों का प्राचुर्य, सौन्दर्य की साकार मूर्ति गोपा का प्रणय-आकर्षण तथा शिशु राहुल की ममता भी उन्हें उस प्रव्रज्या से विरत नहीं कर सकी । इसी सम्बन्ध में महात्मा भर्तृहरि का निम्न श्लोक भी द्रष्टव्य है :

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता
साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः ।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या
धिक्तां च तं च मदनं च इमां च मां च ।।

भौतिक प्रेम की कुण्ठाओं को देखकर, पश्चात्ताप की ज्वाला में दग्ध होते हुए उन्होंने काम को धिक्कारा, स्वयं को धिक्कारा तथा धिक्कारा अपनी प्रिया को और ससार का त्याग कर परमार्थ का मार्ग अपनाया ।

---

१. तु० रा०, कि० का० १३.३ ।

नित्य ही हमारे सम्मुख जरा, रोग, मृत्यु के भयावह दृश्य उपस्थित होते हैं। जीवन में प्रायः किसी न किसी प्रकार से सभी को अपमान, तिरस्कार आदि सहन करना पड़ता है। प्रेम-प्राप्ति में सफल न होने वालों की संख्या भी कम नहीं है। साधारण जन भी भौतिक वस्तुओं की क्षणभंगुरता, विषयों की निःसारता तथा लौकिक प्रेम-सम्बन्धों की मिथ्यावादिता के विषय में जानता है परन्तु कुछ विरले ही ऐसे होते हैं जो ध्रुव, भगवान् बुद्ध और भर्तृहरि का पदानुसरण करने में समर्थ होते हैं। परमात्मा की एक नित्य शाश्वत, आनन्दमयी सत्ता के प्रति सबका सहज सामान्य विश्वास है परन्तु सहस्रों में एक ही उस परमात्मा की प्राप्ति के लिए अग्रसर होता है। सब कुछ जानते हुए भी हम सांसारिक माया-जाल, भोग-विलास, ऐहिक-सुख में आकण्ठ निमग्न रहते हैं और उसी में परमसुख का अनुभव करते हुए भगवत्-भक्ति की ओर कभी ध्यान नहीं देते।

यहाँ पर एक बात ध्यान देने योग्य है। प्रवर्त्तक परिस्थितियों के अतिरिक्त व्यक्ति की योग्यता, क्षमता एवं सामर्थ्य का अपना विशिष्ट स्थान होता है। महर्षि पातंजलि ने **तीव्र संवेगानामासन्नः** के द्वारा शायद इसी धारणा की पुष्टि की है। सामान्य परिस्थितियों से परिवृत्त, सामान्य वातावरण में सामान्य विश्वासों को वहन करते हुए भी व्यक्ति-विशेष ही अपनी योग्यता के कारण जिज्ञासु साधक और फिर परमज्ञानी भक्त के पद पर आसीन हो जाते हैं। परन्तु साधारण व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं है। सब कुछ समान होते हुए भी भेद होता है केवल पात्र का। प्रस्फुरण (अंकुरण) शक्ति-सम्पन्न बीज भी बिना उपयुक्त भूमि और जलवायु के उग कर वृद्धि को प्राप्त नहीं होता। ठीक इसी प्रकार प्रवर्त्तक परिस्थितियाँ उपस्थित होने पर भी यदि पात्र का मानस-पटल उर्वर नहीं होता, उसमें नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प, कल्पनाएँ, भावनाएँ उद्वेलित नहीं होतीं तो वह साधारण जन की कोटि से ऊपर नहीं उठ सकता।

संसार की नश्वरता से सभी परिचित हैं। प्रत्येक व्यक्ति यह भली-भाँति जानता है कि संसार में कुछ भी स्थायी नहीं है, सबका अंत अवश्यम्भावी है। यह जानते हुए भी कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनका जीवन तटस्थ भाव से एक निश्चित परिधि में ही चला करता है। इसके अतिरिक्त एक श्रेणी ऐसे सन्त-हृदयों की होती है जो पीड़ित-लोक की व्यथा से स्वयं व्यथित होकर उसकी निवृत्ति के लिए भगवत्-प्रेम मार्ग के राही बन जाते हैं। उनके जीवन का उद्देश्य ही होता है **"आप तरहिं अरु औरहिं तारैं"**। एक तीसरी श्रेणी के लोग वे होते हैं जो जीवन के समस्त ऐश्वर्यों को नश्वर जानकर उनका नित्य नवीन उपयोग करने के प्रयत्न में निरन्तर लगे रहते हैं और इस प्रकार वे विषय-भोगों में ही अपनी परमसिद्धि मानते हैं। उनके दृष्टिकोण से तेजी से बीतते हुए जीवन का अधिक से अधिक उपभोग करना जिससे कि एक क्षण भी विलास-सुख से रहित न रह जाय, जीवन का चरमोत्कर्ष है। चार्वाक तथा आधुनिक भौतिकवादी दर्शनों के मूल में यही भावना कार्य करती हुई प्रतीत होती है। वास्तव में नश्वरता, क्षणभंगुरता आदि उपकरण तो निमित्त अथवा सहकारी कारण मात्र हैं। उपादान कारण हैं वे पात्र जो उनसे प्रभावित होते हैं। पात्रों की चित्तवृत्ति के झुकाव

तथा उनकी ग्राहिका-शक्ति के अनुसार एक ही वस्तु उनके लिए विविध प्रकार के फलों की प्रदायिनी होती है। स्वाति की एक बूंद पृथक्-पृथक् पात्रों में पड़कर पृथक्-पृथक् वस्तुओं को उत्पन्न करती है परन्तु इसका कारण वह स्वयं नहीं वरन् उसका कारण है पात्रों की चित्तवृत्ति का झुकाव तथा उनकी ग्राहिका-शक्ति।[1]

जागतिक माया-जाल से दूर हटकर परमार्थ का मार्ग पकड़ने वाले व्यक्तियों की कई कोटियां हैं। कुछ लोग निर्धनता के कारण गृह-त्याग करते हैं, कुछ आलस्य-वश, कुछ क्रोध से अभिभूत होकर—कुछ विरले ही ऐसे होते हैं जो तथ्यातथ्य का विचार करके संसार-त्यागी परम विरागी बनते हैं।[2] इस प्रकरण में हमें इन्हीं 'कोउ एक' के विचारों में सग्रथित भगवत्-भक्ति का उद्रेक कराने वाले निमित्त कारणों का विवेचन करना है। सब प्रकार से महान् व्यक्तित्व सम्पन्न होने पर भी निमित्त कारण के बिना कार्य सम्भव नहीं होता। राइफल में गोली-बारूद सब मसाला भरा होने पर भी गोली चलने के लिए उसके घोड़े का दबाना आवश्यक है। राइफल की शक्ति को कार्यान्वित करने के लिए जो महत्त्व घोडे का है, साधक को अध्यात्म-पथ में अग्रसर कराने के लिए वही महत्त्व प्रवर्त्तक परिस्थितियों का है। घोड़े के दबाने पर जिस मात्रा में तथा जिस प्रकार की बारूद राइफल में होगी उतनी ही तेज तथा दूर की मार वह करेगी। इसी प्रकार प्रवर्त्तक कारणों से उकमाये जाने पर साधक के हृदय में जितनी प्रबल तथा असीम भावनाएं होंगी, उतनी ही शक्तिशालिनी उसकी वाणी होगी तथा उतनी ही दूर तक वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सफल होगी।

प्रसिद्ध है कि महाकवि तुलसीदास को अपनी स्त्री से प्रेरणा प्राप्त हुई थी। भयानक काली रात में स्त्री के प्रेम से आकर्षित तुलसीदास बरसात की उमडती नदी को पार करके जिस समय स्त्री के निकट पहुँचे तो उसके मुख से जो शब्द निकले उन्होंने तुलसी के जीवन में नया मोड़ ला दिया। यदि तुलसी को अस्थिचर्ममय देह के प्रति विराग की प्रेरणा न मिली होती और वह भी उनके निकटतम स्वजन से—जीवन-सगिनी से तो संभवत: उनकी काव्य-प्रतिभा ने अपने प्रकाशन का कोई अन्य मार्ग ग्रहण किया होता। वे प्रतिभावान् महान् व्यक्तित्व-सम्पन्न थे परन्तु निमित्त कारण के बिना कार्य की पूर्ति अन्य ही प्रकार से हुई होती। इसी प्रकार विल्वमगल के भक्ति-मार्ग मे प्रवृत्त होने की कथा भी हमारे यहाँ लोक-प्रचलित है। उन्होंने पर-स्त्री पर आसक्त होकर तथा उसके उपदेश से प्रेरणा ग्रहण करके ग्लानि और पश्चात्ताप-वश अपने रूपासक्त नेत्रो ही को फोड़कर हरिभजन का मार्ग अपनाया था—ऐसा कहा जाता है।

हिन्दी साहित्य मे प्राय: सभी सन्त तथा भक्त कवियों ने आध्यात्मिक जीवन में प्रवृत्त कराने वाली परिस्थितियों पर प्रकाश डाला है। वे प्रवर्त्तक स्थितियाँ हैं—जरा, रोग और

---

१. कदली, सीप, भुजंग-मुख स्वाँति एक गुण तीनि ॥२२　　रहीम रत्नावली, पृ० ३
मुक्ताकर, कपूर कर, चातक जीवन जोय।
येतो बडो रहीम जल, ब्याल बदन विष होय ॥१४७　　रहीम रत्नावली, पृ० १५

२. गह तजैं नर चारि एक निर्धन एक आलसी।
कोउ एक तजहि विचारि बहुतक तजिगे तामसहिं॥

मृत्यु। मानव-शरीर में, रंगीन यौवन के पश्चात् वृद्धावस्था आती है। शरीर के अंग-प्रत्यंग जर्जर हो जाते हैं, सभी कर्मेन्द्रियाँ तथा ज्ञानेन्द्रियाँ शिथिल पड़ जाती हैं। जिस समय बालक तरुण होने लगता है उसकी चित्तवृत्तियाँ विलास-लालसा की ओर अग्रसर होती हैं परन्तु यौवन से जरा की ओर जाने पर सुख-भोग के अनन्तर दुःख और व्यथा का साम्राज्य ही दृष्टिगत होता है। इस अवस्था में आकर ही मनुष्य में जीवन की कटुताओं के प्रति पूर्णतया जागरूक होने की क्षमता उत्पन्न होती है। बचपन तथा युवा काल के व्यस्त जीवन के कारण मनुष्य अनेक कार्य मुख्यतया सुकर्म, वृद्धावस्था में सम्पादित करने के लिए स्थगित कर दिया करता है परन्तु वृद्धावस्था में उन सब कार्यों को पूरा करने की शक्ति तथा सामर्थ्य ही उसमें शेष नहीं रह जाती। यही तथ्य व तत्त्व दूसरों के तथा अपने जीवन में भी दिखाई पड़ता है।

कबीर को वृद्धावस्था की दुखद असहाय दशा को देखकर मर्मान्तिक पीड़ा होती है और इसीलिए वे कहते हैं—बाल्यावस्था बाल्य-क्रीड़ाओं मे व्यतीत हो गई तथा युवावस्था भोग-विलास मे बीत गई। बुढापे के आने के साथ पश्चात्ताप के अतिरिक्त और कुछ हाथ नही लगता। हाथ, पैर तथा सिर शिथिल होकर काँपने लगते हैं, नेत्रों से पानी बहने लगता है तथा जिह्वा से सीधे शब्द भी नही निकलते। ऐसी दशा में युवावस्था में स्थगित कि...र सुकृतों को करने की बात करना भी व्यर्थ ही है। उनके विषय में सोचना उसी प्रकार निरर्थक होता है जिस प्रकार तालाब के सूख जाने पर उससे सिंचाई करने की तैयारी करना, फसल कट जाने के बाद उसकी रक्षा के लिए बाड़ बनाया जाना अथवा घोड़े के चोरी चले जाने के बाद मोरी की रक्षा के लिए व्यग्र रहना।[1]

वृद्धावस्था की दुर्गति का वर्णन कबीर ने अनेक स्थलों पर किया है। बाल्यावस्था और युवावस्था खेल-खेल ही में नष्ट हो जाती है। बुढापा आ जाता है, सिर में कम्प होने लगता है। चलने-फिरने की शक्ति नही रह जाती। शरीर में विविध पीड़ाएँ स्थान ... लेती हैं। इन्द्रियों के शिथिल हो जाने से आँखों से आँसू तथा नासिका से द्रव बहने लगता है और मुख भी दुर्गन्धि से युक्त हो जाता है। कफ और पित्त कण्ठ को अवरुद्ध कर लेते हैं। जीवन की और संसार की सम्पूर्ण आशाएँ छूट जाती है।[2] ऐसी स्थिति में भी मनुष्य को देखकर ईश्वर में लौ क्यो नही लगती।

---

१. बारह बरस बालापन खोयो बीस बरस कछु तप न कियौ।
तीस बरस कै राम न सुमिर्यो फिर पछितान्यो बिरध भयौ।
सूके सरवर पालि बंधावै लुणै खेत हठि बाड़ि करै।
आयो चोर तुरंग मुसि लै गयौ मोरी राखत मुगध फिरै।
सीस चरन कर कँपन लागे नैन नीर अस राल बहै।
जिभ्या बचन सूध नहि निकसै तब सुकरित की बात कहै।२४३ — क० ग्र०, पृ० १७०

२. तरुनापन गइ बीत बुढ़ापा आनि तुलाने।
काँपन लागे सीस चलत दोउ चरन पिराने।
नैन नासिका चूवन लागे मुखतें आवत बास।
कफ पित कंठे घेरि लियो है छुटि गइ घर की आस।।५ — कबीर, सं० बा० सं० भा० २, पृ० २१

भक्त सूर ने भी वृद्धावस्था का यथावत् चित्रण किया है। बचपन आमोद-प्रमोद में बीत जाता है तथा युवाकाल विषय-रस में सराबोर रहता है। जब वृद्धावस्था आती है तब पुत्र-कलत्र सभी सम्बन्धी त्याग देते हैं। अधिक से अधिक निकटवर्ती आत्मीय जन भी वृद्ध से घृणा करने लगते हैं। यही नहीं शरीर का साथ छोड़ कर त्वचा भी झुर्रियों में लटकने लगती है। श्रवण-शक्ति नष्ट हो जाती है। पैरों में बल नहीं रह जाता, नेत्रों से लगातार आँसू बहते ही रहते हैं, बाल सफेद हो जाते हैं तथा कफ कण्ठ को अवरुद्ध कर लेता है। ऐसी दीन दशा में दिन-रात उद्विग्नता ही रहती है। ऐसी दुःखमय अवस्था में वह भगवान् का स्मरण करता है तथा दुःख निवारणार्थ उसकी शरण में जाना चाहता है।[1]

दादू ने भी इसी प्रकार के भावों को व्यक्त करते हुए कहा है : देखते ही देखते मृत्यु का समय आ गया, केश श्वेत हो गये, कानों की सुनने की शक्ति चली गई, नेत्रों की ज्योति नष्ट हो गई तथा स्मरण-शक्ति का भी ह्रास हो गया। इसी प्रकार सम्पूर्ण जीवन बीत जाने पर केवल पश्चात्ताप ही हाथ लगा।[2] काले केशों के क्रमानुसार धूमिल तथा धूमिल से श्वेत हो जाने के विषय में नानक का कथन है—

कलियाँ थीं धउले भये, धउलियों भये सुपैद।
नानक मता मतों दियाँ, उज्जरि गइया खेतु ॥[3]

कवियों ने मानव-शरीर की उपमा फल से दी है। अन्य फलों की अपेक्षा इस फल मे विशेषता है। साधारणतया कच्चे फल खट्टे होते हैं तथा पकने पर मधुर और स्वादिष्ट हो जाते हैं परन्तु मानव शरीररूपी फल में विशेषता है कि वह कच्चे में तो मनोहर लगता है, अधपके होने पर अत्यन्त मधुर होता है परन्तु पकने पर यह कटु हो जाता है।[4] यही इसकी सबसे बड़ी विषमता है। बालक की विनोदपूर्ण, चपल क्रीड़ाएँ अत्यन्त लुभावनी होती हैं, युवावस्था का विषयासक्त व्यक्ति अपने लिए तथा दूसरों के लिए अत्यन्त मधुरता (रस) का विषय होता है परन्तु वृद्धावस्था में वही मनुष्य सब के लिए तथा अपने लिए भी कटु सिद्ध होता है। यही मानव-जीवन की विषमता है।

---

१. बालापन खेलत ही खोयो, जुवा विषय रस माने।
वृद्ध भये सुधि प्रगटी, मो को, दुखित पुकारत तातें।
सुतन तज्यो त्रिय भ्रात तज्यो सब, तन तें तुचा भई न्यारी।
श्रवन न सुनत चरन गति थाको, नैन बहे जलधारी।
पलित केस कफ कण्ठ अब रुँध्यो कल न परै दिन राती।५ सूरदास, सं० वा० सं० भा० २, पृ० ६४

२. देखत ही दिन आइ गये। पलटि केस सब सेत भये।
आई जुरा मीच अरु मरणा। आया काल अबै क्या करणा।
श्रवणौं सुरति गई नैन न सूझै। सुधि बुधि नाठी कह्या न बूझै।
मुख तैं सबद विकल भइ बाणी। जनम गया सब रैनि बिहाणी।
प्राण पुरिस पछितावण लागा। दादू औसर काहे न जागा।२२१ दादू, भा० २, पृ० ६४

३. सं० बा० भा० १, पृ० ६८।२२१

४. कच्चे में नीका लगै गदरै बहुत मिठाय।
एक फल ऐसा है सखी पाकि गये कड़ुवाय ॥

वृद्धावस्था की हीन दशा को भौतिक तथा सामाजिक दोनों दृष्टिकोणों से देखकर मनुष्य भगवत्-भजन में प्रवृत्त होता है। शारीरिक स्वास्थ्य और सौन्दर्य का नष्ट होकर कुरूपता का आ जाना; झुर्रियाँ, श्वेत केश, शिथिल अंग होना; नाक-लार, आँसू आदि बहना; मुख से दुर्गन्ध आना तथा छोटे से छोटे कार्य के लिए भी अशक्त हो जाना आदि भौतिक पक्ष हैं। स्वजनों आदि के द्वारा उपेक्षित होना, तथा सब का घृणापात्र बनकर भारस्वरूप जीवन व्यतीत करना सामाजिक पक्ष है। इन्हीं दोनों पक्षों से प्रेरित होकर मनुष्य अपने दुखमय जीवन से विराम लेकर आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करने के लिए उत्सुक होता है।

वृद्धावस्था का वार्धक्य तथा विविध रोगों का आधिक्य शीघ्र ही मनुष्य को मृत्यु का आमंत्रण देते हैं। जरा की दयनीय दशा की अपेक्षा मरण का हृदय-विदारक दृश्य अधिक वैराग्योत्पादक होता है। ऐसी ही भावना का नाम 'श्मशान वैराग्य' कहा गया है। यह शरीर क्षणभंगुर है, उस पर भी अनेक प्रकार के मलों का भण्डार भी है। जिस शरीर के अन्दर यह जीव निवास करता है उसके नवद्वार मलमूत्र आदि के स्थान हैं। इस शरीर की दो ही गतियाँ हैं—प्रथम तो अग्नि में भस्म होना तथा यदि दाह-क्रिया न हुई तो जीव-जन्तुओं का भक्ष्य होना। इस प्रकार के निकृष्ट तथा बालू के घर की भाँति क्षणिक और नश्वर शरीर को भी देखकर यदि प्राणी सावधान न हो तो उस मन्द-बुद्धि के लिए क्या कहा जाय।[1] शरीर की इस नश्वरता को देखकर अन्यत्र भी कबीर ने कहा है—इस शरीर का शृंगार करने से कोई लाभ नहीं। यह तो जलकर खाक ही हो जायेगा। जिस शरीर को अधिक आकर्षक बनाने के लिए मनुष्य चन्दन आदि सुगधित पदार्थों का लेप करता है वही चिता में काष्ठ के साथ जला दिया जाता है। इस शरीर के सौन्दर्य तथा स्वास्थ्यवर्धन के लिए चाहे जितना प्रयत्न किया जाय परन्तु वह निष्फल ही होगा। अन्ततः इसे भस्म होना पड़ेगा या जीवों का आहार बनेगा। जिस मस्तक में शोभा की वृद्धि के लिए मनुष्य पगड़ी बाँधता है उसी मस्तक से कौवे मांस नोच-नोच कर खाते हैं। इस मिथ्या शरीर के मोह को त्यागकर हरिभक्ति ही मनुष्य का कर्त्तव्य है।[2] इसी प्रकार मलूकदास भी मनुष्य के मिथ्या अहं की ओर इंगित करते हैं—जिस मस्तक पर मनुष्य बड़े यत्न से पगड़ी बाँधकर अपने को अधिक सुन्दर तथा आकर्षक समझता हुआ बड़े गर्व का अनुभव करता है, शरीर के नष्ट

---

१. नर्क दुवार नरक धरि मूँदे तू दुरगंधि को बेढौरे।
जे जारै तौ होइ भसम तन रहित किरम जल खाई।
फूटे नैन हिरदै नहीं सूझै मति एकै नहीं जानी।
माया मोह ममता सूँ बाँध्यो बूडि मुवौ बिन पांनी।
बारू के घरवा में बैठो चेतत नहीं अयाना।
कहै कबीर एक रांम भजन बिन बूडे बहुत सँयानां ।। ३११ — क० ग्र०, पृ० १९३

२. कारनि कौन सँवारै देहा यहु तन जरिबरि ह्वै है खेहा।
चोवा चन्दन चरचत अंगा सो तन जरत काठ कै संगा।
बहुत जतन करि देह मुट्याई अगनि दहै कै जम्बुक खाई।
जा सिरि रचि रचि बाँधत पागा ता सिरि चंच सवारत कागा।
कहि कबीर तन झूठा भाई केवल रांम रहो ल्यौ लाई। २९५ — क० ग्र० पृ० १८८

हो जाने पर काग उसी को अपना भोजन बनाने की तैयारी में चोंच पैनी करते हैं।[1]

प्रभूदास ने मानव-शरीर की इसी क्षणभंगुरता पर बल दिया है। इस शरीर को सुन्दर बनाने के लिए मनुष्य नाना प्रकार के साधन जुटाता है परन्तु अंत में सब व्यर्थ सिद्ध होते हैं। पगड़ी में फूल लगाकर उद्यानों में घूमना व्यर्थ है। आज जो यह मनुष्य विविध हास-विलास से पूर्ण आमोद-प्रमोद में व्यस्त है, वह सब शीघ्र ही समाप्त हो जाने वाला है। उस विषम स्थिति में अपनी चौकड़ी भरना,[2] भूलकर काल के कराल गाल में अनायास ही चला जायगा। दीपक की ज्योतिशिखा तभी तक प्रकाशित रहती है, जब तक उसमें तेल और बत्ती रहती है। जहाँ ये दोनों वस्तुएँ समाप्त हुईं वह प्रकाश सदैव के लिए बुझ जाता है। शरीर से जीव के निकलते ही शीघ्रातिशीघ्र श्मशान ले चलने की तैयारी होने लगती है।[3]

सुन्दरदास के मतानुसार मानव-शरीर वास्तव में मलों तथा अस्वच्छताओं का स्थान ही है। इसका बाह्य सौन्दर्य, ऊपरी तड़क-भड़क आकर्षण का विषय बने रहते हैं। मांस-मज्जा से बने शरीर की नस-नस में रक्त भरा हुआ है। हाथ, पैर, मुख आदि अग जो कि अपने सौन्दर्य के कारण आकर्षण का विषय होते हैं, वास्तव में अस्थियों की खोखली नलि-काएँ मात्र हैं। पेट भी मल-मूत्र आदि का संग्रह-स्थान ही कहा जा सकता है।[4] इसी भाव का वर्णन हमें दादू में भी मिलता है। प्राणी जिस शरीर का रच-रच कर शृंगार करता था, काल-कवलित हो जाने पर वही मिट्टी में पड़ा हुआ है। उसे अपने सुन्दर शरीर में मिट्टी

---

१. गर्ब भुलाने देह के, रचि रचि बाँधे पाग।
सो देही नित देखि के, चोंच सँवारे काग ॥ १. मलूकदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १००

२. चौकड़ी भूलना :—हिरन साधारणतया कुछ दूर भूमि पर सरपट दौड़ता है तथा कुछ दूर बाद चौकड़ी भरता हुआ उछलता हुआ दौड़ता है परन्तु शिकारियों आदि के द्वारा पीछा किये जाने पर बुद्धि खो देता है तथा चौकड़ी द्वारा आगे बढ़ने के बजाय उसी स्थान पर ऊपर उछलता है तथा नीचे गिर पड़ता है और शिकारियों द्वारा मारा जाता है। इसी को चौकड़ी भूलना कहते हैं।

३. क्या तन माजता रे इक दिन मिट्टी में मिल जाना।
छैला बनकर फिरे बाग में धर पगडी में फूल।
लगा झपेटा काल का गया चौकड़ी भूल।
जब लग तेल दिया में बाती जग मग जग मग होय।
चुक गया तेल विनस गई बाती ले चल ले चल होय ॥ प्रभूदास

४. जा सरीर माहि तू अनेक सुख मानि रह्यो,
ताहि तू विचार या में कौन बात भली है।
मेद मज्जा माँस रग रग में रकत भर्यो,
पेट हू पिटारी सी में ठौर ठौर मली है।
हाड़न सूँ भर्यो मुख हाड़न के नैन नाक,
हाथ पाँव सोऊ सब हाड़न की नली है।
सुन्दर कहत याहि देखि जनि भूलै कोई,
भीतर भंगार भरी ऊपर तौ कली है।
सुन्दरदास, सं० बा० सं० भा० २, पृ० १२४

लग जाने की तनिक चिन्ता नहीं है । शरीर का मांस नोचता हुआ काग निकट ही में घूम रहा है परन्तु उसे भगाने वाले का भय नहीं रह गया है । जो शरीर अत्यन्त गर्व और हर्ष का विषय था, उसी ने साथ छोड़ दिया और जीव के साथ न रह सका । ऐसे नश्वर शरीर की क्या प्रशंसा की जाय जो क्षण में ही छिन्न-भिन्न हो जाने वाला है ।[1]

कुसुम-कलिकाओं का जीवन जितना क्षणिक है प्रायः उतना ही क्षणिक मानव-जीवन भी है । कोई नहीं जानता कि डाल पर शोभित होने वाली कोमल कलियों का क्या भविष्य है । वे मलयाचल की शीतल, मन्द, सुगंधित वायु का स्पर्श प्राप्त कर सकेंगी अथवा नहीं । इसी प्रकार मानव-जीवन का समय-असमय में किस क्षण अंत हो जायगा किसी को भी ज्ञात नहीं । जीवन वहन करने वाले श्वास-प्रश्वास किस समय उसका साथ छोड़ दें, कोई नहीं कह सकता । कराल काल मृत्यु का कठोर कुठार लिये हर समय, हर स्थान पर उपस्थित रहता है । कोमल मानव-शरीर किसी समय, किसी स्थिति मे भी उसके वज्र-प्रहार से चकनाचूर हो सकता है । पता नहीं अंतिम समय मे उसकी जिह्वा से हरिनाम निकल सके या नही । जैसा कि पहले कहा जा चुका है, युवावस्था में स्थगित किए हुए सुकृत शारीरिक शिथिलता आदि के कारण वृद्धावस्था में ही सम्पन्न होते हुए नही देखे जाते फिर अन्तिम समय में तो उनके पूर्ण होने के विषय में सोचना ही व्यर्थ है ।[2]

वास्तव में मानव का नश्वर शरीर ममता, मोह, अभिमान का विषय नहीं है । यदि यह ममता का पात्र होता तो जीवान्त हो जाने के बाद भी इससे लगाव बना रहता परन्तु मृत्यु के बाद पल भर भी तो शव को घर में नहीं रहने दिया जाता । यही शरीर जिसका पोषण दूध, दही, शकर, घी आदि पौष्टिक पदार्थों से होता है तथा जिसका शृंगार चन्दन आदि सुगंधित वस्तुओं से किया जाता है, प्राण निकल जाने के बाद काठ के साथ भस्म कर दिया जाता है । कबीर जैसे संत भी यह अनुभव करते हैं कि एक दिन उनकी भी यही दशा होगी और इसीलिए वे जगत् और जीवन के प्रति सावधान हो जाते हैं ।[3] वस्तुतः

---

१. कागा रे करंक परि बोलै, खाइ मास अरु लगहीं डोलै ।
जा तन कौं रचि अधिक सँवारा, सो तन ले माटी में डारा ।
जा तन देखि अधिक नर फूले, सो तन छाडि चल्या रे भूले ।
जा तन देखि मन में गरबाना, मिल गया माटी तजि अभिमाना ।
दादू तन की कहा बड़ाई, निमिख माहि माटी मिलि जाई ।। दादू, सं० बा० सं०भा० २, पृ० ९३

२. छण भंगुर जोवन की कलियाँ कल प्रात को जानै खिली न खिली ।
मलयाचल को शुचि सीतल मन्द सुगन्ध समीर मिली न मिली ।
कलि काल कुठार लिये फिरता तनु नम्र है चोट झिली न झिली ।
करि ले हरि नाम अरी रसना फिर अंत समै पै हिली न हिली ।। तुलसी

३. झूठे तन कौं कहा रखइये मरिये तौ पल भरि रहण न पइये ।
षीर खाड घृतप्यंड सँवारा, प्रान गयें ले बाहरि जारा ।
चोवा चन्दन चरचत अंगा, सो तन जरै काठ के संगा ।
दास कबीर यहु कीन्ह बिचारा, इक दिन है है हाल हमारा ।। ९३ क० ग्र० पृ० ११७

मनुष्य व्यर्थ ही शरीर को अमर समझता है। वह कुछ कार्य करता है तथा बहुत-सा करने की योजना बनाता है—यह न सोचता हुआ कि मरण भी ध्रुव निश्चित है। जलबिन्दु की भाँति इस संसार की स्थिति है जिसकी उत्पत्ति तथा नाश होने में विलम्ब नहीं लगता। यह पंच-तत्त्व का समूह ही शरीर है।[1]

कागज के पुतले के सदृश क्षणभंगुर मानव का अंत सहज ही में हो जाता है। फिर भी वह गर्व के वशीभूत होकर हवा मे ही विचरण किया करता है।[2]

कबीर ने इस शरीर को पानी का बुदबुदा कहा है जिसके विनाश में क्षण मात्र का भी समय नहीं लगता।[3] प्रातःकालीन नक्षत्रों की भाँति यह शरीर देखते ही देखते अदृश्य हो जायगा।[4] संसार की गति यही है कि जो उगता है वह अस्त होता है, जो फूलता वह कुम्हलाता भी है, जिसका निर्माण होता है एक दिन उसका नाश भी होता है तथा आने वाला निश्चय ही जाता है।[5] यही भाव तुलसी की निम्न पंक्ति में भी द्रष्टव्य है :

धरा को प्रमाण यही तुलसी जो फरा सो झरा जो बरा सो बुताना।

मनुष्य का शरीर तो कच्चे कुंभ की भाँति है ही, उसमें स्थित मन भी अत्यन्त चंचल एवं अस्थिर है। फिर भी प्राणी सदैव स्थिर कामों के करने में संलग्न रहता है जैसे उसे कभी ससार छोड़ना ही नही है। इस प्रकार निर्भय होकर काम करने वाले नश्वर प्राणियों को देख कर काल उनकी मूर्खता पर अट्टहास करता है।[6]

इस शरीररूपी कच्चे घडे में प्राणी बडी ही निश्चिन्तता से निवास करता है परन्तु यह शरीर किंचित् आघात भी सहन करने में समर्थ नहीं है।[7] मृत्यु को कोई रोक नहीं सकता, वह अवश्यम्भावी है। यह शरीर मिट्टी में मिल जायगा, जो उत्पन्न हुआ है वह अवश्य ही

---

१. नर जाणै अमर मेरी काया, घर घर बात दुपहरी छाया।
कछू एक किया कछू एक करणां, मुगध न चेते निहचै मरणां।
ज्यूं जल बूंद तैसा संसारा, उपजत बिनसत लगै न बारा।
पंच पखुरिया एक सरीरा……… १०४ क० ग्र० पृ० १२१

२. कागद को सो पूतरा सहजहि में घुलि जाय।
रहिमन यह अचरज लखो सोऊ खैंचत बाय ।।३५ रहीम, पृ० ४

३. यहु तन जल का बुदबुदा बिनसत नाहीं बार ।।१३ क० ग्र०, पृ० ७३

४. पाणीं केरा बुदबुदा इसी हमारी जाति।
एक दिनां छिप जांहिगे तारे ज्यूँ परभाति ।।१४ क० ग्र०, पृ० ७३

५. जो ऊग्या सो आँथवै फूल्या सो कुम्हिलाइ।
जो चिणियां सो ढहि पड़ै जो आया सो जाइ ।।११ क० ग्र०, पृ० ७३

६. काची काया मन अथिर थिर थिर कांम करंत।
ज्यूँ ज्यूँ नर निधड़क फिरै त्यूँ त्यूँ काल हसंत ।।३० क० ग्र०, पृ० ७६

७. यहु तन काचा कुंभ है लियां फिरै था साथि।
ढबका लागा फूटि गया कछू न आया हाथि ।।२९ क० ग्र०,पृ० २५

नाश को प्राप्त होगा ।[1] सन्त धरमदास मानव-जीवन के अस्तित्व पर एक प्रश्नवाचक चिह्न लगाते हुए कहते हैं—मनुष्य को कितने दिन जीवित रहना है जिसके लिए वह मिथ्या गर्व में मतवाला हो जाता है । कच्चे पात्र के पिंजड़े में रहने वाले पक्षी का कोई ठिकाना नहीं कि किस समय वह उसे तोड़कर उड़ जाय । उसी प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि जीव किस समय शरीर छोड़कर चला जावेगा । कच्ची मृत्तिका से निर्मित घट, जल में डाला गया बताशा, कागज की नाव आदि वस्तुएँ जिस प्रकार अति शीघ्र नष्ट होने वाली तथा बिना किसी प्रयोजन-सिद्धि के क्षणिक अस्तित्व वाली हैं उसी प्रकार मानव-शरीर भी अति शीघ्र नष्ट होने वाला तथा क्षणिक है ।[2]

मनुष्य का शरीर केवल साधन है । यह सिंचाई के उस निर्जीव यंत्र की भाँति है जो सींचने वाले की इच्छानुसार कार्य करता है । सींचने वाले के अभाव में यह मशीन व्यर्थ ही हो जाती है । इसी प्रकार प्राण के अभाव में यह शरीर निष्फल हो जाता है ।[3] वास्तव में शरीर तो केवल वाद्य-यंत्र की भाँति है जिसके तार टूट जाने पर कोई राग नहीं निकलता परन्तु इसमें बेचारा यंत्र क्या करे ? उसको तो वाद्यकार की अपेक्षा होती है । यदि बजाने वाला जीव ही चला गया तो उससे स्वरलहरी कैसे झंकृत हो सकती है ।[4] यहाँ भी शरीर साधन ही है ।

विश्व में मरण की स्थिति किसी एक के सम्मुख नही है । वह सबके लिए समान रूप से प्रस्तुत रहती है । जो आज है सभवतः वह कल न हो । इसीलिए नवीन कोपलों के प्रति अन्योक्ति करते हुए कबीर ने कहा है—डाल से झड़ते हुए पुराने पीले पत्ते नवीन कोपलों से कह रहे हैं कि 'हम तो जा ही रहे हैं परन्तु तुम्हें भी इसी प्रकार समयानुसार जाना होगा । व्यर्थ में बावली न हो यही सब की अंतिम गति है ।'[5] मनुष्य जन्म कही पर ग्रहण करता है, बाल्यावस्था किसी स्थान पर व्यतीत होती है तथा जीवन का अन्त कहीं अन्यत्र होता है ।

---

१. दादू जियरा जाइगा यहु तन माटी होई ।
जे उपज्या सो बिनसि है अमर नहीं कलि कोइ ।।२२ — दादू भा० १, पृ० २१७

२. कहौ केते दिन जियबौ हो का करत गुमान ।
कच्चे बासन का पिंजरा हो जा में पवन समान ।
पंछी का कौन भरोसा हो छिन में उड़ि जान ।
कच्ची माटी कै घड़ुवा हो रस बूँदन सान ।
पानी बीच बतासा हो छिन में गलि जान ।
कागद की नैया बनी डोरी साहिब हाथ ।। — धरमदास, सं० वा० सं० भा० २, पृ० ३८

३. सूकण लागा केवड़ा तूटी अरहट-माल ।
पाणीं की कल आंणता गया ज सीचणहार ।।३५ — क० ग्र०, पृ० ७४

४. कबीर जंत्र न बाजई टूटि गये सब तार ।
जंत्र बिचारा क्या करै चले बजावणहार ।।२० — क० ग्र०, पृ० ७४

५. पाती झड़ती देखके हँसती कोपलिया ।
हम चली तुम भी चलिये धीमी बावलिया ।।

किसी को ज्ञात नहीं कि उसका अस्थिपंजर कहाँ, किस खड्ड में स्थान पावेगा। मनुष्य केवल इतना ही जानता है कि अस्थियाँ काष्ठ की भाँति तथा केश व रोम-समूह घास की भाँति क्षण भर में जलकर राख हो जायेंगे। समस्त संसार की यही गति है और भविष्य में भी ऐसी ही रहेगी—यह विचार कर कबीर जैसे संतों की आत्मा चीत्कार कर उठती है।[1] इसीलिए सुन्दरदास ने मनुष्य को चेतावनी देते हुए कहा है—इस शरीर को दुर्ग की भाँति अभेद्य मानकर इसमें प्राणी सम्राट की भाँति गर्व और ऐश्वर्य से निवास करता है परन्तु उसको यह ज्ञात होना चाहिए कि काल-शत्रु हर समय उसके सिर पर मंडरा रहा है।[2] अस्तु इस प्रकार के जीवन पर गर्व ही क्या करना और शरीर से प्रीति ही किस काम की। यह सब बालू की भित्ति की भाँति एक क्षण में ढह जाने वाला है।[3] यथार्थ में कहने-सुनने, लेने-देने तथा समस्त क्रिया-कलापों का करने वाला प्राण—जीव—है। उसी प्राण के शरीर से निकल जाने के बाद शरीर को मनुष्य न कह कर मिट्टी कहते हैं और उसका स्थान, गृह, उपवन आदि न रहकर श्मशान ही रह जाता है।[4]

यह ससार बकरी की भाँति है जिसे कालरूपी कसाई खंड-खंड करके जिन पंचतत्त्वों से यह निर्मित होता है उन्हीं पाँच तत्त्वो में इसे समाहित कर देता है।[5] इसीलिए जो मानव-शरीर घर का प्रकाश करने वाला दीपक कहलाता है, जीवविहीन हो जाने के पश्चात् घर की अपवित्रता समझकर उसे ही शीघ्रातिशीघ्र बाहर निकालने का प्रयत्न किया जाता है।[6]

मनुष्य को सबसे अधिक प्रिय होता है स्वशरीर। इसके अतिरिक्त उसको सबसे अधिक प्रिय, आकर्षक तथा अपने में आसक्त करने वाले होते हैं—आत्मीयजन, इष्ट-मित्र आदि। मृत्यु के पश्चात् जिस प्रकार जीव और शरीर का सम्बन्ध टूट जाता है उसी प्रकार सभी प्रिय सम्बन्धियों का नाता भी टूट जाता है। मनुष्य के जीवन काल में माँ उसे अपना पुत्र कहती है, बहन भाई कहती है, भाई उसे अपनी सहायक बाहु कहकर अभिन्न अंग

---

१. कँह जाये कँह ऊपने कहा लडाये लाड।
कहा विराजे राज सो कौन खाड़ में हाड।
हाड़ जरै ज्यों लाकड़ी केस जरै ज्यों घास।
जगत पजरता देखि कै कबिरा भया उदास॥

२. काल ग्रसत है बावरे चेतत क्यों न अजान।
सुन्दर काया कोट में होइ रह्यो सुल्तान॥१ — सुन्दरदास, सं० वा० सं० भा० १, पृ० ११०

३. इस जीने का गर्व क्या कहा देह की प्रीति।
बात कहत ढह जात है बारू की सी भीति — मूलकदास, सं० बा० सं० भा०, १, पृ० १०१

४. कहताँ सुनताँ देखताँ लेताँ देताँ प्राण।
दादू सो कतहूँ गया माटी धरी मसाण॥६ — दादू, सं० वा० सं० भा० १, पृ० ८०

५. सब जग छैली काल कसाई कर्द लिये कंठ काटै।
पंच तंत्त की पंच पखंरी खण्ड खण्ड करि बांटै॥ — दादू भा० १, पृ० २१६

६. मंदिर माहि झबूकती दीवा कैसी जोति।
हंस बटाऊ चलि गया काढौ घर की छोति॥१७ — क० ग्रं०, पृ० ७३

मानता है और स्त्री चिर-सहचरी होने का दावा करती है। जीवन का अन्त हो जाने पर सभी उसके लिए शोक प्रकट करते हुए रोते-चिल्लाते हैं परन्तु उसके साथ जाने वाला कोई दिखाई नहीं पड़ता। वह सम्बन्धी जो अत्यन्त प्रिय समझे जाते थे उसे चिता में रखकर होली की भाँति जला देते हैं। सुन्दर शरीर देखते ही देखते राख की ढेरी में परिणत हो जाता है। फिर कोई निकट आने वाला नहीं रह जाता।[1] ये सगे-सम्बन्धी भी कुछ ही काल तक रोते-धोते तथा विलाप करते हैं। जीवित रहने पर घर के अन्दर तक ही सब नाते-रिश्ते हैं—अधिक से अधिक श्मशान तक लोग अनुगमन करते हैं। इसके पश्चात् जीव अकेले ही प्रयाण करता है। सभी लोग यहीं छूट जाते हैं और फिर उनसे मिलने की कोई आशा भी नहीं रह जाती।[2] अन्य सन्तों की भाँति सूरदास भी इस उक्ति से सहमत हैं कि जीविता-वस्था में जो बन्धु-बान्धव अत्यन्त प्रिय होते हैं मृत्यु के पश्चात् वही उस शरीर को घृणित समझते हैं तथा शीघ्र ही उसे घर से बाहर करने का उपक्रम करते हैं कि कहीं वह मृतात्मा भूत होकर घर के लोगों को कष्टित न करने लगे। बड़ी साधनाओं तथा अर्चनाओं के पश्चात् जिस पुत्र की प्राप्ति होती है उससे और कुछ न होकर केवल कपाल-क्रिया ही बन पड़ती है।[3] इस प्रकार के सम्बन्धियों का प्रेम वास्तविक कैसे कहा जा सकता है। नानक ने भी सभी सम्बन्धियों का अस्तित्व जीवन रहते ही माना है। शरीर से प्राण निकलते ही सब लोग उसे प्रेत कहकर पुकारने लगते हैं तथा उसे आधी घड़ी भी घर में नहीं रखते और अन्त्येष्टि के लिए रवाना कर देते है।[4] इस कथन को अधिक स्पष्ट करते हुए सुन्दरदास ने

---

१. मन फूला फूला फिरै जगत में कैसा नाता रे।
माता कहै यह पुत्र हमारा बहन कहै बिर मेरा।
भाई कहै यह भुजा हमारी नारि कहै नर मेरा।
पेट पकरि के माता रोवै बाँह पकरि के भाई।
लपटि झपटि के तिरिया रोवै हंस अकेला जाई।
चार गजी चरगजी मंगाया चढ़ा काठ की घोड़ी।
चारों कोने आग लगाया फूँक दियो जस होरी।
हाड़ जरै जस लाह कड़ी को केस जरै जस घासा।
सोना ऐसी काया जरि गई कोई न आयो पासा॥ सं० बा० सं० भा० २, पृ० ४

२. प्राणीं लाल औसर चल्यौ रे बजाइ।
देहरी लगि तेरी मेहरी सगी रे फलसा लगि सगी माइ।
मरहट लूं सब लोग कुटुम्बी हंस अकेलौ जाइ।
कहां वै लोग कहां पुर पाटण बहुरि न मिलिबौ आइ।३१५ क० ग्र०, पृ० १६४

३. जा दिन मन पंछी उड़ि जैहै।
जिन लोगन सौं नेह करत है तेई देखि घिनैहै।
घर के कहत सकारे काढो भूत होइ धरि खैहै।
जिन पुत्रनहिं बहुत प्रतिपाल्यो देवी देव मनैहै।
तेई लै खोपरी बांस दै सीस फोरि बिखरैहैं।

४. सब कछु जीवत को ब्योहार।
मात-पिता भाई सुत बान्धव अरु पुनि ग्रह की नार।

कहा है—माता-पिता, पत्नी, सुत, बान्धव सभी को मनुष्य अत्यन्त प्रिय होता है तथा वे कभी भी अपने से उसे विलग नहीं करना चाहते परन्तु यह सभी सम्बन्ध तभी तक हैं जब तक मनुष्य जीवित है, बोलता है अथवा बोलने की आशा है। (रोग आदि से ग्रस्त होने के पश्चात्) शरीर में श्वास-प्रश्वास के बन्द होते ही वे सब सम्बन्धी चेतना-शून्य मृत शरीर को शीघ्र ही घर से निकालने के लिए उद्यम करते दिखाई पड़ते हैं।[1]

धरनीदास ने सारे संसार को भली-भाँति खोज कर देखा परन्तु उन्होंने किसी को भी अपना न पाया और न अपने को किसी का पाया।[2]

सहजोबाई का भी यह मत है कि जीवन रहते ही प्राणी के सब लोग सगे हैं, मृत्यु के बाद कोई निकट भी नहीं आता। वे रोते भी हैं तो अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर ही क्योंकि जिनके लिए सब रोते हैं यदि मृत्यु के पश्चात् वे स्वप्न में भी दृष्टिगोचर होते हैं तो हर्ष तथा आनन्द के स्थान पर वे भयभीत ही होते हैं।[3] शरीर के निर्जीव हो जाने पर माता-पिता आदि सब निकटतम सम्बन्धियों के सम्मुख ही मृत शरीर को अग्नि की विकराल ज्वालाओं के बीच महाशयन करा दिया जाता है। वे सब लोग स्वयं उस अन्त्येष्टि-क्रिया में सम्मिलित होते हैं जिसके लिए वे शोकाकुल दिखाई पड़ते हैं।[4] इसीलिए तो दरिया साहब ने कहा है कि मनुष्य के प्राण-पखेरू-उड़ जाने के बाद सब सम्बन्धियों को रोते-कलपते तो देखा जाता है परन्तु एकाकी जाने वाले उस जीव का साथ देते कोई नहीं दिखलाई पड़ता।[5]

रैदास का कथन है कि इस संसार में कोई भी सम्बन्ध यथार्थ सत्य नही है। शरीर के निर्जीव होते ही वे निर्मम स्वजन-परिजन आत्मीयता छोड़कर उसे भस्मसात् कर देते हैं।[6] यह समस्त पारिवारिक तथा सासारिक सम्बन्ध नदी-नाव-सयोग के सदृश है। दैव-

---

तन तें प्रान होत जब न्यारे टेरत प्रेत पुकार।
आध घड़ी कोऊ नहिं राखत घर तें देत निकार। नानक, सं० बा० सं० भा० २, पृ० ४६

१. मातु-पिता युवती सुत बान्धव लागत है सबको अति प्यारो।
लोक कुटुम्ब खरो हित राखत होउ नही हमते कहुँ न्यारो।
देह सनेह तहा लग जानहु बोलत है मुख सब्द उचारो।
सुन्दर चेतन सक्ति गई जब बेगि कहै घर बार निकारो। सुन्दरदास, सं० बा० सं० भा० २, पृ० १२४

२. धरनी चहुं दिसि चरचिया करि-करि बहुत पुकार।
नाहीं हम हैं काहु के नाहीं कोउ हमार ।।४ धरनीदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ११३

३. सहजो जीवत सब सगे मुए निकट नहि जायँ।
रोवैं स्वारथ आपने सुपने देखि डरायँ ।।७ सहजोबाई, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १५७

४. मात-पिता सुत बान्धवा देखें कुल के लोग।
रे नर देखत फूँकिये करते हैं सब सोग ।।२३ गरीबदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १९०

५. मातु-पिता सुत बान्धवा सब मिलि करैं पुकार।
अकेल हंस चलि जात है कोइ नहिं संग तुम्हार ।।३ दरियाबिहार, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १२२

६. देखिधौं इहाँ कौन तेरो सगा सुत नहिं नारि।
तोर उतँग सब दूरि करिहैं देहिगें तन जारि।
प्रान गये कहो कौन तेरा देख सोच विचारि। रैदास, सं० बा० सं० भा० २, पृ० ३२

वशात् सब राही एकत्र होते हैं तथा अपने-अपने गन्तव्य के आ जाने पर अपनी-अपनी राह लेकर अलग हो जाते हैं।[१] इस सम्बन्ध में तुलसीदास ने एक नवीन उपमा प्रस्तुत की है। जिस प्रकार तिजारी आदि ज्वरों को दूर करने के लिए अन्धविश्वासी लोग तिराहे अथवा चौराहे पर टोना करते हैं और चलते समय भूलकर भी उसकी ओर दृष्टि नहीं डालते, इसी प्रकार शव की श्मशान में अन्तिम क्रिया करने के पश्चात् घर की ओर लौटते हुए आत्मीय-जन फिर श्मशान की ओर देखते तक नहीं हैं।[२] सहजोबाई स्त्री स्वभाव की होने के कारण जीवन के अन्तिम प्रकरण का अधिक यथातथ्य चित्रण करती हैं। मृत्युशय्या पर पड़े हुए व्यक्ति से घनिष्ठ जन उसके गड़े हुए धन को पूछने का प्रयत्न करते हैं। मरने वाले की उन्हें चिन्ता नहीं परन्तु चिन्ता है इस बात की कि उसका गुप्त धन कहीं उनको प्राप्त होने से न रह जाय।[३] उनका सारा सम्बन्ध धन से है प्राणी से नहीं।

पिछले पृष्ठों में हम देख चुके हैं कि मनुष्य का सबसे अधिक लगाव होता है अपने शरीर से; इसके बाद उसे माता-पिता, पुत्र-पत्नी, बन्धु-बान्धव, इष्ट-मित्र आदि सबसे अधिक प्रिय होते हैं। इन दोनों के पश्चात् मानव-जीवन में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा आकर्षक होता है धन-ऐश्वर्य आदि। मनुष्य ऊँचे-ऊँचे प्रासाद खड़े करता है। भाँति-भाँति के भोग-विलास के प्रसाधन जुटाता है, नाना प्रकार के यान उसकी सेवा में उपस्थित रहते हैं फिर भी कभी भी न तृप्त होने वाली उसकी धनैषणा[४] निरन्तर बढ़ती ही रहती है परन्तु यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो सम्पूर्ण लौकिक विभूतियाँ निरर्थक ही सिद्ध होती हैं। प्राणान्त हो जाने पर जिस प्रकार समस्त स्वजन, परिजन मृत आत्मा का साथ छोड़ देते हैं, वह अकेले ही महा-प्रस्थान करता है, उसी प्रकार मनुष्य के सम्पूर्ण संचित द्रव्य तथा ऊँचे-ऊँचे भवन यहीं पड़े रह जाते हैं। कुछ भी साथ नहीं जाता। इसका उपभोग बन्धु, पुत्र आदि वही आत्मीय जन करते हैं जो कि महायात्रा में प्राणी का तनिक भी साथ नहीं देते।[५] मनुष्य के जीवन में रथ, घोड़े, पालकी, हाथी आदि अनेक सुखदायक सवारियाँ उपलब्ध हैं। परन्तु मृत्यु के बाद बांस की टिकटी ही शव का एकमात्र वाहन रह जाती है, जिसमें चढ़कर वह श्मशान की यात्रा करता है। इसी प्रकार रेशमी, ऊनी, जरी आदि बहुमूल्य वस्त्रों का भण्डार भरा होने पर भी मृतक के निमित्त गजी का कफन ही अपेक्षित

१. दूलन यह परिवार सब नदी नाव संजोग।
उतरि परे जहँ तँह चले सबै बटाऊ लोग ।।१ — दूलनदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १३६

२. स्वारथ के साथिन तज्यो तिजरा को सो टोटक औचट उलटि न हेरो।२७२ — तु०, ग्र०, पृ० ४६४

३. सहजो धन मांगे कुटुम्ब गाड़ा धरा बताय।
जो कुछ है सो दे हमैं फिर पाछे मरि जाय।।८ — सहजोबाई, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १५७

४. Insatiability of wants.

५. कछु मन तुम सुधि राखो वा दिन की।
जा दिन तेरी देह छुटैगी ठौर बसौगे बन की।
द्रव्य गर्वे अरु महल खड़े ही पूत रहैं घर माहीं।
जिनके काज पचे दिन राती सो संग चालत नाहीं। — चरनदास, सं० बा० सं० भा० २, पृ० १८२

होता है।[1] अस्तु यदि मृत्यु निश्चित ही है तो विशाल चक्रवर्ती सामाज्य के स्वामी होने से भी किसी प्रयोजन की पूर्ति नहीं हो सकती। मरणशील प्राणी के लिए धन, राज्य तथा शक्ति सब व्यर्थ ही है।[2]

इसी कारण से संत जनों ने चार दिन के क्षणभंगुर जीवन में गर्व न करने का उपदेश दिया है कारण कि सुख-समृद्धि के समस्त साधन भी मिट्टी में मिल जाने वाले हैं। संपूर्ण धन-वैभव का अस्तित्व जीवन भर ही है अन्ततः सबसे वियोग होना ही है।[3] यदि स्वप्न में किसी को राज्य-प्राप्ति हो जाती है तो केवल स्वप्नावस्था में ही वह सुख का अनुभव करता है परन्तु निद्रा भंग होने पर जागृतावस्था में सब हर्षातिरेक नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार माया-जन्य सुख भी है जिसे नष्ट होते किंचित् विलम्ब नहीं लगता।[4] यह विश्व का साम्राज्य बालूकाभित्ति की भाँति अस्थिर तथा क्षणिक है तथा मृत्यु के उपरान्त मनुष्य के लिए किसी प्रकार भी उपादेय नही। शरीर नष्ट होता है, समय बीतता जाता है, यहाँ सब कुछ नाशोन्मुख ही है।[5]

तुलसीदास का कथन है—सभी धन-धाम, दारा-सुत आदि को अपनाते हैं परन्तु संसार से जाने वाले उस प्राणी को कोई नहीं अपनाता। यह सारी प्रीति केवल मिथ्या आडम्बर है। जिन नृपों ने विश्व को जय करके यम को भी वशवर्ती बना लिया वे भी काल के चक्र से नहीं बच सके साधारण प्राणी की तो गणना ही क्या।[6] नित्य के जीवन में हम न जाने कितने जनविहीन महलों को देखते हैं, जो कभी रागरंग से हर समय गुंजित रहते थे वही आज निर्जन तथा नीरव होकर कौओं के बैठने के अड्डे मात्र रह गये हैं।[7] अतः आकाश-

---

१. रथ घोड़े सुखपाल पालकी हाथी औ वाहन नाना।
तेरा ठाठ काठ की ठाटी यह चढ़ि चलना समसाना।
रूम पाट पाटम्बर अम्बर जरी वस्त्र का बाना।
तेरे काज गजी गज चारिक भरा रहे तोसाखाना। — कबीर, स० वा० सं० भा० २, पृ० ७

२. अरब खरब लौ दरब है उदय अस्त लौ राज।
तुलसी जो निज मरन है तौ आवै केहि काज।१ — तुलसी साहब, सं० वा० सं० भा० १, पृ० २२८

३. दिना चारि का जीवना का तुम करौ गुमान।
पलटू मिलिहै खाक में घोड़ा बाज निसान। — पलटू, सं० वा०सं० भा० १, पृ० २१५

४. माया का सुख पंच दिन गर्व्यो कहा गँवार।
सुपिनै पायो राज धन जात न लागै बार।२ — दादू, सं० वा० सं० भा० १, पृ० ६७

५. बारू की भीत तैसो बसुधा को राज है।
नानक जन कहत बात बिनसि जैहै तेरो गात।
छिन-छिन करि गये काल्ह तैसे जात आज है। — नानक, सं० वा० सं० भा० २, पृ० ४६

६. अवनि रवनि धन धाम सुहृद सुत को न इनहि अपनायो।
काके भए गए संग काके सब सनेह छल-छायो।
जिन्ह भूपन जग जीति बाँधि जम अपनी बाँह बसायो।
तेऊ काल कलेऊ कीन्हे तू गिनती कब आयो।२०० — तु० ग्र०, पृ० ४६६

७. सातों सबद जु बाजते घरि-घरि होते राग।
ते मंदिर खाली पड़े बैसण लागे काग।।४ — क० ग्र०, पृ० २०

चुम्बी महलों में निवास करके मनुष्य क्यों गर्वोन्मत्त हो। मृत्यु के पश्चात् भूमि के नीचे ही शव को स्थान मिलेगा, इसमें सन्देह नहीं।[1]

संसार में आये हुए प्राणी को किसी न किसी दिन यहाँ से प्रस्थान करना ही है। यह संसार उसका वास्तविक आवास नहीं है। रात्रि में पक्षी एकत्र होकर वृक्ष पर विश्राम लेते हैं, परन्तु प्रभात होते ही सब इधर-उधर उड़ जाते हैं। इस संसार में भी सब प्राणी एकत्र होते हैं तथा निश्चित अवधि समाप्त होते ही बिना किसी के साथ की अपेक्षा किये अकेले ही इस लोक से विदा हो जाते हैं। इस जगत का मनोहर रूप मनुष्य के लिए शाल्मली पुष्प की भाँति आकर्षक है जिसमें बाह्य सौंदर्य के अतिरिक्त अन्तःसौंदर्य का नाम भी नहीं। जीव का न शरीर ही है, और न धन ही। इनसे प्रीति करना बिल्कुल व्यर्थ है।[2] धन की अधिकता तथा हीनता दोनों ही दुखप्रद होती है। अतः ऐसी दुखप्रद वस्तु के ग्रहण से क्या लाभ।[3]

सूरदास मानव-जीवन को प्रवंचना मात्र मानते हैं। मृग-तृष्णा में फँसे हुए कुरंग की भाँति मनुष्य विषय-रस में आसक्त मिथ्या भ्रम में दौड़ता रहता है परन्तु उसे यथार्थ जल की प्राप्ति नहीं होती, तृष्णा शान्त नहीं होती। सेमर के आकर्षक पुष्प को देखकर उसके समान ही सुन्दर तथा मधुर फल की आशा में शुक रात-दिन ध्यान लगाये रहता है, परन्तु जब वह फल का स्वाद लेने के लिए चंचु से आघात करता है तो वह रिक्त ही मिलता है। (रुई उड़ जाने से सेमल की खाली फली डाल में लटकी रहती है।) बाजीगर के कपि की भाँति मनुष्य आत्म-सम्मान को खोकर चारों ओर नाच रहा है तथा ईश्वर के भजन के बिना काल का ग्रास बना हुआ है।[4] लौकिक धन, वैभव, ऐश्वर्य आदि मृग-तृष्णा की भाँति

---

१. कबीर कहा गरबियौ ऊँचे देखि अवास।
 कालिह परयूं भ्वै लोटणां ऊपरि जामैं घास ।।१० — क० ग्र०, पृ० २१

२. बटाऊ रे चलना आजि कि कालिह।
 समझि न देखै कहा सुख सोवै रे मन राम सँभालि।
 जैसे तरवर बिरख बसेरा पंखी बैठे आइ।
 ऐसैं यहु सब हाट पसारा आपु आपु कौं जाइ।
 कोइ नहिं तेरा सजन संगाती जिन खोवै मन मूल।
 यहु संसार देखि जिनि भूलै सब ही सेंवल फूल।
 तन नहिं तेरा धन नहिं तेरा कहा रह्यो इहिं लागि।
 दादू हरि बिन क्यों सुख सोवै काहे न देखै जागि। — दादू, भ० २, पृ० ५७

३. उभय प्रकार प्रेत-पावक ज्यों धन दुख प्रद श्रुति गायो।
 छिन छिन छीन होत जीवन दुरलभ तनु वृथा गंवायो ।।१९९ — तु० ग्र०, पृ० ४६६

४. धोखे ही धोखे डहकायो।
 ज्यों कुरंग जल देखि अवनि को प्यास न गई दसो दिसि धायो।
 ज्यों सुक सेमर फल आशा लगि निसिवासर हठि चित्त लगायो।
 रीतो पायो जबै फल चाख्यो उड़ि गयो तूल तांबरो आयो।

माया हैं और वास्तविक संतुष्टि का कारण न होकर केवल असन्तोष के जनक हैं। सांसारिक भोग तथा सम्पत्ति जिसके लिए मनुष्य को अपने मान-सम्मान से भी हाथ धोना पड़े फिर भी वह निष्फल हो और संतुष्टिदायक भी न हो तो वह किस अर्थ का। यह संसार सेमल के फूल की भाँति केवल प्रेक्षणीय है, उपादेय नहीं। इसीलिए प्राणी को जीवन की क्षणिक रंगीनी में आत्म-विस्मृत न होना चाहिए।[1] इस विश्व का अस्तित्व ओस-बिंदु के सदृश है जो देखने में मोती के समान सुन्दर प्रतीत होने पर भी क्षण भर में ही विनष्ट हो जाता है।[2]

पृथ्वी पर आकर किसी का अभिमान स्थायी नहीं रह सका। अल्प काल के जीवन के पश्चात् अंत में खाक होना ही है।[3] सुन्दरदास को यह संसार जलते हुए घर की भाँति दृष्टिगोचर होता है तथा जीव उस घर में सुखपूर्वक सोते हुए बावले की भाँति।[4] यहाँ आठों प्रहर लगातार महा-प्रस्थान का नगाड़ा बजता रहता है, हर एक को समय अथवा असमय में चलना ही है।[5] वास्तव में सारा संसार जा ही रहा है, हर एक को एक न एक क्षण चलना ही है। यहाँ जिस काल तक जीव रहता है वह परमात्मा की कृपा के बल से ही।[6] इस जगत में आकर मनुष्य क्या करता है—कुछ नहीं। शालमली पुष्प से फल की आशा रखने वाले शुक की भाँति केवल अपनी चंचु को तोड़ लेता है—आत्मनाश की ओर ही अग्रसर होता है।[7] सांसारिक सुखों पर गंभीरतापूर्वक विचार करने के पश्चात् मलूकदास इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यहाँ सार वस्तु थोड़ी ही है, निःसार का ही आधिक्य है। जिस प्रकार कंकड़ों में मिले हुए चावलों में चावल कम कंकड ही अधिक होते हैं।[8] इतना ही

ज्यो कपि डोरि बांधि बाजीगर कन कन कौ चौहटै नचायो।
सूरदास भगवन्त भजन बिनु काल ब्याल पै आप खवायो॥

१. यहु ऐसा संसार है जैसा सैंबल फूल
दिन दस के ब्यौहार कौं झूठै रंगि न भूलि॥१३ — क० ग्र०, पृ० २१

२. जैसे मोती ओस को तैसो यह संसार।
बिनसि जाय छिन एक में दया प्रभु उर धार॥४ — दयाबाई, सं० बा० सं०, भा० १ पृ० १७०

३. दूलन यहि जग आइकै काको रहो दिमाक।
चंद रोज को जीवना आखिर होना खाक॥२ — दूलनदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १३६

४. सुन्दर या संसार ते काहे न निकसत भागि
सुख सोवत क्यों बावरे घर में लागि आगि॥ — सुन्दरदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १११

५. सदा नगारा कूच का बाजत आठो याम।
रहिमन या जग आइकै को करि रहा मुकाम॥२४६ — रहीम रत्नावली पृ०२४

६. यहु जग जाता देखि करि दादू करी पुकार।
घड़ी महूरत चालणाँ राखै सिरजनहार॥५१ — दादू, भा० १, पृ० २१६

७. संसारी में आन करि कहा कियो रे मूढ़।
सूआ सेमर सेइया लागै डाँढे टूट॥१० — गरीबदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १८६

८. जेते सुख संसार के इकठे किये बटोरि।
कन थोरे काकर घने देखे फटकि पछोरि॥३ — मलूकदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १००

नहीं यह संसार क्षण-क्षण में परिवर्तनशील दृश्यों का आगार है। कभी सुखद घटनाएँ उप-स्थित होती हैं कभी दुखद। जो कल तक भवन में बैठा दिखाई पड़ता था, संभव है वह आज श्मशान में दिखाई पड़े।[1] अतः इस संसार को हरा-भरा देखकर परम निश्चिन्त मृग की भाँति गर्वोन्मत्त होकर कालरूपी शिकारी का ध्यान करके असावधान न होना चाहिए।[2] इसीलिए तो दादू को संसार में जीवन का अस्तित्व ही नहीं दृष्टिगत होता। सर्वत्र मृत्यु का साम्राज्य ही प्रतीत होता है। कोई जलाया या दफनाया जा रहा है, कोई जलाया या दफनाया जा चुका है, किसी के जलाने या दफनाने की तैयारी हो रही है। चारों तरफ जीवन का अभाव तथा विनाश का नग्न नृत्य दिखाई पड़ता है।[3]

किसी की मृत्यु पर शोक प्रगट करने वाले भी काल के ग्रास बनते हैं तथा अंतिम संस्कार में सम्मिलित होने वालों का भी अंतिम संस्कार होता है। यह क्रम निरन्तर अबाध गति से चला जा रहा है। यहाँ जीवित रहने वाला ही कौन है जिससे काल अहेरी की शिकायत की जाय।[4] मनुष्य अपने जन्म देने वाले माता-पिता का अन्त देखता है, अपनी वृद्धावस्था, अपने प्रयाण की बेला भी देखता है तथा अपने परवर्तियों को भी महा-प्रयाण के मार्ग से अलग नही देखता।[5] मनुष्य ही नही देवता, असुर, मुनि सभी काल के क्रूर करों से आबद्ध हैं। पता नही वह देश या विदेश में कहाँ कब अंत करेगा।[6] इसीलिए तो सहजोबाई संसार से स्नेह छोड़कर हरिभक्ति मे रत होने का आग्रह करती हैं क्योंकि यहाँ पर मनुष्य का कोई भी सगा नही है, यहाँ तक कि स्वयं अपना शरीर भी अपना साथ नहीं देता।[7] यहाँ किसी का निवास नित्य नही है। कागज की पुड़िया जिस प्रकार बूंद भर पानी पड़ने से भी

---

१. कबीर यहु जग कुछ नहीं षिन षारा षिन मींठ।
कालिह जु बैठा माड़ियां आजु मसांणां दीठ ॥१५ — क० ग्र०, पृ० ७३

२. यहु वन हरिया देखि करि फूल्यो फिरै गँवार।
दादू यहु मन मिरगला काल अहेड़ी लार ॥८ — दादू, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ८०

३. केई गाड़े केइ गाड़िये केई गाड़न जाहिं।
केई गाड़न की करैं दादू जीवण नाहिं ॥६५
कोई जाले कोई जालिये काई जालणा जाहि।
कोइ जालण की करे दादू जीवण नाहिं ॥ — दादू, भा० १, पृ० २२१

४. रोवणहारे भी मुए मुए जलांवणहार।
हाहा करते ते मुए कासनि करौं पुकार ॥३१ — क० ग्र०, पृ० ७६

५. जिनि हम आये ते मुए हम भी चालणहार।
जे हमको आगैं मिले तिन भी बंध्या भार ।३२।७२५ — २५ क० ग्र०, पृ० ७६

६. कबीर कहा गरबिये काल गहै कर केस।
ना जाणै कहाँ मारिसी क्या घर क्या परदेस ॥१६ — क० ग्र०, पृ० ७४
कबीर सब सुख राम है और दुखां की रासि।
सुर नर मुनियर असुर सब पड़े काल की पासि ॥२६ — क० ग्र०, पृ० ७६.

७. सहजो भज हरि नाम कूं तजो जगत सूं नेह।
अपना तो कोइ है नहीं अपनी सगी न देह ॥१ — सहजोबाई, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १५६

घुल जाती है उसी प्रकार यह संसार लघु से लघुतम आघात से भी नष्ट हो सकता है। कंटकाकीर्ण जगत में नाना प्रकार की विपत्तियों एवं कठिनाइयों से उलझ कर मनुष्य का अंत हो जाता है। तथा यह संसार झांखरों की भांति जलकर स्वयं नष्ट हो जाने वाला है।[1] इस संसार की उपमा बांगड़ देश (मरुस्थल) से दी गई है जहाँ पर हमेशा झुलसा देने वाली गर्म-गर्म हवाओं तथा ज्वलनशीलता का ही साम्राज्य रहता है। यहाँ चारों ओर से उड़-उड़ कर पड़ने वाली धूल सर्वत्र छाई रहती है जिसे अज्ञानवश मनुष्य कष्टकारी न समझ कर रुचिकर तथा सुखद समझता है। यहाँ न कोई सरोवर है, न पानी के अन्य स्रोत ही हैं जिनसे व्यक्ति अपनी अतृप्त तृष्णा का शमन कर सके।[2]

काल की करालता को देखकर सचेत होने तथा भगवत्-भजन करने के लिए तुलसी का आग्रह है।[3] मरणप्राय व्यक्ति को राम नाम जपने का उपदेश सभी कोई देता है परन्तु मनुष्य को चाहिए कि मरण के अवश्यम्भावी परिणाम को समझकर समय रहते राम का भजन प्रारम्भ कर दे।[4] जो राम नाम जपने का उपदेश देते हैं वे स्वय भी जप नही करते तथा जो इस प्रकार उपदेश सुनते हैं वे भी जप करते देखे नहीं जाते। अंतिम समय में सबको राम कहने के लिए कहा जाता है, इसको पहले ही समझ लेना चाहिए।

संतों व भक्तों की साहित्य-परम्परा में जन्म के पहले गर्भावस्था में स्थित जीव की अत्यन्त कष्टपूर्ण स्थिति का वर्णन उपलब्ध होता है। मल के भण्डार में पानी की थैली में भरा हुआ जीव बारम्बार भगवान का स्मरण करता हुआ प्रार्थना करता है कि वह उसे कष्ट से मुक्त कर दे, फिर कभी भी स्मरण में उससे चूक नही होगी तथा ऐसा कार्य कभी नहीं करेगा कि जिससे उसे पुनः गर्भवास का कष्ट उठाना पड़े। राम भजन की प्रेरणा देने वाले अनेक कारणों में से एक कारण उदरवास का कष्ट भी माना गया है।

उदर दुसह सासति सही बहुबार जनमि
जग नरक निदरि निकर्यो है—

—आदि पंक्तियों से तुलसी ने इसी भावना को व्यक्त किया है। संत कबीर ने भी निम्न पंक्तियों में इसी भाव को स्पष्ट किया है—

---

१. रहना नहिं देस बिराना है।
यह संसार कागद की पुड़िया बूँद पड़े घुल जाना है।
यह संसार कांट की बाड़ी उलझ पुलझ मरि जाना है।
यह संसार झाड़ औ झांखर आग लगे बरि जाना है ॥१३० — ह० प्र० क०, पृ० ३०६

२. बांगड़ देस लूवन का घर है तहँ जिनि जाय दाझन का डर है।
सब जग देखौ कोइ न धीरा परन धूरि सिर कहत अबीरा।
न तहां सरवर न तहां पाणी न तहां सतगुर साधूवाणी ॥१२६ — ह० प्र० क०, पृ०३०८

३. काल कराल बिलोकहु होइ सचेत।
राम नाम जपु तुलसी प्रेम समेत ॥४६ — तु० ग्र०, पृ० २०

४. मरत कहत सब सब कहँ सुमिरहु राम।
तुलसी अब नहिं जपत समुझि परिनाम ॥६५ — तु० ग्र०, पृ० २१

लख चौरासी जोनि में मानुष जनम अनूप।
ताहि पाय नर चेतत नाही कहा रंक कहा भूप।
गर्भवास में रह्यो कह्यो मैं भजिहौं तोही।
निसि दिन सुमिरौं नाम कष्ट से काढौ मोहीं॥

हिन्दू-समाज में प्रचलित पुनर्जन्म तथा जीव का विभिन्न योनियों में पैदा होकर कष्ट उठाना रामनाम स्मरण में प्रवृत्त कराने वाले कारणों में से एक है। भगवत् भजन के द्वारा पुनर्जन्म से मुक्ति प्राप्त हो सकती है और पुनर्जन्म आत्मा की नित्यता अथवा अमरता का द्योतक है। हिन्दुओं में प्रचलित इस धारणा से कबीर पूर्णतया प्रभावित थे। एक पद में उन्होंने पर्याप्त विस्तार के साथ कहा है कि भगवत्-भजन के बिना किस-किस योनि में जीव की क्या-क्या गति होती है। ऐसा लोक-विश्वास है कि वर्षा के समय जो जलबिन्दु वृक्ष के काँटों पर लटकी रह जाती है, प्रेतयोनि में वही तृषा-शान्ति के लिए उपलब्ध होती है। कूप-तड़ाग चाहे जो भरे रहें प्रेत उस जल का पान नहीं कर सकता। मृत्यु के बाद मनुष्य सर्व-प्रथम भूतयोनि में जाता है। 'पहिला जन्म भूत का पैहो' आदि के द्वारा कबीर ने इसी भाव का प्रकाशन किया है। दूसरा जन्म तोते का कहा गया है जो जिह्वा-स्वाद के कारण बगीचों में बसेरा लेता है तथा उसी स्वाद के लिए स्वयं को बन्धन में भी डालता है। अपने निवास से दूर आकाश में बाज के द्वारा उसके प्राणों का अपहरण भी होता है। मदारी का बन्दर होकर लकड़ी के बल से विविध प्रकार का नाच नाचना पड़ता है। अपनी तथा स्वामी की उदरपूर्ति के लिए भिक्षा-याचना करने पर भी पेट भर भोजन नसीब नही होता। संसार की ओर से नेत्र बन्द किये हुए तेली के बैल होकर घर मे ही संसार को सीमित मानने वाले की अन्य कोई गति ही नही रह जाती। पांचवाँ जन्म ऊँट का होता है जिस पर उसकी शक्ति और सामर्थ्य से बाहर बोझ लाद दिया जाता है और तब वह उठने में भी अशक्त होकर बैठे ही बैठे प्राण गँवा देता है। इसके उपरान्त धोबी का गधा होकर उदरपूर्ति तो अपने परिश्रम से करनी ही पड़ती है, वस्त्रों का बोझ तथा उस पर भी धोबी का बोझ वहन करना होता है। अन्त में काग होकर अपनी कर्णकटु वाणी से लोगों के लिए कष्टकर होता ही है तथा साथ ही अपनी कुप्रवृत्ति के कारण हमेशा अस्वच्छ वस्तुओं में ही चोंच लगाता रहता है।[1] इन सब कष्टों से मुक्त करने वाला एक रामनाम ही है।

---

१. दिवाने मन भजन बिना दुख पैहो।
पहिले जनम भूत का पैहो सात जनम पछितैहो।
कांटा पर का पानी पैहो प्यासन ही मरि जैहो।
दूजा जनम सुआ का पैहो बाग बसेरा लेइहो।
टूटे पंख बाज मड़राने अधफड़ प्राण गवैहो।
बाजीगर के बानर होइहो लकड़िन नाच नचैहो।
ऊँच नीच से हाथ पसरिहो माँगे भीख न पैहो।
तेली के घर बैला होइहो आखिन ढांप ढपैहो।
कोस पचास घरै मा चलिहो बाहर होन न पइहो।

हिन्दी-साहित्य के सन्त-कवियों में एक बड़ा विरोधाभास दृष्टिगोचर होता है। एक ओर तो उनकी रचनाओं में संसार की क्षणभंगुरता, लौकिक पदार्थों की असारता, मानव की मरणशीलता तथा मानव-जीवन की निष्प्रयोजनता का चित्रण किया गया है, दूसरी ओर उन्होंने मानव-शरीर तथा मानव-जीवन को बड़ा ही सारगर्भित सप्रयोजन तथा महत्त्वपूर्ण कहा है। परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले यह विचार वास्तव में रहस्यवादी अभिव्यक्ति ही कहे जा सकते हैं। बड़े भाग्य से मनुष्य का शरीर प्राप्त होता है। अहेतुकी कृपा करने वाला परमात्मा ही मनुष्य-शरीर का प्रदायक है। इस शरीर का फल विषय-भोग नहीं है। इसको पाकर भी जिसने भगवत्-भजन न किया वह मंदमति आत्महन्ता की गति को प्राप्त होता है। मानव-शरीर के द्वारा स्वर्ग, नर्क, मोक्ष, सभी प्राप्त किये जा सकते हैं।[२] इसलिए उसे सबसे अधिक कल्याणकर कार्य भगवत्-भजन में ही लगना चाहिए। इस संसार-रूपी कर्मक्षेत्र में मानव-शरीर के द्वारा मनुष्य मनचाहा खेल खेलकर जय या पराजय प्राप्त कर सकता है।[३] अपने सत्कर्मों के अनुसार मनुष्य सुगति तथा कुकर्मों के अनुसार कुगति को प्राप्त करता है। वरन् यह कहना अधिक उचित होगा कि मनुष्य स्वयं अपना भाग्य-विधायक है। मानव-शरीर तानपूरे के सदृश है जिससे इच्छित राग निकाला जा सकता है।[४] मनुष्य शरीर धारण करने का उद्देश्य ही है परमात्मा से मिलन।[५]

महत्त्वपूर्ण मानव-जीवन में 'अभी और यहाँ' पर पर्याप्त बल दिया गया है। जो कुछ करना है अभी करना है और यहीं इसी लोक में मनुष्य-शरीर में रहते हुए करना है। 'सौदा

पचवां जनम ऊँट का पैहो बिन तौले बोझ लदैहो।
बैठे से तो उठै न पैहो धुरच्दि-धुरचि मरि जैहो।
धोबी के घर गदहा होइहो कटी घास ना पैहो।
लादी लादि आपु चढ़ि बैठे ले घाटे पहुँचैहो।
पच्छिन मा तो कउवा होइहो करर करर गुहरैहो।
उड़िके जाय बैठि मैले थलि गहिरे चोंच लगैहो।

१. बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा।४२.४
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही।४३.३
एहि तनु कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई।।
जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ।४३.१
सो कृत निन्दक मन्द मति आत्माहन गति जाइ।। तु० रा०, उ० का० ४४

२. नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत तेही।
नरक स्वर्ग अपवर्ग नसेनी। ग्यान बिराग भगति सुभ देनी।५
सो तनु धरि हरि भजहिं न जे नर। होहिं बिषय रत मंद मंद तर। तु० रा०, उ० का० १२०,६

३. जीते की ले जीति जनम में यही गोय यही मैदाना।।

४. साधो यह तन ठाठ तंबूरे का।
ऐचंत तार मरोकत खूंटी निकसत राग हजूरे का।।

५. वै दिन कब आवैंगे माइ।
जा कारनि हम देह धरी है मिलिबौ अंग लगाइ।

करे तो यहि जुग करि ले आगे हाट न बनिया' से स्पष्ट यही ध्वनि निकलती है। काल हर समय, हर प्राणी के ऊपर मँडरा रहा है। जो कुछ करना है वह कल के लिए स्थगित न करके आज ही सम्पन्न करना अभीष्ट है।[1] जीवित अवस्था में ही मनुष्य विवेक के द्वारा ज्ञान तदनन्तर मुक्ति-लाभ करता है। यदि जीवित ही वह मुक्त न हो गया तो मृत्यु के पश्चात् मुक्ति की आशा एक दुराशा मात्र है। यदि जीवित अवस्था में मुक्त है—सत्य ज्ञान प्राप्त कर चुका है तो मृत्यु के बाद भी मुक्ति-लाभ करेगा अन्यथा मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता रहेगा।[2] इस प्रकार कबीर को जीवन्मुक्ति का दार्शनिक सिद्धान्त मान्य प्रतीत होता है।

कालरूपी कीड़ा शरीररूपी काठ को निरन्तर खा रहा है तथा एक-एक दिन करके मनुष्य की आयु क्षीण होती जा रही है। अस्तु यदि जीवन में कुछ करना है; अज्ञान-निद्रा से जागृत अवस्था में आना है तो यही उपयुक्त समय है अन्यथा एक दिन तो परम निश्चित होकर अनन्त निद्रा मे महाशयन करना ही है।[3] और अधिक क्या आयु अंजलिगत-जल की भाँति अबाध गति से समाप्त होती जा रही है। हर घड़ी घंटा बजकर यही चेतावनी देता है कि जो घड़ी बीत गई वह कभी वापस आने वाली नही है। सूर्य और चन्द्र उदय होकर प्रति क्षण घटती हुई आयु का ही संदेश देते हैं। सरोवर के जल की भाँति तथा तरुवर की छाया की भाँति अहर्निश आयु नष्ट होती जा रही है। अस्तु मनुष्य को अपने जीवन के प्रति सचेत हो जाना चाहिए।[4] क्योंकि समय किसी की प्रतीक्षा नही करता, वह सतत आगे बढ़ता ही जाता है और कभी वापस नहीं लौटता। रहीम के निम्न दोहे में समय की यही महत्ता प्रदर्शित की गई है.

समय लाभ सम लाभ नहिं समय चूक सी चूक।
चतुरन चित रहिमन लगी समय चूक की हूक॥

---

१. कबीर पलकी सुधि नहीं करै कालिह का साज।
काल अच्यन्ता झड़पसी ज्यूं तीतर को बाज।६ — क० ग्र०, पृ० ७२

२. साधो भाई जीवत ही करो आसा।
जीवत समझे जीवत बूझे जीवत मुक्ति निवासा।
जीवत करम की फास न काटी मुये मुक्ति की आसा।
तन छूटे जिव मिलन कहत है सो सब झूठी आसा।
अबहु मिला तो तबहु मिलेगा नहिं तो जमपुर वासा।

३. काल कीट तन काठ कौं जुरा जनम कूँ खाइ।
दादू दिन दिन जीव की आयु घटंती जाइ॥१३ — दादू, भा० १, पृ० २१६
जागो रे जिन जागणा अब जागणि की वारि।
फेरि कि जागा नानका जब सोवउ पाउ पसारि॥२ — नानक, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ६८

४. जागि रे सब रैनि बिहाणी। जाइ जनम अंजुली कौ पाणी।
घड़ी घड़ी घड़ियाल बजावै। जे दिन जाइ सो बहुरि न आवै।
सूरज चन्द कहैं समुझाई। दिन दिन आयु घटंती जाई।
सरवर पाणी तरवर छाया। निस दिन काल गरासै काया॥१५७ — दादू, भा० २, पृ० ६६

सत्संग

'संत' शब्द की व्युत्पत्ति तथा उसके प्रयोग पर कितने ही लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वानों ने अपने-अपने मत प्रकट किए हैं। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के मत से संत शब्द की उत्पत्ति दो प्रकार से संभव है। वह सत् का बहुवचन हो सकता है जिसका हिन्दी में एकवचन में प्रयोग हुआ है अथवा शांत का अपभ्रंश रूप हो सकता है जैसा पाली भाषा में होता है। पहली व्युत्पत्ति से संत के माने होंगे जो सत् है अथवा जिसे सत् की अनुभूति हो गई है, दूसरे से जिसकी कामनाएँ शात हो चुकी हैं। दोनों अर्थ संत पर ठीक उतरते हैं।[1]

पं० परशुराम चतुर्वेदी 'संत' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए उसे अस् (होना) धातु से शतृ प्रत्यय लगाकर बना हुआ मानते हैं। इस प्रकार सत शब्द का मौलिक अर्थ शुद्ध अस्तित्व का ही बोधक है और इसका प्रयोग भी, इसी कारण, उस नित्य वस्तु या परमतत्त्व के लिए अपेक्षित होगा जिसका नाश कभी नहीं होता, जो सदा एकरस व अविकृत रूप में विद्यमान रहा करता है और जिसे सत्य के नाम से भी अभिहित किया जा सकता है।[2] चतुर्वेदीजी ने उसी प्रसंग में पुनः कहा है कि संत शब्द इस विचार से उस व्यक्ति की ओर संकेत करता है जिसने सत्‌रूपी परमतत्त्व का अनुभव कर लिया हो और जो इस प्रकार अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर उसके साथ तद्रूप हो गया हो। जो सत्यस्वरूप नित्य सिद्ध-वस्तु का साक्षात्कार कर चुका है अथवा अपरोक्ष की उपलब्धि के फलस्वरूप अखण्ड सत्य में प्रतिष्ठित हो गया है वही सत है।[3] संत की परिभाषा के अन्तर्गत विषयों के प्रति निरपेक्ष रहते हुए केवल सत्कर्म करना, सद्‌रूप परमतत्त्व में एकान्त-निष्ठ रहा करना, सभी प्राणियो के प्रति सुहृदभाव रखते हुए किसी के प्रति वैरभाव न प्रदर्शित करना तथा जो कुछ भी करना उसे निःसंग होकर, निष्काम भाव के साथ, करना समझे जा सकते हैं। सारांश यह कि संत लोग आदर्श महापुरुष हुआ करते हैं और इसके लिए उनका पूर्णत· आत्मनिष्ठ होने के अतिरिक्त, समाज में रहते हुए निःस्वार्थ भाव से विश्व-कल्याण में प्रवृत्त रहा करना भी आवश्यक है।[4] संत शब्द का यह अर्थ वस्तुतः बहुत व्यापक है। इसमें ऐसे व्यक्ति-विशेष की रहनी एवं करनी के बीच एक सुन्दर सामञ्जस्य भी लक्षित होता है।[5]

सभी संतों का लक्ष्य, मानव-जीवन को समुचित महत्त्व प्रदान करने, उसको आध्यात्मिक आधार पर पुर्ननिर्माण करने, उसे इसी भूतल पर जीवनमुक्त बनकर सानन्द यापन करने, तथा साथ ही विश्व-कल्याण में सहयोग देने का भी जान पड़ता है।[6]

प्रोफेसर रानाडे के मतानुसार संत शब्द कालान्तर में रूढ़ि-सा बन गया और इस

---

१. योग प्रवाह, पृ० १५८
२. उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० ४
३. उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० ५
४. उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ० ७
५. उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० ७
६. उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ० ८

शब्द का प्रयोग उन व्यक्तियों के लिए सीमित हो गया जो विट्ठल सम्प्रदाय के अनुयायी थे।[1] यद्यपि ज्ञानेश्वरी में विट्ठल भक्ति का उल्लेख नहीं है परन्तु उसमें व्यवहृत संत शब्द के बहुधा प्रयोग के अन्तःसाक्ष्य से प्रो० रानाडे उसे निश्चिततया विट्ठल सम्प्रदाय का मानते हैं।[2] उनके विचार से अन्य सम्प्रदायों वाले सन्त नहीं थे, ऐसी बात नहीं है परन्तु वारकरी सम्प्रदाय के अनुयायी संतमणि थे यह निश्चित है।[3]

डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित के अनुसार संत शब्द का प्रयोग आज सज्जन, साधु, भक्त, एवं सत्पुरुष के अर्थ में प्रचलित है। आज संत शब्द किसी भावना, अवस्था या विशेष विचारधारा वाहक व्यक्ति का द्योतक नहीं रहा, जैसा कि पूर्व समय में था। इतना ही नहीं, आज संत शब्द का प्रयोग शिथिल होता जा रहा है और हिन्दी में संत शब्द सगुण, निर्गुण, सूफी, बाउल तथा सभी प्रकार के महात्माओं के लिए प्रयुक्त होता है।[4] जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, हिन्दी संत कवियों ने इस शब्द का प्रयोग इसी विस्तृत अर्थ में किया है। संत शब्द के भाव में एक विशेषता अवश्य दृष्टिगत होती है कि उसमें 'रहनी' को विशेष महत्त्व दिया गया है। विद्वान विद्या के क्रियात्मक प्रयोग के बिना भी विद्वान बना रह सकता है परन्तु सन्त कहलाने के लिए सदाचरण का सक्रिय प्रयोग अति आवश्यक है। और यही सत की रहनी कहलाती है। पलटू साहिब ने सन्त की रहनी के विषय में कहा है कि संत वही है जो हरिचर्चा में रत रहे अथवा एकान्त जीवन व्यतीत करे।[5] सामाजिक प्राणी होने के नाते ईश्वर-चर्चा में समय यापन करे तथा अन्य सामाजिक विषयों में लिप्त न होकर शेष समय स्वात्मीय एकान्तिक चिन्तन में लगावे। प्रोफेसर रानाडे ने अन्तःपरावर्तन (Introversion) को (Spiritual) आत्मिक तथा रागहीनता (Non-attachment) को वैयक्तिक गुण (Virtue) माना है।[6] यहाँ एकान्त वास्तव में दोनों में से किसी के पूर्णतया समान नहीं ठहरता परन्तु अधिकतर तुलसीदास ने भी संत के लिए एकान्त सेवन पर जोर दिया है।

---

१. Now Santa is almost a technical word in the Vitthala Sampradaya, and means any man who is a follower of that Śampradaya.
M. M. P. 42

२. Though the word Vitthala may not have been mentioned, the word Santa which is amply indicative of the Vitthala Sampradaya is mentioned very often. *M. M. P. 42*

३. Not that the followers of other Sampradayas are not Santas, but the followers of the Varkari Sampradaya are Santas par excellence.
M. M. P. 42

४. सन्त दर्शन, डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, पृ० १

५. की तौ हरि चरचा मह की तौ रहै इकंत।
ऐसो रहनी जो रहै, पलटू सोई सन्त ॥९ पलटू साहिब, सं० बा० सं० भा० १, पृ० २१९

६. "Pathway to God" PP. 89-90

विकार रहित शीतल स्वभाव वाले संत-जन सदैव एकान्त में रहते हैं। हलाहल विष को धारण करने वाले भगवान शंकर को विषधर सर्प कोई हानि नहीं पहुँचा सकते। इसी प्रकार शील को धारण करने वाले संतों का अहित दुष्टजन नहीं कर पाते। क्रोधादि से रहित संत सर्वदा सब से निलिप्त अन्तर्मुखी जीवन यापन करता है।[1]

दरियासाहब के विचार से वेशभूषा सन्त की महत्ता को किसी प्रकार प्रभावित नही करती। गृहस्थ या विशेष वेशधारी होने से कोई अन्तर नही होता। सन्त का प्रमुख लक्षण है उसके विचारों तथा कार्यों में एकता होना। जैसे उसके विचार हों उसके अनुरूप ही उसके कार्य हों। सन्त के अन्त: और बाह्य में कोई भेद नहीं होता। वह सदैव निष्कपट तथा नि:शंक रहता है।[2] शंकित तो वह रहता है जो दूसरों के साथ अनुचित व्यवहार करता अथवा सोचता है अथवा जिसके विचारों तथा कार्यों में अन्तर रहता है। यही अन्तर कथनी तथा करनी का भेद कहलाता है। निष्कपट, बाहर-भीतर सर्वत्र एक रस रहने वाले सन्त को भला किसकी क्या शका हो सकती है। गरीबदास ने भी अन्तर और बाहर की एक-रसता को ही सन्त का लक्षण माना है। एक समान रहने वाले सब के कल्याणकारी संत जन उस अनादि शक्ति के ही अग हैं।[3]

सन्त का एक लक्षण वैराग्य भी माना गया है। वैराग्य से तात्पर्य संसार से राग-हीनता (Non-attachment) है। परमात्मा के चरण-कमलों में तो चित्त लगा ही रहना चाहिए अथवा भगवान् के प्रति अनुराग की कमी नहीं होनी चाहिए।[4] काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, ममता आदि विकारों से रहित ब्रह्मभाव रस में लीन संत पथ-कुपंथ का भेद नही जानता।[5] पंथ-कुपंथ का विचार तभी तक रहता है जब तक व्यक्ति ब्रह्मभाव मे लीन नही हो जाता। पथ शब्द यहाँ दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—मार्ग के सामान्य अर्थ में तथा किसी सम्प्रदाय या मत-विशेष के अर्थ मे। किसी भी सम्प्रदाय या मत का प्रभाव एक आध्यात्मिक स्थिति (ब्रह्मभाव-लीनता) पर पहुँच जाने के बाद व्यर्थ हो जाता है। सुमार्ग या कुमार्ग के विषय में तो यह निश्चित ही है कि सारी आचार सम्बन्धी चेतना (Consciousness) एक स्थिति तक ही रहती है, उसके पश्चात् सुमार्ग ही उसके लिए सहज हो जाता है। तथा सारा आचारशास्त्र (Ethical Code) उसकी चैतन्य अवस्था के नीचे ही रह जाता है।

---

१. तुलसी ऐसे सीतल सन्ता। सदा रहै एहि भाँति एकंता।
कहा करै खल लोग भुजंगा। कीन्हौ गरल सील जो अंगा।

२. दरिया लच्छन साधका क्या गिरही क्या भेप।
निहकपटी निरसंक रहि बाहर भीतर एक ॥१ दरिया (मारवाड़), सं० बा० सं० भा० १, पृ० १२८

३. साईं सरीखे सन्त हैं या में मीन न मेख।
बरदा अंग अनादि है बाहर भीतर एक ॥२ गरीबदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १९८

४. ऐसा हो जो साध हो लिये रहै बैराग।
चरन कमल में चित धरै, जग में रहै न पाग ॥४ चरनदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १४६

५. काम क्रोध मद लोभ नहि खट विकार करि हीन।
पंथ कुपंथ न जानहीं ब्रह्म भाव रस लीन ॥३ दयाबाई, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १७७

सन्त-साहित्य में व्यक्ति की नम्रता, लघुता एवं अहम् भाव की विपरीत भावना को महत्त्व प्रदान किया गया है। यह भावना हमें सर्वत्र सब सन्तों में दृष्टिगोचर होती है। सन्तों ने अनेक उपमाओं-रूपकों द्वारा इस भाव को व्यक्त किया है। दरियासाहब ने साधु की उपमा में जल को प्रस्तुत किया है जो स्वभाव से ही ऊँचाई की ओर न जाकर नीचे की ओर ही प्रवाहित होता है। सन्त जन की अहम् और अपनी महत्ता की ओर अग्रसर न होने में वरन् लघु बने रहने में ही प्रवृत्ति होती है। यह उनकी सहज गति है।[1] अपने नैत्यिक जीवन तथा समाज दोनों में ही वे विनम्र रहते हैं। सहजोबाई नम्रता तथा लघुता की प्रशंसा करती हैं, इसलिए कि विनीत और नम्र का कोई शत्रु नहीं होता, फलतः उसे किसी प्रकार की हानि की भी आशंका नहीं होती। रूई अपनी कोमलता के कारण ही तलवार के द्वारा काटी नहीं जा पाती।[2] यही नम्रता तथा लघुता की रहनी है जिसे सन्त जन अपनाते हैं। इसी को और अधिक स्पष्ट करते हुए नानक ने कहा है कि हमें अपने को उतना ही नम्र तथा लघु समझना चाहिए जितना कि नन्हीं दूर्वा। ग्रीष्म के प्रचण्डातप से जब सब हरियाली नष्टप्राय हो जाती है तब भी दूब ज्यों की त्यों हरित बनी रहती है।[3] अपने को बड़ा न समझने वाले एवं अहम् भाव को न धारण करने वाले के नाश की सभावना नहीं रहती। शरीर में मस्तक, कर्ण, नासिका आदि अग सर्वोच्च स्थान पर स्थित हैं और सर्वश्रेष्ठ समझे जाते हैं परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि इन सर्वश्रेष्ठ अगों का पूजन नहीं होता, पूजन या वंदन होता है चरणों का जिनकी जो शरीर में सब से नीचे स्थिति है।[4] सहजोबाई चरणों की इस महत्ता का कारण उनका निम्न स्थान में स्थित होना तथा लघु बना रहना समझती हैं।

अपने-पराये, 'मेरा-तेरा' का भेद त्यागकर जो दीन भाव से परमात्मा का स्मरण करता है तथा जो गुरु होकर भी शिष्य के प्रति विनीत रहता है, तुलसीसाहब उसी को साधु या संत मानते हैं।[5] साधारणतया गुरु शिष्य से अधिक ज्ञानी तथा सिद्ध होता है। गुरु का स्थान उच्चतर होता है तथा शिष्य गुरु के प्रति विनीत रहता है। संत के विषय में यह साधारण नियम लागू नहीं। साधु संज्ञा को प्राप्त गुरु स्वयं शिष्य के सम्मुख नत रहता है। इसीलिए सहजोबाई नम्रता अथवा दीनता की प्राप्ति को अतीव सौभाग्य का विषय समझती हैं क्योंकि साधक को अपकर्ष की ओर ले जाने वाले मान, अहकार आदि विकार इसके कारण

---

१. साधू जल का एक अंग बरतै सहज सुभाव।
ऊँची दिसा न संचरै, निवन जहाँ ढलकाव ।।६ "दरिया (मारवाड़), सं० बा० सं० भा० १, पृ० १२६

२. भली गरीबी नवनता सकै नहीं कोइ मार।
सहजो रूई कपास की, काटै ना तरवार ।।११ सहजोबाई, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १६१

३. ऐसी नन्हीं है रहो जैसी नान्ही दूब।
और घास जल जायगी दूब खूब की खूब ।। नानक

४. सीस कान मुख नासिका ऊँचे ऊँचे नाँव।
सहजो नीचे कारने, सब कोउ पूजे पाँव ।।४ सहजोबाई, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १६०

५. तुलसी मैं तू जो तजै भजै दीन-गति होय।
गुरू नवै जो शिष्य को साध कहावै सोय ।।८ तुलसी साहिब, सं० बा० सं० भा० १, पृ० २१२

दूर हो जाते हैं।[1] समस्त जगत अहंकार की अग्नि में भस्म हो रहा है। राम का अवलम्ब ग्रहण करके इस अग्नि से बच जाने वाले को तुलसीदास संत मानते हैं।[2] संसार का प्रत्येक प्राणी किसी न किसी व्यथा से पीड़ित अवश्य है। किसी को मानसिक कष्ट है किसी को शारीरिक, सब प्रकार से सुखी कोई प्रतीत नहीं होता। केवल भगवान् का भक्त संत सब प्रकार से अपने को सुखी अनुभव करता है।[3]

गरीबदास ने सन्तों को सच्चा शूरवीर कहा है जो अन्तर के शत्रुओं—काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि से निरन्तर सघर्ष किया करते हैं और उस संघर्ष में विजयी होते हैं—राम-नाम के भरोसे।[4] कबीर ने संत के कार्यों की तुलना योद्धा तथा सती के साहसिक कार्य से करनी चाही परन्तु सन्त का कार्य उन्हें इन दोनों से अधिक विकट प्रतीत हुआ। वीर योद्धा संग्राम में दो चार क्षण ही के लिए अपनी शूरता की पराकाष्ठा पर पहुँचता है तथा सती के सतीत्व का चरमोत्कर्ष क्षणमात्र में ही समाप्त हो जाता है परन्तु संत को जीवन भर अविराम गति से मनोविकारों से युद्ध करते रहना पड़ता है।[5] अस्तु संत का कार्य अप्रतिम है।

चरनदास ने भौतिकता से निर्लिप्त रहने को साधु की रहनी में सम्मिलित किया है, संसार में रहते हुए भी उसमें आसक्त न होना ही वास्तविक रहनी है। जिह्वा सभी सुस्वादु भोगों का भोग करती है, इच्छित घृत-पान करती है परन्तु घृत की चिकनाहट उसमें व्याप्त नही होती--भोग करती हुई भी वह निर्लिप्त रहती है। इसी प्रकार साधक को संसार में रहते हुए भी उसके माया जाल मे लिप्त नहीं होना चाहिए।[6]

पलटूदास ने सन्त-स्वभाव को दर्पणवत् कहा है। दर्पण में, मनुष्य अपना भला या बुरा, जैसा स्वरूप होता है वैसा ही, प्रतिबिम्ब देखता है। दर्पण उसमें कोई विकार उत्पन्न नहीं करता, उसका पूर्णतया निर्लिप्त भाव रहता है। इसी प्रकार साधु को हम अपनी भावना

---

१. सहजो पूरन भाग सूँ पाय लिये सुख दान।
नख सिख आई दीनता भजे बड़ाई मान ॥१५ — सहजोबाई, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १६१

२. अहकार की अगिनि में दहत सकल ससार।
तुलसी बाँचै सन्त जन केवल राम अधार ॥५३ — तु० ग्र०, पृ० १३

३. कोई तो तन मन दुखी कोई चित्त उदास।
एक एक दुख सभन को सुखी सन्त का दास ॥३ — तुलसी साहिब, स० बा० सं० भा० १, पृ० २३०

४. साचे सूरे सन्त हैं मरदाने जूझार।
लाख दोस व्यापै नही एक नाम की लार ॥६ — गरीबदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० २०३

५. साध को खेल तो विकट बेड़ा मती,
सती और सूर की चाल आगे।
सूर घमसान है पलक दो चार का,
सती घमसान पल एक लागै।
साध संग्राम है रैन-दिन जूझना,
देह परजन्त का काम भाई ॥३७ — क० ग्र० क०, पृ० २६०

६. जग माही ऐसे रहो ज्यों जिभ्या मुख मांहि।
घीव घना भच्छन करै, तौ भी चिकनी नाहि ॥३ — चरनदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १४६

के अनुरूप ही श्रेष्ठ या निकृष्ट समझते हैं । साधु विकार-रहित तथा निर्लिप्त होता है ।[1] सन्त में दोष अथवा अदोष-दर्शन वस्तुतः उसका दर्शन नही होता वरन् वह द्रष्टा के मनोभावों का ही प्रतिबिम्ब होता है । तुलसीदास ने सन्त की उपमा चन्दन वृक्ष से दी है । चन्दन वृक्ष अपनी सुरभि से अपने निकटस्थ अन्य वृक्षों को भी सुवासित कर देता है, परन्तु अपने तने में लिपटे हुए सर्पों को वह अपने गुणों से प्रभावित नही कर पाता—उनके विष में ही वृद्धि होती है । इसी प्रकार सन्त-जन सज्जन व्यक्तियों को तो अपने प्रभाव से अपने सदृश ही बना लेते हैं परन्तु उनके सम्पर्क में आने वाले दुर्जनों पर कोई सुप्रभाव नहीं पड़ता, उनकी दुष्टता ही बढ़ती है ।[2] इसमे सन्तों का कोई दोष नही है, दोष है ग्राहक पात्र का जो अपने भावों की समानरूपता ही सर्वत्र देखता है ।

तुलसीदास ने सन्त-स्वभाव के वर्णन में अन्य कई सुन्दर व्यापक अर्थ वाले रूपक प्रस्तुत किये हैं । यदि राम को सागर कहा जाय तो धैर्यवान सन्त मेघ है । सागर के जल को सर्वत्र समभाव से बरसा कर भूमि को उर्वरा एवं शस्यमयी बनाने का श्रेय मेघ को ही है । राम यदि चन्दन वृक्ष हैं तो सन्त वायु । चन्दन की सुगन्धि को चारों ओर बिखेरने वाली तथा सब के लिए सुलभ बनाने वाली वायु ही है ।[3] मेघ के अभाव मे असीम जलराशि उपस्थित होने पर भी, वर्षा संभव नही हो सकती तथा सुवास को सर्वत्र विकीर्ण करने वाली एकमात्र वायु ही है । इसी प्रकार राम की प्राप्ति कराने की क्षमता समदर्शी सन्तों में ही है । कोई धनी हो अथवा निर्धन, उच्च कुल का हो अथवा निम्न कुल का, विद्वान हो अथवा मूर्ख-अपढ़ सब के लिए राम-भक्ति को सहज तथा सुलभ बनाने वाले सन्त ही हैं । सन्तों के बिना हरि-भक्ति की प्राप्ति नही हो सकती । इतना ही नही तुलसी ने सन्तों को रामकथामृत निकालने वाले देवगण कहा है । देवो ने मदराचल की मथानी के द्वारा क्षीर-समुद्र का मंथन करके अमृत प्राप्त किया था, उसी प्रकार ब्रह्मरूपी सागर से ज्ञानरूपी मदराचल की मथानी के द्वारा संतरूपी देवता रामकथारूपी अमृत प्राप्त करते हैं । ज्ञान के द्वारा ब्रह्म से प्राप्त की हुई राम-कथा भक्ति के माधुर्य से ओत-प्रोत रहती है ।[4]

गरीबदास ने संत को नाम और भक्ति के समकक्ष माना है । जिस प्रकार नाम और भक्ति पापियों के उद्धारकर्त्ता हैं उसी प्रकार सत स्वयं तो निस्तार प्राप्त करता ही है पापियों का भी उद्धार करता है । गरीबदास का यह कथन नारदभक्तिसूत्र[5] "सतरति सतरति स

---

१. पलटू ऐना संत है सब देखै तेहि माँहिं ।
टेढ़ सोझ मुंह आपना ऐना टेढ़ा नाहिं ।।३ — पलटू, सं० बा० सं० भा० १, पृ० २१४

२. निज संगी निज सम करत दुर्जन मम दुख दून ।
मलयाचल है सन्त जन तुलसी दोस विहून ।।

३. राम सिन्धु धन सज्जन धीरा, चन्दन तरुहरि सन्त समीरा ।
सब कर फल हरि भगति सुहाई सो बिनु सन्त न काहूं पाई ।। — तु० रा०, उ० का० ११९.६

४. ब्रह्म पयोनिधि मंदर ज्ञान संत सुर आहिं ।
कथा सुधा मथि काढ़हिं भगति मधुरता जाहिं ।। — तु० रा०, उ० का० १२० (क)

५. ना० भ० सू० ५०

लोकसंग्रहरति" का बरबस स्मरण करा देता है ।[1] परमात्मा के सत्व को धारण करने वाले संतजनों को नामदेव पूजनीय मानते है क्योंकि उन परोपकारियों के द्वारा ही परमात्मा की प्राप्ति होती है ।[2] दादू ने सतों के जीवन का परम लक्ष्य परोपकार ही माना है । वे केवल इसलिए आविर्भूत होते है कि स्वयं तो रामरस का पान करें ही, दूसरों को भी करावें । स्वार्थ से रहित उनका जीवन परोपकार के लिए ही होता है ।[3]

सुख-दुख की कसौटी उपस्थित करते हुए तुलसीदास संत-मिलन को सुख की चरम सीमा मानते हैं । संतों का सहज स्वभाव मन-वचन-कर्म से परोपकार में रत रहना है । संत दूसरों के हित के लिए स्वयं कष्ट सहते हैं तथा बेचारे असत दूसरों की हानि के लिए कष्ट सहते हैं । कष्ट दोनों ही सहते हैं परन्तु दोनों के उद्देश्य में आकाश-पाताल का अन्तर है । भोज वृक्ष की भाँति, जो परहित के लिए अपनी त्वचा तक दे देता है, संत भी दूसरों की भलाई के लिए घोरतम कष्ट सहते हैं । सूर्य-चन्द्र का उदय जगत के सुख एवं कल्याण के लिए होता है; इसी प्रकार सतो का उदय विश्व को शाश्वत सुख प्रदान करने के लिए होता है ।[4] वृक्ष, सरिता, पर्वत, पृथ्वी का उपयोग दूसरों के हितार्थ ही होता है । तुलसी संतों को भी इन परोपकारी वस्तुओं के सदृश ही पाते हैं । कोमलता के लिए कवियों ने संत-हृदय की उपमा नवनीत से दी है परन्तु तुलसी के विचार से यह उपमा भी फीकी पड़ती है । नवनीत कोमल है, स्निग्ध है तथा वह अपने ही ताप से द्रवित होता है परन्तु संत-हृदय कोमल और विनम्र होने के साथ ही साथ दूसरे के संताप से द्रवित हो उठता है । यही है उसकी विशेषता । ऐसे ही सतों के दर्शन-प्रसाद से मनुष्य का जीवन सफल हो जाता है, तथा उसके सम्पूर्ण संशय नष्ट हो जाते हैं, इसमे तनिक भी सन्देह नहीं ।[5]

सतों की परोपकारिता तथा सहनशीलता के लिए तुलसी ने उनके चरित्र को कपास

---

१. अधम उधारन भगति है अधम उधारन नाव ।
अधम उधारन संत हैं जिनके मैं बलि जाव ।।७ — गरीबदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १८७

२. पूजा करि साधू जनहिं हरि को प्रन धारी ।
उनते गोविंद पाइए वे पर उपकारी ।। — नामदेव, सं० बा० सं० भा० २, पृ० २१

३. पर उपगारी संत सब आये यहि कलि माँहि ।
पिवै पिलावै रामरस, आप सुवारथ नाहिं ।७ — दादू, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ८७

४. नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं, सत मिलन सम सुख जग नाही ।
पर उपकार बचन मन काया, संत सहज सुभाउ खगराया ।७
संत सहहिं दुख परहित लागी, पर दुख हेतु असंत अभागी ।
भूर्ज तरू सम संत कृपाला, परहित नित सह विपति बिसाला ।८
संत उदय संतत सुखकारी, बिस्व सुखद जिमि इन्दु तमारी ।। — तु० रा०, उ० का० १२०.११

५. संत बिटप सरिता गिरि धरनी, पर हित हेतु सबन्ह कै करनी ।३
संत हृदय नवनीत समाना, कहा कविन्ह पर कहै न जाना ।
निज परिताप द्रवइ नवनीता, पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता ।४
जीवन जन्म सुफल मम भयऊ, तव प्रसाद संसय सब गयऊ ।। — तु० रा०, उ० का० १२४.५

के समान कहा है जो स्वयं दुख सहकर भी पर-छिद्र-आच्छादन करता है।[1] पलटूसाहब ने कुछ और आगे बढ़कर कपास के कष्टों का वर्णन विस्तार से उसके कपास रूप से वस्त्र रूप में परिवर्तित होने तक किया है। कपास को चरखी में ओटने के बाद उसे दोनों हाथ से नोचते हैं, धुनिया के द्वारा उसका रोम-रोम धुन जाने पर नख से पूनी पकड़कर सूत निकाला जाता है। जुलाहा वस्त्र बुनता है, धोबी उसे भट्ठी पर चढ़ाता है, कुन्दीगर उस पर मुंगरी से चोटें करता है। इतने पर भी वस्त्र को अवकाश नहीं मिलता। दरजी उस वस्त्र को खण्ड-खण्ड करके उसकी सिलाई करता है। कष्टों की यह लम्बी शृंखला कपास को पार करनी पड़ती है, केवल दूसरों के हित-साधन के लिए। उसमें उसका तनिक भी स्वार्थ नही होता। कपास के समान संत भी परहित के लिए जीवन-पर्यन्त अनेक कष्ट तथा विपत्तियाँ झेलते हैं।[2] पृथ्वी सहनशीलता के लिए विख्यात है। वह खोदी जाती है, अगणित प्राणियों के भार को वहन करती है, बिल्कुल शांत भाव से। पेड़ो के कंटने को और बाढ़ की भीषणता को सहन करते हैं वन। धरती और वन दोनों ही प्रकृति की सहिष्णुता के मापदण्ड हैं। कबीरदास ने संतों को भी इन्हीं दोनों की श्रेणी में रखते हुए मानव की सहिष्णुता का मापदण्ड प्रस्तुत किया है। दुर्जनो के कटु वचनाघातों को सहन करने मे संत ही समर्थ होते हैं, अन्य कोई नहीं।[3]

यदि साधु सब प्रकार से हीन हो तो भी उसकी समता बडे से बड़े कुलीन नही कर सकते क्योंकि साधु रात-दिन हरिनाम स्मरण करता है तथा कुलीन अहकार तथा आत्म-श्लाघा की अग्नि में जला करता है।[4] सतों में सभी श्रेष्ठ हैं परन्तु उनमें भी आत्मदर्शी श्रेष्ठतर हैं।[5] पलटूदास के उपर्युक्त कथन से यह प्रकट होता है कि प्रत्येक संत आत्मदर्शी नही होता, न आत्मदर्शी होना संत के लिए आवश्यक गुण ही माना गया है। कबीरदास ने अवगुणों का त्यागकर केवल गुणों को ही ग्रहण करने का आदेश दिया है। मधुमक्षिका

---

१. तु० रा०, पृ० ६०

२. संत सासना सहत हैं जैसे सहत कपास।
जैसे सहत कपास नाथ चरखा में ओटै।
रूई धरि जब तुमै हाथ से दोउ निभोटै।
रोम रोम अलगाय पकरि के धुनिया धूनीं।
पिउनी नंह दै काति सूत ले जुलहा बूनी।
धोबी भट्ठी पर धरी कुन्दीगर मुगरी मारी।
दरजी टुक टुक फारि जोरि के किया तयारी।
पर स्वारथ के कारने दुख सहै पलटूदास।
संत सासना सहत है जैसे सहत कपास॥ पलटू साहिब, सं० बा० सं० भा० २, पृ०, २२७

३. खूंदन तो धरती सहै बाढ़ सहै बनराइ।
कुसबद तौ हरिजन सहै दूजै सह्या न जाइ।२ क० ग्र०, पृ० ६३

४. जदपि साधु सबही बिधि हीना, तदपि समता के न कुलीना।
यह दिन रैनि नाम उच्चरै, वह नित मान-अगिनि में जरै॥४१ तु० ग्र०, पृ० १२

५. संत संत सब बड़े हैं, पलटू कोऊ न छोट।
आतम दरसी मिहीं हैं, और चाउर सब मोट॥१ पलटू साहिब, सं० बा० सं० भा० १, पृ० २१३

प्रत्येक पुष्प से उसका मधु ही संचित करती है, उसी प्रकार संत को प्रत्येक घट में व्याप्त अन्तर्यामी परमात्मा को पहचान लेना चाहिए।[1] दादू ने सत का लक्षण यही कहा है कि जो अवगुणों को त्यागकर गुण ग्रहण करे। जो गुण और अवगुण से रहित निर्गुण हो जाय, वह स्वयं ब्रह्म ही है।[2]

एक ओर भक्त तुलसीदास दूसरो से द्रोह करने वाले, दूसरे की स्त्री, दूसरे के धन तथा दूसरे की निन्दा में आसक्त पापीजनों को मनुष्य-शरीर धारण किये हुए साक्षात् राक्षस मानते हैं।[3] इसी भाव को नकारात्मक रूप में व्यक्त करते हुए सन्त नामदेव ने परधन तथा परदारा के त्यागने वाले के निकट परमात्मा का वास माना है। उसकी उन्होंने संत कोटि में गणना की है। वे उस असंत का दर्शन भी नहीं करना चाहते जो परमात्मा का भजन नहीं करता।[4]

साधुजन संसार में प्रत्यक्ष 'पारस' मणि के समान हैं। पारस मणि के स्पर्श होते ही लौह सुवर्ण हो जाता है, उसी प्रकार सत के सम्पर्क मे आते ही मनुष्य का जगज्जाल से उद्धार हो जाता है।[5] असत्य और कपट से रहित परमात्मा का ध्यान करने वाले संत जनो का दर्शन शुभ पर्व पर गगा-स्नान की भाँति पुण्य तथा फलों को देने वाला है।[6]

संत की शीतलता की उपमा चन्द्रमा तथा चन्दन से दी गई है। सत, चन्द्र तथा चन्दन तीनों ही जगत् के सताप के नाशक है। क्रोध की ज्वाला से दग्ध मनुष्य भी यदि सत के सम्पर्क में आता है तो वे उसे मधुर वाणी के द्वारा शांत कर देते हैं। उनके धैर्य, शील, सद्भाव, क्षमा अवर्णनीय हैं। वे अपने अत्यन्त विनम्र शब्दो से वज्र को भी आर्द्र कर देते हैं। उनका रहना-सहना, चलना-फिरना सभी कार्य ज्ञान की सुगन्धि से समन्वित रहते है। संत के दर्शन मात्र से त्रिविध ज्वालाएँ शांत हो जाती हैं। और क्या कहा जाय, संत के दर्शन

---

१. कबीर औगुण नां गहै गुंण ही कौ ले बीनि।
घट घट महु के मधुप ज्यूं पर-आतम ले चीन्हि ॥३ — क० ग्र०, पृ० ५५

२. औगुण छाडै गुण गहै सोई सिरोमणि साध।
गुण औगुण थैं रहित है सो निज ब्रह्म अगाध ।६ — दादू, सं० बा० स० भा० १, पृ० ८७
साधू ऐसा चाहिए जैसा रूप सुभाय।
सार सार को गहि रहै थोथा देइ उड़ाय।

३. परद्रोही पर दार रत पर धन पर अपवाद।
ते नर पांवर पापमय देह धरें मनुजाद। — तु० रा०, उ० का० ३९

४. पर धन पर दारा परिहरी। ताके निकट बसहि नरहरी।
जो न भजंते नारायना। तिनका मै न करौं दर्सना ॥ — नामदेव, सं० बा० सं० भा० २, पृ० ३१

५. साधू जन संसार में पारस परगट गाइ।
दादू केते ऊधरे जेते परसे आइ ॥१ — दादू, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ८६

६. साहिब जिनके उर बसै झूठ कपट नहिं अंग।
तिनका दरसन न्हान है कहूँ परबी फिर गंग ।८ — गरीबदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० २०३

से क्षुधा-तृषा तक शांत हो जाती है ।[1] संत का दर्शन करने वाला इतना भाव-विभोर हो जाता है कि उसे भूख-प्यास तक का अनुभव नहीं होता। मनुष्य अपने गुण तथा दूसरे के अवगुण सदैव देखता है। एक लोकोक्ति के अनुसार मनुष्य के कंधे पर एक अधारी पड़ी हुई है जिसके अगले भाग में मनुष्य के अपने गुण तथा दूसरों के अवगुण भरे रहते हैं और वही उसके 'दृष्टि-पथ' में सदैव आते हैं। अधारी के पिछले भाग में अपने अवगुण तथा दूसरों के गुण रहते हैं जो कभी भी दृष्टि में नहीं आते। इस सामान्य नियम के विपरीत संत कभी दूसरों के अवगुण नहीं देखता जिससे कि वह उनकी निन्दा कर सके और न वह अपने गुणों को ही देखता है और इसीलिए आत्म-सराहना नही करता। वह पिशुनता से पृथक् रहता है। काम, क्रोध, आशा, तथा तृष्णा से रहित सत, सत्य से परिचय प्राप्त करके कभी असत्य भाषण नहीं करता। वह एक परमात्मा को ही प्रत्येक घट में देखता है। ऊँच-नीच का भेद न मानकर सब को समान देखता है। अपने उपदेश से पथभ्रष्टों को सचेत करके उनमें बुद्धि और विश्वास उत्पन्न करता है। यहाँ एक बात ध्यान देने की ओर है, सभी संत उपरिवर्णित गुणों से समन्वित नहीं होते। कोई विरला ही संत इस कसौटी पर पूरा उतरता है। जो जीव-हिंसा से बचने के लिए सँभल-सँभल कर पग धरते है वे संत ही आवागमन से मुक्ति दिलाने वाले तथा भवसागर से पार करने वाले परम परोपकारी हैं।[2]

---

१. सीतल चन्दन चन्द्रमा तैसे सीतल सन्त।
तैसे सीतल सन्त जगत की ताप बुझावैं।
जो कोई आवै जरत मधुर मुख बचन सुनावैं।
धीरज सील सुभाव छिमा ना जात बखानी।
कोमल अति मृदुबैन बज्र को करते पानी।
रहन चलन मुसकान ज्ञान की सुगन्धि लगावैं।
तीन ताप मिटि जाय सन्त से दरसन पावैं।
पलटू ज्वाला उदर की रहै न मिटै तुरन्त।
सीतल चन्दन चन्द्रमा तैसे सीतल सन्त। पलटू, सं० बा० सं० भा० २, पृ० २२६

२. सोई साध अगाध है आपा न सरावै।
पर निन्दा नहि संचरै चुगली नहि खावै ।।१
काम क्रोध त्रिस्ना नहीं आसा नहिं राखै।
साचे सूं परचा भया जब कूड़ न भाखै ।।२
एकै नजर निरंजना सबही घट देखै।
ऊंच नीच अन्तर नहीं सब एकै पेखै ।।३
सोई साध सिरोमनी जप तप उपकारी।
भूले कूं उपदेस दे दुर्लभ संसारी ।। ४
अकल यकीन पठाय दे भूले कू चेतै।
सो साधू संसार में हम बिरले भेंटे ।।५
सूतक खोवै सत कहै साचे सूं लावै।
सो साधू संसार में हम बिरले पावै ।। ६
निरख निरख पग धरत हैं जिव हिंसा नाहीं।

नानक ने अहंकार त्यागने, तथा काम, क्रोध और दुर्जन की संगति से सदैव विरत रहने का आदेश दिया है। सुख-दुख तथा मान-अपमान दोनों को समान समझने वाले हर्ष और शोक से रहित जो होते हैं, वे ही जगत् में तत्त्व को जानते हैं।[1] प्रस्तुत पद में यदि 'तिन' शब्द के स्थान में 'जिन' कर दिया जाय तो अर्थ में पर्याप्त अन्तर उपस्थित हो जाता है। 'जिन के' प्रयोग से अर्थ यह निकलता है कि जो लोग तत्त्व जान लेते हैं उनमें सुख-दुख, हर्ष-शोक, स्तुति-निन्दा, मान-अपमान आदि द्वन्द्व नहीं रह जाते अर्थात् प्रथम तत्त्वज्ञान होता है तत्पश्चात् निर्द्वन्द्वता आती है। इसके विपरीत 'तिन' के प्रयोग से यह प्रकट होता है कि प्रथमत: साधक हर्ष, शोक आदि से अतीत परम निर्द्वन्द्व हो जाता है तब तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है। इस प्रकार निर्द्वन्द्वता प्राथमिक ठहरती है और तत्त्वज्ञान द्वितीय। अब प्रश्न यह है कि निर्द्वन्द्वता अर्थात् शोक, राग, विरतता प्राथमिक है अथवा तत्त्वज्ञान। यदि तत्त्वज्ञान को प्राथमिक मान लिया जाय तो तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर समस्त द्वन्द्वों तथा संघर्षों से मुक्ति तो स्वत: ही मिल जाती है परन्तु द्वन्द्वरहित हो जाने पर भी तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होगी अथवा नहीं यह सन्देहास्पद ही है। हाँ, यह बात अवश्य है कि द्वन्द्वों से रहित साधक तत्त्वज्ञान के मार्ग पर अवश्य पहुँच जाता है। एक अन्य पद मे नानक ने उस संत के हृदय में परमात्मा का निवास माना है जो सुख-दुख, प्रेम-भय किसी से प्रभावित नही होता तथा अभिमान, लोभ, मोह, मान, अपमान, स्तुति, निन्दा, हर्ष, शोक से निर्लिप्त रहता हुआ आशा, तृष्णा आदि को त्यागकर जगत के प्रति रागहीन रहता है। उसको काम, क्रोध आदि विकार स्पर्श तक नही कर पाते। वस्तुत: उसी हृदय में परमात्मा का निवास समझना चाहिए।[2]

तुलसीदास ने संत-महिमा वर्णन करने मे अपने को अयोग्य एवं असमर्थ ठहराकर उसकी उच्चता प्रदर्शित की है। शाक-विक्रय जैसे अति निम्नकोटि के व्यवसाय को करने

चौरासी तारन तरन आये जग मांही ।।७
इस सौदे कूं उतरै सौदागर सोई ।
भरे जहाज उतारि दे सौदागर लोई ।।८ — गरीबदास, सं० बा० सं० भा० २, पृ० १९८

१. साधो मन का मान तियागो।
काम क्रोध संगति दुर्जन की ताते अहनिसि भागो।
सुख दुख दोनों सम करि जानै और मान अपमाना।
हर्ष सोक तें रहै अतीता तिन जग तत्व पिछाना।
अस्तुति निन्दा दोऊ त्यागे खोजै पद निरवाना।
जन नानक यह खेल कठिन है किनहूँ गुरु मुख जाना। — सं० बा० सं० भा० २, पृ० ५२

२. जो नर दुख में दुख नहिं मानै।
सुख सनेह अरु भय नहि जाके, कंचन माटी जानै।
नहिं निन्दा नहिं अस्तुति जाके, लोभ मोह अभिमाना।
हर्ष सोक तें रहै नियारो, नाहि मान अपमाना।
आसा मनसा सकल त्यागि कै जग तें रहै निरासा।
काम, क्रोध जेहि परसै नाहिन, तेहि घट ब्रह्म निवासा। — नानक, सं० बा० सं० भा०, २ पृ० ५२

वाला एक शाक-विक्रेता मूल्यवान मणियों के गुण आँकने के लिए पूर्णतया अयोग्य तथा असमर्थ होता है उसी प्रकार तुलसीदास भी संत-महिमा वर्णन करने में अपने को असमर्थ पाते हैं। साधु-महिमा का वर्णन करने में ब्रह्मा, विष्णु और महेश की वाणी भी अपनी अयोग्यता विचार कर संकुचित हो जाती है। संतो का चित्त हित अथवा अनहित सब में समान रहता है। अंजलि में ग्रहण किए हुए पुष्प बिना किसी भेद-भाव के दोनों करों को समान रूप से सुगंधित करते हैं। वह कर पुष्प तोड़ने वाला हो अथवा ग्रहण करने वाला इस भेद से पुष्पों को कोई प्रयोजन नही। इसी प्रकार सतजन अपना हित अथवा अहित करने वाले दोनों के ही प्रति समान स्नेह-भाव रखते है।[1] अन्यत्र तुलसी ने भगवान् राम के द्वारा संतों के लक्षणों का विस्तार से वर्णन कराया है।[2] संतों के इन्हीं गुणो के वशीभूत होकर भगवान् उनके हृदय में निवास करते है। सतों के इन लक्षणों को यदि हम वैयक्तिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक सदाचार में विभक्त करें तो हम देखते है कि निम्नलिखित इक्कीस लक्षण वैयक्तिक, बारह सामाजिक तथा पन्द्रह आध्यात्मिक सदाचार के उपलब्ध होते हैं।

---

१. सठ सुधरहि सतसंगति पाई।
पारस परस कुधातु सुहाई।
विधि वस सुजन कुसंगति परही।
फनि मनि सम निज गुन अनुसरही।५
विधि हरि हर कवि कोविद बानी।
कहत साधु महिमा सकुचानी।
सो मो सन कहि जात न कैसें।
साक बनिक मनि गुन गन जैसे।६
बंदउँ संत समान चित हित अनहित नहि कोइ।
अंजलिगत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोइ॥ तु० रा०, बा० का० ३ (क)

२. सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊं।
जिन्हते मैं उनके बस रहऊं।३
षट बिकार जित अनघ अकामा,
अचल अकिंचन सुचि सुखधामा।
अमितबोध अनीह मितभोगी।
सत्य सार कबि कोबिद जोगी।४
सावधान मानद मद हीना,
धरि धर्मगति परम प्रवीना।५
गुनागार संसार दुख रहित विगत सन्देह
तजि मम चरन सरोज प्रिय तिन कहुँ देह न गेह॥ ४५
निज गुन श्रवण सुनत सकुचाहीं, पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं।
सम सीतल नहि त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहि सन प्रीती।१
जप तप व्रत दम संजम नेमा, गुरु गोविन्द बिप्र पद प्रेमा।
श्रद्धा छमा मयत्री दाया, मुदिता मम पद प्रीति अमाया।२
विरति बिवेक विनय विज्ञाना, बोध जथारथ वेद पुराना।
दंभ मान मद करहिं न काऊ, भूलि न देहिं कुमारग पाऊ। तु० रा०, अर० का० ४५,१

वैयक्तिक	सामाजिक	आध्यात्मिक
१. षट विकारजित	१. सुखधाम	१. योगी
२. अनघ	२. सत्यनिष्ठ	२. धर्मगति-प्रवीण
३. अकाम	३. मानद	३. संसार-दुखरहित
४. अचल	४. नीतिवान्	४. विगत-संदेह
५. शुचि	५. सब पर प्रीति	५. प्रभु-पद-प्रीति
६. अमित बोध	६. विप्र-पद-प्रेम	६. जप
७. इच्छारहित	७ क्षमा	७. तप
८. मिताहारी	८. मैत्री	८. व्रत
९. विद्वान्	९. दया	९. नियम
१०. सावधान	१०. अमाया	१०. गुरु-प्रेम
११. मदहीन	११. विनय	११. गोविंदप्रेम
१२. धीर	१२. पर-हित-रत	१२. श्रद्धा
१३. निज-गुण-श्रवण-संकोच		१३. मुदिता
१४. परगुण-श्रवण हर्ष		१४. प्रभु-पद-प्रीति
१५. सम		१५. यथार्थ-बोध
१६. शीतल		
१७. सरल सुभाव		
१८. दम		
१९. विरति		
२०. विवेक		
२१. विज्ञान		

वस्तुत: वैयक्तिक तथा सामाजिक सभी सदाचार आध्यात्मिक सदाचार में परिणत होते हैं जो कि मूल में केवल भगवत्-पद-प्रेम है। इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी ने संत के जिन गुणों को प्रस्तुत किया है, यथार्थ में वे सभी भगवत्-प्रेम से ही सम्बद्ध हैं। अस्तु संत का प्रमुख गुण भगवत्-पद-प्रेम ही ठहरता है। प्रत्येक देश और काल में उसके अन्तिम लक्ष्य की एक धारा होती है। इसमें भी सन्देह नहीं कि किसी भी काल के अन्तर्गत एक धारा के साथ-साथ ही दूसरे प्रकार की धारा का भी जन्म होता है। जिसे तत्कालीन प्रचलित सिद्धांत की क्रिया तथा प्रक्रिया के रूप में आविर्भूत माना जा सकता है। हम देख सकते हैं कि वेदों में स्वर्गप्राप्ति चरमलक्ष्य (Summom Bonum) माना गया है, उपनिषद्काल में उसका स्थान सत्, चित्, आनन्द ले लेता है। बुद्धों में निर्वाण, दुःख-निवृत्ति-चिन्तन ही जीवन की चरम सिद्धि बन गई। जैनों को आचार परिपुष्टि तथा अहिंसा ही सर्वमान्य प्रतीत होती है। दर्शनों के उदय के साथ सत्य के ज्ञान तथा प्रत्यक्ष पर बल दिया गया। योग-दर्शन के योग, सांख्य के त्रिगुण ज्ञान, वेदान्त के ब्रह्मानन्द, मीमांसा के कर्म, तथा वैशेषिक न्याय के सत्य के स्वरूप स्थिरीकरण ने संयुक्त रूप से मिलकर, एक नये जीवन-दर्शन को जन्म दिया,

उस दर्शन में नैयायिक की तर्क शैली का आघात तथा कठोरता थी, मीमांसा-दर्शन की कर्म-फल भावना थी, सांख्य का त्रिगुणोत्पन्न जगत् था, योग की समाधि-प्राप्ति में साधना थी, उन सभी की परिणति होती थी—वेदान्त के ब्रह्मानन्द में, जिसकी प्राप्ति के अन्य सब सोपान मात्र थे। श्रद्धा भक्ति के रूप में परिवर्तित हो चुकी थी और भक्ति भिन्न-भिन्न देवताओं से लेकर उस एक अथवा निर्गुण परब्रह्म तक में केन्द्रित थी। परन्तु समाज केवल भक्ति से भी संतुष्ट न हो सका था। वह अपने आराध्य से, अपने प्रियतम से भौतिक सम्बन्धियों की ही भाँति अथवा उससे अधिक तथा अलौकिक प्रेम करना चाहता था। नारद, शाण्डिल्य आदि भक्ति-सूत्रों तथा भागवत् आदि ग्रंथों ने पहले ही वह संभव कर दिया था जो परवर्ती काल में जायसी, कुतुबन, मझन, रहीम मंसूर, मीरा आदि प्रेमी भक्तों के द्वारा पूर्णता में विकसित हुआ। परन्तु मध्यकालीन हिन्दी भक्तिकाव्य में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य भगवत्प्राप्ति ही था, प्रेम, सख्य, दास्य, योग आदि सब उसके साधन मात्र थे।

तुलसीदास ने सत की वाणी को हृदयस्पर्शिणी सांसारिक भ्रमों को दूर करने वाली तथा अनुभव-सुख-उत्पन्नकर्त्री कहा है।[1] अनुभव अथवा प्रत्यक्ष-सुख का उल्लेख निर्गुणिया सतों ने ही अधिकतर किया है। परन्तु सत की वाणी उस आत्मानन्द का अनुभव कराने वाली है, इसे भक्तकवि तुलसी को भी स्वीकार करना पड़ा है। उन्होंने संत श्रेष्ठ का लक्षण 'अहं' तथा 'पर' के मोहान्धकार के नष्ट हो जाने तथा आत्म-भानु-प्रकाश के उदय होने को माना है।[2] आत्मअनुभव तथा आत्मप्रकाश होने को तुलसी ने एक बहुत ही सम्माननीय उच्च अवस्था, जो संत शब्द से सम्बद्ध की जा सकती है, माना है। उस समय संत शब्द से जिन साधकों व सिद्धों का बोध होता था, उनमें से कुछ केवल नामधारी साधु या संत ही थे जो अपने आपको अन्त का ज्ञाता अथवा अंत का प्राप्तिकर्ता कहते थे। ऐसे संतों की भर्त्सना करते हुए तुलसी ने उन्हे मिथ्यावादी तथा 'महा गँवार' कहा है।[3] उनकी विद्वत्ता अथवा सर्वज्ञता का मिथ्याभिमान उनकी मूर्खता का ही द्योतक कहा जा सकता है। अनेक मार्गों का अनुसरण करना तथा सिद्ध मुनियों द्वारा स्वयं को ईश कहलाना भी तत्कालीन साधु नामधारी मिथ्यावादी सतों की प्रवृत्ति का द्योतक है जिसकी ओर तुलसी ने संकेत किया है।[4] तुलसी ने माया त्यागी सतों की उपलब्धि अत्यन्त विरल मानी है। कलियुग में जो अगणित

---

१. अनुभव सुख उत्पति करन भव भ्रम धरै उठाइ।
ऐसी बानी संत की जो उर भेदै आइ ॥२० — तु० ग्रं०, पृ० १०

२. 'मैं तें' मेट्यो मोह तम ऊगो आतम भानु।
संतराज सो जानिए तुलसी या सहिदानु ॥३३ — तु० ग्रं, पृ० ११

३. 'झूठो है, झूठो है, झूठो सदा जग' संत कहंत जे अंत लहा है।
ताको सहै सठ संकठ कोटिक, काढ़त दंत करंत हहा है।
जानपनी को गुमान बडो, तुलसी के विचार गँवार महा है।
जानकी जीवन जान न जान्यो तौ जान कहावत जान्यो कहा है ।३६ — तु० ग्रं०, पृ० १७४

४. आगम वेद पुरान बखानत मारग कोटिन जाहिं न जाने।
जे मुनि ते पुनि आपुहि आपु को ईस कहावत सिद्ध सयाने ।१०५ — तु० ग्रं०, पृ० १८७

संत दृष्टिगोचर होते हैं, वे मोर का स्वरूप धारण करने वाले काग की भाँति मिथ्या वेषधारी कुटिल जन हैं जो अपनी स्वार्थपूर्ति में ही सदैव संलग्न रहते हैं ।[1] कवियों द्वारा प्रस्तुत संतों के गुणो एवं लक्षणों की कसौटी पर खरे उतरने वाले संतों की विरलता के विषय में गरीबदास का कथन है—पंडित, ज्ञानी तथा श्रोता असख्य हैं । परन्तु साधु-संत अत्यंत अल्प हैं ।[2] पलटू ने इन विरले संतों की परख उनकी रहनी में करने का संकेत किया है ।[3] इसी प्रकार कबीर का यह दोहा—सिंहो के झुण्ड नहीं होते, हंसों की पक्तियाँ नहीं होतीं, मणि-माणिक्यों की बोरियाँ नही होती तथा सत जमात बनाकर नही चलते, संतों की विरलता पर ही प्रकाश डालता है ।[4]

तुलसी ने संतों को अनुभव-सुख का उत्पत्तिकर्ता कहा है । तथा सहजोबाई ने उसे अनुभव का ज्ञान अर्जन करने वाला जिसके कारण कर्म-भ्रम तथा अज्ञान आदि भाग खड़े होते हैं अथवा छिप जात हैं । ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार जंगल में सिह के गर्जन को सुनकर काननचारी पशु भाग खड़े होते हैं अथवा छिप जाते हैं ।[5] तुलसी के संत को अनुभव-सुख होता है तथा वह दूसरों में भी उसकी उत्पत्ति करता है । परन्तु सहजोबाई का संत स्वयं ही अनुभव-ज्ञानयुक्त होता है ।

धरमदास ने संत को प्रिय के अज्ञात देश के सन्देशवाहक का रूप प्रदान किया है ।[6] यदि उस अज्ञात देश की कल्पना भी कर ली जाय तो उस प्रवेश में सत का ही आगमन संभव है । गरीबदास के मत से पृथ्वी, आकाश, चन्द्र, सूर्य, जल, वायु तीर्थ, दान आदि का सृजन सतों के कारण ही हुआ है ।[7] संभवतः गरीबदास गीता के श्लोक "**परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे**" से प्रभावित थे, जिसमें परमात्मा का अवतार धारण करना भी साधु के लिए ही कहा गया है । इसीलिए तुलसीसाहब ने संत की अपार महिमा के साथ-साथ उस स्थान तक का गुणगान किया है । जहाँ संत निवास

---

१. विरले विरले पाइए मायात्यागी संत ।
तुलसी कामी कुटिल कलि केकी-काक अनन्त ।।३२ — तु० ग्र०, पृ० ११

२. पंडित कोटि अनन्त हैं ज्ञानी कोटि अनन्त ।
स्रोता कोटि अनन्त हैं विरले साधू संत ।।१८ — गरीबदास, सं० बा० सं भा० १, पृ० १९९

३. साध परखिए रहनि में चोर परखिए रात ।
पलटू सोना कसे में झूठ परखिए बात ।।२ — पलटू साहिब, सं० बा० सं० भा० १, पृ० २१८

४. सिंहो के लहड़े नहीं हंसों की नहि पांति ।
लालों की नहि बोरियाँ साधु न चलै जमाति ।। — कबीर

५. साधू सिंह समान है गरजत अनुभव ज्ञान ।
करम भरम सब भजि गये 'दया' दुरयो अज्ञान ।।५ — दयाबाई सं० बा० सं० भाग १, पृ० १७८

६. बाहि देस की बतियां रे लावैं संत सुजान ।। — धरमदास, सं० बा० सं भा० २, पृ० ३९

७. संतों कारन सब रच्या सकल जमी असमान ।
चन्द सूर पानी पवन जग तीरथ औ दान ।।१६ — गरीबदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १९९

करता है। ऐसी भूमि को महादेव शंकर तक प्रणाम करते हैं।[1]

आत्मा और परमात्मा के मिलन-प्रसंग में संत कवियों ने प्रायः विवाह के रूपक उपस्थित किये हैं। आत्मा की परमात्मा से सगाई जुड़ने में संत दूत का कार्य निष्पन्न करते हैं।[2] दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि आत्मा को परमात्मा मिलन के लिए उत्प्रेरित करने वाले संत ही होते हैं।

संतों के लक्षण, गुण, महत्ता आदि के प्रतिपादन के अतिरिक्त हिन्दी संत कवियों ने संतों और परमात्मा के बीच एक ऐसे गूढ़ सम्बन्ध को व्यक्त किया है जो सर्वदा अटूट रहता है। सम्भवतः यह सम्बन्ध ही उनको महत्ता प्रदान करने वाला तथा चरमकोटि तक पहुँचाने वाला है। मलूकदास ने इस सम्बन्ध को गाय और वत्स के सम्बन्ध की भाँति कहा है। गाय अपने बछड़े का साथ कभी नही छोड़ती। जहाँ-जहाँ संत जाते हैं, वहाँ-वहाँ भगवान् उनका अनुगमन करते हैं।[3] गरीबदास ने भी बिल्कुल यही भाव एक अन्य दोहे में व्यक्त किया है। भक्त-वत्सल भगवान् संत के पीछे लगे घूमते हैं। जिस प्रकार गाय अपने बछड़े को कभी दृष्टि से ओझल नहीं होने देती, परमात्मा भी भक्त पर सदैव अपनी कृपा-दृष्टि रखते हैं।[4] इसी उपमा को जगजीवन साहिब ने इस प्रकार रखा है: गाय वन मे तृण चरने के लिए जाती है परन्तु उसका चित्त घर में बँधे हुए बछड़े में ही लगा रहता है।[5] इसी प्रकार साधु संसार में भोग भोगता हुआ निवास करता है परन्तु उनमें लिप्त नही होता। उसका ध्यान सदैव परमात्मा में ही लगा रहता है। साधु से कोई भी श्रेष्ठ नही है। वह हरिस्मरण का उत्प्रेरक है। साधु राम के समान ही हैं। श्री राम के शब्द है—मैं साधु में तथा साधु मुझ में हैं। इन दोनों में अन्तर नही है। जो इनमें भेद मानता है उसे नरक मिलता है।[6]

---

१. सुनु हिरदे कहुँ संत की महिमा अगम अपार।
कर प्रनाम वहि भूमि को संकर बारम्बार ॥ ४ 　तुलसी साहिब, स० बा० सं० भा १, पृ० २२६

२. म्हारे हरि जू सूँ जुरलि सगाई हो।
साध संत मिलि कियो बसीठी सतगुरु लगन लगाई हो। ३
केशवदास, सं० बा० सं० भा० २, पृ० १७७

३. जहाँ जहाँ बच्छा फिरै तहाँ तहाँ फिरै गाय।
कहै मलूक जहँ संत जन तहाँ रमैया जाय। १ 　मलूकदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १०२

४. ज्यूँ बच्छा गउ की नजर में यूँ साईं औ संत।
हरिजन के पीछे फिरै, भक्त बछल भगवन्त। १७ 　गरीबदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १९९

५. गऊ निकसि बन जाही, बाछा उन घर ही माहीं।
तृन चरहिं चित्त सुत पासा, यहि जुक्ति साध जग बासा। २
जगजीवन, सं० बा० सं० भा० २, पृ० १४०

६. साध तें बड़ा न कोई, कहि राम सुनावत सोई।
राम कही सम साधा, रस एकमता औराधा।
हम साध साध हम माहीं, कोउ दूसर जानै नाहीं।
जिन दूसर करि जाना, तेहिं होइहि नरक निदाना। २ 　जगजीवन, सं० बा० सं० भा० २, पृ० १४०

कबीरदास ने नेत्रों से अलक्ष परमात्मा का दर्शन कराने वाले को सत्गुरु संत कहा है।[१] पलटूसाहब ने संतों और परमात्मा के गुणों को प्रदर्शित करते हुए दोनों में जो बड़ा हो उसे पूजने का निर्देश किया है।. परमात्मा गुण के मध्य में है, समस्त गुण उसी से उत्पन्न होते हैं। वह गुणनिधि कहा जाता है परन्तु संत गुणों से रहित है। संतजन प्रथम हैं, परमात्मा द्वितीय अस्तु सत ही महान् तथा पूजनीय हैं।[२] तुलसीदास,[३] गरीबदास,[४] कबीर दास[५] तथा पलटूसाहब[६] ने संत को परमात्मा के समान अथवा दोनों को एक ही माना है। इस प्रकार हमने देखा कि हिन्दी संत कवियों ने संत को परमात्मा से बढ़कर, उससे एक रूप, अथवा उसके समान ही कहा है।

संग सज्जन अथवा दुर्जन का किसलिए ग्राह्य अथवा त्याज्य है? क्या सत्संग अपने आप में लक्ष्य है, अन्तिम गति है, अथवा किसी लक्ष्य की प्राप्ति में साधन है? अधिकांश मत इसी पक्ष में हैं कि सत्सग मोक्ष अथवा भक्ति-प्राप्ति के लिए माध्यम है और यही उसकी फलमयता तथा श्रेष्ठता है। कबीर ने इस शरीर की उपमा पक्षी से दी है; जिस प्रकार पक्षी जहाँ चाहता है उड़कर पहुँच जाता है तथा जिस प्रकार के मृदु, अम्ल, अथवा तिक्त फल भोग करना चाहता है, करता है। उसी प्रकार यह मनुष्य-शरीर मन के सयोग से जहाँ भी चाहे जाकर जिस प्रकार के भोग करना चाहे, भोग कर सकता है। जिस प्रकार की सगति करेगा उसी प्रकार का फल उसे भोग करना होगा। चाहे वह सगति मन की हो, दूसरे प्राणियों की हो अथवा वस्तुओ की।[७] ऐसा कौन है जिसने कि सत्संग से बड़प्पन नही पाया। धूम्र का सहज धर्म है कटुता परन्तु अगरु के सुसग से वह अपने उस सहज धर्म को छोड़कर मृदु सुगन्धयुक्त हो जाता है।[८]

---

१. भाई कोई सतगुरु संत कहावै नैनन अलख लखावै ॥ — क० ग्र० क०, पृ० २६७

२. हरि को लिहा निकारि बहुरि तिन मंत्र विचारा।
हरि हैं गुन के बीच सत हैं गुन से न्यारा।
पलटू प्रथमै संतजन दूजे हैं करनार।
बड़ा होय तेहिं पूजिए संतन कीन्ह बिचार ॥ १ — पलटू साहिब, सं० बा० सं० भा० २, पृ० २२६

३. अब जनि करहि विप्र अपमाना।
जानेसु संत अनंत समाना। — तु० रा०, उ० का० १०८.६
संत भगवंत अंतर निरंतर नहीं किमपि मतिमलिन कह दास तुलसी ॥५७ — विनय पत्रिका

४. साईं सरीखे संत हैं या में मीन न मेख ॥ २ — गरीबदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १९८

५. कबीर बन-बन मैं फिरा कारणि अपणैं रांम।
राम सरीखे जन मिले तिन सारे सब काम ॥५ — क० ग्र०, पृ० ४९

६. संत औ राम को एक कै जानिये।
दूसरा भेद ना तनिक आनै ॥१७ — पलटू साहिब, रेखता, पृ० ६

७. कबीर तन पंखी भया जहाँ मन तहाँ उड़ि जाय।
जो जैसी संगति करै तो तैसे फल खाय ॥ ७

८. सोइ भरोस मोरें मन आवा केहि न सुसंग बड़प्पनु पावा।
धूमउ तजइ सहज करुआई, अगरु प्रसंग सुगंध बसाई ॥ ४ — तु० रा०, बा० का० ९.५

दरिया साहब का कथन है कि साधु का संग मजीठ के सदृश दूसरों को अपने रंग में रँग लेता है। मजीठ से रँगे जाने पर कपड़े में शोभायमान रंगीनी आ जाती है।[1] जिस प्रकार संत को अपने रंग मे रँग लेने वाले मजीठ की भाँति माना गया है उसी प्रकार उसे चन्दन की भाँति भी कहा गया है। जो कुकाष्ठ अरंड तथा आक के मध्य में उगकर उन्हें भी अपने समान चन्दन ही बना लेता है, अपने से भिन्न नहीं रखता।[2] मजीठ केवल अपने रंग का बना देता है परन्तु चन्दन स्वयं अपने स्वरूप का ही बना देता है।

यह सत्संग का ही प्रभाव है कि काग भी हंस के पद को प्राप्त कर लेता है और अपने स्वभाव अभक्ष्य-भक्षण को त्याग कर मुक्ता-भोगी हो जाता है।[3] स्वभाव को द्वितीय प्रकृति कहा गया है परन्तु साधुसग के स्थायी प्रभाव से स्वभाव भी बिना कष्ट व साधना के परिवर्तित हो जाता है। उदाहरणार्थ कसाई की छुरी पारस मणि के स्पर्श से स्वर्ण की हो जाती है और उससे मांस काटना जैसा निर्मम तथा कठोर कार्य नही हो पाता।[4] यहाँ पर कसाई की छुरी पात्र की अत्यन्त नीचता प्रदर्शित करने के लिए प्रयुक्त हुई है। संगति करने वाले पात्र की नीचता प्रयोजन नही रखती, प्रयोजन रखता है सत्सग का प्रभाव जो उस पात्र में आमूल परिवर्तन उपस्थित कर देता है।

सत्संग इस प्रकार का होना चाहिए जिस प्रकार मिश्री और जल का होता है। दोनों घुल-मिलकर शरबत के रूप में परिवर्तित होकर एकरूपता एवं एकरसता प्राप्त कर लेते हैं।[5] पतितपावनी गंगा में सभी प्रकार के नदी, नालों, नालियों आदि के अपवित्र जल का सम्मिश्रण होता है परन्तु वे सब उस पावन सरिता में अपने अस्तित्व को खोकर उसी के समान पवित्र हो जाते हैं। उसी प्रकार जो नीच, कलुषित, पातकी भी अपनापन त्यागकर सत्संग में आ जाते है, वे उसी में मिलकर संत की संज्ञा प्राप्त कर लेते हैं।[6] इसे अपने अस्तित्व का विलीनीकरण अथवा उच्चस्तरीय अस्तित्व का प्राप्तीकरण कहा जा सकता है।

ऐसे सत्संग की प्राप्ति इस संसार में उसी प्रकार दुर्लभ है जिस प्रकार मानव-शरीर

---

१. दरिया संगत साध की, सहजै पलटै अंग।
जैसे संग मजीठ के कपड़ा होय सुरंग॥ ८ दरिया मारवाड़, सं० वा० सं० भा० १, पृ० १२६

२. जहँ अरंड अरु आक थे, तहँ चन्दन ऊग्या माँहि।
दादू चंदन करि लिया, आक कहै को नाँहि। ३ दादू, सं० वा० सं० भा० १, पृ० ८७

३. सहजो संगत साध की काग हंस हो जाय।
तजि के भच्छ अभच्छ कूँ मोती चुगि चुगि खाय। ४ सहजोबाई, सं० वा० सं० भा० १, पृ० १५८

४. दरिया छुरी कसाब की पारस परसै आय।
लोह पलट कंचन भया, आमिष भखा न जाय। १ दरिया मारवाड, सं० वा० सं० भा० १, पृ० १२६

५. जल मिसिरी कोइ ना कहै सर्बत नाम कहाय।
यो घुल के सतसंग करै काहे भरम समाय। २ तुलसी साहिब, सं० वा० सं० भा० १, पृ० २३०

६. जो आवै सतसंग में जाति बरन कुल खोय।
सहजो मैल कुचैल जल मिलै सु गंगा होय। ३ सहजोबाई, सं० वा० सं० भा० १, पृ० १५८

की प्राप्ति । सत्संग से ही दैहिक, दैविक तथा भौतिक तापों की पीड़ा से मुक्ति मिलती है ।[१] भोजन, वस्त्र, स्त्री तथा पुत्र-सुख आदि लौकिक सुखोपभोग के उपकरण पापी मनुष्य के घर में भी सुलभ होते हैं परन्तु संत-मिलन तथा राम-धन ये दो वस्तुएँ अत्यन्त दुर्लभ हैं ।[२] संसार में साधु-संग का बड़ा ही महत्त्व है । वास्तव में यदि कोई संग करना जाने तो आधे क्षण का सत्सग भी समस्त कलुषो को धो डालने में समर्थ है ।[३] एक घड़ी, आधी घड़ी अथवा आधी की भी आधी घड़ी—जितनी भी साधु की संगति की जा सके, वही जीवन का लाभ है ।[४] तुलसी ने समय का उपयोग, जीवन की सार्थकता सत्सग में समझी है तथा सत्संग को अनेक व्याधियाँ हरने वाला माना है ।[५]

नानक की यही कामना है कि उन्हें सतों का दास बनने का अवसर प्राप्त हो जिससे कि वे प्रातः उनका चरण-वन्दन कर सकें तथा अहर्निशि उनका दर्शन पाते रहें ।[६] रैदास ने भी संत-समागम के विषय में यही भाव व्यक्त किये है । संतजनों के आगमन से वे कृतार्थ हो गये हैं तथा उन पर वे तन, मन, धन सर्वस्व न्यौछावर करने को प्रस्तुत हैं । संतों के आगमन से—उनके हरि-यश-गान से रैदास का घर-द्वार सब पवित्र हो गया है । वे सतजन स्वयं तो मुक्त होते ही हैं, दूसरो को भी मुक्त करने की क्षमता रखते हैं । उनके मिलन से जन्म-जन्म के बन्धन कट जाते हैं ।[७] पलटू साहिब तन, मन, धन सब संतों पर वारने को तैयार हैं । वे संत के साथ भगवान् को संलग्न मानते हैं तथा उनके मत से स्वय भगवान् भी संतों से भीत रहते हैं ।[८]

---

१. साध संग संमार में दुरलभ मनुष सरीर ।
संत संगति सूँ मिटत है त्रिविध ताप की पीर । ४ — दयाबाई, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १७७

२. असन बसन सुत नारि सुख पापिहु के घर होइ ।
संत समागम रामधन तुलसी दुरलभ दोइ । ११ — तुलसीदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० २४७

३. साध संग जग में बडो जो करि जानै कोय ।
आधो छिन सतसंग को कलमख डारै खोय । १२ — दयाबाई, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १७८

४. आध घड़ी की अध घड़ी अध घडी को आध ।
साधू सेती गोष्टी जो कीजै सो लाभ ।। ६ — गरीबदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १८६

५. एक घड़ी आधी घड़ी आधी हू की आध ।
तुलसी संगति साधु की हरै अनेकन व्याधि ।। — तुलसीदास

६. प्रभुजी यहो मनोरथ मेरा ।
कृपा निधान दयाल मोहि दीजै करि संतन का चेरा ।
प्रातकाल लागों जन चरनी निस बासर दरसन पावों । ३ — नानक, सं० बा० सं० भा० २, पृ० ५०

७. आज दिवस जाऊँ बलिहारे, मेरे घर आये राम के प्यारे ।
आंगन बंगला भवन भयो पावन, हरिजन बैठे हरिजस गावन ।
करूँ दण्डवत चरन पखारूँ, तन मन धन उन ऊपर वारूँ ।
कथा कहैं "अरु अर्थ विचारैं," आप तरैं औरन को तारैं ।
कह रैदास मिलैं निज दास, जनम जनम के काटे पास ।। ६६ — रैदास बानी, पृ० ३२

८. जीवन है दिन चारि भजन करि लीजिए ।
तन मन धन सब वारि संत पर दीजिए ।।

दूलनदास का कथन है कि जिस दिन संतों को पीड़ित किया जायगा उस दिन समस्त सृष्टि उलट जायगी[1] अथवा यों भी कह सकते हैं कि संत में वह सामर्थ्य है कि जिस दिन वह किसी को सतावेगा उस दिन सब अनहोनी घटित होंगी परन्तु सब पर समान भाव रखने वाला सन्त किसी को सतावेगा ही क्यों। उसके द्वारा किसी को सताया जाना स्वय एक अनहोनी होगी।

संत नामदेव इन पार्थिव नेत्रों से परमात्मा का प्रत्यक्ष करने के लिए हरिभक्ति तथा साधुसंगति को आवश्यक मानते है।[2] काष्ठजिह्वास्वामी 'देव' सत्सग के बिना मानव-शरीर के निरर्थक नष्ट होने पर मन ही मन पश्चाताप करते हैं अर्थात् मानव-शरीर की सार्थकता सत्संग में ही है।[3] मीराबाई कुसंग को त्यागकर सतों के सग में बैठकर हरिचर्चा श्रवण करने को कहती हैं।[4] सतों में हरिचर्चा के अतिरिक्त अन्य कोई चर्चा होती ही नही। सूरदास गोपाल के अतिरिक्त किसी को अपना नहीं मानते तथा गोपाल की प्राप्ति देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। यदि यह संभव हो सकती है तो केवल सत्सग के द्वारा।[5] कबीरदास अपने समस्त जप-तप आदि सुकृतों का पुण्य दलाली के रूप में सत को देने के लिए तैयार हैं जिनके संग से सहज सुख की प्राप्ति होती है। मधुबाला मदिरा के भरे हुए चषकों से पीने वाले को मदमस्त बना देती है परन्तु सहज सुख को उत्पन्न करने वाले सत केवल एक बूंद रामरस से ही पीने वाले को परितृप्त कर देते हैं।[6] काल का चक्र अविराम गति से चल रहा है। रामभजन तथा सत्संग के बिना काल निरन्तर सब को लूट रहा है। केवल सत्सग तथा हरि-भक्ति में लीन मनुष्य उससे त्राण पा सकता है।[7] कलियुग के समान श्रेष्ठ अन्य कोई युग नहीं है जिसमें सन्तजन अवतार के रूप में आविर्भूत हुए हैं जिनकी शरण में जाकर प्राणी

संतहि से सब होइ जो चाहै सो करैं।
अरे हाँ पलटू संग लगे भगवान संत से वे डरैं ॥ ६ — पलटू, सं० बा० सं० भा० २, पृ० २३३

१. जा दिन सन्त सताइया ता दिन उलटि खलक्क।
छत्र खसै धरनी धसै तीनिउ लोक गरक्क ॥ २ — दूलनदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १३६

२. भाई रे इन नैननि हरि पेखो।
हरि की भक्ति साधु की संगति सोई यह दिन लेखो ॥ — नामदेव, सं० बा० सं० भा० २, पृ० ३०

३. मैं तो मन ही मन पछिताय रह्यो।
यह नर तन यह काया उत्तम बिन सतसंग नसाय रह्यो ॥
— काष्ठ जिह्वा स्वामी 'देव', सं० बा० सं० भा० २, पृ० २५३

४. तज कुसंग सतसंग बैठ नित, हरि चरचा सुण लीजे। — मीरा, सं० बा० सं० भा० २, पृ० ७७

५. बिना गुपाल कोऊ नहिं अपना जस कीरति रहि जैहैं।
सो तो सूर दुर्लभ देवन को सतसंगति में पैहैं ॥ — सूरदास, सं० बा० सं० भा० २, पृ० ५६

६. है कोई सन्त सहज सुख उपजै जाकौं जप तप देउ दलाली।
एक बूँद भरिदेइ राम रस ज्यूँ भरि देइ कलाली। १५५ — क० ग्र०, पृ० १३८

७. साध संग और राम भजन बिन, काल निरन्तर लूटै ॥
— दरिया साहब मारवाड़, सं० बा० सं० भा० २, पृ० १५३

भवसागर पार हो जाते हैं ।[1]

समस्त गुणों के निधान संत-समाज की वन्दना करते हुए तुलसी ने साधु चरित्र की उपमा कपास से दी है । रसहीन होते हुए भी कपास का फल अत्यन्त उपयोगी होता है । स्वयं कष्ट सहकर वह दूसरों के छिद्रों का आवरण बनता है । इसी प्रकार संत यद्यपि देखने में सरस प्रतीत नही होते परन्तु उनके सुकृत अत्यन्त गुणमय तथा परम हितकारी होते हैं । अनेक विघ्न-बाधाओं-विपत्तियों को झेलकर भी वे सदैव दूसरों के दोषों को अपने गुणों से ढक देते हैं । संतों की इसी महत्ता के कारण तुलसी ने संत-समाज को गतिवान् (Dynamic) तीर्थराज प्रयाग कहा है । प्रयाग अचल है, एक ही स्थान पर स्थित है, उसका सेवन सब को सर्वत्र उपलब्ध नही हो सकता है परन्तु संत-समाज रूपी प्रयाग गतिवान् होने के कारण सर्वत्र, सदैव, सब को सुलभ है । यही नहीं, कहते हैं प्रयाग-सेवन का स्वर्ग आदि फल जीवनोपरान्त प्राप्त होता है जब कि सत्सगरूपी अलौकिक तीर्थराज सद्यः फलदायक है । सत्संग के माहात्म्य को सुनकर जो समझते हैं तथा प्रसन्नमन होकर सप्रेम इसका सेवन करते हैं, उन्हें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों फल शरीर रहते ही (मृत्यु के पश्चात् नहीं) प्राप्त होते हैं । इस तीर्थ में अवगाहन करने से तत्काल फल प्राप्त होता है जिसके प्रभाव से काग जैसा कर्कश पिक के समान मधुरभाषी हो जाता है तथा बगुला सदृश कपटी और मासभक्षी, हंस के समान नीर-क्षीर-विवेकी, मुक्ताभोगी हो जाता है । सत्संग के फल को सुनकर आश्चर्य करने की बात नही । इसकी महिमा किसी से छिपी नही है । वाल्मीकि, नारद, अगस्त, आदि ने सत्सग से प्रभावित अपनी जीवनवृत्ति का स्वय वर्णन किया है ।[2] जलचर, थलचर तथा गगनचर जितने भी जड़ या चेतन जीव हैं उनमें जिसने जहाँ जिस प्रकार बुद्धि, कीर्ति, सद्गति, विभूति, और भलाई प्राप्त की है वह सब सत्सग का ही प्रभाव कहना चाहिए । न लोक में और न वेद मे ही इनकी प्राप्ति का कोई अन्य उपाय है । सत्सग के बिना विवेक नही होता और रामकृपा के बिना सत्सग सुलभ नही है । सत्संग कल्याण और आनन्द का मूल है ।

---

१. कलजुग सम नहि आन जुग, सन्त धरैं औतार ।
जीव सरन होइ सन्त के भव जल उतरै पार ।। १ तुलसी साहिब, सं० बा० सं० भा० १, पृ० २३६

२. सुजन समाज सकल गुनखानी, करउँ प्रनाम सप्रेम सुबानी । २
साधु चरित सुभ चरित कपासू, निरस बिसद गुनमय फल जासू । ३
जो सहि दुख परछिद्र दुरावा, बंदनीय जेहिं जग जस पावा ।
मुद मंगलमय सन्त समाजू, जो जग जंगम तीरथराजू । ४
सबहि सुलभ सब दिन सब देसा, सेवत सादर समन कलेसा । ६
अकथ अलौकिक तीरथराऊ, देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ ।
सुनि समुझहिं जन मुदित मन मज्जहिं अति अनुराग ।
लहहिं चारि फल अछत तनु साधु समाज प्रयाग ।। २
मज्जन फल पेखिअ ततकाला, काक होहि पिक बकउ मराला ।
सुनि आचरज करै जनि कोई, सतसंगति महिमा नहि गोई । १
बालमीक नारद घटजोनी, निज निज मुखनि कही निज होनी ।। तु० रा०, बा० का० २।२

सत्संग ही सिद्धि है, फल है; अन्य सब साधन तो फूल की भाँति हैं। सत्संग से दुष्टों में भी सुधार हो जाता है, जैसे पारस के स्पर्श से कुधातु लोहा भी मूल्यवान् स्वर्ण बन जाता है।[1] तुलसी ने अन्यत्र भी कहा है कि भगवान् की कृपा के बिना सतों का संग नही प्राप्त होता।[2] अस्तु तुलसी के विचार से संत परमात्मा की प्राप्ति के साधन तथा सत्संग परमात्मा की कृपा पर अवलम्बित है।

पूर्ण रूप से पुण्य अर्जित हो जाने पर ही साधु की संगति तथा गुरु-सेवा का सौभाग्य प्राप्त होता है और सत्संग से ही भक्त की आत्म-ज्योति परमात्मा की परमज्योति में लीन हो जाती है।[3] अनुपम सुखों की मूल भक्ति भी संतों की अनुकूलता से प्राप्त होती है।[4] भक्ति समस्त सुखों की खान है तथा सत्संग के बिना भक्ति नहीं प्राप्त हो सकती और पुण्य-समूह के बिना सत्संग नहीं होता। सत्सग को संसार-चक्र से मोक्ष ही समझना चाहिए।[5] पलटू सत्संग का वरदान माँगते हुए कारण प्रस्तुत करते हैं—सत्सग के बिना हरिनाम कथन नहीं होता। बिना हरिनाम के मोह से निवृत्ति नहीं हो सकती। मोह के बिना नष्ट हुए सांसारिक जाल से मुक्ति नहीं मिल सकती और बिना मुक्ति मिले प्रभुपद में अनुराग नहीं हो सकता। अनुराग तो भक्ति का प्रथम आवश्यक अंग है। उसके बिना भक्ति कैसे सभव हो सकती है। भक्ति के बिना प्रेम संभव नहीं अथवा यों कहा जाय कि भक्ति की अंतिम अवस्था प्रेमाभक्ति बिना गौणीभक्ति के नही हो सकती और प्रेमाभक्ति ही परमात्मा की प्राप्ति का साधन है जो कि मूलतः सत्संग पर ही निर्भर है।[6]

---

१. जलचर थलचर नभचर नाना, जे जड़ चेतन जीव जहाना। २
मति कीरति गति भूति भलाई, जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई।
सो जानब सतसंग प्रभाऊ, लोकहु वेद न आन उपाऊ। ३
बिनु सतसग विवेक न होई, राम कृपा बिनु सुलभ न सोई।
सतसंगति मुद मंगल मूला, सोइ फल सिधि सब साधन फूला॥
सठ सुधरहि सतसंगति पाई, पारस परस कुधात सुहाई। तु० रा०, बा० का० २-५

२. एहि सन हठ करिहउँ पहिचानो, साधु ते होइ न कारज हानी। २
अब मोहि भा भरोस हनुमन्ता, बिनु हरि कृपा मिलहिं नहि सन्ता। तु० रा०, सु० का० ६-२

३. साधू की सगत पाये रे जाकी पूरन कमाई।
साधू की संगत गुरु जी की सेवा बनत बनत बन आये रे।
सुमरे नामा और कबीरा तिसरे मुक्ता बाई रे।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर जोत में जोत मिलाये रे। मी० प०, पृ० ८७

४. भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी
बिनु सतसंग न पावहि प्रानी।
पुन्यपुंज बिनु मिलहिं न संता
सतसंगति संसृति कर अंता॥ तु० रा०, उ० का० ४४-३

५. भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होइँ अनुकूला। — तु० रा०, अर० का० १५-२

६. बिना सतसंग ना कथा हरिनाम की,
बिना हरिनाम ना मोह भागे॥
मोह भागे बिना मुक्ति ना मिलैगी,
मुक्ति बिनु नाहिं अनुराग लागे॥

'मानस' में गरुड़ को उपदेश देते हुए भगवान् शंकर ने यही कहा है कि संशय भंग तभी हो सकता है जब कि कुछ काल सत्सग किया जाय। सत्संग में नाना प्रकार की हरि-कथाओं के श्रवण का अवसर मिलता है जिनमें कि आदि, मध्य, अन्त सब प्रतिपाद्य विषय भगवान् राम ही हैं। इस प्रकार की कथा-श्रवण से सब सन्देह नष्ट होकर राम के चरणों में प्रीति होती है। परमात्मा की प्राप्ति योग, तप, ज्ञान, विराग किसी से संभव नहीं है। वह संभव है अनुराग या प्रेम से और उस प्रेम के लिए मोह का नष्ट होना आवश्यक है। मोह भगवत्कथा-श्रवण से ही नष्ट हो सकता है जो कि सत्सग पर निर्भर है। इस प्रकार भगवत्-प्राप्ति का मूल कारण सत्संग ही है।[1] जो बड़े भाग्य से प्राप्त होता है तथा जो बिना प्रयास ही ससार से मुक्त कर देता है। वेद, पुराण, सद्ग्रंथ, कवि-कोविद सब का यही कथन है कि सत्सग मोक्ष का मार्ग है जब कि कामी का सग जगज्जाल का मार्ग है।[2] महेश्वर ने उमा के सम्मुख सत्संग की महत्ता प्रदर्शित करते हुए कहा है—संत समागम के समान संसार में कोई लाभ नही है परन्तु बिना भगवान् की कृपा के संत समागम नहीं होता।[3] इसीलिए सत्सग के क्षणकालीन सुख की समता स्वर्ग का दीर्घकालीन सुख नहीं कर सकता वरन् शाश्वत मुक्ति का सुख तथा स्वर्ग-प्राप्ति का सुख दोनों मिलकर भी सत्संग के क्षणकालीन सुख की समता नही कर सकते।[4]

सम्पूर्ण सस्कृत साहित्य दुर्जन के कुसंग से बचने के आख्यानो से भरा पड़ा है। बुद्ध जातक कथाएँ, पचतत्र, कथा-सरित्सागर सभी में इसका स्पष्ट उल्लेख है। नारद-भक्ति-सूत्र में भी 'स्त्री, धन, वैरि नास्तिक चरित्राणा न श्रवणीयम्,' के द्वारा नास्तिको व अभक्तो से

बिना अनुराग के भक्ति न होयगी,
भक्ति बिनु प्रेम उर नाहि जागे ।।
प्रेम बिनु राम ना राम बिनु सत ना,
पलटू सतसग वरदान मांगे ।। पलटू, मं० बा० सं० भा० २, पृ० २३०

१. तबहि होइ सब संसय भंगा, जब कछु काल करिअ सतसंगा। २
सुनिअ तहाँ हरिकथा सुहाई, नाना भांति मुनिन्ह जो गाई।
जेहि महु आदि मध्य अवसाना, प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना। ३
जाइहि सुनत सकल संदेहा, राम चरन होइहि अति नेहा। ४
बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग ।।
मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा, किएँ जोग तप ज्ञान विरागा। तु० रा०, उ०का० ६१-१

२. बड़े भाग पाइब सतसंगा, बिनहि प्रयास होहिं भवभंगा।
संत सग अपवर्ग कर कामी भव कर पंथ।
कहहि संत कबि कोविद श्रुति पुरान सद्ग्रन्थ ।। तु० रा०, उ० का० ३३

३. गिरजा संत समागम सम न लाभ कछु आन।
बिनु हरिकृपा न होइ सो गावहि वेद पुरान ।। तु० रा०, उ० का० १२५ (ख)

४. तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग ।। तु० रा०, सु० का० ४

दूर रहने का आदेश है। हिन्दी भक्त तथा संत कवियों ने जहाँ एक ओर संत के महिमा-मंडित चरित्र का वर्णन किया और उनके संग के आशुफलकारी प्रभाव का वर्णन किया है वहाँ दूसरी ओर उन्होंने असंत अथवा खल के कुसंग से बचने का भी आदेश दिया है। कबीर ने भक्ति रहित असंत व्यक्तियो से भयभीत रहने के लिए कहा है। इस प्रकार के पुरुष स्वयं तो अपने पितरों को चुल्लू भर पानी जलदान मे भी नहीं देते परन्तु महाराज भगीरथ की निंदा करते हैं जिन्होंने अपने अथक परिश्रम से अपने पितरों की स्वर्ग-प्राप्ति के लिए पृथ्वी पर पावनी गगा की अवतारणा की। वे लोग स्वयं डूबते हैं तथा दूसरों को भी डुबाते हैं जब कि भक्त स्वय तरता है तथा लोक को तारता है।[1] वे अपने हाथों से अपने निवास-स्थान में अग्नि लगाकर निश्चिन्त होकर सोते हैं। स्वय नेत्रविहीन होते हुए भी काने का उसकी अयोग्यता पर उपहास करते हैं जब कि काना अंधों में राजा कहा गया है।[2]

सूरदास ने ऐसे असतजनों का जो हरि से विमुख रहते हैं संग करने का निषेध किया है। इन हरिविमुखों के संग से कुबुद्धि उत्पन्न होती है तथा भजन में विघ्न पड़ता है। महर्षि नारद ने नास्तिक का चरित्र तक न सुनने का आदेश दिया है।[3] इस प्रकार के दुष्टों पर सगति का कोई प्रभाव नही पड़ता। मधुर दुग्ध का पान कराने पर भी सर्प विषहीन नहीं बनता वरन् कहा तो यह जाता है कि उसके विष की वृद्धि ही होती है।

कपूर जैसे सुगधित पदार्थ को चुगाने पर भी काग अभक्ष्य का खाना नही छोड़ सकता तथा धूल में लोटने वाले गधे पर चन्दन का शीतल सुवासित लेप व्यर्थ है तथा उपद्रवी नट-खट बन्दर को शोभनीय बनाने के लिए आभूषण धारण कराना व्यर्थ है। हाथी स्नान कराने के बाद भी शरीर पर धूल धारण कर लेता है। नीच प्रकृति पाषाण मे बाण नहीं भिदते चाहे निषग के सब बाण क्यों न छोड़ दिये जायँ। दुष्ट जन काली कमली की भाँति हैं जिसमें कि दूसरा रग चढ़ ही नहीं सकता।[4] वे अपनी प्रकृति को किसी प्रकार-किसी स्थिति में

---

१. स तरति स तरति स लोकास्तारयति। ५० — ना० भ० सूत्र, पृ० १३

२. ऐसे लोगनि सूं का कहिये।
   जे नर भये भगति थैं न्यारे तिनथैं सदा डराते रहिये।
   आप न देही चरवा पानीं ताहि निन्दै जिन गंगा आनी।
   आपण बूडैं और कौं बोडैं अगनि लगाय मंदिर मैं सोवैं।
   आपण अंध और कूं कांनां, तिनकौं देखि कबीर डरांनां। १४४ — क० ग्र०, पृ० १३४

३. स्त्रीधननास्तिकवैरिचरित्रं न श्रवणीयम्। ६३। — ना० भ० सूत्र, ६३

४. तजौ मन हरि विमुखन कौ संग।
   जिनके संग कुमति उपजति है परत भजन में भंग।
   कहा होत पय पान कराये विष नहिं तजत भुजंग।
   कागहि कहा कपूर चुगाए स्वान न्हवाए गंग।
   खर को कहा अरगजा लेपन मरकट भूषण अंग।
   गज को कहा न्हवाये सरिता बहुरि धरै खेहि छंग।
   पाहन पतित बान नहिं बेधत रीतो करत निषंग।
   सूरदास खल कारी कामरि चढ़ै न दूजो रंग। — सूरसागर, पृ० १७६

नहीं छोड़ते। दुष्टों की ऐसी ही प्रभावित होने वाली प्रकृति पर गरीबदास का कथन है कि पाषाण का अंतस जल में रहने पर भी आर्द्र नहीं होता, उस पर जल का प्रभाव नहीं होता परन्तु उस पत्थर में चकमक लगने से अग्नि उत्पन्न हो जाती है। जल की शीतलता से प्रभावित न होकर वह अपने स्वभाव से अग्नि का ही उत्पादक होता है।[१] दादू ने दुष्ट संग की हानि तथा दुष्ट की अपरिवर्तनीय प्रकृति का वर्णन उस आख्यान के द्वारा किया है, जिसमें कि एक चूहे को जलते हुए देखकर एक हंस ने उसे दयावश अपने ऊपर बिठा लिया तथा उसके ताप-शमन के हेतु मानसरोवर की ओर लेकर उड़ चला परन्तु उस नीच मूषक ने अपने दुष्ट स्वभाववश हंस के पंख काट डाले जिसके कारण दयालु हंस को अपने प्राण गँवाने पड़े।[२] शायद इसीलिए परमार्थ-पथ के पथिक के लिए महर्षि नारद ने दुःसंग को सर्वथैव त्याज्य कहा है।[३] क्योंकि उससे काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रम आदि उत्पन्न होते हैं, बुद्धिनाश तथा सर्वनाश होता है।[४]

तुलसीदास ने दुष्ट तथा दुष्टसंग का विस्तार से वर्णन किया है व्याजस्तुति के मिस। दुष्टजन बिना प्रयोजन ही अपने हित करने वाले के प्रति भी प्रतिकूल आचरण करते है। दूसरों के हित की हानि ही उनकी दृष्टि में लाभ है, दूसरों के उजड़ने में उनको हर्ष तथा बसने में विषाद होता है। वे हरि-हर-यशरूपी पूर्ण चन्द्र के लिए राहु ग्रह की भाँति कष्टकारी हैं। दूसरों का अनिष्ट करने में सहस्रबाहु की भाँति वीर तथा समर्थ हैं। वे परदोष को हजार नेत्रों से देखते है तथा परहितरूपी घृत के लिए उनका मन मक्षिका के समान है। मक्षिका घृत में गिरकर उसको तो दूषित कर ही देती है यद्यपि स्वयं भी विनष्ट हो जाती है। वे दूसरों को जलाने वाले ताप में अग्नि तथा क्रोध मे यमराज के समान हैं। पाप और अवगुणरूपी धन में कुबेर के समान धनी हैं। अमंतों की वृद्धि सर्वनाशकारी पुच्छलतारे के उदय के सदृश है। उनकी कुम्भकर्ण के समान चिरकालीन निद्रा मे ही हित है, उनकी जागृतावस्था लोकसंहार का ही कारण होती है। वे दूसरों के कार्यनाश के लिए स्वशरीर को भी वैसे ही त्याग देते हैं, जिस प्रकार कि उपल हरी-भरी कृषि को धराशायी करके स्वय भी विनष्ट हो जाते हैं। सहस्रमुखधारी शेष सहस्र मुखो से प्रभु-गुण-गान करते है, जब कि असंत जन उन्हीं की भाँति सहस्र मुखों से परदोषों का वर्णन करते हैं। कहा जाता है महाराज पृथु ने सहस्र कर्णों से भगवान् का गुणानुवाद सुनने का वरदान प्राप्त किया था, उसी प्रकार दुष्टजन सहस्र कर्णों से दूसरे के पापो का श्रवण करते हैं। इन्द्र को जिस प्रकार देवताओं की सेना प्रिय है, उसी प्रकार उन्हें वारुणी प्रिय है, यही नहीं इन्द्र के वज्र की भाँति उन्हें वचन-वज्र

---

१. ज्यूँ जल में पाषान है, भीजत नाहीं अंग।
चकमक लागे अग्नि है, कहा करै सतसंग। ११ — गरीबदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १९९

२. मूसा जलता देख करि, दादू हंस दयाल।
मानसरोवर ले चल्या, पंखा काटे काल। ४ — दादू, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ८८

३. दुः संगः सर्वथैव त्याज्यः ॥४३॥ — ना० भ० सू०

४. कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाशसर्वनाशकारणत्वात् ॥४४॥ — ना० भ० सू०

अत्यन्त प्रिय हैं जिससे कि वे दूसरों पर प्रहार करते हैं। इन्द्र जिस प्रकार सहस्र नेत्रों से प्रभु-छवि दर्शन करते हैं उसी प्रकार वे दुष्टजन हजार नेत्रों से परदोष-दर्शन करते हैं। वे मित्र, शत्रु अथवा उदासीन सभी का हित सुनकर जलते हैं।[1]

इस प्रकार के दुष्टों से विनती कर चुकने के बाद भी तुलसीदास यह आशा नहीं करते कि वे अपनी तरफ से कभी चूकेंगे। अत्यन्त अनुरागपूर्वक पाला गया काग भी निरामिष-भोजी नहीं होता। तुलनात्मक ढंग से साधु-असाधु की वंदना करते हुए तुलसी उनके गुण-दोषों पर प्रकाश डालते हैं। सत और असंत दोनों ही कष्टदायक हैं। संत से वियोग कष्ट-दायक होता है तथा असंत से मिलन दारुण दुख देता है। समान जन्मस्थान जल में उत्पन्न होने वाली जोंक तथा कमल के गुणों में जिस प्रकार महान अन्तर है उसी प्रकार असंत तथा संत में भी है। एक ही जलधि से सुरा तथा सुधा दोनों का जन्म हुआ है परन्तु दोनों अपनी श्रेष्ठता अथवा निकृष्टता के कारण यश अथवा अपयश पाती हैं। यदि साधु की उपमा अमरत्व प्रदायक सुधा शीतल चन्द्र अथवा पतितपावनी सुरसरि से दी जा सकती है तो असाधु की उपमा विष की मारणशीलता, अग्नि की ज्वलनशीलता, कर्मनाशा नदी की पुण्य-फल-विनाशता तथा व्याध की नृशसता से दी जा सकती है।[2] सत का आचरण चन्दन के सदृश तथा असंत का आचरण कुठार के समान है। कुठार चन्दन को काटता है परन्तु चन्दन प्रति-

---

१. बहुरि बंदि खलगन सति भाएँ, जे बिनु काज दाहिनेहु बाएँ।
परहित हानि लाभ जिन केरें, उजरे हरष विषाद बसेरें। १
हरि हर जस राकेस राहु से, पर अकाज भट सहसबाहु से।
जे परदोष लखहिं सहसाखी, परहित घृत जिनके मन माखी। २
तेज कृसानु रोष महिषेसा, अघ अवगुन धन धनी धनेसा।
उदय केतु सम हित सबही के, कुंभकरन सम सोवत नीके। ३
पर अकाज लगि तनु परिहरहीं, जिमि हिम उपल कृषी दलि गरहीं।
बंदउँ खल जस सेष सरोषा, सहस बदन बरनइ परदोषा। ४
पुनि प्रनवउँ प्रथुराज समाना. पर अघ सुनइ सहस दस काना।
बहुरि सक्र सम बिनवउँ तेही, संतत सुरानीक हित जेही। ५
बचन बज्र जेहि सदा पियारा, सहस नयन परदोष निहारा। ६
उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहिं खल रीति।
जानि पानि जुग जोरि जन, बिनती करइ सप्रीति ॥   तु० रा०, बा० का० ४

२. मैं अपनी दिसि कीन्ह निहोरा। तिन्ह निज ओर न लाउब भोरा।
बायस पलिअहिं अति अनुरागा। होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा। १
बंदउँ संत असज्जन चरना। दुखप्रद उभय बीच कछु बरना।
बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं। मिलत एक दुख दारुन देहीं। २
उपजहिं एक संग जग माहीं। जलज जोंक जिमि गुन बिलगाहीं।
सुधा सुरा सम साधु असाधू। जनक एक जग जलधि अगाधू। ३
भल अनभल निज निज करतूती। लहत सुजस अपलोक बिभूती।
सुधा सुधाकर सुरसरि साधू। गरल अनल कलिमलसरि ब्याधू। ४
गुन अवगुन जानत सब कोई। जो जेहि भाव नीक तेहि सोई।   तु० रा०, बा० का०, ४-५

कार में उसे भी अपना गुण—सुगंधि—प्रदान करता है। संभवतः इसी से सर्व जगत् प्रिय चन्दन देवताओं के मस्तक पर स्थान प्राप्त करता है तथा कुठार को अपनी दुष्टता के कारण अग्नि में तपाकर घन से पीटा जाता है।[1] साधारणतया लोग अपने स्वार्थ-साधन के लिए दूसरों का अहित करने में भी नहीं चूकते। परन्तु खलजन बिना किसी स्वार्थ के ही दूसरों का अहित करते हैं। वे सन के समान दूसरों का बन्धन बनने के लिए अपनी खाल तक खिंचवा कर मृत्यु को वरण करते हैं।[2] पलटू साहिब ने सन और असंत की उपमा का विस्तार के साथ वर्णन किया है। सन के पौधे को काट कर जल में सड़ाया जाता है, उसे कूटकर चर्मरूपी सन निकाला जाता है। तथा उसे रज्जु के रूप मे तैयार किया जाता है इस प्रकार सन मनुष्य, पशु सब का बन्धन बनता है। वही सन जालरूप में बनकर व मछलियों को फँसा कर उनका प्राणघातक बनता है। यद्यपि इस क्रिया में सन को अत्यन्त कष्ट सहकर प्राण तक देने पड़ते हैं परन्तु सन का व असंतो का यही प्रण है कि वे कष्ट सहकर भी—प्राणों से हाथ धोकर भी—दूसरों को दुख देना चाहते हैं।[3]

सत्सग की महत्ता को प्रायः सभी भक्त-कवियों ने एक मत से स्वीकार किया है। संतों के कल्याणकारी गुणों का गान करके उन्होंने अपने को गौरवान्वित किया ही, अज्ञानग्रस्त जनवर्ग को सचेत करने का भी प्रयत्न किया। सत्सग का महत्व ही कुछ ऐसा है। सत्सग के प्रभाव से साधारण किंवा पतित मनुष्यों तक ने सत की सज्ञा प्राप्त की। उस प्रभाव को उन्होंने मुक्त हृदय से स्वीकार किया है।

भारतीय दर्शन में किसी वस्तु की प्रामाणिकता के लिए मान्य सभी नियमों—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द—को सत्संग की महत्ता के प्रतिपादनार्थ प्रयुक्त किया गया है। जैसा कि हम देखेंगे वाल्मीकि, नारद, अगस्त्य आदि का सत्संग के प्रभाव से सर्वथा बदल जाना स्वय उनके द्वारा कहा गया है तथा (Direct Testimony) अन्तःसाक्ष्य होने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण के अतर्गत आता है। वेद-पुराणो के साक्ष्य को शब्द प्रमाण माना जायगा, इस प्रत्यक्ष और शब्द-प्रमाण से "सो जानब सत्संग प्रभाऊ" के द्वारा अनुमान तथा उपमान प्रमाण सत्सग की फलमयता तथा महत्ता सिद्धि करने के लिए प्रयोग में लाये गये हैं।

---

१. संत असंतन्हि कै असि करनी। जिमि कुठार चन्दन आचरनी।
   काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई। ४
   "ताते सुर सीसन्ह चढ़त जगबल्लभ श्रीखंड ॥
   अनल दाहि पीटत धनहिं परसु बदन यह दंड। — तु० रा, उ० का० ३७

२. सन इव खल पर बंधन करई। खाल कढ़ाइ विपति सहि मरई।
   खल बिनु स्वारथ पर अपकारी। अहि मूषक इव सुनु उरगारी। ६
   पर संपदा बिनासि नसाहीं। जिम ससि हति हिम उपल बिलाहीं।
   दुष्ट उदय जग आरति हेतू। यथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू॥ — तु० रा०, उ० का० १२०-१०

३. पर दुख कारन दुख सहै सन असन्त है एक।
   जिव दे जीव सतावते पलटू उनकी टेक।
   पर दुख कारन दुख सहै सन असंत है एक। — पलटू, सं० वा० सं० भा० २, पृ० २२८

तथा सत्संग की वास्तविक सिद्धि की सत्यता स्थापित हुई है।

अब देखना यह है कि सत्संग इस प्रकार प्रभावित क्यों करता है। स्थान-स्थान पर संतों की महत्ता प्रदर्शित करने के लिए पारस, चन्दन, मजीठ, गंगा, जंगम तीर्थराज आदि उपमेय प्रस्तुत किये गये हैं। इन उपमेयों को हम चार मुख्य विभागों में बाँट सकते हैं: (१) पारस तथा चन्दन, (२) मजीठ, (३) गंगा तथा (४) तीर्थराज प्रयाग। पारस लोहे में आणविक अन्तर उपस्थित करके उसे अपने से भिन्न अधिक मूल्यवान स्वर्ण बना देता है जबकि स्वयं प्रस्तर मात्र ही बना रहता है। चन्दन अन्य समीपवर्ती वृक्षों में आणविक अन्तर सम्पादित करके उन्हें अपना जैसा ही बना देता है। दूसरा अंतर (Change) मजीठ वस्त्र पर (Molecular-chemical) अन्तर करके करता है। वस्त्र में रंग उसमें रासायनिक क्रियाओं के द्वारा प्रभावित करता है। रासायनिक क्रिया आणविक क्रिया की भाँति स्थायी नहीं होती। फिर भी बाह्य लक्षणों से उसका स्वरूप भिन्न दृष्टिगत नही होता। तीसरा मिश्रण नदी-नालों का गंगा के साथ है। यह रसायन की भाषा में साधारण मिश्रण कहा जाता है तथा कभी भी वास्तविक नही होता। जल में नमक का घोल या शकर का घोल इसी कोटि में आते हैं। इस प्रकार के अन्तर मे केवल नाम रूपात्मक अन्तर सम्पादित होता है; बाहर से साधारण एकरूपता हो जाने पर भी आन्तरिक एकता नही होती। गंगा का जल वारुणी आदि के बनाने के उपयोग में आने पर अपनी पवित्रता को खोकर अपने वास्तविक स्वरूप जल के ही रूप में गिना जाता है। चौथे प्रकार के जगम तीर्थराज का प्रभाव उपर्युक्त सब प्रकारों से भिन्न है; उसमें आध्यात्मिक अतर होता है तथा जिसके प्रभाव से सम्पर्क में आने वाले में आत्मिक अन्तर हो जाता है। और वह पाप आदि से मुक्त होकर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सभी प्रकार के फलों को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार संतों का परिवर्तनकारी प्रभाव उसके सानिध्य में आने वाले व्यक्तियों पर संतों की स्वयं की सक्रियता के अनुसार पड़ता है। आजकल हम अणुसक्रियता के विषय में बहुधा सुनते रहते हैं। अणुसक्रिय पदार्थ अपने सम्पर्क में आने वाले अन्य पदार्थों को भी किसी मात्रा में अणु सक्रिय करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार की अणुसक्रियता की सामर्थ्य स्वय प्रभाव उत्पन्न कराने वाले पदार्थ की सक्रियता शक्ति पर निर्भर है। उसी प्रकार कितनी दूर तक अणुसक्रियता प्रभावित करेगी वह भी उस केन्द्र की शक्ति पर निर्भर है। इसी प्रकार मन:सक्रियता को भी समझा जा सकता है। व्यक्ति जितनी ही मन:शक्ति से समन्वित होगा अपने सम्पर्क में आने वाले को वह उतना ही प्रभावित कर सकेगा। यही नही तपोवन वासी जीवों का सहज वैर त्यागकर मृग और सिंह का एक साथ विचरण भी वहाँ के वातावरण में व्याप्त ऋषियों की मन:सक्रियता के आधिक्य का ही द्योतक कहा जा सकता है। परन्तु जहाँ संतों की मन:सक्रियता सामान्य जनों को सरलता से प्रभावित कर लेती है वहाँ वह उतनी ही अधिक विपरीत दिशा में बढ़ी हुई मन:सक्रियता को प्रभावित नहीं कर पाती। बाण पाषाण को आविद्ध नहीं कर पाता तथा चन्दन विषधर सर्पों को विषहीन नहीं बना पाता। एक दूसरे को प्रभावित करने की क्षमता उनकी पारस्परिक क्रिया (Interaction) तथा सापेक्ष शक्ति पर निर्भर है।

पंचम परिच्छेद

गुरु

भारतीय चिन्तन एवं साधना के क्षेत्र में गुरु का स्थान अविवादग्रस्त एवं सर्वमान्य रहा है। पूर्वैतिहासिक काल से भारतीय समाज में गुरु का आदर होता रहा है। धर्म और समाज की नियामिका शक्ति उसी के हाथ में रही है, उसने अपनी शिष्य-परम्परा के द्वारा अपने दर्शन तथा साधना का स्थिरीकरण किया है। वह आध्यात्मिक, सामाजिक अथवा वैयक्तिक क्षेत्र में ही प्रभावकारी सिद्ध नहीं हुआ, उससे प्रेरणा ग्रहण करके उसके शिष्यों ने राजनैतिक क्रान्तियाँ तक की हैं। प्रत्येक विषय का ज्ञान तथा साधना दोनों शिष्य-प्रशिष्य क्रम से चली आती हुई अनन्तता को प्राप्त होती है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि पुत्र, पौत्रादि के क्रम से किसी वंश की शृंखला चलती रहती है। एक पिता की सतानों में जिस प्रकार भ्रातृ सम्बन्ध रहता है, उसी प्रकार एक गुरु के सब शिष्य भी गुरुभाई के सम्बन्ध से आबद्ध रहते हैं। गुरु का महत्त्व चिन्तन के क्षेत्र से भी अधिक साधना के क्षेत्र में है जो कि सत्य के बौद्धिक ज्ञान की प्राप्ति के साथ-साथ सत्य के साक्षात्कार की कला भी कही जा सकती है। चिन्तन के क्षेत्र में गुरु एक भाव को अथवा ज्ञान की शृंखला को एक कड़ी तक पहुँचाकर छोड़ देता है तथा शिष्य का कार्य उसे अन्तिम कड़ी तक पहुँचा कर पूर्णता प्रदान करना होता है। साधना के क्षेत्र में भी एक निश्चित सीमा पर पहुँचने के बाद गुरु स्वय आगे बढ़ने में असमर्थ होने पर भी अपने शिष्य को आगे बढ़ाने में प्रेरक होता है। केवल दो ही सम्बन्ध मानव-जीवन में ऐसे हैं—एक गुरु का तथा दूसरा पिता-माता का जिन्हे शिष्य अथवा सन्तान की उन्नति एवं उत्कर्ष को देखकर ईर्ष्या नहीं होती अपितु हर्ष होता है। सन्तान अथवा शिष्य को भी पिता अथवा गुरु की महत्ता स्वयं निज की महत्ता प्रतीत होती है।

हमारे पुराणों ने सृष्टि का क्रम ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवों से अंकित किया है तथा ब्रह्मा अथवा शंकर को आदि गुरु तथा दर्शन से लेकर नृत्य तक सभी विद्याओं का आदि प्रवर्त्तक भी कहा है। वेद साक्षात् ब्रह्मा के वाक्य हैं, व्याकरण शास्त्र भगवान् शंकर के डमरू से निःसृत नाद से उद्भूत है, नृत्य एव गायन भी नटराज भगवान् शंकर से आरम्भ होकर अबाध गति से गुरु-शिष्य क्रमानुसार चला आ रहा है। जीवन के प्रत्येक कार्य के लिए गुरु की आवश्यकता का अनुभव हुआ। इसी कारण जीवन में माता-पिता जन्म से गुरु, दीक्षा गुरु, कुलगुरु, शास्त्रगुरु, शस्त्रगुरु, सद्गुरु, जगतगुरु सभी का अपना स्थान तथा अपनी मर्यादाएँ हैं। सबके मूल में समाज में प्रचलित गुरु की भावना ही प्रमुखता रखती है। किसी समय गुरु के हाथ में समाज की नियामिका शक्ति थी, उसका समादर था, इसमें तनिक सन्देह नहीं। उसकी उपादेयता तथा अनिवार्यता ही उसके सम्मान को इस सर्वोत्कृष्ट शिखर पर पहुँचाने वाली थी।

भारतीय मानव-जीवन का कोई क्षेत्र गुरु से रिक्त नहीं था। वेद हमारे आदि ग्रंथ माने जाते हैं, ब्रह्मा आदि गुरु। वेदों का अध्ययन गुरु-शिष्य क्रम से होता था। वेदों के अंतः साक्ष्य से हम देख सकते हैं कि गुरु का क्या स्थान था तथा ब्रह्म-विद्या तक की किस प्रकार गुरु द्वारा प्राप्ति होती थी। अस्थि-चर्ममय मानव देहधारी के लिए ही गुरु का पद सुरक्षित नही था वह यम, अश्विनीकुमार आदि देव, यक्ष अथवा स्वयं ब्रह्म तक भी हो सकता था। जीवित ही नहीं कोई भी पार्थिव तत्त्व गुरु बनने में समर्थ था, दत्तात्रेय के चौबीस गुरु इसी प्रकार के थे। हंस और कपोत आदि के गुरु बनने की कथा भी हमें पुराणों में मिलती है। कागभुशुंडि द्वारा गुरु के वरासन पर बैठकर विष्णु-वाहन गरुड़ को शिक्षा देने तक का दृष्टान्त भी हमारे सम्मुख है। गुरु कौन हो, इसका कोई ध्यान न था। गुरु का स्थान ग्रहण कर लेने के पश्चात् वह सब प्रकार से श्रेष्ठ एव पूजनीय हो जाता था।

छान्दोग्य उपनिषद् में हम एक आख्यान देखते हैं जिसमें हरिद्रुमत गौतम ने अपने शिष्य सत्यकाम से, जो कि ऋषभ, वायु, अग्नि, हंस तथा मग्दु से ब्रह्म-विद्या का ज्ञान पा चुका था, पूछा—तू ब्रह्मवेत्ता-सा भासित हो रहा है, तुझे किसने उपदेश किया है? सत्यकाम ने उत्तर दिया—मनुष्यो से भिन्न देवताओं ने। मनुष्य होने पर तो मुझे श्रीमान् के शिष्य को उपदेश करने का साहस ही कौन कर सकता है। .. अब मेरी इच्छा के अनुसार भगवन् ही मुझे उपदेश करें। औरों के कहे हुए से मुझे क्या लेना है। अभिप्राय यह है कि मैं उसे कुछ भी नहीं समझता।[1] तथा उसका कारण यह बतलाया कि मैंने श्रीमान् जैसों से सुना है कि आचार्य से जानी गई विद्या ही अतिशय साधुता को प्राप्त होती है तब आचार्य ने उसे उसी विद्या का उपदेश किया। उसमें कुछ भी न्यून नहीं हुआ।[2]

उपर्युक्त दोनों मंत्रों से यह ध्वनि निकलती है कि शिष्य के लिए गुरु के समान विद्वान मनुष्यों में तो कोई है ही नहीं, गुरु की श्रेणी में देववर्ग के प्राणी भी नही आते तथा उनसे किसी विषय की विद्या एवं ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी गुरुमुख से प्राप्त किये बिना वह विद्या साधुता को प्राप्त नहीं होती न फलवती ही होती है। दूसरा अर्थ यह निकलता है कि गुरुमुख ज्ञान ही साधुता को प्राप्त होता है, ऐसा सर्वमान्य था। अन्य विद्याओं की

---

१. ब्रह्मविदिव वै सोम्य भासि को नु त्वानुशशासेत्यन्ये मनुष्येभ्य
इति ह प्रतिजज्ञे भगवांस्त्वेव मे कामे ब्रूयात् ॥ छा० ४।९।२

स चाह सत्यकामोऽन्ये मनुष्येभ्यो देवता मामनुशिष्टवत्यः, कोऽन्यो भगवच्छिष्यं मां मनुष्यः सन्ननुशासितुमुत्सहेतेत्यभिप्रायः। अतोऽन्ये मनुष्येभ्य इति ह प्रतिजज्ञे प्रतिज्ञातवान्। भगवांस्त्वेव मे कामेममेच्छायां ब्रूयात्किमन्यैरुक्तेन नाहं तद्गणयामीत्यभिप्रायः ॥ शा० भा० छा० ४।९।२

२. श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापतीति तस्मै हैतदेवोवाचात्र ह न किंचन वीयायेति वीयायेति ॥ छा० ४।९।३

......भगवत्समेभ्य, ऋषिभ्यः आचार्याद्धैव विद्याविदिता साधिष्ठं साधुतमत्वं प्रापति प्राप्नोतीत्यतो भगवानेव वादित्युक्त आचार्योऽब्रवीत्तस्मै तामेव दैवतैरुक्तां विद्याम् ॥ शा० भा० छा० ४।९।३

भाँति ही गुरु-शिष्य के परस्पर सम्बन्ध तथा गुरुमुख विद्या की श्रेष्ठता का प्रसार गुरु-शिष्य परम्परा से चल रहा था।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में वेदान्त की परमगुह्य ब्रह्म-विद्या का उपदेश सुपात्र पुत्र अथवा शिष्य के अतिरिक्त किसी को न देने का आदेश है।[1] इस प्रकार गुरु के लिए भी विद्यादान की मर्यादा निश्चित की गई है तथा शिष्य को पुत्र के समकक्ष माना गया है। गुरु पितृरूप में अथवा उसके समकक्ष मान्य है। श्वेताश्वतर में एक उद्‌गार है : जिस व्यक्ति की परमेश्वर में अत्यन्त भक्ति है और जैसी परमेश्वर में है वैसी ही गुरु में भी है, उस महात्मा के प्रति कहने पर ही इन तत्त्वों का प्रकाश होता है।[2] गुरु-भक्ति के विषय में इससे अधिक स्पष्ट आदेश और क्या हो सकता है। यही मंत्र शाकरभाष्य में इस प्रकार है—परमात्मा के समान ही गुरु में भक्ति रखने वाले गुरुभक्त में परम गुह्य ब्रह्मविद्या स्वात्मनुभव का विषय होती है।[3] संभवतः यह गुरुभक्ति तथा उसके साथ जुड़ा हुआ स्वात्मनुभव परवर्ती सत-साहित्य में पराकाष्ठा पर पहुँचने में समर्थ हुए।

महाभारत में महर्षि अयोदधौम्य के आश्रम में शिक्षा ग्रहण करने वाले शिष्य आरुणि तथा उपमन्यु की गुरुभक्ति अत्यन्त स्तुत्य है। महर्षि ने एक दिन आरुणि को खेत की मेड़ से बह जाने वाले पानी को रोकने की आज्ञा दी। कुछ देर पश्चात् आरुणि को न देखकर अन्य विद्यार्थियों से पूछने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि वह गुरु की आज्ञानुसार खेत की मेड बांधने के लिए गया है। यह जानकर आचार्य शिष्यों के साथ खेत पर गये। बार-बार मिट्टी से पानी को रोकने के प्रयत्न में सफल न होने पर आरुणि स्वयं मेड के टूटे स्थान पर लेट गया था और अपने इस अपूर्व प्रयत्न से उसने जलप्रवाह को रोक दिया था। गुरुदेव के द्वारा आरुणि के पुकारे जाने पर वह मेड़ के स्थान से उठकर गुरुदेव के समीप गया और प्रणाम करके आज्ञा माँगी तथा पानी रोकने का रहस्य निवेदन किया। आरुणि के उठ जाने पर पानी के बह निकलने के कारण आचार्य अयोदधौम्य ने उसको 'उद्दालक' नाम दिया तथा बिना पढ़े ही सब विद्याओं का ज्ञान हो जाने का आशीर्वाद प्रदान किया।[4] अयोदधौम्य के दूसरे शिष्य उपमन्यु के विषय में कहा गया है कि उपमन्यु को उन्होंने गायें चराने के कार्य में नियोजित किया था। उसको परीक्षा की कसौटी पर कसने के लिए उसके भोजन के सभी मार्ग बन्द कर दिये। इस पर भी वह विचलित न हुआ तथा अपना कार्य यथावत् करता रहा। क्षुधा से अत्यन्त व्याकुल होने पर उस सहज बुद्धि भोले बालक ने आक के

---

१. वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः॥ श्वे० ६।६।२२

२. यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥ श्वे० ६।६।२३

३. ......एवं गुरुकृपां विहाय ब्रह्मविद्या दुर्लभेति त्वरान्वितस्य मुख्याधिकारिणो महात्मन उत्तमस्यैते कथिता अस्यां......कथिनोपदिष्टा ह्यर्थाः प्रकाशन्ते स्वानुभवाय भवन्ति॥ शा० भा० श्वे० ६।६।२३

४. महाभारत आ० प० ३।२२ से ३३

पत्ते खा लिये जिससे कि वह नेत्रविहीन हो गया तथा संध्या समय आश्रम की ओर गायें ले जाते समय ठीक मार्ग न पाकर एक कुएँ में गिर गया। रखवाले के बिना गायों के आश्रम में पहुँचने पर आचार्य को चिन्ता हुई। उन्होंने यह भी सोचा कि कोमल-हृदय बालक भोजन के अभाव के कारण भाग न गया हो; अस्तु, वे उसको खोजते हुए वन की ओर चल पड़े। गुरु के द्वारा पुकारे जाने पर एक कूप के अन्दर से उपमन्यु ने उत्तर दिया तथा अपनी नेत्र-ज्योतिहीनता का निवेदन किया। गुरु की आज्ञा से उसने देवों के वैद्य अश्विनीकुमारों का स्तवन किया। अश्विनीकुमारों ने प्रकट होकर उसकी क्षुधा-शान्ति के लिए भोजन प्रस्तुत किया परन्तु उस गुरुभक्त बालक ने गुरुदेव को अर्पित किये बिना खाने से इन्कार कर दिया। अश्विनीकुमारों द्वारा यह कहने पर कि उसके गुरु अयोदधौम्य ने भी पहले इसी प्रकार की स्थिति में बिना अपने गुरु को निवेदन किए हुए ही भोजन कर लिया था। उपमन्यु का यही आग्रह रहा कि उनके गुरु ने चाहे जो किया हो वह अपने गुरु की आज्ञा के बिना भोजन नहीं ग्रहण कर सकता। इस अटल गुरुभक्ति से प्रसन्न होकर अश्विनीकुमारों ने उसे नेत्र प्रदान किए तथा उसे आचार्य की अपेक्षा अधिक सौन्दर्यवान् बना दिया, उसके दाँत स्वर्ण के समान हो गये। गुरु की आज्ञा के बिना पुए खाने से उनके दाँत काले हो गये थे। इस भाँति गुरु द्वारा ली हुई परीक्षा में उपमन्यु सफल हुए।[1] ऐसे ही आख्यानों के कारण परवर्ती संतों की यह उक्ति लोक में प्रचलित है।

गुरु कहे सो कीजिए, करे सो करिये नाहिं ॥

महाभारत के धनुर्वेदाचार्य द्रोण को कौन नहीं जानता। गुरुप्रदत्त विद्या ही श्रेष्ठ समझी जाती थी, इसका ज्ञान हमें एकलव्य के उपाख्यान से भलीभाँति हो जाता है। आचार्य द्रोण ने एकलव्य को अपने शिष्यमण्डल में स्वीकार नहीं किया परन्तु उसने वन में जाकर आचार्य की मृत्तिका प्रतिमा स्थापित कर उसे ही गुरु मानकर धनुर्वेद का निरन्तर अभ्यास किया। फल यह हुआ कि धनुर्विद्या में उसे जो दक्षता प्राप्त हुई उससे आचार्य के पट्टतम शिष्य अर्जुन भी हतप्रभ हो गये। अपने प्रिय शिष्य अर्जुन की सर्वश्रेष्ठता को बनाये रखने के लिए गुरु द्रोणाचार्य द्वारा गुरु-दक्षिणा में उसके दाहिने हाथ का अंगूठा माँगे जाने पर मन में बिना किसी विकल्प को लाये हुए उसने सादर समर्पित कर दिया और चरमोत्कर्ष पर पहुँची हुई अपनी धनुर्विद्या की सहर्ष इति सदैव के लिए कर दी[2]—अपनी असीम गुरु-भक्ति के कारण। ऐसे कितने ही उपाख्यान महाभारत में विद्यमान हैं।

रामायण में भी महर्षि वशिष्ठ तथा महर्षि विश्वामित्र का प्रतिष्ठित गुरुपद तथा उसके साथ संलग्न गुरुभक्ति का वर्णन द्रष्टव्य है। किसी भी महत्त्वपूर्ण तथा विषम परिस्थिति में गुरुदेव के आदेश से ही परिस्थिति सुधरती दिखाई पड़ती है। कभी गुरुदेव का आगमन राजगृह में होता है परन्तु बहुधा राजा गुरुगृह की ओर प्रस्थान करते हैं। इस

---

१. आदि पर्व 'महाभारत' ३।३५ से ७७
२. आदि पर्व 'महाभारत' १३१।३४ से ५८
द्रोण पर्व 'महाभारत' १८१।१७

काल में गुरु के वास्तविक दैहिक सान्निध्य से ही प्रेरणा प्राप्त होती जान पड़ती है। कालान्तर में प्रेरणा की प्राप्ति अशरीरी गुरु तथा गुरु के मनोमय चिन्तन के द्वारा भी होने लगी। अपनी ग्राहिका शक्ति के अनुसार शिष्य पृथ्वी, जल, वायु, वृक्ष आदि भौतिक तत्वों एवं पदार्थों से प्रेरणा ग्रहण करने लगे।

वेदो से चली आती हुई गुरुभक्ति की धारा बौद्ध धर्म तथा दर्शन के अभ्युत्थान में भी अक्षुण्ण बनी रही। प्राचीन बौद्धों में गुरु को 'कल्याण मित्र' कहा गया है। वह शिष्य का मार्ग-प्रदर्शक था जिसका अनुगमन कर शिष्य अपना कल्याण कर सकता था। भगवान् बुद्ध स्वयं मार्ग-प्रदर्शक थे। महायान में गुरु को सर्वज्ञ तथा उपायकुशल कहा गया है। तदनुसार गुरु के कर्त्तव्यों में वृद्धि हुई तथा उसका कर्त्तव्य शिष्य की योग्यता के अनुसार उसे उपायों के सफल प्रयोग का ज्ञान देना हो गया। बुद्ध तंत्र ने गुरु को और भी अधिक आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया।

बौद्ध धर्म के पतन तथा वैष्णव, शैव और शक्ति तंत्रों के अभ्युदय के साथ बुद्धकालीन गुरु-परम्परा की महत्ता कम नही हुई वरन् दिनोंदिन बढ़ती ही गई। इसका कारण उन तत्रों में प्रयुक्त कठिन साधना-पद्धति थी। सिद्धो के द्वारा अपने शरीर मे प्राण एवं अपान की पारस्परिक खीचातानी, इड़ा-पिंगला की विषमता में समता लाकर सुषुम्ना में लीन कराने की चेष्टा तथा अंतः और बाह्य शक्तियो के रूपों में सदा एक-दूसरे को अभिभूत करने का प्रयत्न आदि जटिल साधनाओं ने गुरु की अनिवार्यता पर जोर दिया। सिद्धो की महामुद्रा आदि को साधना में भी गुरु का माहात्म्य तथा आवश्यकता वैसी ही बनी रही।

घेरण्ड संहिता में गुरुप्रदत्त विद्या, गुरु-माहात्म्य तथा गुरु-सेवा के सम्बन्ध में स्पष्ट एव प्रामाणिक उद्धरण हैं। सहिताकार ने वही ज्ञान उपयोगी और सशक्त माना है जो गुरु के मुख से प्राप्त हो अन्यथा-ज्ञान निरर्थक, अशक्त और दुखदायी हो जाता है।[1] गुरु ही पिता है, माता है तथा देव (ईश्वर) भी है, इसमें सशय नही। इसीलिए मन, वचन, कर्म से गुरु की सेवा सब को करनी चाहिए।[2] गुरु की कृपा से सभी शुभ वस्तुओं की प्राप्ति हो जाती है। अतः गुरु की सेवा नित्य करनी चाहिए अन्यथा मगल होने की सभावना नही है।[3] बौद्ध तथा शाक्त तंत्रों, सिद्धों तथा नाथों की साधना में जहाँ प्राणायाम, षटकर्म, अष्टांगयोग-मुद्रा, श्वास-प्रश्वास का संचालन और नियत्रण, नादानुसंधान आदि यौगिक प्रक्रियाओं की साधना करनी पड़ती थी, गुरु तथा मंत्र आवश्यक ही नहीं अनिवार्य हो गये।[4] सिद्धयोग मे सिद्ध

---

१. भवेद्वीर्यवती विद्या गुरु वक्त्र समुद्भवा।
अन्यथा फलहीना स्यान्निर्वीयाप्यति दुःखदा॥ — घेरंड संहिता ३।१०

२. गुरुर्पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो न संशयः।
कर्मणा मनसा वाचा तस्मात्सर्वैः प्रसेव्यते॥ — घेरंड संहिता ३।१३

३. गुरुप्रसादतः सर्वं लभ्यते शुभमात्मनः।
तस्मात्सेव्यो गुरुर्नित्यमन्यथा न शुभं भवेत्॥ — घेरंड संहिता ३।१४

४. संतदर्शन—डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, पृ ०१६
योगांक—शंकर पुरुषोत्तम तीर्थ, पृ० १७३—कल्याण

गुरु की कृपा से सहज ही में योगसिद्ध हो जाता है। किसी अन्य क्रिया की आवश्यकता ही नहीं होती। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य' की भूमिका में यही मत प्रकट किया है कि नाथपंथी योगियों, सहज और वज्रयानियों, तांत्रिकों और परवर्ती संतों में इसीलिए सद्गुरु की महिमा इतनी फैल गई है। सद्गुरु के बिना जगत् के चाहे और सभी व्यापार हो जावें पर यह जटिल साधना-पद्धति नहीं हो सकती।[1]

हिन्दी संत साहित्य की पृष्ठभूमि में यह गुरु-परम्परा अपने पूर्ण महिमामय विकसित रूप में विद्यमान थी। यद्यपि गुरु का स्वरूप वज्रयानियों आदि के हाथ में पड़कर कलुषित भी हो गया था। परन्तु जगत् को भला देखने वाले संतों ने उसके पवित्र स्वरूप का ही अवलोकन करके उसी को ग्रहण किया। उन्होंने योग से प्रभावित साधना के मार्ग को अपनाया तथा उसके लिए उन्हें गुरु की अनिवार्यता का अनुभव हुआ। वेदों से प्रवाहित होती हुई गुरुभक्ति की धारा अनेक कालों में होकर बृहत् रूप धारण करती हुई गुरु की धारणा के अनेक दृष्टिकोणों के साथ हिन्दी के मध्यकालीन संतसाहित्य में सम्मिलित हुई। निगुरा होना संतसाहित्य में हेय समझा जाने लगा और गुरु-महिमा-गान की महत्ता यहाँ तक बढ़ी कि मगलाचरण में इष्टदेव के स्तवन के स्थान प्रर गुरु-महिमा-वर्णन प्रयुक्त होने लगा। मंगलाचरण में गुरु-महिमा को स्थान मिलना उसकी व्यापक महत्ता का द्योतक है। कबीर की साखियों का प्रारम्भ गुरु-वंदना से ही होता है। कबीर तो गुरु को गोविन्द से भी बड़ा मानते हैं। गुरु की कृपा से, उनके पथ-प्रदर्शन से ही गोविन्द से मिलन सम्भव है।[2] कबीर को सद्गुरु से अधिक अपना घनिष्ठ कोई नहीं दिखाई देता।[3] सद्गुरु की महिमा ऐसी अपरंपार है कि वह अपने सदुपदेश से अल्पकाल में ही मानव को देवत्व के उच्च पद पर पहुँचा देता है।[4] सत्गुरु की महिमा अनन्त है। अपनी अनन्त महिमा के द्वारा वह मनुष्य को अनन्त दृष्टि-सम्पन्न बनाकर उस अनन्त शक्ति का दर्शन कराकर जो उपकार करता है उसका अन्त नहीं।[5]

कबीर लोक-प्रचलित तथा वेद-प्रतिपादित मतों के अनुयायी नहीं थे। इन दोनों का अन्धानुसरण करना अंधकार में भटकना है। सत्गुरु के मिलन से ही साधक शिष्य को स्वयं-प्रकाश ज्ञानदीप प्राप्त होता है जो कि अंधकारमय संसार में उसके लिए उपयुक्त पद-प्रदर्शन

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका—हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ६५

२. गुरु गोविंद दोऊ खड़े का के लागूँ पायँ।
बलिहारी गुरु आपकी जिन्ह गोविंद दियो दिखाय। ४ — सं० वा० सं० भा० १, पृ० २

३. सतगुरु सँवान को हितू हरिजन सईं न जाति। १ — क० ग्र०, पृ० २

४. बलिहारी गुरु आपणैं द्यौं हाडी कै बार।
जिनि मानिष तैं देवता करत न लागी बार। २ — क०ग्र०, पृ० १

५. सतगुरु की महिमा अनँत अनँत किया उपकार।
लोचन अनँत उघाड़िया अनँत दिखावणहार। ३ — क० ग्र०, पृ०१

करने में सहायक होता है ।[1] वास्तव में गुरु तथा गोविन्द दोनों एक ही हैं । भेद आकार मात्र का है । 'वाचारम्भणं विकारो नाम धेयं मृत्तिका इत्येवसत्यम्' के अनुसार सत्य तो केवल ब्रह्मतत्त्व है । मनुष्य का 'अहम्' मिट जाने पर, 'मैं' 'मेरा' का भाव विलीन हो जाने पर ही आत्मा और परमात्मा का मिलन सभव होता है ।[2]

गुरु के सिवा अन्य किसी में वह सामर्थ्य नहीं जो इस संसार में मनुष्य का पथ-प्रदर्शन कर सके । भ्राति, अहकार, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर तथा माया आदि विकारों से युक्त इस संसार में राह दिखाने वाला केवल सद्गुरु ही है ।[3] सद्गुरु में ही वह क्षमता है जो विषय-कपाटों को उघार कर परम तत्त्व का दर्शन कराता है । जो निगुरा हो अर्थात् जिसके गुरु ही न हो उसके विषय में क्या कहा जाय । उसका मार्ग-प्रदर्शन कौन करे ? एक ओर जब गुरु निर्दिष्ट मार्ग बतलाता है तब परमात्मा से मिलन होता है परन्तु दूसरी ओर परमात्मा जब स्वयं कृपा करते हैं तभी गुरु की प्राप्ति होती है । सबसे अधिक ध्यान देने की बात तो यह है कि आत्मा ज्ञान के प्रकाश से तभी प्रकाशित होती है जब गुरुप्राप्ति का सौभाग्य मिलता है ।[4] गुरुप्रदत्त इस ज्ञान-प्रकाश के द्वारा ही उस अवेद्य परमशक्ति को पहिचाना जा सकता है । प्रिय-मिलन के असीम आनन्द का वर्णन होना असम्भव सा ही है । धन्य है वह सद्गुरु जिसकी कृपा-कटाक्ष से परमानन्द प्राप्त होता है । सद्गुरु की प्राप्ति के पश्चात् अन्य कुछ वांछित ही नहीं रह जाता । शेष सब आकांक्षित स्वत. प्राप्त हो जाते हैं ।

अपने रंग में रंग कर अपने प्रभाव से प्रभावित कर साधक को अपने समान बना लेने वाला यदि कोई है तो वह है गुरु । भृंगी अन्य जातीय कीटों को अपने प्रभाव से भृंगी ही बना लेता है, ठीक यही स्थिति गुरु की है । पुनीता गगा में अनेक नदी-नाले मिलकर अपना अस्तित्व खोकर भी महानता को प्राप्त करके गंगा ही कहलाते हैं । मर्यादावान् सागर में कितनी ही सरिताएँ मिलकर सागर का ही रूप ले लेती है, उसी प्रकार गुरु के महान् व्यक्तित्व से प्रभावित होकर शिष्य भी उसी के समान हो जाता है । गुरु में ही वह क्षमता है कि वह

---

१. पीछै लागा जाइ था लोक वेद के साथि ।
आगै थै सतगुरु मिल्या दीपक दीया हाथि । ११ — क० ग्र०, पृ० २

२. गुरु गोबिंद तौ एक है दूजा यहु आकार ।
आपा मेट जीवत मरै तौ पावै करतार ।। २६ — क० ग्र०, पृ० ३

३. गुरु बिन कौन बतावै बाट, बड़ा विकट यम घाट ।
भ्रांति की पहाड़ी नदियाँ बीच में अहंकार की लाट ।
काम क्रोध दो पर्वत बीच में, लोभ चोर संघात ।
मद मत्सर का मेह बरसता माया पवन बहै डाट ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो क्या तरना यह घाट ।।

४. ग्यान प्रकास्या गुरु मिल्या सो जिनि बीसरि जाइ ।
जब गोबिंद कृपा करी तब गुरु मिलिया आइ ।।१३ — क० ग्र०, पृ० २

चंचल मन को निश्चल और एकाग्र बनाकर अगम्य को गम्य कराकर अप्राप्तव्य की प्राप्ति करा देता है।[1]

जीव (आत्मा) जीवनपर्यन्त विषय-भोग में ही लिप्त रहता है। बाल्यकाल विविध बाल-क्रीड़ाओं में, युवावस्था यौवन की रंगीनियों में तथा वृद्धावस्था रोग की दारुण व्यथा के सहने में ही बीत जाती है। इन विषय-विकारों से युक्त संसार में जीव आनन्द की निरर्थक खोज करने में संलग्न रहता है परन्तु अपने अज्ञानवश वह नही जानता कि वह परम अन्वेषणीय तत्त्व स्वयं उसी में निहित है। जिस प्रकार कस्तूरी मृग की नाभि में ही कस्तूरी होती है परन्तु वह कस्तूरी की ही खोज में दौड़ा घूमता है; उसी प्रकार उसका जीवन भटकते-भटकते ही बीत जाता है। इन व्याधियों—इन कष्टों को दूर करने वाला एकमात्र गुरु है, ऐसा संत कबीर घोषित करते हैं। सांसारिक धन-यौवन तथा सम्पूर्ण सुख-साधन अत्यन्त क्षणिक हैं। यदि स्थायित्व है तो वह गुरु के ज्ञानमय उपदेश में ही।[2]

कबीर के विचारों में गुरु आत्मा और परमात्मा में मध्यस्थ का कार्य करता है। वही दोनों का संयोग कराता है। संयोगावस्था में चाहे गुरु की आवश्यकता न हो पर जब तक आत्मा और परमात्मा का संयोग नही होता तब तक गुरु का साथ सदैव आवश्यक है, अन्यथा मार्ग भूलकर आत्मा के अन्यत्र भटक जाने की आशंका है। इस सम्बन्ध में कबीर के सुन्दर रूपक पठनीय हैं। सरोवर के तट पर स्थित हंसिनी तृषा से व्याकुल हो रही है पर उसे वह युक्ति ज्ञात नही जिससे वह सरोवर का जल पीकर अपनी तृषा शांत कर सके। परमात्मा के निकट ही जीव उससे मिलने के लिए आकुल है पर मिले कैसे, वह उस युक्ति को नही जानता। कुएँ के ऊपर खड़ी पनिहारिन के पास यदि पानी भरने के साधन-रूप रस्सी नहीं है, तो उसका कलश रीता ही रह जायगा। गुरु द्वारा दिया हुआ ज्ञान ही वह युक्ति

---

१. गुरु बड़े भृंगी हमारे गुरु बड़े भृंगी।
कीटसों ले भृंग कीन्हा आपसों रंगी।
पाँव औरैं कोई सब भये भृंगी पंख औरैं और रंग रंगी।
जाति कुल ना लखें कोई सब भये भृंगी।
नदीनाले मिलै गंगे कहलावैं गंगी।
दरियाव दरिया जा समाने संग में संगी।
चलत मनसा अचल कीन्ही मन हुआ पंगी।
तत्तमें निःतत्त दरसा संगमें संगी।
बंधते निर्बंध कीन्हा तोड़ सब तंगी।
कहैं कबीर किया अगम गम नाम रंग रंगी। १६७   ह० प्र० क०, पृ० ३३६

२. पीले प्याला हो मतवाला प्याला नाम अमीरस का रे।
बालापन सब खेलि गँवाया तरुन भया नारी बसका रे।
विरध भया कफ बाय ने घेरा खाट पड़ा न जाय खसका रे।
नाभि-कंवल बिच है कस्तूरी जैसे मिरग फिरे बनका रे।
बिन सतगुरु इतना दुख पाया बैद मिला नहिं इस तन का रे।

है जिससे जीवरूपी हंसिनी अपनी ब्रह्मपिपासा को शांत कर सकती है तथा वही ज्ञान गुणमय रज्जु है जो अमृत तत्त्व की प्राप्ति में साधन का कार्य करता है।[1]

आत्मा परमात्मा से मिलने के लिए विह्वल है। उसे एक ऐसे दुर्गम पथ (प्रेम-पथ) को पार करना है जिस पर एक-एक पग बड़े यत्न से सँभालकर रखना होता है। मार्ग ऊँचा-नीचा और विषम है, उस पर भी फिसलन है जहाँ पैर ठहरना असम्भव-सा ही प्रतीत होता है। लोकलज्जा और कुल की मर्यादा के कारण मन में संकोच हो रहा है। संसाररूपी पितृगृह में रहने वाली आत्मा प्रिय-मिलन हेतु ससुराल जाने में लजा रही है। प्रियतम का निवास ऐसे दुर्गम स्थान पर है कि आत्मा को उसकी प्राप्ति के लिए बार-बार संदेह होता है। जीव प्रेम-मार्ग में उपस्थित इन विघ्नों को देखकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो उठता है। ठीक इसी समय उसकी सद्‌गुरु-रूपी दूती से भेंट होती है और वह प्रिय-मिलन के सम्पूर्ण रहस्यों का उद्‌घाटन कर देता है। उस पथ-प्रदर्शन को आधार बनाकर जीव प्रियतम तक पहुँच जाता है। आत्मा-परमात्मा का सुखद संयोग हो जाता है। आध्यात्मिक आनन्द के प्रबल वेग में आत्मा अनन्त सत्य से जा मिलती है जहाँ प्रेम के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।[2] चरनदास ने भी गुरु को दूती के समान कहा है। प्रिय के मिलन में मध्यस्थ का कार्य करती है दूती; उसी प्रकार परमात्मा का साक्षात्कार कराने में गुरु मध्यस्थ का कार्य करता है। गुरु के बिना परमात्मा का प्रत्यक्ष संभव नहीं। यदि साधक की इच्छा हो तो वह जप, तप, तीर्थ-स्नान आदि सब बाह्य साधनों को अपनाकर देख ले परन्तु गुरु के बिना परमात्मा से संयोग होने की आशा नहीं। तात्पर्य यह, कि चरनदास जप, तप, तीर्थ-व्रत आदि की अपेक्षा गुरु को ही सर्वश्रेष्ठता प्रदान करते हैं।

मात-पिता बंधु सुत तिरिया संग नहीं कोइ जाय सका रे।
जब लगि जीवै गुरु गुन लेगा धन जोवन है दिन दस का रे। २१७ — ह० प्र० क०, पृ० ३४८

१. सरवर तटि हंसिणीं तिसाई।
जुगति बिन हरि जल पिया न जाई।
पिया चहै तो ले खग सारा, उड़ि न सकै दोऊ पर भारी।
कुंभ लिये ठाढ़ी पनिहारी, गुण बिन नीर भरै कैसै नारी।
कहै कबीर गुरु एक बुधि बताई, सहज सुभाइ मिले रांम राई। २१८ — क० ग्र०, पृ० १८६

२. मिलना कठिन है कैसे मिलौंगी प्रिय जाय।
समुझि सोचि पग धरौं जतन से बार-बार डिग जाय।
ऊँचो गैल राह रपटीली पाँव नहीं ठहराय।
लोक लाज कुल की मरजादा देखत मन सकुचाय।
नैहर वास बसा पीहर में लाज तजो नहिं जाय।
अधर भूमि जँह महल पिया का हम पै चढो न जाय।
धन भई वारी पुरुष भये भोला सुरत झकोरा खाय।
दूती सतगुरु मिले बीच में दीन्हों भेद बताय।
साहब कबीरा पिया सो भेंट्यो सीतलकंठ लगाय। — कबीर वचनावली, पृ० १३७

समस्त संसार ब्रह्ममय है । संसार में स्थित जीव भी ब्रह्म है । ब्रह्मरूपी हीरा जीव-रूपी हीरे में व्याप्त है । उसी की आभा से सर्वत्र ज्योतिर्मय होता है पर उस गुप्त हीरे की पहिचान करने वाला हंस के समान गुणग्राही यदि कोई हो तो वही इस रहस्य को जान सकता है । कबीर के अनुसार वह ब्रह्मरूपी हीरा जो कि सम्पूर्ण संसार में परिव्याप्त होने पर भी किसी के द्वारा जाना नहीं जाता, तभी प्रकट हो जाता है जब कि गुरु के द्वारा उसके रहस्य का निदर्शन करा दिया जाता है ।[1]

कुंभकार मृत्तिका-पात्रों को मनचाहा आकार प्रदान करता है । बनाते समय ऊपर से वह मिट्टी पर चोट करता है पर भीतर से मिट्टी को हाथ का सहारा दिए रहता है जिससे कि पात्र सुडौल बने । इसी प्रकार गुरु अपने कठोर प्रतीत होने वाले आचरण के द्वारा शिष्य को अनुशासन में रखता है पर साथ ही अपनी कृपा तथा उदारता का अवलम्बन शिष्य को प्रदान करके उसके वास्तविक चरित्र का निर्माण करता है । कबीर ने गुरु को साधक का चरित्र-निर्माता भी माना है ।[2] इस प्रकार के महत्तासम्पन्न गुरु का मूल्य किसी प्रकार आँका नहीं जा सकता । यह मानव-तन विष की बेल है । क्षणभंगुरता इसमें है ही, साथ ही घातक कटुता भी है । गुरु ही ऐसा है जो इसको मृदुता प्रदान करके शाश्वत बना सकता है । अतः गुरु की उपलब्धि के लिए यदि सिर भी देना पड़े- -बड़े से बड़ा बलिदान भी करना पड़े तो वह उसके मूल्य के सम्मुख नगण्य ही है ।[3]

जहाँ एक ओर सद्गुरु की महिमा के गीत गाये जा रहे थे वहीं सद्गुरु की शक्ति के प्रति जनता मे अंध-विश्वास भी प्रचलित हो गया था । छद्मवेषधारी गुरु अपनी चमत्कारिक शक्ति का प्रदर्शन करके जनसाधारण को आतंकित करते हुए उसे विविध प्रकार से धोखे में डाल रहे थे । इस प्रकार के बनावटी गुरुओं से किसी को कोई लाभ नही था । इनकी दशा किसी से छिपी न थी । इस सम्बन्ध में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन विचार-णीय है—"साधारण जनता को सद्गुरु की कृपा के नाम पर आतंकित करने वाले और उन पर रौब जमाने वाले छोटे-मोटे योगियों की एक विराट वाहिनी जरूर तैयार हो गई होगी । ऐसा सचमुच ही हुआ था । ऐसे अलख जगाने वाले योगियों से सचमुच ही सारा देश भर गया था ।[4]" ये अपने शिष्यों सहित दुष्कर्मों के कूप में उसी प्रकार पतित होते थे जिस प्रकार

---

१. हीरै हीरा बेधि पवन मन सहजे रह्या समाई ।
सकल जोति इन हीरै बेधी सति गुरु बचनी मैं ।
हरि की कथा अनाहद बानी हंस है हीरा लेइ पिछानो ।
कहि कबीर हीरा अस देख्यो जग महि रह्या समाई ।
गुपता हीरा प्रगट भयो जब गुरु गम दिया दिखाई । २२१ — क० ग्रं०, पृ० ३३२

२. गुरु कुम्हार सिष कुंभ है गढ़ि गढ़ि काढ़ै खोट ।
अन्तर हाथ सहार दै बाहर बाहै चोट । ९ — कबीर, सं० बा० सं० भा० १, पृ० २

३. यह तन विष की बेलरी गुरु अमृत की खान ।
सीस दिये जो गुरु मिलै तौ भी सस्ता जान । १६ — सं० बा० सं० भा० १, पृ० ३

४. हिन्दी साहित्य की भूमिका — ह० प्र०, पृ० ६३

एक अंधा दूसरे अंधे को ठेलता है और दोनों कुएँ में गिरकर विनष्ट हो जाते हैं।[1] इस प्रकार के पतित जन न किसी के वास्तविक गुरु बन सकते हैं और न किसी को अपना शिष्य ही बना पाते हैं, केवल लोभ के वशीभूत होकर वे तरह-तरह के प्रपंच रचा करते हैं। पत्थर की नाव पर चढ़कर जल-प्रवाह को पार करने की इच्छा रखने वाले के सदृश कृत्रिम वेषधारी, कपटी गुरु और शिष्य दोनों ही मँझधार में डूब जाते हैं।[2] गुरु-शिष्य के इस कपटमय सम्बन्ध की तुलसी ने भी कड़े शब्दों में भर्त्सना की है :

गुरु सिष बधिर अन्ध कर लेखा, एक न सुनइ एक नहिं देखा।३
हरइ सिष्य धन सोक न हरई, सो गुरु घोर नरक महुँ परई ॥

तु० रा०, उ० का० ९८.४

स्वार्थी तथा कपटी एवं अज्ञानी गुरु और मूर्ख तथा अहंकारी शिष्य का जोड़ा अन्धे और बहरे के जोड़े के समान है। अपने अज्ञान तथा स्वार्थपरता के कारण गुरु सत्य के स्वरूप को नहीं देख पाता तथा शिष्य गुरुपदेश के प्रति बधिर रहता है। ऐसे पामर गुरु शिष्य के धन का हरण करते हैं उसके संताप का नहीं और अपने इसी दुष्कृत्य के कारण नरक की घोर यातना भोगते हैं। प्रायः यही भाव हमें संस्कृत के निम्नलिखित श्लोक में भी दृष्टिगत होता है :

गुरवो बहवस्तात शिष्यवित्तोपहारकाः।
विरला गुरवस्ते ये शिष्यसंतापहारकाः ॥

शिष्य के धन को हरने वाले गुरु बहुत हैं परन्तु शिष्य के संताप का हरण करने वाले सच्चे गुरु विरले ही हैं। अनेक प्रकार के आडम्बर रचने वाले 'कान फूंकने वाले' गुरुओं का क्षेत्र इस संसार तक ही सीमित है परन्तु उस असीम और अनन्त का ज्ञान कराने वाला गुरु दूसरा ही होता है। ऐसे सद्गुरु के मिलन से ही मनुष्य अपने वास्तविक निवास-स्थान (ब्रह्म) को प्राप्त कर लेता है।[3] जब तक पूर्णता की प्राप्ति, सत्गुरु का मिलन नहीं होता, शिक्षा अपूर्ण रहती है। कृत्रिम गुरुओं में न विद्वत्ता होती है, न उनके द्वारा दी हुई शिक्षा ही फलदायिनी होती है। केवल बाह्याडम्बर रचने से, यती का वेष धारण कर लेने से ही कोई गुरु नहीं बन जाता।[4] इन पाखंडी गुरुओं के बीच में सत्गुरु कौन है, किन लक्षणों से युक्त व्यक्ति को हम सत्गुरु कहकर समादरित कर सकते हैं, यह कबीर के निम्नलिखित पद में भलीभाँति देखा जा सकता है :

---

१. जाका गुरु भी अंधला चेला खरा निरंध।
अन्धै अंधा ठेलिया दून्यूं कूप पडंत ॥ १५ — क० ग्रं०, पृ० २

२. ना गुरु मिल्या न सिष भया लालच खेल्या डाव।
दून्यूं बूडे धार मैं चढ़ि पाथर की नाव ॥ १६ — क० ग्रं०, पृ० २

३. कन फूँका गुरु हद्दका बेहद का गुरु और।
बेहद का गुरु जब मिलै लहै ठिकाना ठौर ॥ ४ — सं०, बा० सं० भा० १, पृ० ४

४. पूरा सतगुरु ना मिला सुनी अधूरी सीख।
स्वाँग जती का पहिरि कै घर घर माँगै भीख ॥

साधो सो सतगुरु मोहि भावै ।
सत्त नाम का भर-भर प्याला आप पिये मोहि प्यावै ।
मेले जाय न महंत कहावै पूजा भेद न लावै ।
परदा दूरि करैं आँखिन का निज दरसन दिखलावैं ।
जाके दरसन साहब परसै अनहद सब्द सुनावै ।
माया के सुख दुख करि जानै संग न सुपन चलावै ।
निसदिन सत संगति में राचै शब्द में सुरत समावैं ।
कहे कबीर ताको भय नाही निरभय पद सरसावै ।

निःसन्देह सत्गुरु वही है जो रामरस का पान स्वयं करता है तथा अपने शिष्य को भी कराता है । वह शिष्य को प्रेम-प्याला तब तक पिलाता रहता है जब तक उसकी पूर्ण तुष्टि नही हो जाती । वह मेलों में जाकर महन्त की पदवी धारण नहीं करता, पूजा आदि बाह्याडम्बरो में लिप्त नहीं होता तथा आत्मा-परमात्मा में भेद-दृष्टि नहीं रखता । वह अज्ञान का परदा हटाकर आत्मदर्शन कराता है और इस आत्मदर्शन के द्वारा ही परमात्मा का साक्षात्कार होता है । मायाजन्य सुख को सद्गुरु दुःख-रूप में ही ग्रहण करता है और उनमें आसक्ति की तो बातें ही क्या, स्वप्न में भी उनका विचार नहीं करता । वह सदैव सत्संगति में लगा रहता है तथा भगवत्प्रत्यक्ष में रत रहता है । वह स्वयं तो निर्भय रहता ही है, दूसरों के भी अभय-पदप्राप्ति का कारण होता है । गुरु की प्राप्ति तभी सार्थक समझनी चाहिए जब साधक के मोह का नाश हो जाय तथा हर्ष और शोक आदि उसे आह्लादित तथा विषादित न कर सकें ।[1] इस प्रकार सद्गुरु के लक्षणों को प्रस्तुत करके कबीर ने कृत्रिम गुरुओं के धोखे में पड़ने से जनता को सचेत किया । उस काल मे गुरुओं की इतनी अधिकता हो गई थी कि उनमें वास्तविक गुरु को पहिचानना भी एक समस्या थी ।

संस्कृत के एक श्लोक में ईश्वर की महत्ता का उल्लेख करने में साक्षात् देवी शारदा को भी असमर्थ ठहराया गया है :

असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिंधु पात्रे, सुरतरुवर शाखा लेखनीपत्रमुर्वी ।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्व कालं, तदपि तव गुणानामीश पारं न याति ॥

इसी प्रकार की प्रचलित उक्तियों से प्रभावित होकर कबीर ने गुरु का इस भाँति वर्णन किया है । वे गुरु को परमात्मा से किसी प्रकार न्यून नहीं समझते थे; इसीलिए संस्कृत श्लोक में उल्लिखित ईश्वर के गुणों का आरोप उन्होंने गुरु में किया है । वे गुरु को उच्च से उच्च शब्दों से अभिनन्दित करते हैं फिर भी कुछ न कुछ कहने के लिए रह ही जाता है । कबीर सोचते हैं कि यदि समस्त पृथ्वी को स्वच्छ करके कागज के समान लिखने योग्य बना लिया जाय, सभी वृक्षों की छाँटकर लेखनी बना ली जाय, सभी सागरों में स्याही घोल दी जाय

---

१. गुरु मिला तब जानिये मिटा मोह तन ताप ।
हर्ष सोक व्यापै नहीं तब गुरु आपै आप ।। १४ — सं० बा० सं० भा० १, पृ० २

तत्पश्चात् कबीर को यदि लिखने का अवसर मिले तब भी वे गुरु की असीम महत्ता का, उसके अवर्णनीय महत्त्व का उल्लेख करने में समर्थ न हों।[1] कबीर के गुरु के महान् व्यक्तित्व का उल्लेख करने की संसार में किसी की भी सामर्थ्य नहीं है। इस साखी को पढ़ने के बाद गुरु-स्तवन में और कुछ कहना शेष ही नहीं रह जाता।

मध्यकालीन संतसाहित्य मे गुरु-परम्परा का रूप इतना प्रबल हो गया था कि उसमें गुरु का महत्त्व-वर्णन तो था ही परन्तु उस शिष्य की महत्ता भी प्रनिपादित की गई थी जिसके गुरु होता था। सम्भव है कोई ज्ञान तथा बुद्धिसम्पन्न व्यक्ति यदि 'सगुरा', न होता होगा तो उसे वास्तविक ज्ञानी तथा साधक की मान्यता न मिलती होगी। तत्कालीन कवियों ने इसीलिए 'सगुरा' तथा 'निगुरा' पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। गोरखनाथ ने 'सगुरा' की श्रेष्ठता को इस प्रकार व्यक्त किया है :

गगनमण्डल में जो अमृत का कूप है उससे मनचाहा अमृत वही प्राप्त कर सकता है जो 'सगुरा' होता है। सहज-सुलभ अमृत के होने पर भी 'निगुरा' तृषाकुल होकर ही अत को प्राप्त होता है। गुरु द्वारा निर्देशित यौगिक प्रक्रियाओं को साधकर ही साधक शून्यमण्डल में स्थित अमृत को प्राप्त करता है। नाथपंथ में यद्यपि हठयोग की प्रमुखता है इसीलिए गोरखनाथ ने योग-साधना पर ही अधिक जोर दिया है।[2] हम भक्तिमती मीरा को कहते देखते हैं कि 'सगुरा' को अमृत की प्राप्ति होती है गुरु के अवलम्ब से, परन्तु 'निगुरा' को सहज सुलभ जल भी तृषा बुझाने के लिए उपलब्ध नहीं होता। सत्गुरु के मिलन से ही परमात्मा की प्राप्ति हो सकती है।[3] इस संसार में धन, धाम, परिवार सब कुछ छूट जाने पर भी मीरा को रामरत्न ऐसा अमूल्य धन प्राप्त होगया है जो व्यय करने से घटता नही, किसी से अपहरण नहीं किया जा सकता तथा जो उपयोग में आने से नित्यप्रति बढ़ता ही जाता है। यह सब गुरु के कारण ही सभव हो सका है। ससार-सागर से जीव को मुक्त करने में सद्गुरु कर्णधार ही समर्थ हैं।[4]

---

१. धरती सब कागद करूं लेखनि सब बनराइ।
सात समुंद की मसि करूं गुरु गुन लिखा न जाइ।। ५ — सं० वा० सं० भा० १, पृ० २

२. गगन मडल में अंधा कुआं तहां अमृत का बासा।
सगुरा होइ सो भरि भरि पीवै निगुरा जाय पियासा।। — गोरखनाथ बानी, पृ० ६

३. मनखा जनम पदारथ पायो ऐसो बहुरि न आती।
अब के मोसर ज्ञान बिचारो राम राम मुख गाती।
सतगुरु मिलिया सुंजपिछानी ऐसा ब्रह्म मैं पाती।
सगुरा सूरा अमृत पीवे निगुरा प्यासा जाती।
मगन भया मेरा मन सुख में गोविंद का गुण गाती।
साहिब पाया आदि अनादी ना तर भव में जाती।
मीरा कहे इक आस आपकी औरां सूँ सकुचाती। १ — सं० बा० सं० भा० २, पृ० ६६

४. मैंने राम रतन धन पायो।
पायो जी मैंने राम रतन धन पायो।
बस्तु अमोलक दी मेरे सत्गुरु किरपा करि अपनायो।

तुलसी के 'मानस' का आरम्भ ही प्रायः गुरु-वन्दना से होता है। तुलसी के शब्दों में गुरु मनुष्य के रूप में स्वयं करुणाकर भगवान् ही हैं। गुरु का उपदेश अज्ञान के अंधकार को दूर करने के लिए अनेक सूर्यों के समान है। गुरु-चरण-रज सुरुचि, सुगंधि तथा सरस अनुराग से पूर्ण है। सांसारिक व्याधियों का शमन करने के लिए गुरु-पद-रज संजीवनी औषधि के समान है। वह रज पुण्यवान् पुरुष शिव के शरीर पर सुशोभित निर्मल विभूति के समान सौन्दर्य, कल्याण और आनन्द की जननी है (सत्यं, शिवं, सुन्दरम्) भक्त के मनरूपी दर्पण के मल को दूर करने वाली तथा मस्तक पर धारण करने से गुणों के समूह को वश में करने वाली है। गुरु के चरण-नखों की प्रकाशमय ज्योति से हृदय में दिव्यदृष्टि उत्पन्न होती है, अज्ञान-अंधकार का नाश होता है, तथा उसकी प्राप्ति बड़े सौभाग्य का विषय है। गुरु-चरणों की भक्ति से हृदय के निर्मल नेत्र खुल जाते हैं, संसार के समस्त क्लेश मिट जाते हैं तथा भगवान् की महिमा के सभी रहस्य विदित हो जाते हैं। जिस प्रकार सिद्ध अंजन को नेत्रों में लगाकर पृथ्वी में छिपी हुई धनराशि को जान लिया जाता है उसी प्रकार गुरु-पद-रज रूपी अजन को लगाकर भगवान् के व्यक्त तथा अव्यक्त सर्वकालीन चरित्र का ज्ञान हो जाता है। यह रज उस मृदु (आँखो को कड़ुवा लगने वाला नहीं) अंजन के सदृश है जो नेत्रों के समस्त दोषों को दूर करके उन्हें संजीवनी शक्ति प्रदान करता है। इसी रज को धारण करके तुलसी मानस-रचना मे सलग्न हुए।[1]

कबीर के समान ही तुलसी ने भी संसार-सागर को पार करने के लिए गुरु की उपस्थिति आवश्यक ही नही, अनिवार्य मानी है। साक्षात् ब्रह्मा और विष्णु के समान भी, बिना

जनम-जनम की पूँजी पाई जग में सबै खोवायो।
खरचै नहिं कोइ चोर न लेवे दिन-दिन बढ़त सवायो।
सत की नाव खेवटिया सतगुरु भवसागर तरि आयो।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर हरषि-हरषि जस गायो। १५७ मी० प०, पृ० ५५

१. बंदउँ गुरुपद कंज कृपासिंधु नररूप हरि।
महामोह तम पुंज जासु बचन रवि कर निकर।। ५
बंदउ गुरु पद पदुम परागा सुरुचि सुवास सरस अनुरागा।
अमिय मूरिमय चूरन चारू समन सकल भव रुज-परिवारू। १
सुकृति संभु तन विमल विभूती मंजुल मंगल मोद प्रसूती।
जन मन मंजु मुकुर मल हरनी किएँ तिलक गुन गन बस करनी। २
श्रीगुरु पद नख मनि गनि जोती सुमिरत दिव्य दृष्टि हियँ होती।
दलन मोह तम सो सुप्रकासू बड़े भाग उर आवइ जासू। ३
उघरहिं बिमल बिलोचन ही के मिटहिं दोष दुख भव रजनी के।
सूझहिं रामचरित मनि मानिक गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक। ४
जथा सुअंजन अंजि दृग साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखत सैल बन भूतल भूरि निधान।।१
गुरुपद रज मृदु मंजुल अंजन नयन अमिय दृग दोष बिभंजन।
तेहिं करि बिमल बिबेक बिलोचन बरनउ रामचरित भवमोचन।। १ तु० रा०, बा० का० १.१

गुरु के संसार से मुक्त नहीं हो सकता। सर्प से डसे हुए प्राणी को गारुड़ि के समान गुरु ही जीवनदाता है। वैनतेय गरुड़ को संशयरूपी सर्प ने डस लिया था तथा कुतर्करूपी लहरें उन्हें आ रही थीं परन्तु उनके गुरु काग-भुशुण्डि के वचनों से उनका सम्पूर्ण संशय-विष एवं कुतर्क दूर हो गया। गुरु की कृपा से उनका सब मोहजाल नष्ट हो गया तथा भगवान् राम का अनुपम रहस्य विदित हो गया।[1] अस्तु, बिना गुरु के ज्ञान-प्राप्ति की आशा करना दुराशा मात्र है। इतना ही नहीं, तुलसी का तो यहाँ तक कहना है कि जिसे गुरु के वचनों मे विश्वास एवं प्रीति नहीं, उसे स्वप्न में भी सुख और सिद्धि सुलभ नहीं। इसीलिए 'मानस' में उमा अन्य किसी बात की चिन्ता न करती हुई अपने गुरु नारद के वचनों मे अडिग प्रीति रखती हैं तथा उसको न छोड़कर शरीर-त्याग तक के लिए तत्पर हैं।[2] विषम परिस्थितियों से युक्त, अनेक विघ्न-बाधाओं से पूरित तथा नाना प्रकार के क्लेशों से आक्रान्त इस संसार-सागर में सत्गुरु ही ऐसा समर्थ कर्णधार है जो कि जीव का निस्तार कर सकता है।[3] अधिकाश सन्तकवियों ने गुरु को कर्णधार कहा है। दरियासाहब ने गुरु को तैराक-रूप में देखा है जो लोभ, मोह की तरंगों से पूरित भवसागर में डूबते हुए को अपना अवलम्ब देकर पार कर देता है।[4] इसी प्रकार गुरु-स्तवन की परम्परा में प्रायः सभी कवियों ने गुरु को ईश्वर की अपेक्षा अधिक महत्त्व प्रदान किया है। कबीर को हम देख चुके हैं, तुलसी भी इस विषय मे पीछे नही है। वे कहते हैं कि जो गुरु को भगवान् से भी अधिक मानकर सब प्रकार से सम्मानित कर उसकी सेवा करते हैं, उनके हृदय में भगवान् का निवास है।[5] भक्त सुन्दरदास ने भी अनेक तर्कों के

---

१. पुनि पुनि काग चरन सिरु नावा, जानि राम सम प्रेम बढ़ावा। २
गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई जौं बिरंचि संकर सम होई।
संसय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता, दुःखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता।
तव सरूप गारुड़ि रघुनायक मोहि जियायउ जन सुखदायक।
तव प्रसाद मम मोह नसाना, राम रहस्य अनूपम जाना। ४
प्रभु अपने अविवेक ते बूझउँ स्वामी तोहि।
कृपासिंधु सादर कहहु जानि दास निज मोहि॥ — तु० रा०, उ० का०, ९३ (ख)
बिनु गुरु होहि कि ज्ञान ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।
गावहिं वेद पुरान सुख की लहिअ हरि भक्ति बिनु॥ ६ — तु० रा०, उ० का०, ८९ (क)

२. सत्य कहेहु गिरिभव तनु एहा; हठ न छूट छूटै बरु देहा। ३
नारद बचन न मैं परिहरऊँ बसउ भवनु उजरउ नहिं डरऊँ। — तु० रा०, बा० का०, ७९।४
गुरु कें बचन प्रतीत न जेही, सपनेहुँ सुगम न सुख सिधि तेही।

३. करनधार सदगुर दृढ़ नावा, दुर्लभ साज सुलभ करि पावा। — तु० रा०, उ० का०, ४३।४

४. डूबत रहा भवसिंध में लोभ मोह की धार।
दरिया गुरु तैरू मिला कर दिया पैले पार। ३ — दरिया साहिब, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १२६

५. तुमते अधिक गुरहिं जिय जानी, सकल भाय सेवहि सनमानी।
सबुकरि मागहिं एक फलु रामचरन रति होउ।
तिन्ह के मन-मन्दिर बसहु सिय रघुनन्दन दोउ। — तु० रा०, अयो० का० १२९

द्वारा गुरु की महिमा को परमात्मा की महिमा से अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध किया है। ईश्वर मनुष्य को इस संसार में जन्म देकर उसके शुभाशुभ कर्मानुसार उसके लिए स्वर्ग तथा नर्क की व्यवस्था करता है परन्तु गुरु का कार्य इससे बढ़कर है। वह जीव को आवागमन के फंदे से मुक्त कर उसे परम स्वच्छन्द कर देता है। ईश्वर का बनाया हुआ यह प्राणी संसार-सागर में नाना प्रकार से डूबता-उतराता है परन्तु गुरु ही ऐसा समर्थ है जो इस द्वन्द्वात्मक संसार से उसको मुक्त कर देता है। और अधिक क्या कहा जाय सुन्दरदास ने स्पष्ट कह दिया है **'गुरु की तो महिमा है अधिक गोविंद तैं'**।[1]

परमात्मा का वास ऐसे दुर्गम स्थल पर है जहाँ चींटी (जिसकी गति उर्ध्व, अधः, तिरश्चीन सर्वत्र है) भी नहीं चढ सकती तथा सरसों जैसी छोटी वस्तु भी नहीं ठहर सकती। ऐसे दुर्लभ स्थान पर रहने वाले प्रिय से मिलन कराने में सत्गुरु ही सक्षम है। सहजोबाई अपने को परमात्मा के निकट अनुभव करती हैं।[2] सहजोबाई का कथन है : गुरु के आदेश के बिना किसी मार्ग का ग्रहण न करे अर्थात् गुरु ही पथ-प्रशस्तकर्त्ता है। गुरु के बिना ज्ञान प्राप्त नहीं होता। गुरु के बिना सब अधकारमय है तथा सब प्रकार से हानि ही हानि है। सत्गुरु में वह शक्ति तथा योग्यता होती है जो व्यक्तित्व को भी परिवर्तित कर देती है। कटुभाषी, अविवेकी, काले काग को गुणग्राही, विवेकी, उज्ज्वल-वर्ण हंस में परिवर्तित कर देने की सामर्थ्य गुरु में ही है।[3] परन्तु यह गुरु सत्गुरु होना चाहिए। यों तो बहुत-से गुरु इधर-उधर घूमते-फिरते हैं जिनको ज्ञान-ध्यान की तनिक भी चिन्ता नही रहती। ये हाथ तो बहुतों का पकड़ते हैं, बहुत से शिष्य बनाते हैं परन्तु स्वयं में सामर्थ्य इतनी भी नहीं रखते कि एक भी शिष्य को अपने ज्ञानोपदेश से जीवन-मुक्त बना सकें।[4]

भक्त दूलनदास को इतने से ही सन्तोष नही हुआ। उन्होंने गुरु को ही ब्रह्मा, गुरु

---

१. गोविंद के किये जीव जात हैं रसातल को,
गुरु उपदेश से तो छूटै जम फन्द तें।
गोबिंद के किये जीव बस परे कर्मनि के,
गुरु के निवाजे से फिरत स्वच्छन्द तें।
गोविंद के किये जीव बूड़त भवसागर में,
सुन्दर कहत गुरु काढ़ै दुख द्वन्द तें।
औरहू कहा लौं कछू मुख ते बनाइ कहौं
गुरु की तो महिमा है अधिक गोविंद तें। सं० बा० सं० भा० २, पृ० १०७

२. चिऊंटी जहाँ न चढ़ि सकै सरसो ना ठहराय।
सहजो कूँ वा देश में सतगुरु दई बसाय॥

३. गुरु बिन मारग ना चलै गुरु बिन लहै न ज्ञान।
गुरु बिन सहजो धुंध है गुरु बिन पूरी हान॥ ३ सहजोबाई, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १५४
सहजो सतगुरु के मिले भये और सूँ और।
काग पलटि गति हंस ह्वै पाई भूली ठौर॥ ८ सहजोबाई, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १५५

४. सहजो गुरु बहुतक फिरैं, ज्ञान ध्यान सुधि नाहिं।
तार सकैं नहि एक कूँ गहैं बहुत बांह। ११ सहजोबाई, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १५५

को ही विष्णु, गुरु को ही शंकर (त्रिदेव) तथा गुरु को ही साधु माना है। गुरु गोविन्द की अपेक्षा श्रेष्ठतर है और उसका कथन अगम्य तथा अगाध है।[1] अन्य संतों की भाँति गरीबदास ने भी गुरु को पूर्ण ब्रह्म, अलेख, रमता राम आदि विशेषणों से सुशोभित किया है।[2] चरनदास के मतानुसार भगवान् की सेवा यदि सौ वर्ष की जाय और गुरु की सेवा यदि चार पल भी की जाय, तो यह चार पल की सेवा भगवान् की उस सौ वर्ष की सेवा से कहीं अधिक उत्तम तथा फलप्रदायिनी होगी।[3] कबीर के ही समान चरनदास ने गुरु के स्थान को अद्वितीय माना है। संसार क्या, तीनों लोकों में भी उसकी समता करने वाला उन्हें ऐसा कोई नहीं दिखाई पड़ता जिसके नामस्मरण मात्र से सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जायँ तथा जिसके ध्यान करने से ध्यानी भी स्वयं हरि के समान हो जाय।[4] सतगुरु के उपदेश से प्राणी आवागमन के बन्धन से मुक्त होकर संसार में नहीं आता तथा ब्रह्मपद को प्राप्त कर लेता है।[5]

अन्य संतों की भाँति चरनदास ने भी जनता के हित के लिए 'कनफूंका' और 'सत्-गुरु' में अन्तर दिखाते हुए कहा है—कनफूंका द्रव्य कमाने के लिए घर-घर कंठी बाँटते फिरते हैं और कोई काम उन्हें नहीं रहता।[6] वे शिष्यों से कहते है कि कुछ मुझे लाकर दो और इसके विपरीत सत्गुरु कहते है कि मुझे कुछ देने के स्थान में ईश्वर के नाम का स्मरण करो।[7] वास्तविक सत्गुरु वही है जो मुक्ति का मार्ग दिखाये, कनफूंके गुरु तो बहुत मारे-मारे घूमा करते हैं।[8]

कबीरदास, सुन्दरदास आदि की भाँति सहजोबाई भी गुरु की महिमा को भगवान् की महिमा से अधिक महत्ता-सम्पन्न समझती हैं। वे भगवान् को त्यागने के लिए तैयार है, पर गुरु को भुलाने को भी तैयार नहीं हैं। वे गुरु के समान परमात्मा को भी नही मानती।

---

१. गुरु ब्रह्मा गुरु विष्णु है गुरु संकर गुरु साध।
दूलन गुरु गोबिंद भजु गुरुमन अगम अगाध ॥ १ — दूलनदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १३३

२. सतगुरु पूरन ब्रह्म है सतगुरु आप अलेख।
सतगुरु रमता राम है, या में मीन न मेख ॥ २५ — सं० बा० सं० भा०, १ पृ० १८३

३. हरि सेवा कृत सौ बरस गुरु सेवा पल चार।
तौ भी नहीं बराबरी वेदन कियो विचार। १६ — सं० बा० सं० भा० १, पृ० १४३

४. गुरु समान तिहुँ लोक में और न दीखै कोय।
नाम लिये पातक नसै ध्यान किये हरि होय ।। १ — सं० बा० सं० भा० १, पृ० १४२

५. सतगुरु के मारे मुए बहुरि न उपजैं आय।
चौरासी बन्धन छुटैं हरिपद पहुँचै जाय ।। १६ — सं० बा० सं० भा० १, पृ० १४३

६. गलियारे गुरु फिरत हैं घर घर कन्ठी देत।
और काज उनको नहीं द्रव्य कमावन हेत ॥

७. गुरु मिलते ऐसे कहैं कछू लाय मोहि देव।
सतगुरु मिलि ऐसे कहैं नाम धनी का लेव ॥

८. कनफूँका गुरु जगत का राम मिलावन और।
सो सतगुरु को जानिये मुक्ति दिखावन ठौर।

ईश्वर इस संसार में मनुष्य को जन्म देकर उसको पंच विकारों से (काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह) ग्रस्त करता है परन्तु गुरु उनसे मुक्त कर देता है। ईश्वर कुटुम्ब की माया-ममता के बीच मनुष्य को उत्पन्न करता है परन्तु गुरु माया-मोह आदि बन्धनों को काटकर स्वच्छन्द कर देता है।

ईश्वर ने विविध प्रकार के रोगों और भोगोंको जन्म दिया है, गुरु उनका नाश करके आत्मदर्शन कराने में समर्थ होता है। परमात्मा ने अपने को जीव से छिपा रखा है परन्तु गुरु ज्ञानदीप देकर उस प्रच्छन्न रूप का प्रत्यक्ष दर्शन कराता है। ईश्वर द्वारा प्रस्थापित मुक्ति और बन्धन के भ्रम को मिटाने वाला गुरु ही है। यही कारण है कि सहजोबाई अपने गुरु चरनदास पर तन-मन वारने को तैयार हैं। वे गुरु का त्याग नहीं कर सकतीं, चाहे भगवान् उनसे छूट जायँ।[1]

बुल्ला साहब उस सत्गुरु की बार-बार बलिहारी जाते हैं जो परमेश्वर की भक्ति प्रदान करता है।[2] दादू का मत है कि मानव-शरीर में ही सब लोकों की स्थिति है जिसे जीव नहीं जानता। गुरु इनका दर्शन करा देता है। गुरु के बिना मन, वचन अथवा कर्म से किसी प्रकार भी इनका दर्शन संभव नहीं।[3] सच्चा सत्गुरु वही है जो भगवान् से मिलन कराता है तथा काया में ही सब कुछ अर्थात् पिंड में ही ब्रह्माण्ड का दर्शन कराता है।[4] दादू के कथन से यह व्यक्त होता है कि साधक को सर्वत्र भटकने की आवश्यकता नहीं। परमात्मा की प्राप्ति अथवा विश्वरूप का दर्शन उसे स्वशरीर में ही होगा, आवश्यकता है केवल सत्गुरु की। आत्मा को भगवत्भक्ति में नियोजित करने वाला गुरु ही है।

दयाबाई ने गुरु के गुणों की एक लम्बी तालिका प्रस्तुत करते हुए पूर्ववर्णित कवियों के कथनों का मानो सार उपस्थित किया है—गुरु के बिना ज्ञान और भक्ति दोनों ही

---

१. राम तजूँ पर गुरु न बिसारूँ, गुरु के सम हरि कूँ न निहारूँ।
हरि ने जन्म दियो जग माहीं, गुरु ने आवागमन छुटाहीं।
हरि ने पाँच चोर दिये साथा, गुरु ने लई छुड़ाय अनाथा।
हरि ने कुटुम्ब जाल में गेरी, गुरु ने काटी ममता बेरी।
हरि ने रोग भोग उरझायौ, गुरु ने आतम रूप लखायौ।
हरि ने मोसूँ आप छिपायौ, गुरु दीपक दै ताहि दिखायौ।
फिर हरि बंध मुक्ति गति लाये, गुरु ने सबही मर्म मिटाये।
चरनदास पर तन मन वारूँ, गुरु न तजूँ हरि कूँ तजि डारूँ। सं० बा० सं० भा० २, पृ० १९२

२. बलिहौं बलिहौं बलिहौंसतगुरुकी,
जिन ध्यान दिए परमेश्वर को ! त्रिकुटी संगम जिन राह निवेरी ।।
बुल्ला साहिब, सं० बा० सं० भा० २, पृ० १७०

३. काया माहैं लोक सब दादू दिये दिखाइ।
मनसा वाचा कर्मणा गुरु बिन लख्या न जाइ। ३५८ दादू, भा०२, पृ० १५२

४. साचा सतगुरु राम मिलावै।
सब कुछ काया माहिं दिखावै।। ३५७ दादू, भा०२, पृ० १५१

नहीं होते तथा गुरु के बिना जीव को मुक्ति नहीं मिलती, वह आवागमन के चक्र में भटकता रहता है। गुरु के बिना अशुभ कार्यों से विरति नहीं होती तदनुसार राम के प्रति रति जागरित नहीं होती। प्रत्येक व्यक्ति में रामभक्ति की भावना विद्यमान रहती है, आवश्यकता होती है उस भावना को जागृत एवं प्रेरित करने की और यह कार्य सम्पादित करता है गुरु। गुरु दीनों पर कृपा करने वाला स्वामी है। जो उसकी शरण में जाता है उसके सब मन:संशयों को नष्ट करके, उसके दुष्प्रकृति एवं कुस्वरूप को पूर्णरूपेण परिवर्तित करके सद्वृत्ति तथा स्वरूपवान् बना देता है। गुरु सब देवों का भी देव—महादेव है, उसका गूढ़ रहस्य किसी को विदित नहीं। करुणासागर, कृपानिधि गुरु ब्रह्मरूप भगवान् ही है। वह उपदेश देकर साधक शिष्य के भ्रमों का नाश करता है उसे शाश्वत आनन्द प्रदान करने हेतु। इसीलिए सदैव गुरु-स्मरण में ही ध्यान लगाना चाहिए यथाविधि गुरु-पूजन में संलग्न रहना चाहिए, तन तथा मन से उसकी आज्ञा पालन करनी चाहिए तथा उसकी आज्ञा के बिना कुछ भी नहीं करना चाहिए।[1] इस प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में गुरु की स्थिति अनिवार्य मानी गई है।

हजारों लाखों वर्षों के मानव के बौद्धिक विकास का इतिहास किसी अर्थ में उसकी गुरु-परम्परा का इतिहास ही कहा जा सकता है। गुरु और शिष्य के बीच में क्रमानुसार युग-युग से चली आती हुई अजस्र वाहिनी ज्ञानगंगा अपने कलेवर को बढ़ाती हुई आज की स्थिति पर पहुँची है। पुस्तकों द्वारा अर्जित एवं श्रुत ज्ञान भी जीवन में अपना स्थान रखता है परन्तु सैद्धान्तिक ज्ञान के अतिरिक्त जब व्यावहारिक ज्ञान की ओर दृष्टिपात करते है तब गुरु

---

१. गुरु बिन ज्ञान ध्यान नहिं होवै,
गुरु बिन चौरासी मग जोवै।
गुरु बिन राम भक्ति नहिं जागै,
गुरु बिन अशुभ कर्म नहि त्यागै।
गुरु ही दीन दयाल गुसाईं,
गुरु सरनै जो कोई जाई।
पलटै करै काग सूं हंसा,
मन की मेटत हैं सब संसा।
गुरु है सब देवन को देवा,
गुरु को कोउ न जानत भेवा।
करुनासागर कृपा-निधाना,
गुरु हैं ब्रह्म रूप भगवाना।
दै उपदेश करै भ्रम नासा,
दया देत सुखसागर बासा।
गुरु को अहि निसि ध्यान जो करिए।
विधिवत सेवा में अनुसरिए।
तन मन सूं आज्ञा में रहिए,
गुरु आज्ञा बिन कछू न करिये। दयाबाई, सं० वा० सं० भा० २, पृ० १६५

की अनिवार्यता को दृष्टि से ओझल नही कर पाते। यों तो ज्ञान की प्रत्येक शाखा-प्रशाखा के लिए भी गुरु अपेक्षित ही है। सस्कृत साहित्य का एक सुभाषित है : "गुरुपदेशतः ज्ञेयं न ज्ञेयं शास्त्रकोटिभिः।" ज्ञान गुरु के उपदेश से जाना जाता है, करोड़ों शास्त्रों से नहीं।

कतिपय विद्वानों का मत है कि ज्ञान के विकास-क्रम में कोई समय ऐसा अवश्य रहा होगा जब कि मानव के ज्ञान का प्रारम्भ बिना गुरु के हुआ होगा तथा प्रत्येक नवीन ज्ञान पूर्व ज्ञान पर आधारित होता हुआ भी किसी न किसी के द्वारा प्रतिपादित किया गया होगा। यदि इस मत को सही भी मान लिया जाय तो यह गुरु के महत्त्व का अभिवर्धक ही होगा। गुरु के अभाव में ज्ञान का प्रसार किसी न किसी रूप मे हुआ अवश्य होगा। हाँ, यह बात हो सकती है कि प्रसार की वह गति मद रही हो। गुरु की उपस्थिति में ज्ञान के प्रसार की गति तीव्रतर हो जाती है, इसमे सन्देह नही। यदि सचित ज्ञान पूर्व से पर की ओर अग्रसर न होता रहता तो आज भी हमारे ज्ञान की स्थिति वही होती जो हजारों वर्ष पूर्व हमारे पूर्वजों के ज्ञान की थी। पूर्व अर्जित ज्ञान पर स्वय अर्जित ज्ञान की तहे चढती गई तथा आज ज्ञान-समूह एक विशाल परतदार चट्टान की भाँति है जिसकी ऊपरी सतह ही दृष्टि के सम्मुख आती है, जिसे हम उपयोग में लाते है, परन्तु हम यह भूल जाते हैं कि उस ऊपरी सतह का आधार अनन्त गहराई में विलीन वह परतें हैं जो हमारी दृष्टि के सम्मुख नही आतीं।

गुरु का जो महत्त्व संतसाहित्य में वर्णित है, वास्तव में गुरु उससे भी अधिक महत्त्व का पात्र है। मनुष्य को मनुष्य बनाने वाले वस्तुतः गुरु ही है। संतों का एक ही लक्ष्य होता है आत्म-दर्शन अथवा ईश्वर-प्राप्ति। यह दोनों ही सैद्धान्तिक ज्ञान से भिन्न, व्यावहारिक ज्ञान के अन्तर्गत है। इसी कारण सतों में गुरु का महत्त्व और भी अधिक हो जाता है। जब हम साधारण ज्ञान के क्षेत्र में गुरु की महत्ता स्वीकार करते ही हैं, तब कला के क्षेत्र में और वह कला भी भगवत्प्राप्ति की कला के लिए, गुरु के यश का जितना भी गान किया जाय कम ही है। अपने जीवन एव सिद्धि के पथप्रदर्शक गुरु से सत जिस प्रकार अनुग्रहीत हुआ तथा जितनी गहरी मनोभावना से उसने अनुभव किया वही उसकी वाणी से स्वतः प्रस्फुटित हुआ।

गुरु की प्राप्ति शिष्य के जीवन की एक विशेष (Event) घटना होती है। यह अवसर यदि न मिले तो सम्भवतः वह अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त ही न कर सके। मृत्तिका पात्र के रचयिता कुभकार की भाँति गुरु भी शिष्य के चरित्र का निर्माता होता है जिस पर कि उसकी छाप स्पष्टतया अंकित रहती है। गुरु की प्राप्ति ही ईश्वर की कृपा का प्रमाण है। बिना भगवान् की कृपा के सतगुरु की प्राप्ति ही नहीं होती। सत के सभी गुणों तथा प्रभावों की अपेक्षा गुरु-शिष्य सम्बन्ध में दोनों के मध्य आत्मीयता तथा वैयक्तिक लगाव अधिक होता है। जिन विषयों पर संत-समाज में विवाद नहीं किया जा सकता वे भी गुरु के सम्मुख निःसंकोच भाव से रखे जा सकते हैं तथा उनके विषय में गुरु का आदेश शिष्य के लिए अत्यन्त हितकर तथा उपादेय होता है। इसी से गुरु की प्राप्ति अत्यन्त सौभाग्य का विषय मानी गई है जो अनेक पुण्य उदय होने पर जीव को प्राप्त होती है।

गुरु के कर्तृत्व के विषय में इतना ही कह देना पर्याप्त है कि मनुष्य जो कुछ है, वह गुरु का ही बनाया हुआ है। यह सम्भव है कि शिष्य गुरु से आगे बढ़ जाय जैसा कि प्रायः होता भी है। सदैव ही महान् व्यक्तियों के गुरु उतने ही महान् नहीं हुए हैं। शिष्य की अपने से अधिक उन्नति होते देखकर गुरु को हार्दिक प्रसन्नता होती है। यूनानी दार्शनिक सुकरात का मत था कि मनुष्य में जिज्ञासा पैदा कर देनी चाहिए, उसकी पूर्ति के लिए चिन्तित नहीं होना चाहिए। गुरु का मुख्य कर्त्तव्य शिष्य में जिज्ञासा उत्पन्न करना है फिर वह स्वयं तृप्ति के लिए प्रयत्नशील रहेगा। किसी विषय के सम्बन्ध में उसको मुख्य समस्या के प्रति जागृत कर देना गुरु का कार्य है। वह समस्या एकागी नहीं होती, वह समस्त जीवन की वास्तविक समस्या होती है। इसी समस्या तथा उसकी पूर्ति के विषय मे, माया, दुःख तथा उसके निवारण की समस्त समस्याएँ गुरु-प्रकरण में उपस्थित हो जाती है।

षष्ठ परिच्छेद

ईश्वर

मनुष्य में विचार-शक्ति के उदय के साथ ही ईश्वर की भावना का भी उदय हुआ। अपने चारों ओर के प्राकृतिक उपकरणों से आश्चर्यान्वित होकर, रोग, पीड़ा और मृत्यु की विषम स्थितियो से शोकाकुल होकर, तथा नवीन प्राणी के जन्म आदि से हर्षोन्मत्त होकर मानव ने यह अनुमान किया होगा कि इन समस्त दृष्ट-अदृष्ट पदार्थों के पीछे कोई अज्ञात रहस्यात्मक शक्ति अवश्य है जो सब का सचालन, नियंत्रण तथा विनाश करती है। यही भावना ईश्वर की धारणा के मूल में स्थित है। अज्ञात शक्ति की जिज्ञासा के कारण मानव ने उसे विविध रूप में व्यक्त किया। यह विविध रूप ईश्वर-विषयक विभिन्न धारणाओं के रूप में हमारे सम्मुख आये।

वेदों के काल तक पहुँचते-पहुँचते ईश्वर-विषयक विचार पर्याप्त उन्नत हो चुके थे। ऋग्वेद में स्पष्ट उल्लेख है कि सृष्टि के पहले यह जगत् अधकारमय था। उस तम के मध्य में और उससे परे केवल एक ज्ञानस्वरूप स्वयंभू भगवान् विराजमान थे और उन्होंने उस अंधकार में स्वय को प्रकट किया और अपने तप से अर्थात् अपनी ज्ञानमयी शक्ति के संचालन से सृष्टि की रचना की।[1] यही नही, वेदों में हम किसी अन्य तत्त्व या वस्तु की वास्तविक सत्ता की उपस्थिति मे ईश्वर को कर्त्ता मानने से लेकर उसको ही सृष्टि का निमित्तोपादान कारण तथा केवल एक सत्य की स्थिति में पहुँचा हुआ तक देखते है।

यहाँ निम्नाकित मत्र द्रष्टव्य है :

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथ्वीद्यामुतेमां कस्मैदेवाय हविषा विधेम॥ ८।७।३।१

यइमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसदित् पितानः।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवरां आविवेश॥ ८।३।१६।१

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयत् देव एकः॥ ८।३।१६।२

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या॥ ऋ० वे०, ८।३।१७।३

इन मंत्रों में ईश्वर के सर्जक, धारक, पोषक, नियामक, कर्ता प्रभृति अनेक रूप स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। वेदों के दार्शनिक विकासक्रम में उन्नत, परिष्कृत तथा सुसम्बद्ध

---

१. तम आसीत्तमसा गुलहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमाइदम्।
तुच्छेनाभ्यपिहितं यदासीत्तपस्तन्महिनाजायैतकम्॥ ऋ० वे०, ८।७।१७।३

धारणाओं के अभिव्यंजक उपनिषद् हैं। उपनिषदों में 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत' (ए. १. १. १.) अथवा 'एकमेवाद्वितीयम्' आदि ईश्वर-विषयक उद्‌गारों की सर्वत्र प्रचुरता है। उपनिषदों के यह उद्‌गार प्रत्येक आस्तिक दर्शन के ईश्वर-विषयक सिद्धांतों के मूल में स्थित हैं।

भगवत्‌गीता में भगवान् कृष्ण का कथन है कि ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में रहकर अपनी माया से प्राणिमात्र को यंत्र पर आरूढ़ की भाँति घुमा रहा है।[1] उनका उसी परमात्मा की शरण में जाने का आदेश है क्योंकि उसी के प्रसाद से परम शाश्वत शांतिस्थान की प्राप्ति होती है।[2] वैष्णवों के ग्रंथ भागवत् महापुराण में ईश्वर का उल्लेख इस प्रकार है: "सृष्टि के आदि में कार्य और कारण, स्थूल और सूक्ष्म से अतीत एकमात्र मैं ईश्वर ही था। मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं था। सृष्टि के पश्चात् मैं ही रहता हूँ और जो यह जगत्-प्रपंच देख पड़ता है, वह भी मैं ही हूँ। सृष्टि का संहार हो जाने पर जो कुछ शेष रहता है, वह भी मैं ही हूँ।"[3] वह एक ही आत्मा पुराणपुरुष, स्वयं प्रकाशस्वरूप, अनन्त, सबका आदि कारण, नित्य, अविनाशी, निरन्तर सुखी, माया से निर्लिप्त, अखण्ड, अद्वितीय, निरुपाधि तथा अमर है।[4]

शैवों के धर्म-ग्रंथ शिवपुराण मे परम सत्ता शिव के सम्बन्ध मे इस प्रकार का वर्णन है: उस समय एक रुद्र ही थे दूसरा कोई नही। उन जगत्-रक्षक ने ही संसार की रचना करके अन्त मे उसका संहार कर दिया। उनके चारों ओर नेत्र है, चारों ओर मुख है, चारों ओर भुजाएँ हैं तथा चारों ओर चरण हैं। पृथ्वी और आकाश को उत्पन्न करने वाले एक महेश्वर ही हैं। वे ही सब देवताओं के कारण और उत्पत्ति के स्थान हैं। जो नेत्र तथा कर्ण के बिना ही देखते तथा सुनते हैं, जिन्हें सब ज्ञात है परन्तु जो किसी को ज्ञात नहीं, वे ही परम पुरुष कहे जाते हैं।[5] ईश्वर-विषयक इस प्रकार की अनेक धारणाएँ वैदिक तथा पौराणिक साहित्य में विद्यमान है।

दर्शनों के क्रमिक विकास में ईश्वर या परमात्मा के ज्ञान के विषय मे पर्याप्त विवे-

---

१. ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया॥ गी० १८।६१

२. तमेवशरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिस्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ गी० १८।६२

३. अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत् सदसत्परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥ भा० २।९।३२

४. एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः पूर्णोऽद्वयोमुक्त उपाधितोऽमृतः॥ भा० १०।१४।२३

५. एक एवमहारुद्रो न द्वितीयोऽस्ति कश्चन।
संसृज्य भुवनं गोप्ता तं संचुकोच सः॥ शि० पु० ७।१।६।१४
विश्वतश्चक्षुरेवायमुतायं विश्वतोमुखः।
तथैव विश्वतोबाहुर्विश्वतः पाद सयुतः॥ शि०पु० ७।१।६।१५

चन हुआ है। ईश्वर के अस्तित्व, उसके स्वरूप, उसके कार्य और उसकी आवश्यकता आदि को लेकर भारतीय दर्शनों मे पर्याप्त मतभेद रहा है। भारतीय दर्शनों की आस्तिकता तथा नास्तिकता का मापदण्ड परमात्मा की सत्ता में विश्वास अथवा अविश्वास नहीं रहा है। यहाँ पर दर्शनों का आस्तिक या नास्तिक होना दर्शन-विशेष के वेदों को प्रामाण्य मानने या न मानने पर निर्भर रहा है। वेदों की प्रामाणिकता तथा अपौरुषेयत्व स्वीकार कर लेने के पश्चात् ईश्वर का न मानना एक आत्मविरोधी (Self-contradictory) विश्वास मात्र रह जाता है। इसलिए ईश्वर को 'अजागलस्तनवत्' मानकर भी आस्तिक कहलाना विडम्बना मात्र है।

साधारणतया सत्य के निश्चय के लिए प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान तथा शब्द-प्रमाण स्वीकृत हैं। दर्शनों ने इन प्रमाणो का कोटि निर्धारण करते हुए इनको कम या अधिक संख्या में स्वीकार किया है। ईश्वर के अस्तित्व तथा सत्य के विषय में भी यही प्रमाण व्यवहृत हुए है।

वेदों को न मानने वाले चार्वाक-दर्शन में शब्द तथा अनुमान की अप्रामाणिकता होने के कारण ईश्वर की भी असिद्धि मानी है। उनके मत से ईश्वर की सत्ता के विषय मे बतलाने वाले वेद न तो प्रामाणिक ही हैं और न अनुमान पर ही विश्वास किया जा सकता है। इन्द्रियप्रत्यक्ष जिसकी प्रामाणिकता स्वीकार की जा सकती है, ईश्वर उस इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय नही है। इसलिए ईश्वर की सत्ता की सिद्धि नहीं मानी जा सकती।

भगवान् बुद्ध ने ईश्वर-सम्बन्धी दार्शनिक गुत्थियों पर विचार करने को समय व शक्ति का ह्रास माना है। कालान्तर मे उनके शिष्यों ने उन्हें ही अवतार मान लिया। यही दशा बहुत कुछ जैन-धर्म की भी हुई।

वेदों को प्रामाण्य मानते हुए भी मीमांसा तथा न्याय में ईश्वर के विषय में पर्याप्त मत-वैभिन्न्य है। यदि न्याय वेदों को ईश्वर-रचित मानता है, तो मीमांसा वेदों को अपौरुषेय मानता है। न्याय जगत-कर्तृत्व के भाव से ईश्वर को स्वीकार करता है। ईश्वर-सिद्धि के प्रमाणों के उल्लेख में नैयायिक दार्शनिक उदयन ने जो चातुर्य प्रदर्शित किया है, वह निश्चय ही श्लाघ्य है। उन्होंने बड़े तर्कसंगत ढंग से निम्नलिखित नव कारण ईश्वर की सिद्धि के लिए प्रस्तुत किये हैं :

१. कार्यात : घट का निर्माता कुम्भकार होता है। केवल मृत्तिका घट के निर्माण का कारण नही होती। उसी प्रकार कार्यरूप जगत् का कर्त्ता चैतन्य ईश्वर अवश्य होना चाहिए।

द्यावा भूमी च जनयन् देव एको महेश्वरः।
स एव सर्वदेवानां प्रभवश्चोद्भवस्तथा ॥ शि० पु० ७।१।६।१६

अचक्षुरिन्द्रियः पश्यत्यकर्णोऽपिशृणोतियः। सर्वं वेत्तिचवेत्तास्यतमाहुः परुषं परम ॥
शि० पु० ७।१।६।२१

२. आयोजनात : वैशेषिक की भाँति सृष्टि का कारण अणुओं के आयोजन द्वारा मानते हुए उस आयोजन कार्य के आदि उत्पादक ईश्वर चेतन के द्वारा ही संभव है।

३. धृत्यादे : संसार का धारण करने वाला तथा प्रलय के समय नाश के लिए ईश्वर की सत्ता की सिद्धि मानी है।

४. पदात् : सृजन के विभिन्न कार्यों के सम्पादन के लिए किसी ज्ञानवान् व्यक्ति की कल्पना अत्यन्त आवश्यक है।

५. प्रत्ययतः : श्रुति का ज्ञान ईश्वर का परिचायक है। ईश्वर के रचे बिना इतना उत्कृष्ट कोटि का ज्ञान सभव नही।

६. श्रुतेः : श्रुति स्पष्ट शब्दों में ईश्वर की सिद्धि बतलाती है। (श्वे० ६.११) (गी० ९.१७)

७. वाक्यात् : महाभारत आदि के रचयिता की भाँति वाक्यभूत वेदों का भी कोई न कोई रचयिता अवश्य होगा।

८. सख्याविशेषात् : द्वयणुक में परिणाम की उत्पत्ति परमाणुगत सख्या द्वय से होती है। यह द्वित्व सख्या अपेक्षतया बुद्धिजन्य होती है जो चेतन व्यक्ति के द्वारा ही निष्पन्न हो सकती है। ऐसी स्थिति मे द्वयणुकों में संख्या (स्पन्दन) की उत्पत्ति ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करती है।

९. अदृष्टात् . धर्म करने से पुण्य तथा अधर्म करने से पाप होता है। धर्माधर्म का दूसरा नाम अदृष्ट है। जड अदृष्ट में फलोत्पादन-शक्ति बिना चेतन की प्रेरणा के सभव नही है। अत अदृष्ट की फलवत्ता के लिए ईश्वर को मानना ही न्यायसगत है।

उपर्युक्त कारणो पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञान होता है कि ईश्वर का कर्तृत्व ही उसकी सत्ता की सिद्धि के लिए शब्द-प्रमाण के बाद शेप रहता है। कालान्तर में इसी कर्तृत्व पर संतों तथा मनीषियों ने बहुत बल दिया है। ईश्वर के गुणो का चिन्तन करने में यही विचार हमारे सम्मुख बराबर आते रहेगे। न्यायदर्शन में मोक्ष के लिए तत्त्वज्ञान आवश्यक माना गया है। योगदर्शन में स्वीकृत धारणा, ध्यान आदि आत्म-साक्षात्कार की सिद्धि के लिए श्रेयस्कर हैं।

वैशेषिकदर्शन—सृष्टि के आदि मे ईश्वर की सिसृक्षा को ही जड़ परमाणुओं में आद्यस्पन्दन का कारण मानता है। इस प्रकार सृष्टि का क्रम ईश्वर की सत्ता को मानने का कारण है। भक्ति से सन्तुष्ट ईश्वर का अनुग्रह भी मोक्ष-सम्पादन मे साधन माना जाता है।

सांख्यदर्शन—में ईश्वर की सत्ता के विषय मे उपर्युक्त कारण ग्राह्य नहीं हैं। उसके अनुसार ईश्वर स्वय निर्व्यापार है इसलिए परिवर्तनशील जगत् का वह कारण नहीं हो सकता। ईश्वर पूर्णकाम है इसलिए उसकी इच्छा नही हो सकती कि वह सृष्टि के कार्य में

संलग्न हो । इसके अतिरिक्त उसके लिए कारुण्य की भी आवश्यकता नहीं थी कि वह सृष्टि के आदि कार्य में जुटता तथा उससे निवृत्ति के लिए कारुण्य की अपेक्षा होती । इतने पर भी उन्हें ईश्वर जगत् के साक्षीरूप में ग्रहीत है जिसके सान्निध्य मात्र से प्रकृति जगत् के व्यापार में निरत होती है; जिस प्रकार चुम्बक अपने सान्निध्य मात्र से लोहे में गति उत्पन्न कर देता है । अस्तु सांख्यदर्शन के अनुसार जगत् की रचना तथा कर्म-फल-प्रदान आदि के लिए ईश्वर की सत्ता मानने की कोई आवश्यकता नहीं है ।

योगदर्शन—सांख्य के पचीस तत्त्वों के अतिरिक्त एक ईश्वर तत्त्व को अधिक मानता है । क्लेश-कर्म-विपाक (कर्मफल) तथा आशय (विपाकानुरूप संस्कार) से शून्य पुरुष विशेष ईश्वर है ।[1] ऐश्वर्य और ज्ञान की जो पराकाष्ठा है, वही ईश्वर है । वह नित्य है इसलिए कालावच्छिन्न है । गुरुओं का भी गुरु तथा वेदशास्त्र का प्रथम उपदेष्टा है । जो समाधि, अभ्यास और वैराग्य द्वारा कठिनता से सिद्ध होती है वह ईश्वर-प्रणिधान अर्थात् ईश्वर में सानुराग दत्तचित्त होने अथवा प्रेमपूर्वक कर्मफलों को ईश्वर को अर्पण करने से सुगमता से प्राप्त हो जाती है । तारक ज्ञान का दाता साक्षात् ईश्वर है । भगवान् में सप्रेम चित्त लगाने से वह प्रसन्न होते हैं और प्रसन्न होकर विघ्नरूप क्लेशों का नाश कर समाधि की सिद्धि कर देते हैं ।[2] ईश्वर-प्रणिधान विषयक धारणा हिन्दी-संतकवियों द्वारा व्यापक रूप से प्रयुक्त हुई है । ईश्वरार्पित कर्म तथा ईश्वर-कृपा के द्वारा मोक्ष-लाभ सामान्यतया सभी हिन्दी संतों को मान्य है ।

मीमांसादर्शन—केवल यज्ञ का मानने वाला था, ईश्वर का नहीं । आचार्य बादरायण ईश्वर को कर्मफल का दाता मानते है । परवर्ती मीमांसकों ने ईश्वर को यज्ञपति का रूप प्रदान किया और इस प्रकार ईश्वर की धारणा में जो अत्यन्त खटकने वाली न्यूनता थी, वह बहुत कुछ कम हो गई ।

आचार्य शंकर के अनुसार केवल ब्रह्म ही सत्य है । उसी की सत्ता है, शेष जगत्-सृष्टि आदि सब मिथ्या है । जब सृष्टि मिथ्या है, तब स्रष्टा की धारणा भी अनावश्यक एवं मिथ्या ही है । ब्रह्म के सत्यज्ञान हो जाने से मुक्ति हो जाती है । ब्रह्म और जीव में कोई अन्तर नहीं है ।

रामानुज ने ईश्वर को नियामक तथा प्रधान विशेष्य-रूप में ग्रहण किया है जिसके कि जीव और जगत् विशेषण हैं । ईश्वर केवल लीला के लिए जगत् की रचना करता है । वह इस जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है । भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने तथा जगत् की रक्षा करने के पवित्र उद्देश्य से ईश्वर पाँच प्रकार के रूप धारण करता है—पर, व्यूह, विभव, अंतर्यामी तथा अर्चावतार । ईश्वर में स्वभाव से ही अपहृत पाप्मत्वादि कल्याण गुणों की सत्ता है । प्राकृत हेय गुणों से वह सर्वथा रहित है ।

---

१. क्लेश कर्म विपाकाशये परामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः । योο सूο, १।२४
पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।। योο सूο, १।२६

२. सभगवानीश्वरः प्रसन्नः सन् अन्तराय रूपान् क्लेशान् परिहृत्य समाधिं संबोधयति । भोο वृत्ति, २।४५

निम्बार्क ने ब्रह्म की कल्पना सगुण-रूप में की है। वह समस्त प्रकृत दोषों (अविद्या आदि) से रहित और अशेष, ज्ञान बल आदि कल्याण गुणों का निधान है। इस जगत् में जो कुछ दृष्टि अथवा श्रुतिगोचर है नारायण उसके अन्तर तथा बाहर व्याप्त होकर विद्यमान हैं। प्रपत्ति के द्वारा भगवत् अनुग्रह जीवों पर होता है। अनुग्रह से भगवान् के प्रति नैसर्गिक अनुरागरूपिणी भक्ति का उदय होता है। यह भक्ति भगवत्-साक्षात्कार को उत्पन्न करती है जिससे जीव भगवत् भावापन्न होकर समस्त क्लेशों से मुक्त हो जाता है।

बल्लभाचार्य के मत से ईश्वर की महिमा अनवगाह्य है। जो अणु से भी अणुतर है, वही महान् से भी महत्तर है।[१] ईश्वर अनेकरूप होकर भी एक है, परम स्वतन्त्र होने पर भी वह भक्तों के आधीन (वश मे) है। यह ससार लीला-निकेतन ब्रह्म की ललित लीलाओं का विलास मात्र है और साथ ही वास्तविक भी है। परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले भाव ईश्वर में समाहित हो जाते हैं। कार्य-कारण मे अभेद होने से कार्यरूप जगत् कारणरूप ब्रह्म ही है।

दार्शनिकों के उपर्युक्त विवेचन मे किसी भी धारणा-विशेष को अभिव्यक्त करके उसको तर्कसम्मत ढंग से सिद्धात-रूप में प्रस्तुत करने का तथा उस धारणा-विशेष को उस दार्शनिक पूर्णता मे उचित स्थान पर रखने का प्रयास दृष्टिगोचर होता है। ईश्वर-विषयक धारणा भी उनके लिए अपवाद नही है। ईश्वर का उसके स्वरूप, कार्यों, गुणो आदि के साथ-साथ जीव, जगत्, ज्ञान आदि के साथ भी विचार किया गया है तथा जगत् जीव आदि विषयक धारणा का दार्शनिक की धारणा के साथ पूर्ण सामंजस्य स्थापित किया गया है। ऐसा बहुत कम हुआ है कि विभिन्न विषयों पर उनके विचार परस्पर विरोधी हो गये हो।

मध्यकालीन हिन्दी-सतकवि अपने पूर्ववर्ती दार्शनिको की धारणाओं से प्रभावित अवश्य हुए हैं, परन्तु उनका प्रयत्न किसी विशेष दार्शनिक मतवाद की पूर्णता स्वीकार करके उसकी स्वरूप-सिद्धि करना नही था। जो धारणा सतों की अनुभूति का विषय हुई वही उनकी वाणी से स्वतः प्रस्फुटित हुई। सभी दर्शनों मे व्यक्त ईश्वर-सम्बन्धी विचार कम-से-कम तद्विषयक आशिक सत्य के द्योतक तो हैं ही, पूर्णता शायद उनके समष्टिकरण से प्राप्त हो।

अब तक हमने अनेक भारतीय दर्शनो की ईश्वर-विषयक धारणाओं पर सक्षिप्त विचार किया। अब हम हिन्दी के सन्त तथा भक्त कवियो की ईश्वर-विषयक विविध धारणाओं के सम्पर्क में आकर यह देखेंगे कि वस्तुत ईश्वर का रूप कितना रहस्यमय तथा अनिर्वचनीय है।

सन्त नामदेव परमात्मा को एक, अनेक, व्यापक, पूरक तथा सर्वत्र विद्यमान मानते हैं। चित्र-विचित्र माया के द्वारा ही सब जीव विमोहित हो रहे हैं। कोई विरला मनुष्य ही विवेक के द्वारा उससे बच पाता है। सब सृष्टि गोविन्दमय है, परमात्मा से भिन्न कुछ भी नही है। घट-घट के अन्तर मे सर्वत्र सदैव एक परमात्मा ही विद्यमान है। एक ही

१. अणोरणीयान् महतो महीयान् कठो० १।२।२०

सूत्र में अनुस्यूत सहस्रों मणियों के समान एक परमात्मा मे समस्त सृष्टि के जीव अनुस्यूत हैं। जल में उठने वाली तरगावलियाँ, फेन-राशि अथवा बुदबुद-समूह आकार से भिन्न दृष्टिगोचर होते हुए भी जल से भिन्न नहीं होते। यह सब प्रपंच परब्रह्म की ही लीला है, उसी के द्वारा उसकी रचना हुई है। उस सब में विद्यमान सक्रिय तत्त्व भी उससे भिन्न नहीं हैं। स्वप्न के मनोरथों की भाँति यह मायाप्रपंच भी असत्य है परन्तु अज्ञान-निद्रा के कारण मनुष्य ने भ्रम-वश उसे सत्य पदार्थ मान रक्खा है।[1] यहाँ ईश्वर-विषयक अनेक धारणाओं का समन्वित वर्णन मिलता है जो कि सम्प्रदायों के जंजाल से मुक्त किसी सन्त हृदय के उद्गारों में ही सभव है। ईश्वर एक, अनेक, व्यापक, पूरक तथा 'सूत्रे मणिगणाइव' है। ब्रह्म तथा सृष्टि एक-दूसरे से उसी प्रकार अभिन्न हैं जिस प्रकार तरग बुदबुद आदि जल मे। समस्त प्रपंच परमात्मा की लीला तथा रचना है। सर्वत्र सब के अन्दर परमात्मा की ही सत्ता विद्यमान है।

सन्त कबीर के अनुसार परमात्मा घट-घट मे व्यापक है। किसी भी जीव का अस्तित्व परमात्मा की सत्ता के बिना सभव नही, परन्तु वह सर्वव्यापी होता हुआ भी सर्वत्र प्रकट नहीं है। *वह व्यक्ति अतीव सौभाग्यवान् होता है जिसके प्रति परमात्मा अपने स्वरूप को अना-*वरित करता है अर्थात् जो परमात्मा के प्रत्यक्ष का सुयोग प्राप्त करता है।[2] कबीर का प्रभु सब मे समाया हुआ है, उससे पृथक् कुछ भी नही।[3] वह जगत् में व्याप्त है और जगत् उसमें व्याप्त है। घट-घट उसी से पूरित है।[4] जहाँ तक दृष्टि की गति है, सर्वत्र एक ही विभु का दर्शन होता है।[5] हम सबके हृदय में भी परमात्मा का ही निवास है। मदिरों में उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना मिथ्या भ्रम है।[6]

---

१. एक अनेक बियापक पूरक, जित देखौं तित सोई।
माया चित्र विचित्र विमोहन, विरला बूझै कोई।
सब गोविंद है, सब गोविंद है गोविंद बिन नहिं कोई।
सूत एक मणि सत सहस्र जस, ओत पोत प्रभु सोई।
जल तरंग अरु फेन बुदबुदा, जल तें भिन्न न होई।
यह प्रपंच परब्रह्म की लीला, विचरत आन न होई।
मिथ्या भ्रम अरु स्वपन मनोरथ, सत्य पदारथ जाना।
सुकिरत मनसा गुरु उपदेसी, जागत ह्वां मन माना।
कहत नामदेव हरि की रचना, देखो हृदय विचारी।
घट-घट अंतर सर्व निरंतर, केवल एक मुरारी॥ — सं० वा० सं० भा० २, पृ० ३१

२. सब घट मेरा साइयां सूनी सेज न कोई।
भाग तिन्हीं का हे सखी जिहि घट परगट होई॥ — क० ग्र० १८, पृ० ५२

३. मुसलमान कहै एक खुदाई। कबीर का स्वामी घटि घटि रह्यो समाई। — क० ग्र० ३३०, पृ० २००

४. खालिक खलक खलक में खालिक सब घट रह्यो समाई। — क० ग्र० ५१, पृ० १०४

५. जहँ देखो तहँ एक ही साहिब का दीदार॥ — सं० वा० सं० भा० १, पृ० ३३

६. कबीर दुनियां देहुरै सीस नवावण जाइ।
हिरदा भीतर हरि बसै तू ताही सौं ल्यौ लाइ॥ — क० ग्र०४३६, पृ० ४४

परमात्मा का वर्णन किसी भी लौकिक मानदण्ड के द्वारा नहीं किया जा सकता, वाणी से निःसृत शब्द उसका वास्तविक रूप-निदर्शन नही करा सकते । न वह भारी कहा जा सकता है, न हलका कहा जा सकता है और न चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय ही हो सकता है । उस अनिर्वचनीय के रूप के विषय में कोई भी कथन सत्य नहीं है । अस्तु इस अद्भुत रूप के विषय में कुछ न कहकर मौन रहना ही अच्छा है । जिसने परमात्मा का साक्षात्कार किया भी है वह उस परमानन्द को कहने मे समर्थ नहीं होता और जो किसी प्रकार उसे अभिव्यक्त करने मे समर्थ भी होता है तो सर्वसाधारण उस पर विश्वास नही करता ।[1] क्योकि परमात्मा की गति बड़ी ही अगम है, वह सहज, सरल तथा सुगम नहीं । वह जनसाधारण की पहुँच के परे है । वेद, कुरान आदि की भी गति उसमें नहीं है । साधक को बड़ी सावधानी से धीरे-धीरे पग रखते हुए अपने अनुमान के सहारे भगवत्-प्राप्ति के मार्ग में अग्रसर होना चाहिए तभी वह अपने लक्ष्य स्थान को प्राप्त कर सकेगा ।[2]

राम के सत्य स्वरूप का रहस्य किसी को विदित नहीं है । दशरथ-पुत्र राम साधारण मनुष्यों की भाँति गर्भ मे शरीर धारण करके उसके गुणो के अनुसार सब कर्मों के फलो के भोक्ता हैं परन्तु कबीर के राम गर्भ मे वास करके जन्म ग्रहण नहीं करते और न क्षुधा और तृषा से पीड़ित होते है । उनके राम घट-घट वासी, अभेद्य एव अवेद्य है । वेद भी उनका यथावत् वर्णन करने मे समर्थ नहीं है । पाप और पुण्य मे वे किसी प्रकार भी लिप्त नही होते । स्थूल और सूक्ष्म अथवा शून्य से भी भिन्न ज्ञान एव ध्यान से परे परमात्मा है । त्रैलोक्य के सभी तत्त्वो से भिन्न वह अनुपमेय तत्त्व ही राम है ।[3] यहाँ पर यह ध्यान रखना बहुत आवश्यक है कि कबीर के राम दाशरथि राम नही है । यद्यपि दशरथ-सुत राम ही सर्वत्र विख्यात हैं परन्तु कबीर के राम-नाम का मर्म ही कुछ और है ।[4] उनके राम मुखरहित होने

---

१. दीठा है सो कस कहू कह्या न को पतियाइ । — क० ग्र० १७४, पृ० १७

२. भारो कहौं तो बहु डरौं हलका कहो तो झूठा ।
मै का जाना राम कू नैनू कबहु न दीठा ।
ऐसा अद्भुत जिनि कथै अद्भुत राखि लुकाई ।
वेद कुरानोगमि नहीं कह्या न को पतिथाय ।
करता की गति अगम है तू चल अपने उनमान ।
धीरे-धीरे पाव दे पहुँचेगे परवान ।। — ह० प्र० क० १३९, पृ० ३१३

३. राम के नांइ नीसान बागा ताका मरम न जानै कोई ।
भूख त्रिषा गुण वाकै नाहीं घट-घट अन्तरि सोई ।
वेद विर्वजित भेद विवर्जित विवर्जित पापरुपुन्य ।
ग्यान विवर्जित ध्यान विवर्जित विवर्जित अस्थूल सुन्यं ।
भेष विवर्जित भीख विवर्जित विवर्जित ड्यंभकरूप ।
कहै कबीर तिहुं लोक विवर्जित ऐसा तत अनूपं ।। — क० ग्र० २२०, पृ० १६३

४. दसरथ सुत तिहुं लोक बखाना ।
राम नाम का मरम है आना ।। — बीजक, पृ० २७६

पर भी पान करते हैं, चरणों के बिना भी चलते हैं, जिह्वा के न रहते हुए भी गुणों का गान करते हैं तथा वह एक ही स्थान में स्थिर रहते हुए भी दसों दिशाओं का भ्रमण कर लेते हैं।[1]

अनगढ़िया देव अर्थात् सत्य-स्वरूप स्वयंभू परमात्मा की सेवा से लोग विरत रहते हैं। मंदिरों में स्थापित स्वनिर्मित मूर्तियों की पूजा सभी लोग करते हैं, परन्तु उस पूर्ण, अखडित, जगताधार का रहस्य जानने का कोई प्रयत्न नही करता। यदि अवतारों की बात की जाय तो वह भी यथार्थकर्त्ता नही हैं। वह देह धारण कर शारीरिक कर्मों के भोक्ता ही होते हैं। उनका भी कर्त्ता कोई अन्य है तथा वही परमात्मा है। परमात्मा से सम्बन्धित अनेक मतवाद हैं, किन्तु वे भी विवाद मात्र ही हैं।[2] निर्गुण परमात्मा मे गुणों का आरोप तथा सगुण में गुणहीनता का आरोप वैसा ही भ्रममूलक है जैसा पथभ्रष्ट होकर यत्र-तत्र भटकना। उस परमात्मा को सब कोई अजर, अमर कहता है, वह अलख तथा अनिर्वचनीय है। उस अगोचर का न रूप है और न रग, फिर भी वह घट-घट में व्याप्त है। कोई उसको पिण्ड में देखता है, कोई ब्रह्माण्ड में, परन्तु कबीर उसी को परमात्मा मानते हैं जो पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड से भी परे एव भिन्न है।[3]

परमात्मा के इस अनिर्वचनीयत्व के निष्कर्ष पर तर्क के द्वारा बुद्धि के माध्यम से पहुँचा जा सकता है परन्तु कबीर प्रभृति रहस्यवादी सन्त इसी अनिर्वचनीयता पर पराबौद्धिक प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा पहुँचते हैं। कबीर परमात्मा के स्वरूप के सम्बन्ध मे कुछ भी कहने में अपने को असमर्थ पाते हैं। उसे वे न एक प्रकार का कह सकते है, न दूसरे प्रकार का, न अन्तर्यामी कहकर संतोष प्राप्त करते है, और न बहिर्यामी कहकर। कारण कि यदि अंदर परमात्मा है तो बाहर कौन है? यदि उसे बाहर माने तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि अंतः उससे ओतप्रोत है। वह दृष्टि मे न आने वाला, स्पर्श न किया जा सकने योग्य, बाहर-भीतर

---

१. बिन मुख खाइ चरन बिनु चालै बिन जिभ्या गुण गावै।
आछै रहै ठौर नहिं छाडै दह दिसिही फिरि आवै॥ — क० ग्र० १५६, पृ० १४०

२. अनगढिया देवा कौन करै तेरी सेवा।
गढे देव को सब कोई पूजै नित हा लावे सेवा।
पूरन ब्रह्म अखंडित स्वामी ताको न जाने भेवा।
दस औतार निरंजन कहिये सो अपना ना होई।
यह तो अपनी करनी भोगैं कर्ता औरहि कोई।
जोगी जती तपी सन्यासी आप आप में लड़ियां। — ह० प्र० क० १३४, पृ० २४०

३. सन्तौ धोखा कासूँ कहिये।
गुण मैं निर्गुण निरगुण में गुण बाट छोड़ क्यूं बहिये।
अजरा अमर कथै सब कोई अलख न कथणां जाई।
नाति सरूप वरण नहिं जाके घटि घटि रह्यौ समाई।
प्यंड ब्रह्मण्ड कथै सब कोई वाकै आदि अरु अन्त न होई।
प्यंड ब्रह्मण्ड छाडि जे कहिये कहै कबीर हरि सोई। — क० ग्र० १८०, पृ० १४६

सर्वत्र सर्दैव विद्यमान तत्त्व परमात्मा है। परन्तु वाणी द्वारा उसकी अभिव्यंजना नहीं हो सकती।[1] जहाँ वाणी होती है वहीं अक्षर अर्थात् भाषा की भी स्थिति होती है। वाणी के अभाव में चित्त स्थिर नहीं होता। परमात्मा वाणी और अवाणी दोनो के मध्य में विद्यमान है। वह कथनीय और अकथनीय दोनों ही है। उसके सत्य स्वरूप को देखने में कोई सक्षम नहीं है।[2] और न उसके सत् स्वरूप को कहने में ही कोई समर्थ है। वह जैसा है वैसा ही है।[3] इतना ही नहीं, उसके विषय में कोई यथार्थ जानता भी नहीं। उस परम रहस्यमय के विषय में लोग अपनी-अपनी ढपली, अपना-अपना राग अलापते हैं।[4]

कबीर के मत से यदि भगवान् बीज-रूप है तो सब उन्हीं का परिणाम है। पंडित-जन इस प्रपंच की सत्ता जिस प्रकार सत्व, रज, तम आदि के द्वारा समझाते हैं, वह भ्रान्ति मात्र है। तन, मन, अहकार आदि किसी की सत्ता वास्तविक नही है, वास्तविक सत्ता केवल परमात्मा की है जिससे इस प्रपंच को भी सत्ता प्राप्त होती है।[5]

कबीर के अनुसार ब्रह्म सर्वव्यापक है। पडित और योगी के भेद से वह सरोकार नहीं रखता। राणा, राव, वैद्य तथा रोगी का अन्तर भी व्यर्थ है। परमात्मा का प्रवेश इनमें है तथा सभी में है। वह स्वय अपने से ही क्रीड़ा करता है। विविध प्रकार के जीव-घटो का निर्माण करता है और फिर उनको नष्ट भी कर देता है। परमात्मा की इस प्रकार की सृष्टि-रचना को देखकर उसे निर्गुण कैसे कहा जा सकता है। इसी कारण कबीर गुणी और निर्गुणी दोनों को ही मान्यता प्रदान करते हुए केवल प्रभु की लीला के यशगान मे ही लगे रहना चाहते हैं।[6] यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर सृष्टि का निर्माण तथा संहार केवल मात्र परमात्मा की लीला के लिए ही मानते है।

---

१. ऐसा लो नहिं तैसा लो मै केहि विधि कथौं गंभारा लो।
भीतर कहू तो जग मय लाजै बाहर कहूं तो झूठा लो।
बाहर भीतर सकल निरन्तर चित्त अचित दोऊ पाठा लो।
दृष्टि न मुष्टि परगट अगोचर बातन कहा न जाई लो॥ — क० ग्र० क० १, पृ० २३८

२. जहाँ बोल तह आखर आवा। जह अबोल तहं मन न रहावा।
बोल अबोल मध्य है सोई। जस ओहु है तस लखै न कोई॥ — क० ग्र० १५२, पृ० ३१०

३. जस कथिये तस होत नहि जस है तैसा सोइ॥ — क० ग्र० ३, पृ० २३०

४. जस तूं तस तोहि कोई न जांन। लोग कहै सब आनहि आन॥ — क० ग्र० ४७, पृ० १०३

५. जो पै बीज रूप भगवाना तौ पडित का कथसि गियाना।
नहिं तन नहिं मन नहिं अहंकारा नहि सत रज तम तीनि प्रकारा।
बिष अंमृत फल फले अनेक वेद रु बोधक हैं तरु एक। — क० ग्र० क० १५२, पृ० ३१८

६. व्यापक ब्रह्म सबनि मैं एकै को पंडित को जोगी।
रांणां राव कवन सूं कहिये कवन वैद को रोगी।
इनमैं आप आप सबहिन मैं आप आप सूं खेलै।
नाना भाति घड़े सब भांडे रूप धरे धरि मेलै।
सोचि बिचारि सबै जग देख्या निरगुंण कोई न बतावै।
कहै कबीर गुंणीं अरु पंडित मिलि लीला जस गावै॥ — क० ग्र० १८६, पृ० १५१

कबीर का विचार है कि कुंभकार समान मिट्टी से विभिन्न प्रकार के घटों की रचना करता है, उसी प्रकार परमात्मा बहुरंगिणी, अनेक नाम-रूपात्मक सृष्टि का सृजन करने वाला है। उसने मेघों के रूप में आकाश में जलराशि घनीभूत की है। साधारणतया जल की स्थिति स्थल पर भी निम्नस्तरों पर ही संभव है परन्तु उस चतुर सृष्टिकर्त्ता ने अपने कौशल एवं शक्ति से उसे निराधार गगन के अधर में स्थापित कर दिया है। सूर्य, चन्द्र एवं नक्षत्रों के द्वारा अनेक प्रकार से प्रकाश की व्यवस्था करने वाले उस कर्त्ता की विचित्र कृतियों को देखकर ही औलिया, आदम, पीर, मौलाना सब दीवाने होते रहे हैं।[1]

सत्व, रज तथा तम गुणों की क्रिया (Action) तथा पचतत्त्व के द्वारा समस्त संसार की रचना हुई है परन्तु जिस प्रकार वादन-क्रिया में जो स्वर झंकृत होते हैं, वे स्वयं यंत्र का स्वकार्य न होकर यंत्र के वादक के कार्य होते है, उसी प्रकार यद्यपि सत्व, रज, तम सभी सृष्टि में सहायक है परन्तु सृष्टि उनका कार्य न होकर परमात्मा का ही कार्य है। वे निमित्त कारण मात्र हैं। इस समस्त त्रैलोक्य तथा दृष्ट संसार को परमात्मा ही कार्य में प्रवृत्त करा रहा है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सूत्रधार कठपुतली को नृत्य कराता है। इसमें तनिक भी सन्देह नही, कि सब ससार परमात्मा से ही परिव्याप्त है।[2]

परमात्मा के सामीप्य के सम्बन्ध में कबीर का कथन है कि वह कही बाहर नहीं है। वह प्रत्येक व्यक्ति के अति निकट है और निकट ही नहीं, प्रत्येक श्वास-प्रश्वास में वह निहित है। उसे बाहर खोजने की आवश्यकता नही। मन्दिर, मस्जिद, पूजा-गृहों मे, काबा, कैलाश आदि तीर्थ-स्थानों मे अथवा किसी क्रिया-कर्म, योग-विराग में परमात्मा का वास नहीं है। वह प्रत्येक प्राणी में विद्यमान है तथा क्षण मात्र की खोज में ही प्राप्तव्य है।[3] उसको जो जिस रूप मे ग्रहण करना चाहता है, उसको वह उसी रूप में मिलता है। उद्यान का प्रारम्भ उसका निर्माता माली ही जानता है, उसी प्रकार परमात्मा इस सृष्टि का निर्माता होने के साथ ही उसका आदि ज्ञाता है। पुष्पों में जिस प्रकार सुगन्धि व्याप्त रहती है, उसका कोई

---

१. या करीम, बलि हिकमति तेरी खाक एक सूरति बहुतेरी।
अर्धगगन मैं नीर जमाया बहुत भाँति करि नूरनि पाया।
अवलिय आदम पीर मुलाना तेरी सिफति करि भये दिवाना॥ — ह० प्र० क० १४३, पृ० ३१५

२. बाजै जंत्र बजावै गुंनीं। राम नांम बिन भूलीं दुनी॥
रजगुण सतगुण तमगुण तीन। पंच तत्त ले साज्या बींन।
तीनि लोक पूरा पेखना। नाच नचावै एकै जनां।
कहै कबीर संसा करि दूरि। त्रिभुवन नाथ रह्या भरपूरि॥ — क० ग्र० १६४, पृ० १५४

३. मोकों कहां ढूंढता बन्दे मैं तो तेरे पास में।
ना मैं देवल ना मैं मसजिद ना काबे कैलास में।
ना तो कौने क्रिया कर्म में नहीं योग वैराग में।
खोजी होय तो तुरतै मिलिहौं पल भर की तलास में।
कहै कबीर सुनो भाई साधो सब स्वासों की स्वास में। — ह० प्र० क० १, पृ० २३०

भी अंश सुवासहीन नहीं होता, उसी प्रकार परमात्मा प्रत्येक जीव में व्याप्त है, कोई भी उससे रिक्त नहीं है।[१]

कबीर का मत है कि जल और तरंग में केवल नामगत भेद है, आन्तरिक भेद नही। सागर और लहर जल के ही दो नाम हैं। उद्वेलित होता हुआ जल ही तरंग है, चाहे वह उतार की स्थिति में हो अथवा चढाव की। वह हर प्रकार से जल ही है, उससे भिन्न कुछ नहीं। तरंग कह देने से जल के वास्तविक अस्तित्व में कोई अतर नहीं पड़ता। ठीक इसी प्रकार जगत् और परमात्मा एक ही है, उनमें कोई मौलिक भेद नही है। भेद है केवल नाम का और यह नाम-भेद परमात्मा के अस्तित्व को किंचित् मात्र भी प्रभावित नहीं करता।[२]

कबीर समन्वयवादी थे। उनका विश्वास है कि सभी धर्मों तथा मतों के मूल में एक ही परमात्मा विद्यमान है। अल्लाह और राम, करीम और केशव, हजरत और हरि सब एक ही परमात्मा के विभिन्न रूप तथा नाम हैं। नाना प्रकार के आभूषण जो स्वर्ण से गढ़े जाते हैं, उनमें मूल तत्त्व स्वर्ण ही है। आभूषण तो कहने-सुनने के लिए पृथक् नाम तथा रूप वाले हैं। इसी प्रकार हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों में मूल तत्त्व एक परमात्मा ही है। पूजा और नमाज आदि साधना के मार्गों में जो पृथकता दिखलाई पड़ती है, केवल नाम-रूपात्मक है।[३]

साधारणतया भक्तों के भगवान् चतुर्भुज रूपधारी होकर अपने शरणागतो की रक्षा में तत्पर रहते हैं परन्तु कबीर के भगवान् अनन्त भुजाओं से भक्तों की रक्षा करते है।[४] भगवान् सर्वदा भक्त के वश में रहते हैं। उस महापुरुष देवाधिदेव ने भक्त के वश होकर नरसिंह जैसे रूपों—अवतारों—में स्वय को प्रकट करके एक बार नही अनेक बार प्रह्लाद प्रभृति अपने अगणित भक्तों का उद्धार किया है।[५]

---

१. बन माली जानैं बन की आदि, राम नाम बिन जनम वादि।
फूल जु फूले रुति बसंत, जामैं मोहि रहे सब जीव जन्त।
फूलनि मैं जैसे रहत बास, यूं घटि घटि गोविन्द है निवास॥ क० ग्र० ३८२, पृ० २१५

२. दरियावकी लहर दरियाव है जी, दरियाव और लहर में भिन्न कोयम।
उठे तो नीर है बैठै तो नीर है, कहो जो दूसरा किस तरह होयम।
उसी का फेर के नाम लहर धरा, लहर के कहे क्या नीर खोयम।
जक्त ही फेर सब जक्त परब्रह्म में, ज्ञान कर देख माल गोयम॥ ह० प्र० क० १४, पृ० २४१

३. दुई जगदीश कहां ते आये कहु कौने भरमाया।
अल्ला राम करीमा केसो हरि हजरत नाम धराया।
गहना एक कनक ते गहना तामें भाव न दूजा।
कहन सुनन को दुइ करि थापे एक नमाज एक पूजा॥ कबीर

४. चत्र भुजा कै ध्यान में ब्रिजवासी सब संत।
कबीर मगन ता रूप मै जाकै भुजा अनंत॥ क० ग्र० ५, पृ० ६०

५. सोइ परम पुरुष देवाधिदेव भगत हेत नरसिंह भेव।
कहि कबीर कोई लखै न पार प्रह्लाद उबारे अनिक बार॥ क० ग्र० १४२, पृ० ३०७

मनुष्य में निज की कोई शक्ति नहीं है। कबीर का विश्वास है कि उन्होंने न कुछ किया, न करने की क्षमता रखते हैं और न उनका शरीर ही कुछ करने योग्य है। उनके सिद्धि प्राप्त करने, आत्म-साक्षात्कार होने तथा जिस प्रकार से भी कबीर 'कबीर' बन सके, उस सब का श्रेय वे परमात्मा को ही देते हैं।[1] जैसा कि हम पहले देख चुके हैं वह समष्टि सृष्टि का ही कर्त्ता नही है, वह व्यक्तिगत मनोकामनाओं को पूर्ण करने में भी समर्थ है।[2]

स्वयभू परमात्मा तरनतारण है। जब तक मनुष्य में अहंकार रहता है, तब तक परमात्मा का भान नहीं होता। जब परमात्मा का भान हो जाता है तो 'अहम्' की भावना स्वयं ही नष्ट हो जाती है। 'मैं', 'मेरे' की भावना का अंत होते ही आत्मा और परमात्मा एक हो जाते हैं और परम विश्वसनीय उस स्थिति पर आकर चित्त स्थिर एवं शात हो जाता है।[3] अस्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि परमात्मा महानतम है। उसकी महत्ता तथा महिमा से मण्डित होने की क्षमता किसी अन्य में नहीं। उसके भक्त जब, जहाँ, जैसे उसका स्मरण करते है, वह तत्क्षण प्रकट होकर उनका निस्तार करता है। प्रह्लाद, गोपीचन्द, हनुमान और पुण्डरीक आदि भक्तों पर कृपा करके उनको सामर्थ्यवान् बनाने वाले हरि ही है।[4] भगवान् सर्वत्र यथानुरूप और यथासमय उपस्थित रहते हैं। भूलकर भी उनके विषय में भ्रम में नहीं पडना चाहिए। कारण कि समस्त कर्तृत्व उन्हीं का है, वह जो कुछ करते हैं, वही होता है।[5]

उस सर्वशक्तिमान के सृष्टि-विधान की गति बडी ही विचित्र है। उसकी गति तथा क्रियाकलाप सामान्य बुद्धि एव तर्क से परे की वस्तु है। साधारण लौकिक नियम उसके कार्यों में प्रयुक्त नहीं होते। वह जो कुछ करता है, वही शोभा देता है और वही न्यायसगत होता है। अपनी कृपा से चाहे वह दरिद्र को राजा बना दे, चाहे राजा को भिखारी कर दे। उसी के विधान से लवग जैसे सुगन्धित पुष्प मे फल नही लगते तथा चन्दन जैसा सुवासित

---

१. ना कुछ किया न करि सक्या नां करणें जोग सरीर।
जो कुछ किया सु हरि किया तार्थें भया कबीर॥ — क० ग्र० ५६५, पृ० ६१

२. या कामना करौ परिपूरन समरथ हौ रांम राइ॥ — ह० प्र० क० १६२, पृ० ३३६

३. राजाराम तू ऐसा निर्भव तरन तारन रामराया।
जब हम होते तब तुम नाही अब तुम हहु हम नाही।
अब हम तुम एक भये हरि एकै देखत मन पतियाहीं॥ — क० ग्र० १७७, पृ० ३१६

४. हरि से कोइ नहिं बड़ा दिवाना क्यों गफलत में पड़ा।
प्रहलाद बेटा हरि से लपटा जब खंभा कड़कड़ा।
गोपीचन्द ने बचन सुनकर महल मुलुक सब छोड़ा।
हनुमंता ने सेवा कीन्हीं द्रोणागिरि ले उड़ा।
पुण्डलीक ने सेवा किया विट्ठल ईंट पर खड़ा।
कहत कबीर सुनो भाई साधो हरिचरन चित जड़ा॥ — कबीर

५. कहै कबीर हरि ऐसा, जहां जैसा तहां तैसा।
भूलै भरमि परै जिनि कोई राजा रांम करै सो होई॥ — क० ग्र० २६३, पृ० १७८

वृक्ष पुष्पित नहीं होता ।[1] दोनों स्थानों में एक-दूसरे का अभाव खटकता है । उसकी कृपा से असम्भव भी सम्भव हो जाता है । मत्स्य का शिकारी अपने शिकार की खोज जंगल में करता है, और सिंह सागर मे दिखाई पड़ता है । चन्दन के सम्पर्क से मलयागिरि में रेंड़ी का दुर्गन्धिपूर्ण वृक्ष भी चारों ओर सुरभि प्रसारित करने लगता है । नेत्रविहीन मनुष्य अपने सम्मुख दृष्टिपथ में आने वाली वस्तुएँ ही नहीं देखता है, वरन् समस्त ब्रह्माण्ड के कौतुक उसे दृष्टिगत होते हैं । पंगु व्यक्ति सुमेरु जैसे अलक्ष्य पर्वत को सरलता से पार कर निर्बन्ध होकर घूमता है । उसकी पंगुता उसे सीमा के बन्धनों में बद्ध नही कर पाती । मूक जो वाणी से विहीन होता है. ज्ञान-विज्ञान पर बात तो करता ही है, प्रत्यक्ष ज्ञान के उस अनिर्वचनीय स्वरूप को व्यक्त करता है जो कि वाणी से सम्पन्न व्यक्ति के लिए भी पूर्णतया सम्भव नही है । वह परमात्मा इतना सामर्थ्यवान है कि वह आकाश को बाँधकर पाताल में भेज सकता है और पाताल के अधिपति शेष को स्थानच्युत करके आकाश मे रख सकता है । अर्थात् अपनी शक्ति से वह आकाश-पाताल को भी उलट-पुलट सकता है । वह संभव-असंभव, सगत-असंगत जो कुछ भी करता है, सब शोभित होता है, उसके समस्त कार्य आलोचना से परे हैं ।[2]

गुरु नानकदेव ने बन में जाकर परमात्मा की खोज करने के प्रयत्न को व्यर्थ माना है । परमात्मा, जिसको मनुष्य वन में जाकर ढूंढने का प्रयत्न करता है, वह सर्वनिवासी, सर्वदा अलेप रहता हुआ भी सब में समाया हुआ है । वह घट-घट में उसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार पुष्प में सुगधि अथवा दर्पण में प्रतिबिम्ब । आत्मा में ही परमात्मा प्रतिबिम्बित होता है तथा परमात्मा की सुरभि से ही आत्मा सुवासित बनती है । इस प्रकार बहिर्यामी

---

१. आधुनिक वनस्पति विज्ञान के अनुसार उपर्युक्त धारणाएँ खरी नही उतरती । चन्दन में पुष्प आते हैं तथा लवंग में फल भी । हां, यह बात अवश्य है कि चन्दन-वृक्ष का काष्ठ जितना सुवासित, मूल्यवान तथा उपादेय होता है उसकी तुलना में पुष्पों की कोई गणना नहीं । इसी प्रकार लवग के फूल ही सुगन्धिमय तथा उपयोगी होते है उसके फल नहीं । संभवतः चन्दन के पुष्प और लवंग के फल अपनी अनुपयोगिता तथा गुणहीनता के कारण ही नगण्य समझे गये और कवि-प्रौढोक्ति में अपना अस्तित्व ही खो बैठे ।

२. अवधू कुदरति की गति न्यारी ।
रंक निवाज करै वह राजा भूपति करै भिखारी ।
ये ते लवंगहिं फल नहिं लागें चन्दन फूल न फूलै ।
मच्छ सिकारी रमै जंगल में सिंह समुद्रहि झूले ।
रेंडा रूख भया मलयागिरि चहुँदिसि फूटी बासा ।
तीन लोक ब्रह्माण्ड खण्ड में देखै अंध तमासा ।
पंगुलमेरु सुमेरु उलंघै त्रिभुवन मुक्ता डोलै ।
गूंगा ज्ञान विज्ञान प्रकासै अनहद बानी बोलै ।
बाँधि अकास पताल पठावै सेस सरग पर राजै ।
कहै कबीर राम है राजा जो कुछ करै सो छाजै ।। क० ग्र० क० ११२, पृ० २१७

परमात्मा तथा अंतर्यामी आत्मा में कोई भेद नहीं है।[1] नानक ने भगवान् को मायापति के रूप में भी माना है।[2]

तुलसीदास ने परमात्मा का वर्णन अपने इष्टदेव दशरथ-सुत राम के रूप में किया है। इसीलिए वे बार-बार पाठकों को यह स्मरण कराते रहते हैं कि उनके राम मानव नहीं हैं।[3] ऋग्वेद के पुरुषसूक्त की शैली में परमात्मा के स्वरूप का चित्रण करते हुए उन्होंने कहा है— राम का मनुष्य जानकर विरोध मत करो (मंदोदरी-रावण संवाद)। वेदों ने जिस पुरुष के अंग-प्रत्यंग में लोकों की कल्पना की है, वही विश्वरूप रघुवंशमणि राम है। जिसके पग में पाताल, मस्तक में स्वर्ग, तथा अन्य अंगों में दूसरे लोक आश्रित हैं, जिसकी भृकुटि-भंग ही भयंकर काल, नेत्र सूर्य तथा केश मेघ-समूह हैं, जिसकी घ्राणेन्द्रिय अश्विनीकुमार तथा जिसका निमेष ही दिवारात्रि का रूप है, दसों दिशाएँ शब्द-ग्रहण का माध्यम हैं, वायु श्वास है, वेद स्वयं निःसृत वाणी है, अधर लोभ, दशन यमराज, बाहु दिक्पाल तथा हास ही माया है। मुख अग्नि, जिह्वा वरुण तथा उत्पत्ति, पालन एवं संहाररूपी प्रलय जिनके कार्य हैं। रोमावलि ही असंख्य वनस्पतियाँ, अस्थियाँ ही पर्वत-समूह, नसें ही सरिताएँ, उदर ही सागर एवं निम्न इन्द्रियाँ ही नर्क हैं। शिव जिनका अहंकार है, ब्रह्मा जिनकी बुद्धि है, चन्द्रमा मन है तथा महान् विष्णु जिनका चित्त है, वह चराचर रूप वाले भगवान् स्वयं राम हैं। उनके विषय में अधिक ऊहापोह की कल्पना क्या की जाय। मनुज न होते हुए भी मनुज रूप धारी राम ने माता कौशल्या के सम्मुख अपना वह विराट् स्वरूप प्रकट किया जिसमें माया, जीव, भक्ति आदि सब का सम्मिलित रूप से एकत्रीकरण था। जटिल माया जो जीव को नाना प्रकार से नाच नचाती है, प्रभु से भयभीत करबद्ध उपस्थित है। जीव भी है और जीव को माया के बन्धन से मुक्त करने वाली भक्ति भी वहाँ प्रकट दिखाई देती है।[4] इस भाँति भगवान् ने माता को अपने उस अद्भुत अखण्ड रूप का दर्शन कराया जिसके रोम-रोम में करोड़ों

---

१. काहे रे बन खोजन जाई।
सर्व निवासी सदा अलेपा तोही संग समाई।
पुष्प मध्य ज्यों बास बसत है मुकुर माहि जस छाई।
तैसे ही हरि बसै निरंतर घट ही खोजो भाई।
बाहर भीतर एकहि जानो यह गुरु ज्ञान बताई। — नानक, सं० वा० सं० भा० २, पृ० ४९

२. नानक जन कह पुकार सुपने ज्यों जग पसार।
सिमरत नहिं क्यों मुरार माया जाकी चेरी॥ — नानक, सं० वा० सं० भा० २, पृ० ५४

३. कंत राम बिरोध परिहरहू। जानि मनुज जनि हठ मन धरहू॥ — तु० रा०, लं० का० १३.४
सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी। रघुबर सब उर अंतरजामी। — तु० रा०, बा० का० ११८.१
तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेस्वर कालहु कर काला॥ — तु० रा०, सु० का० ३८.१
तास राम कहुँ नर जनि मानहु। निर्गुन ब्रह्म अजित अज जानहु॥ — तु० रा०, कि० का० २५.६

४. देखी माया सब बिधि गाढ़ी। अति सभीत जोरे कर ठाढ़ी।
देखा जीव नचावइ जाही। देखी भगति जो छोरइ ताही। — तु० रा०, बा० का० २०१.२

ब्रह्माण्ड संग्रथित हैं।[१]

तुलसी ने व्यक्ति की स्वय की भावना के अनुसार ही प्रभु के स्वरूप का साक्षात्कार होना माना है। जिसकी जैसी भावना होती है उसी के अनुरूप उसे प्रभु का दर्शन होता है। यही विचार हम प्राचीन यूनानी दार्शनिक एनेक्जोफनीज के कथन में देखते हैं। उसका कथन है : यदि बैलों, घोड़ों और सिंहों के हाथ होते और उनसे वे लिख सकते तथा कलाकृतियों का सृजन कर सकते जैसा कि मनुष्य करते हैं, तो घोड़े भगवान् को घोड़े के रूप का अंकित करते और बैल बैल के रूप का। साथ ही वे देवताओं की मूर्तियाँ अपने ही रूप के अनुसार अनेक प्रकार की बनाते। इथोपियन अपने भगवान् को काला तथा चपटी छोटी नाक वाला बनाते हैं और थ्रेशियन कहते हैं कि उनके भगवान् के नेत्र नीले और केश लाल हैं।[२] मनुष्य अपने मनोभावों के अनुसार ही ईश्वर के स्वरूप की कल्पना करता है तथा उसी का साक्षात्कार उसे होता है। यदि ईश्वर के सत्य स्वरूप के विषय में शंका की जाय तो कल्पना का विषय या कल्पनातीत सभी उसके स्वरूप हैं तथा प्रत्यक्ष का विषय हो सकते हैं। सीता-स्वयंवर के समय उपस्थित जन-समुदाय में सभी श्रेणियो तथा मनोभावों के पात्र उपस्थित है। उनमें से प्रत्येक अपनी भावना के अनुसार राम का स्वरूप देख रहा है। वीर योधाओं ने श्रीराम को मूर्तिमान वीर रस के रूप में देखा और कुटिल नृप उन्हें भयंकर वेष में देखकर भयभीत हो उठे। छद्मवेषधारी जो असुरगण थे उन्होंने राम को साक्षात् काल के सदृश देखा। नगर-निवासियों को वही राम लोचन-सुखदायक, मानव-श्रेष्ठ दृष्टिगोचर हुए, विद्वानों को वही राम अनन्त मुख-कर-लोचन वाले विराट रूप में दिखाई पड़े। विदेहराज जनक ने पत्नी समेत उसी रूप को अत्यन्त प्रतिभावान् बालक राम के रूप में दृष्टिगत किया। योगियों को अपनी सिद्धि के समान शात, शुद्ध, सम, सहज प्रकाश-रूप प्रतीत हुआ। भक्तों के सम्मुख वे अपने इष्टदेव के समान सब प्रकार से सुखदायक रूप में उपस्थित हुए परन्तु इन सब से बढ़कर जिस भाव से सीता को राम के स्वरूप का साक्षात्कार हुआ, वह अकथनीय है। सीता ने उस आनन्द का अनुभव किया परन्तु उसके वर्णन करने में अशक्त रहीं।

---

१. देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखण्ड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मण्ड। तु० रा०, बा० का० २०१

२. Xenophanes : Yes, and if Oxen and horses had hands and could paint with their hands and produce works of art as men do horses would paint the forms of Gods like horses and Oxen like Oxen, and make their bodies in the images of their several kinds. The Etheopians make their Gods black and snubnosed the Thracians say their's have blue eyes and red hair.

Burnet Early Greek Philosophy, P. 119
An Idealist view of life. P. 36

फिर भला उसको वाणी के द्वारा व्यक्त करने में अन्य कोई किस प्रकार सक्षम हो सकता है।[1] अपनी भावना के अनुसार ही मनुष्य इस विविध नाम रूपात्मक जगत् को 'सियाराम'-मय देखता है।[2] उस अनिर्वचनीय प्रभु के स्वरूप-दर्शन का प्रत्यक्ष आनन्द भी अनिर्वचनीय है।

तुलसी के जनरजक राम विराट रूपधारी अथवा आत्मगत (Subjective) मनोभावनाओं के कल्पित ईश्वर ही नहीं हैं, वे उपनिषदों में वर्णित निर्गुण परमात्मा अथवा कबीर आदि के द्वारा संबोधित वेदान्त वेद्य परमतत्त्व भी हैं। अजन्मा, विज्ञानघन, शक्तिधाम, अखंड, अनन्त, अमोघ-शक्ति सम्पन्न भगवान् व्यापक एवं व्याप्य सब कुछ हैं। निर्गुण, महान्, अजेय, निर्दोष, सर्वदर्शी तथा इन्द्रियों की पहुँच के परे हैं। वह ब्रह्म जो मोहरहित, निर्मम, निरीह, निराकार, निर्विकार, प्रकृति से परे, सुखराशि तथा अविनाशी है, वह सब के हृदय में भी वास करने वाला है।[3] उन ब्रह्मस्वरूप राम का यशगान किस प्रकार किया जाय। उन्हीं के अनुग्रह के हेतु तपस्वी क्रोध, मोह, ममता, मद आदि विकारों को त्यागकर योगसाधन में रत होते हैं। तत्त्वचिंतन करने वाले मनस्वी मुनियों तथा महेश्वर के मन-मानस में विचरण करने वाले हंस राम ही हैं। वही राम व्यापक, अलख, अविनाशी, चिदानन्द, निर्गुण, गुणनिधि, परब्रह्म हैं जो वाणी-तर्क-अनुमान सब के परे हैं तथा जिनकी महिमा का पार न पाकर वेदों ने 'नेति नेति' कहकर सब कालों मे एकरस रहने वाले परमात्मा के गुण-वर्णन में अपनी असमर्थता

---

१. जिन्ह कें रही भावना जैसी, प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी।२
देखहिं भूप महा रनधीरा, मनहुँ बीररसु धरें सरीरा।
डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी, मनहुँ भयानक मूरति भारी।३
रहे असुर छल छोनिप बेषा, तिन्ह प्रभु प्रगट काल सम देखा।
पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई, नर भूषन लोचन सुखदाई।४
नारि बिलोकहिं हरषि हियँ, निज निज रुचि अनुरूप।
जनु सोहत सिंगार धरि, मूरति परम अनूप।। २४१
बिदुषन्ह प्रभु बिराटमय दीसा, बहु मुख कर पग लोचन सीसा।
जनक जाति अवलोकहिं कैसे, सजन सगे प्रिय लागहिं जैसे।१
सहित बिदेह बिलोकहिं रानी, सिसु सम प्रीति न जाइ बखानी।
जोगिन्ह परम तत्वमय भासा, सांत सुद्ध सम सहज प्रकासा।२
हरि भगतन्ह देखे दोउ भ्राता, इष्टदेव इव सब सुखदाता।
रामहि चितव भायँ जेहि सीया, सो सनेह सुख नहिं कथनीया।३
उर अनुभवति न कहि सक सोऊ, कवन प्रकार कहै कवि कोऊ। 			तु० रा०, बा० का० २४१.४

२. सीय राममय सब जग जानी। 			तु० रा०, बा० का० ७.१

३. सोइ सच्चिदानन्द घन रामा। अज विग्यान रूप बल धामा।
ब्यापक ब्याप्य अखण्ड अनन्ता। अखिल अमोघ सक्ति भगवन्ता।२
अगुन अदभ्र गिरा गोतीता। सबदरसी अनवद्य अजीता।
निर्मम निराकार निरमोहा। नित्य निरंजन सुख संदोहा।३
प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी। 			तु० रा०, बा० का० ७१.४

प्रकट की है ।[1] उस निजानन्द, निरुपाधि, अनूप ब्रह्म के अंशमात्र से ब्रह्मा, विष्णु, महेश की उत्पत्ति होती है । ऐसा महान् ब्रह्म जो त्रिदेवों का उत्पत्तिकर्त्ता है, सदैव भक्त के वश में रहता है और भक्त के लिए ही लीला-हेतु शरीर धारण करता है ।[2]

तुलसी ने भगवान् राम को देवेश्वर शकर का भी स्वामी कहा है । "सहज प्रकाश-रूप, विज्ञानरूपी प्रभात से अतीत, सर्वव्यापक ब्रह्म, परमानन्द, पुराण-पुरुष, प्रकाशनिधि, पर और अपर दोनों के ही प्रकट स्वामी जो रघुवंशमणि हैं वही मेरे स्वामी हैं ।" इस प्रकार के शब्दों से शंकर ने राम को मस्तक नवाकर उनकी अखण्ड महिमा को प्रदर्शित किया है ।[3] कारण कि राम अज, अद्वैत, अगुण, अचल, अनाम, अनीह, अरूप, अखण्ड, अनूप, अमल, अविनाशी, निर्विकार, निरवधि, इन्द्रियातीत, सुखराशि, सब के हृदयपति तथा केवल अनुभव-गम्य हैं । उनमें और आत्मा में उसी प्रकार की अभिन्नता है जिस प्रकार जल और उसकी तरंग में । आत्मा और परमात्मा जल और तरग की भाँति केवल नाम-भेद के कारण पृथक् प्रतीत होते हैं ।[4]

वेदों में वर्णित उस अनादि अनन्त के वर्णन के प्रामाण्य से तुलसी ने उसे बिना पग के चलने वाला, बिना करों के विविध कर्मों का कर्त्ता, बिना कानों के श्रोता, बिना मुख के सर्व रस ग्राही, बिना वाणी के वक्ता, बिना शरीर के स्पर्श करने वाला, बिना नेत्रो के दर्शक, बिना घ्राणेन्द्रिय के सूँघने वाला माना है । इस प्रकार जिसके सभी कृत्य अलौकिक है, वही ब्रह्म राम है । विषयों, इन्द्रियों, उनके देवताओं तथा चैतन्य जीवों के समेत सब का परम प्रकाशक वही है जिसकी सत्यता के द्वारा ही जड़ माया सत्य के समान प्रतीत होती है । समस्त जगत् 'शुक्तिका रजत' और जलगत सूर्य-बिम्ब की भाँति मिथ्या होते हुए भी ईश्वर के

---

१. राम करौं केहि भाति प्रसंसा । मुनि महेस मन मानस हंसा ।२
करहिं जोग जोगी जेहि लागी । कोहु मोहु ममता मद त्यागी ।
व्यापकु ब्रह्म अलख अविनासी । चिदानन्द निरगुन गुन रासी ।३
मन समेत जेहि जान न बानी । तरकि न सकहिं सकल अनुमानी ।
महिमा निगमु नेति कहि कहई । जो तिहु काल एक रस रहई ।। — तु० रा०, बा० का० ३४०,४

२. अगुन अखण्ड अनन्त अनादी । जेहि चिंतहि परमारथ बादी ।२
नेति नेति जेहि वेद निरूपा । निजानन्द निरुपाधि अनूपा ।
संभु विरंचि विष्णु भगवाना । उपजहिं जासु अंस तें नाना ।३
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई । भगत हेतु लीलातनु गहई । — तु० रा०, बा० का० १४३.४

३. सहज प्रकासरूप भगवाना । नहि तहं पुनि बिग्यान बिहाना ।३
राम ब्रह्म व्यापक जग जाना । परमानन्द परेस पुराना ।
पुरुष प्रसिद्ध प्रकासनिधि, प्रगट परावर नाथ ।
रघुकुलमणि मम स्वामि सोइ, कहि सिव नायउ माथ ।। — तु० रा०, बा० का० ११६

४. लागे करन ब्रह्म उपदेसा, अज अद्वैत अगुन हृदयेसा ।
अकल अनीह अनाम अरूपा, अनुभवगम्य अखण्ड अनूपा ।२
मन गोतीत अमल अविनासी निर्विकार निरवधि सुखरासी ।
सो तैंताहि तोहि नहि भेदा बारि बीचि इव गावहिं बेदा ! — तु० रा०, उ० का० ११०.३

आश्रित है। निद्रावस्थित व्यक्ति जिस प्रकार दुःस्वप्न देखकर दुःखित होता है परन्तु बिना जागे उसका दुख दूर नहीं होता उसी प्रकार इस मिथ्या संसार का दुःख भी बिना भ्रम मिटे दूर नहीं होता। जिसकी कृपा से इस भाँति का भ्रम मिट जाय वही परमात्मा राम है।[1] इसी भाँति अन्यत्र भी निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप-वर्णन में तुलसी ने कहा है :

सुनत लखत श्रुति नयन बिनु रसना बिनु रस लेत।
बास नासिका बिनु लहै परसै बिना निकेत ॥ तु० ग्र०, पृ० ६

कबीर आदि की भाँति परमात्मा के अन्तर्यामी होने की भावना से तुलसी ओतप्रोत हैं। उनका हृदय परमात्मा का निवास-स्थान है।[2] और न केवल तुलसी का हृदय प्रभु का वास-स्थान है वरन् चराचर के नियन्ता अन्तर्यामी राम सब के हृदयों में स्थित हैं।[3]

अन्तर्यामी तथा बहिर्यामी[4] प्रभु के स्वरूप तथा मूर्तिपूजा[5] के सम्बन्ध में भी तुलसी ने उस समय प्रचलित निर्गुणिया संतो की तीखी चोटों के विरोध में विचार प्रकट किए हैं। कबीरपंथियों द्वारा मूर्ति के स्थान पर पहाड़ या चक्की पूजने का तर्क देकर मूर्ति-पूजा का

---

१. विषय करन सुर जीव समेता, सकल एक तें एक सचेता।
सब कर परम प्रकासक जोई, राम अनादि अवधपति सोई ।३
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू, मायाधीस ग्यान गुन धामू।
जासु सत्यता तें जड़ माया, भास सत्य इव मोह सहाया ।४
रजत सीप महु भास जिमि जथा भानु कर बारि।
जदपि मृषा तिहुं काल सोइ भ्रम न सकइ कोउ टारि ॥११७
एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई, जदपि असत्य देत दुख अहई।
जौं सपनें सिर काटै कोई, बिनु जागे दुख दूरि न होई ।१
जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई, गिरजा सोइ कृपालु रघुराई।
आदि अन्त कोउ जासु न पावा, मति अनुमानि निगम अस गावा।२
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना, बिनु कर करम करइ बिधि नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी, बिनु बानी बकता बड़ जोगी।३
तन बिनु परस नयन बिनु देखा, ग्रहइ घ्राण बिनु बास असेषा।
असि सब भांति अलौकिक करनी, महिमा जासु जाइ नहिं बरनी ।४
जेहि इम गावहि वेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथसुत भगतहित कोसलपति भगवान ॥ तु० रा०, बा० का० ११८

२. मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तुलसीदास, स० बा० सं० भा० २, पृ० ८६

३. सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी। रघुबर सब उर अन्तरजामी। तु० रा०, बा० का० ११८.१

४. अन्तर्जामिहुते बड़ बाहरजामि हैं राम जे नाम लिये तें।
धावत धेनु पन्हाहि लवाइ ज्यों बालक बोलनि कान किये तें।
आपनि बूझि कहै तुलसी कहिबे की न बावरि बात बिये तें।
पैज परे प्रहलादहु को प्रगटे प्रभु पाहन तें न हिये तें॥ तु० ग्र० १२६, पृ० १६३

५. काढ़ि कृपान कृपा न कहूँ पितु काल कराल बिलोकि न भागे।
प्रीति प्रतीति बढ़ी तुलसी तब तें सब पाहन पूजन लागे॥ तु० ग्र० १२८, पृ० १६३

विरोध किया जा रहा था। तीर्थों एवं गंगा आदि की पवित्रकर्त्री शक्ति के विरुद्ध कटु लौकी के कटु ही बने रहने तथा मछली आदि जल-जन्तुओं के मुक्त न होने के तर्क उपस्थित किये जा रहे थे। स्वय कबीर ने भी समाज को झकझोर कर जगा देने के प्रयत्न में इसी प्रकार के उद्गार प्रकट किये थे। कबीर के पश्चात् उनके मतावलम्बियों में उनकी जन-जागृति की भावना नहीं रह गई थी, केवल कबीर के शब्दों का प्रचलन रह गया था और उनके उद्गार सम्प्रदायगत विरोधों के लिए प्रयुक्त किये जाते थे। इसी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर उतने ही वाक्चातुर्य एव छिछले तर्कों द्वारा प्रत्युत्तर मात्र देने की नियत से तुलसीदास ने भी इस प्रकार के छंद रचे हैं—अन्तर्यामी भगवान् से भी बहिर्यामी भगवान् अधिक बड़े हैं जो कि नाम लेते ही अविलम्ब भक्त के सम्मुख उपस्थित होकर उसका कष्टों से निस्तार करते हैं, जिस प्रकार धेनु बछड़े की पुकार सुनकर वात्सल्य से ओतप्रोत, स्तनों से टपकते हुए दुग्ध के सहित भागती हुई उसके पास पहुँच जाती है। हिरण्यकश्यप के द्वारा जिस समय भक्त प्रह्लाद त्रासित किया जा रहा था उस समय उसकी पुकार पर, उसकी रक्षा के लिए बहिर्यामी भगवान् खंभे से प्रकट हुए, न कि हृदय से। इस प्रकार जब से भक्त की पुकार पर भगवान् पाषाण से प्रकट होने लगे तभी से सब लोग पाषाण-प्रतिमा का पूजन करने लगे। यह भेद उपासना या पूजा का बाह्य अग मात्र है। आत्मा कबीर तथा तुलसी ही की क्या, ससार के समस्त रहस्यवादियों की समान ही है।

सर्वत्र समान रूप से व्याप्त परमात्मा, ऐसा कौन देश या काल है जहाँ विद्यमान नही है। सब प्रकार से ससार के राग से रहित विरागी परमात्मा प्रेम से उसी प्रकार प्रकट होता है जिस प्रकार काष्ठ से अग्नि जो कि अव्यक्त रूप से काष्ठ के अदर सदैव सब जगह समान रूप से मौजूद रहती है।[1] केवल माया से आच्छादित होने के कारण निर्गुण ब्रह्म दृष्टिगत नही होता।[2] वस्तुत. सगुण और निर्गुण मे कोई भेद नही है—ऐसा मुनि, पण्डित, वेद-पुराण सब का मत है। रूपहीन अदृष्ट जो निर्गुण है वही भक्त के प्रेमवश सगुण रूप हो जाता है। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि निर्गुण सगुण कैसे हो सकता है? निर्गुण और सगुण का परस्पर सम्बन्ध वही है जो जल और हिम का है। जल और हिम एक ही हैं। एक द्रवरूप है और दूसरा उसका ठोस रूप। इसी प्रकार निर्गुण अव्यक्त है और सगुण व्यक्त तथा दृष्ट।[3] इस प्रकार सच्चिदानन्दघन अजन्मा राम माया, मन तथा गुणों से परे, दृष्टि, वाणी तथा ज्ञान का अविषय, ब्रह्म ही सगुण-रूप में उदार नर-चरित्र का कर्त्ता है।[4] परमात्मा ने केवल भक्तों के

१. हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना।
देस काल दिसि बिदिसिहु मांही। कहहु सो कहा जहां प्रभु नाहीं।३
अग जगमय सब रहित विरागो। प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगा॥ — तु० रा०, बा० का० १८४.४

२. मायाछन्न न देखिए जैसें निर्गुण ब्रह्म॥ — तु० रा०, अर० का० ३९ (क)

३. सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा।
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।१
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसें। जलु हिम उपल बिलग नहि जैसें॥ — तु० रा०, बा० का० ११५.२

४. ग्यान गिरा गोतीत अज माया मन गुन पार। — तु० रा०, उ० का० २५

लिए शरीर धारण करके नाना प्रकार के चरित्र किये हैं। जिन्हें भक्तों पर अत्यन्त ममता है, जिन्होंने भक्त पर अनुग्रह करके फिर उस पर कभी क्रोध नहीं किया तथा जो सब प्रकार से गत को भी वापस लाने में समर्थ हैं, दीनों की शरण राम सबल होते हुए भी अत्यन्त सरल हैं।[1] भक्तों के लिए मानव-शरीर धारण करने वाले राम स्वयं संकट सहन करके सज्जनों को सुखी करते हैं।[2]

राम के समान अन्य स्वामी तुलसी को दृष्टिगत नहीं होता। वेद-पुराण, कवि-कोविद तुलसी के नायक का गुण-गान करते तथा सुनते हैं। माया, जीव, जगत्, स्वभाव, कर्म, काल सबका सदैव सर्वत्र शासक है। ब्रह्मा जैसे कर्त्ता, विष्णु जैसे प्रतिपालक तथा हर जैसे संहारक जिसका नाम जपा करते है, वही राम भक्त की विनती स्वीकार कर नर-वेष में अवतरित हुए हैं।[3]

भक्त तुलसी को उपर्युक्त प्रकार से वर्णित निर्गुण राम के स्वरूप से ही केवल स्नेह नहीं था, उनके हृदय में 'डिभ-रूप राम' का भी सम्माननीय स्थान था। हम कबीर में देख चुके हैं—'भेस विवर्जित भीख विवर्जित विवर्जित डयमंक रूप'—के द्वारा उन्होंने अवतार-पूजा का खण्डन किया है। वे अपने अनुपम तत्त्व को इन सबसे भिन्न मानते थे परन्तु 'निज प्रभु-मय जगत्' को देखने वाले तुलसी के लिए स्वयं उनके इष्टदेव की इस प्रकार की अवहेलना सह्य नहीं थी। संभवतः इसी से उन्होंने डिंभ रूप राम को अपने वर्णन में लाना आवश्यक समझा।[4]

---

१. एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानन्द परधामा।
व्यापक विस्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना॥२
सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी।
जेहि जन पर ममता अति छोहू। जेहिं करुना करि कीन्ह न कोहू।
गई बहोर गरीब नेवाजू। सरल सबल साहिब रघुराजू॥ — तु० रा०, बा० का० १२.४

२. राम भगत हित नरतनु धारी। सहि संकट किए साधु सुखारी॥ — तु० रा०, बा० का० २३.१

३. दूसरो न देखतु साहिब सम रामै।
वेदऊ, पुरान कबि कोबिद बिरद रत,
जाको जस सुनत गावत गुनग्रामै।
माया जीव जग जाल सुभाउ करम काल,
सबको सासकु सबमैं सब जामै।
बिधि से करनिहार हरि से पालनिहार,
हर से हरनिहार जपैं जाके नामैं।
सोई नर वेष जानि जनकी बिनती मानि,
मतो नाथ सोई जा तें भलो परिनामै॥ — तु० ग्र० २५, पृ० ३२०

४. चाहि चुचकारि चूमि लालत लावत उर,
तैसे फल पावत जैसे सुबीज बए हैं।
घनओट बिबुध बिलोकि बरसत फूल,
अनुकूल बचन कहत नेह नए हैं।

तुलसीदास अवतारवाद के पोषक थे। उनके इष्टदेव श्रीराम पृथ्वी का भार उतारने के लिए कौशल्या के उदर से अवतीर्ण हुए थे। अजन्मा, अद्वैत, अनाम, अलख, रूपगुण-रहित जो मायापति राम हैं, उन्होंने भक्तों के लिए मानव-शरीर धारण किया।[1] भक्तों के लिए ही भगवान् राम ने नृप के रूप में अवतरित होकर प्राकृत पुरुष के अनुरूप परम-पावन चरित्र सम्पन्न किये। परमात्मा शरीर धारण करने और उसके कार्यों से किसी प्रकार प्रभावित नहीं होता जिस प्रकार कोई नट अनेक वेष धारण करके नृत्य करता हुआ जिन-जिन भावों को दर्शाता है वे सब उसके वास्तविक भाव नहीं होते और न वह स्वयं पात्र ही हो जाता है। इसी प्रकार परमात्म-स्वरूप भगवान् राम ने जो चरित्र प्रकाश किये हैं, वे सब उनकी लीलामात्र हैं जो असुरों को विमोहित करने वाली तथा लोक के लिए आनन्दकारी है।[2] सगुण और निर्गुण दोनों ही रूप वाले, नृपतियों को शिरोमणि, रावण आदि प्रचण्ड निशाचरों को अपने प्रबल बाहुबल से नष्ट करने वाले, शरणागत के रक्षक परम दयालु, प्रभु राम ने संसार का भार नष्ट करने के लिए नर-रूप में अवतार लेकर अगणित दारुण दुखों से लोक को मुक्त किया।[3]

भगवान् के अवतार लेने के कारणों मे भक्तों का हित तथा पृथ्वी के भार को नष्ट करने के साथ ही देवताओं को कष्ट से मुक्त करना भी है। जब-जब सुरगण पीडित एव व्यथित होते है, तब-तब भगवान् अवतरित होकर उनके कष्टों को दूर करते हैं।[4] इसके अतिरिक्त पृथ्वी, द्विज और धेनु की रक्षा के लिए जन-कल्याण, दुष्ट-दमन, और वेद-धर्म की रक्षा के लिए भी अहेतुकी कृपा करने वाले भगवान् अवतरित होते है।[5] भगवान् भक्तों

'अजर अमर होहु' 'करौ हरिहर छोहु'
जरठ जठेरिन्ह आसिरबाद दए हे।
तुलसी सराहैं भाग तिन्हके जिन्हके हिये,
डिंभ राम रूप-अनुराग रग रए हैं। तु० ग्र० ११, पृ० २३०

१. अज अद्वैत अनाम अलख रूप गुनरहित जो।
मायापति सोइ राम दास-हेतु नर-तनु धरेउ॥ तु० ग्र० ४, पृ० ६

२. भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप॥७२ (क)
जथा अनेक वेष धरि नृत्य करइ नट कोइ।
जोइ जोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ॥७२ (ख)
असि रघुपति लीला उरगारी। दनुज विमोहनि जन सुखकारी॥ तु० रा०, उ० का० ७२.१

३. जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमने।
दसकंधरादि प्रचण्ड निसिचर प्रबल खल भुजबल हने।
अवतार नर संसार भार विभंजि दारुन दुख दहे।
जय प्रनतपाल दयाल प्रभु संयुक्त सक्ति नमामहे॥ तु० रा०, उ० का० १२.१

४. जब जब नाथ सुरन्ह दुखु पायो नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो। तु० रा०, लं० का० १०६.४

५. गो द्विज धेनु देव हितकारी। कृपा सिंधु मानुष तनुधारी।
जन रंजन भंजन खल ब्राता। बेद धर्म रच्छक सुनु भ्राता।२
देहु नाथ प्रभु कहुँ बैदेही। भजहु राम बिनु हेतु सनेही॥ तु० रा०, सु० का० ३८.३

के प्रेमवश होकर ही सिर्फ अवतार नहीं लेते वरन् समय-समय पर उनके श्रापवश होकर केवल उनकी इच्छा-पूर्ति के लिए भी अवतार लेते हैं। मानस में नारद के श्रापवश होकर एक कल्प में राम ने अवतार ग्रहण किया।[1] अवतार ग्रहण करने में कोई कार्य-कारण सम्बन्ध समझना उचित नहीं। परमात्मा किसी कारण अथवा नियम से बद्ध नहीं है। प्रस्तुत कारणों के अतिरिक्त वह अपनी निज इच्छा के कारण ही शरीर धारण करता है। अवतार लेने के मूल में उसकी इच्छा-शक्ति ही प्रधान रहती है।[2] उसकी इच्छा के अभाव में कोई भी कारण शायद उसे अवतार लेने के लिए बाध्य न कर सकता। भगवान् का अवतार किस कारण होता है उसको कोई यथावत् निश्चित रूप से नहीं कह सकता। कारण कि वे वाणी, मन तथा बुद्धि से अतर्क्य हैं।[3] फिर भी उनके अवतार के विषय में अपनी-अपनी बुद्धि के अनुमान संत, मुनि, वेद तथा पुराणों ने जो कुछ कहा है उसी को हम तुलसी के शब्दों में ढला हुआ देखते हैं। गीता के प्रस्तुत श्लोक के अनुसार तुलसी के राम भी अवतार लेते हैं।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥४.७
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥४.८

इस श्लोक का अक्षरशः पद्यानुवाद तुलसी की निम्नलिखित पंक्तियों में प्राप्त होता है—

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी।
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं विप्र धेनु सुर धरनी।
तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा।
असुर मारि थापहिं सुरन्ह, राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग विस्तारहिं विसद जस, राम जन्म कर हेतु ॥ तु० रा०, बा० का० १२१

गीताकार से तुलसी ने मूल भाव तो लिया ही परन्तु जगविस्तारहिं विसद जस के द्वारा उस पर अपनी अमिट छाप लगा दी है। इस विशद यश का गान करके भक्तगण भवसागर से पार हो जायें—तुलसी के मत से राम-जन्म का एक कारण यह भी प्रतीत होता है। राम जन्म का कोई एक कारण नहीं है। उनके अवतार लेने के अनेक कारण हैं जो एक से एक परम विचित्र रहस्यमय हैं।[4]

---

१. नारद श्राप दीन्ह एक बारा। कलप एक तेहि लगि अवतारा। तु० रा०, बा० का० १२३.३

२. निज इच्छा प्रभु अवतरइ। सुर महि गो द्विज लागि ॥ तु० रा०, कि० का०, २६

३. हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जाइ न सोई ।१
राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहि सयानी ॥ तु० रा०, बा०, का०, १२०.२

४. तदपि संत मुनि बेद पुराना। जस कछु कहहिं स्वमति अनुमाना ।२
तस मैं सुमुखि सुनावउँ तोही। समुझि परइ जस कारन मोही ।३
सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जनहित तनु धरहीं।
राम जनम के हेतु अनेका। परम विचित्र एक तें एका। तु० रा०, बा० का० १२१.१

इस प्रकार संतों और देवताओं के निमित्त शरीर धारण करने वाला परमात्मा राजा राम के रूप में प्रकट होकर एक प्राकृत नृप की भाँति कथन तथा आचरण करता है। उसका स्वरूप वाणी से अगोचर तथा बुद्धि से परे है। इसी अपार-अज्ञात स्वरूप को वेदो ने 'नेति-नेति' कहकर व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। समस्त जगत् दृश्य है तथा परमात्मा उसका द्रष्टा है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी उसका रहस्य नहीं जानते और किसी की क्या सामर्थ्य ? केवल वे ही उस भेद को जानते हैं, जिन्हें वह स्वयं अवगत करा देता है। परमात्म-मय ही हो जाता है। अस्तु इसमें सन्देह नहीं कि परमात्मा की कृपा से ही उसके भक्त उसके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करते हैं। अधिकारी ही उस चिदानन्दमय, विकाररहित स्वरूप को जानने में सक्षम होते हैं। उसके चरित्र को देख और सुनकर बुद्धिमान् आनन्दित होते हैं तथा जड़ जीव सम्मोहित होते हैं।[1] तुलसी ने इसी भाव को अन्यत्र इस प्रकार व्यक्त किया है :

उमा राम गुन गूढ़ पण्डित मुनि पावहिं विरति।
पावहिं मोह विमूढ़ विमुख न जे हरि भक्ति रत॥

तुलसी ने जहाँ एक ओर विश्वरूप तथा निर्गुण परमात्मा का वर्णन किया है वही दूसरी ओर सगुणरूप मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम के रूप का चित्रण भी किया है। नील कमल, नील मणि तथा नीले मेघों की समन्वित नीलिमा के सदृश भक्तवत्सल कृपानिधान भगवान् राम के शरीर की नीलिमा की सुषमा है जिसको देखकर सहस्रों कोटि कामदेव लज्जित होते हैं। राम के मुख की छवि शरच्चन्द्र की भाँति तथा कपोल, चिबुक और ग्रीवा उसी के अनुरूप सुन्दर हैं। अरुण अधर, सुन्दर नासिका तथा दन्त-पंक्ति से युक्त मुख का हास चन्द्र-किरणो के सौन्दर्य की भी निन्दा करने वाला है। नव-विकसित सरसीरुह की भाँति सुन्दर मुख अपनी आकर्षक चितवन से बरबस मन को मोहित कर लेता है। मन्मथ के धनुष की छवि से उत्कृष्ट छवि वाली भृकुटि, ललाट पर लगा हुआ आभामय तिलक, मस्तक पर मुकुट धारण किये हुए, मकराकृति कुण्डल से युक्त मुख पर शोभित अलकावली से भ्रमर-समूह का भ्रम होता है। श्रीवत्स और वनमाला को हृदय पर धारण किये हुए विविध आभूषणो से अलङ्कृत, केहरि के समान बलिष्ठ व मासल कधों पर यज्ञोपवीत से युक्त सुन्दर अलंकारों से सज्जित, गजकर के समान सुडौल हाथों मे धनुषबाण व तरकस शोभित हैं। पीताम्बर की शोभा दामिनि-द्युति से कहीं बढ़कर है। उदर में त्रिवली शोभायमान

---

१. राम सरूप तुम्हार वचन अगोचर बुद्धि पर।
अविगत अकथ अपार नेति नेति नित निगम कह।१२६
जगु पेखन तुम देखनिहारे। विधि हरि संभु नचावनि हारे।
तेउ न जानहि मरम तुम्हारा। और तुम्हहि को जाननिहारा।१
सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।
तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनन्दन। जानहि भगत भगत उर चन्दन।२
चिदानन्दमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी।
नरतनु धरेहु संत सुर काजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा।३
राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहि बुध होहिं सुखारे। तु० रा०, अयो० का० १२६.४

है और नाभि की मनोहर छवि यमुना के जलभँवरों की छवि को भी छीन लेने वाली है।[1]

ऐसे निर्गुण ब्रह्म का सगुण वेष में दर्शन परम नेत्रलाभ का विषय है। इस रूप को अपलक नेत्रों से देखना जीवन की सार्थकता है। सौन्दर्यमयी सीता के सहित शोभित करुणा-निधान भगवान् भक्तों को सुख देते हुए प्रतिदान में उनके चित्त का अपहरण कर लेते हैं। ऐसे अमित स्वरूप का वर्णन करने में स्वयं वेद तथा सहस्र मुख वाले शेषनाग अपने को सामर्थ्यहीन अनुभव करते हैं, यही नही, इस छवि का अवलोकन कर वाणी की अधिष्ठात्री शारदा भी कुछ कहने में अशक्य होकर मूक हो जाती हैं। परमात्मा के निर्गुण रूप-वर्णन में उसकी अनिर्वचनीयता को हम देख ही चुके हैं। सगुण रूप में सारद भइ भोरी[2] के द्वारा इसी अनिर्वचनीय तत्त्व की ओर इगित किया गया है। वस्तुतः परमात्मा का साक्षात्कार-जन्य आनन्द चाहे वह निर्गुण रूप का हो चाहे सगुण रूप का हो केवल अनुभवगम्य है, वर्णनीय नही।

सामान्यतया पुरुष-सौन्दर्य के मापदण्ड कामदेव ही कहे जाते हैं परन्तु राम के साथ उपमा देने में कामदेव अत्यन्त हेय सिद्ध होते है। काम मे शील, सुमति, साधुता, पवित्रता तथा सरलता का अभाव है। इसके अतिरिक्त वह नीतिवान् भी नही है। इसके विपरीत राम परम सुशील, पवित्र, सुमति-युक्त, सरल स्वभाव वाले तथा नीतिरत हैं। इस प्रकार राम की उपमा कामदेव से नहीं दी जा सकती। सम जाति गुण के पदार्थों में ही उपमा

---

१. भगतबछल प्रभु कृपानिधाना विस्वबास प्रगटे भगवाना। ४
नील सरोरुह नीलमणि नील नीरधर स्याम।
लाजहि तन सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम। १४६
सरद मयक बदन छवि सींवा चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवा।
अधर अरुन रद सुन्दर नासा विधु कर निकर विनिदक हासा। १
नव अंबुज अंबक छवि नीकी चितवनि ललित भावती जी की।
भृकुटि मनोज चाप छबिहारी तिलक ललाट पटल दुतिकारी। २
कुण्डल मकर मुकुट सिर भ्राजा कुटिल केस जनु मधुप समाजा।
उर श्रीवत्स रुचिर बनमाला पदिक हार भूषन मनिजाला। ३
केहरि कंधर चारु जनेऊ बाहु बिभूषण सुन्दर तेऊ।
करि कर सरिस सुभग भुजदंडा कटि निषंग कर सर कोदंडा। ४
तड़ित बिनिंदक पीत पट उदर रेख बर तीनि।
नाभि मनोहर लेति जनु जमुन भँवर छवि छीनि। १४७ — तु० रा०, बा० का० १४७

२. नयनन्हिं को फल विशेष ब्रह्म अगुन सगुन वेष।
निरखहु तजि पलक सफल जीवन लखौ री।
सुन्दर सीता समेत सोभित करुनानिकेत।
सेवक सुख देत लेत चितवत चित चोरी।
बरनत यह अमित रूप थकित निगम नागभूप।
तुलसिदास छवि विलोकि सारद भइ भोरी।। — तु० ग्र०, पृ० ३४१

स्थापित हो सकती है।[1] ये भगवान् राम इतने सामर्थ्यवान हैं कि चेतन को जड़ कर देते हैं और जड़ को चैतन्यता प्रदान कर देते हैं।[2] वही सामर्थ्यवान प्रभु रजकण के तुल्य नीच तथा अधम को पर्वत के सदृश उच्च तथा महान् बना देते हैं।[3] भगवान् की छत्रछाया में रहकर, उसके अनुग्रह को प्राप्त कर अन्य कोई भक्त के भय का विषय नहीं रह जाता। राम के रक्षक होने पर उनके भक्त का भक्षक होने का साहस कौन कर सकता है।[4] रघुनाथ राम के अतिरिक्त प्राणियों के दुःखों का निवारण करने वाला अन्य कौन है।[5] प्रभु जिस पर कृपादृष्टि कर देते हैं वह त्रिविध (दैहिक, दैविक, भौतिक) तापों से निस्तार पा जाता है। भौतिक सतापों का विनाश करने में दक्ष राम भक्तों की आराधना का विषय हैं।[6] राम की कृपा के बिना जीव स्वप्न में भी विश्राम नही प्राप्त कर सकता। कारण कि वे ही भक्तों को सुख देने वाले तथा उन पर करुणा करने वाले हैं।[7] राम अहेतुकी कृपा करके मानव-तनु प्रदान करते हैं। बिना किसी स्वार्थ के स्नेह करने वाला परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कौन है।[8] अकारण अनुग्रह करने वाले राम ने किस-किसको अनुगृहीत करके सद्गति नही प्रदान की।[9] प्रभु की यह रीति ही है कि वे सर्वदा सेवक पर प्रीति करते है।[10] उसी की कृपा से जीव माया से छुटकारा पाता है।[11]

जो सब सांसारिक अवलम्बों को त्याग कर भगवान् का स्मरण करते हैं, भगवान् जननी के सदृश उनकी रक्षा करते हैं। माता अबोध शिशु को अग्नि या सर्प आदि भयावह वस्तुओं के निकट जाने से बलपूर्वक रोककर उसकी रक्षा करती है, उसी प्रकार परमात्मा

---

१. साधु सुसील सुमति सुचि सरल सुभाव।
राम नीतिरत काम कहा यह पाव॥ — तु० ग्र०, पृ० १७

२. जो चेतन कहँ जड़ करइ जड़हि करइ चैतन्य।
अस समर्थ रघुनायकहि भजहिं जीव तें धन्य॥ — तु० रा०, उ० का० ११९ (ख)

३. छारते सवाँरिकै पहार हूते भारी कियो
गारो भयो पच में पुनीत पच्छ पाइकै॥

४. नेकु विषाद नहीं प्रहलादहि कारन केहरि केवल हो रे।
कौन की त्रास करै तुलसी जोपै राखहि राम तौ मारिहै को रे॥ — तु० ग्र०, पृ० १७५

५. रघुनाथ बिना दुख कौन हरै॥ — तु० ग्र०, पृ० १७६

६. जे नाथ करि करुना विलोके त्रिविध दुख ते निर्वहे।
भव खेद छेदन दच्छ हम कहुँ रच्छ राम नमामहे॥ — तु० रा०, उ० का० १२.२

७. राम कृपा बिनु सपनेहुं जीव कि लह विश्रामु॥ — तु० रा० उ० का० ९० (क)
भजहु राम रघुबीर करुनाकर सुन्दर सुखद॥ — तु० रा०, उ० का० ९०(ख)

८. कबहुँक करि करुना नरदेही। देत ईस बिनु हेत सनेही॥ — तु० रा०, उ० का० ४३.३

९. बिनु कारन करुनाकर रघुवर केहि केहि गति न दई। — तु० ग्र०, पृ० २५०

१०. सुनहु विभीषण प्रभु कै रीती। करहिं सदा सेवक पर प्रीती॥ — तु० रा०, सु० का० ६.२

११. नाथ जीव तव मायाँ मोहा। सो निस्तरइ तुम्हारेहिं छोहा॥ — तु० रा०, कि० का० २.१

सभी विघ्नों तथा कठिनाइयों के मार्ग से भक्त को हटाकर उसकी रक्षा करता है।[1] निःसंदेह भक्तों पर भगवान का अधिक स्नेह रहता है।[2] परमात्मा भौतिक विज्ञान के सिद्धान्तों की भाँति स्थायी जड़ नियमों की शृंखला मात्र नहीं है। उसमें विशेष प्रकार से विशेष व्यवहार करने की क्षमता तथा स्वतन्त्रता है। इसी कारण वह मनुष्यों में सन्तों की कोटि-विशेष पर विशेष कृपादृष्टि रखता है।

तुलसीदास किसी को भी ज्ञानी या मूढ नहीं मानते। उनके विचार से परमात्मा जिसको जैसा चाहता है, वह उसी प्रकार का हो जाता है। वही मनुष्य के कृत्य-अकृत्य तथा ज्ञान-अज्ञान का कारण है। सारी कर्तृत्व शक्ति परमात्मा की ही है।[3]

परमात्मा सदैव अपने भक्तों का प्रण निभाता है। प्रह्लाद के इस वचन को कि खंभ में भी भगवान् हैं सत्य प्रमाणित करने के लिए नरसिंह रूप होकर खंभ से प्रकट हुए। जल में ग्राह से आक्रांत हुए गजराज की पुकार पर बिना किसी विलम्ब के तत्काल उपस्थित हुए। कौरवों की सभा मे द्रौपदी के चीर-हरण के समय भगवान् ने ही उसकी लाज बचाई। कहाँ-कहाँ उन्होंने अपने भक्तों के पन की रक्षा नहीं की ?[4] इसके अतिरिक्त उन्होंने शरणागत भक्तों के अवगुणों तथा अनुचित स्वभाव को भी सहन किया है। पवित्र अग्नि के भी कलुष को नष्ट करने वाली नारीरत्न सीता का त्याग राम ने केवल लोकनिन्दा के कारण किया, धर्म-धुरन्धर बन्धु का भी इसी कारण परित्याग किया परन्तु उन्हीं राम ने विभीषण व सुग्रीव के बन्धुपत्नीगमन जैसे घोर पातक को सुनकर भी अनसुना कर दिया, न उसका अवलोकन किया न उस पर ध्यान ही दिया।[5]

राम साधकों तथा सिद्धों की साधना के फल, माता-पिता के सुकृतों के फल, सर्व-

---

१. सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा।२
करउँ सदा तिन्हकै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी।
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई।
मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी॥ तु० रा०, अर० का० ४२.४

२. संतन्ह कै महिमा रघुराई।
तिन्ह पर प्रभुहि प्रीति अधिकाई। तु० रा०, उ० का० ३६.२

३. बोले बिहसि महेस तब ग्यानी मूढ़ न कोइ।—
जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ॥ तु० रा०, बा० का० १२४ (क)

४. प्रभु सत्य करी प्रह्लाद गिरा प्रगटे नरकेहरि खंभ महाँ।
झखराज ग्रस्यो गजराज कृपा ततकाल बिलंब कियो न तहाँ।
सुर साखी दै राखी है पांडुबधू पट लूटत कोटिक भूप जहाँ।
तुलसी भजु सोच-बिमोचन को जन को पन राम न राख्यो कहाँ। तु० ग्र०, पृ० १६८

५. तीय सिरोमनि सीय तजी जेहिं पावक की कलुषाई दही है।
धर्म धुरंधर बन्धु तज्यो पुर लोगन की बिधि बोलि कही है।
कीस निसाचर की करनी न सुनी न बिलोकी न चित्त रही है।
राम सदा सरनागत की अनखौंही अनैसी सुभाय सही है। तु० ग्र०, पृ० १६७

साधारण के नेत्रों के फल तथा तुलसी के तो जीवन-सर्वस्व ही हैं।[1] वे कौतुकी, शरणागत हितकारी, सहज, सुलभ तथा सम्पूर्ण दुखों के विनाशक हैं।[2] जैसा कि हम पहले देख चुके हैं कि ईश्वर किसी नियम अथवा सिद्धान्त से बद्ध नहीं है। उसकी गति इतनी विचित्र है कि संसार में उसको जानने योग्य कोई नही है। उसकी विचित्र गति के ही कारण अपराध कोई अन्य करता है परन्तु उसका फल दूसरे को भोगना पड़ता है।[3]

राम ईशों के भी ईश, महाराजाओं के भी महाराज, देवताओ के भी देव तथा प्राणों के भी प्राण है। काल के भी काल, महाभूतों के भी महाभूत, कर्म के भी कर्म तथा निदान के भी निदान हैं। वेदों के लिए अगम, शीलसिंधु, करुणानिधान, परमात्मा तुलसी-सदृश भक्तों के लिए सुगम है। उसकी अपार महिमा वाणी से परे अनिर्वचनीय है।[4]

इस प्रकार अनन्त गुणों से समन्वित प्रभु राम की उपमा किससे दी जाय। इसलिए यही कहा जा सकता है तथा वेदों ने भी यही कहा है कि वे स्वयं अपने जैसे ही हैं। यदि तेज-पुंज प्रचण्ड मार्तण्ड को शतकोटि खद्योतों के समान प्रकाशवान् कहा जाय तो उससे सूर्य की महत्ता का द्योतन न होकर उसकी लघुता ही भासित होगी। इसी प्रकार परमात्मा के लिए किसी भी उपमा का प्रयोग उसके यथार्थ स्वरूप का परिचायक न होकर उसके विषय में अत्यन्त अपूर्ण धारणा का ही द्योतक होगा। फिर भी मुनि जन अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार उसका वर्णन करते हैं तथा अत्यन्त कृपालु, भावग्राहक प्रभु उसे सप्रेम सुनकर प्रसन्न हो जाते हैं।[5]

---

१. साधन फल साधक सिद्धनि के लोचन फल सबही के।
सकल सुकृत फल मातु पिता के जीवनधन तुलसी के।। — तु० ग्रं० पृ० २४६

२. प्रभु कौतुकी प्रणत हितकारी। सेवत सुलभ सकल दुखहारी। — तु० रा०, बा० का० १३६.४

३. और करै अपराधु कोउ और पाव फल भोगु।
अति विचित्र भगवन्त गति को जग जानै जोगु।। — तु० रा०, अयो० का० ७७

४. ईसन के ईस महाराजन के महाराज
देवन के देव देव प्रान हू के प्रान हौ।
कालहू के काल महाभूतन के भूत
कर्महू के करम निदान के निदान हौ।
निगम को अगम सुगम तुलसी से को
एते मान सीलसिंधु करुना निधान हौ।
महिमा अपार काहू बोल को न वारापार
बड़ी साहिबी में नाथ बड़े सावधान हौ।। — तु० ग्रं०, पृ० १६२

५. निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै।
जिमि कोटि सत खद्योत सम रवि कहत अति लघुता लहै।
यही भाँति निज निज मति विलास मुनीस हरिहि बखानहीं।
प्रभु भाव ग्राहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सुख मानहीं।। — तु० रा०, उ० का० ६१.५

सूरदास के राम निर्बल के भी बल हैं। वे भक्त के अर्धनाम उच्चारण मात्र पर दौड़ने वाले हैं तथा सब प्रकार से हारे हुए के एकमात्र अवलम्ब हैं।[1]

कबीर तथा तुलसी ने ईश्वर की विचित्र गति तथा विधान पर पृथक्-पृथक् ढंग से अपने भावों को व्यक्त किया है। कबीर के राम संभव-असंभव, संगत-असंगत जो कुछ करते हैं सब शोभित होता है। उनके समस्त कार्य समीक्षा से परे हैं। तुलसी के राम अपराध का दण्ड किसी अन्य को देते हैं जब कि वास्तविक अपराधी कोई अन्य ही होता है। सूर के कृष्ण तो अन्धाधुन्ध दरबार वाले ही ठहरे। उनकी तो बात ही क्या ? वे आम्र जैसे सुरस तथा उपयोगी फलों के वृक्षों को कटवा कर बबूल के कंटकाकीर्ण अनुपयोगी वृक्ष लगाते हैं। चन्दन के श्रेष्ठ सुगन्धित काष्ठ को ईंधन के स्थान में भाड़ में जलाते हैं। प्रतिष्ठित व्यक्तियों को हटाकर चोरों को बसाया जाता है तथा झूठे लोग विश्वासपात्र माने जाते हैं। राधा सी परम सुन्दरी कृष्ण के वियोग में विरहाकुल हो रही है परन्तु दूसरी ओर कुबजा सनाथ हो रही है। इस प्रकार कृष्ण के—सामान्य मानव कृष्ण के नहीं—वरन् भगवान् कृष्ण के सभी कार्य अद्भुत हैं।[2] क्यों न हो, भगवान् की रीति-नीति ही परम रहस्यमय तथा अनिर्वचनीय है।

धरमदास ईश्वर को विश्व का संचालक मानते हैं। संसार कागज की नाव सदृश है जिसका अस्तित्व अत्यन्त क्षणिक है। इस क्षणभंगुर नौका का संचालन सूत्र ईश्वर के हाथ मे है। वह जीव को मनचाहा नाच नचाता है। जीव में कर्तृत्व-शक्ति का सर्वथा अभाव है, सबका कर्त्ता एकमात्र ईश्वर है।[3]

जीव को यम-यातना से निस्तार दिलाने वाला ईश्वर के अतिरिक्त और कोई नहीं है। वह दीनदयालु तथा पतितपावन है।[4] उसकी पापविनाशिनी कीर्ति लोक में विख्यात तथा

---

१. सुने री मैंने निरबल के बल राम
पिछली साख भरूँ सन्तन की अड़े सवारे काम।
जब लग गज बल अपनो बरत्यो नेकु सरयो नहिं काम।
निरबल ह्वै बल राम पुकार्यौ आये आधे नाम।
अपबल तपबल और बाहुबल चौथो है बल दाम।
सूर किसोर कृपा ते सब बल हारे को हरिनाम।

२. ऊधो धनि तुम्हरो व्योहार।
आम कटावत बबुर लगावत चन्दन झोंकत भार।
चोर बसावत साह भगावत झूठे को इतवार।
सुन्दर नारि पुरुष बिन तरसै कुबजा करत सिंगार।
सूरदास धनि तुम्हरी कचेहरी अधाधुन्ध दरबार॥

३. कागद की नइया बनी डोरी साहिब हाथ
जौनै नाच नचइहैं हो नाचब वोहि नाच॥ धरमदास, सं० बा० सं० भा० २, पृ० ३८

४. तुम बिन सकल देव मुनि ढूँढे कहूँ न पाऊं जम फंद छुड़इया।
हम से दीन दयाल न तुम से चरन सरन रैदास चमइया। रैदास बानी, पृ० ४०

वेद में वर्णित है ।[1] वह सर्वद्रष्टा, सर्वव्यापक, परम गुणवान्, करुणामय तथा जगत का आधार है ।[2] भक्त का अन्तर भगवान् की अनुपम सुवास से व्याप्त रहता है तथा भक्त के लिए वह उतना ही मोदवायक होता है जितना मयूर के लिए मेघ ।[3]

मीरा की ईश्वर विषयक धारणा भक्तवत्सल भगवान् की है । भगवान् सर्वदा अपने भक्तों पर आई हुई आपत्ति का निवारण करते हैं । चीर बढ़ाकर उन्होंने द्रौपदी की लाज बचाई । उन्होंने भक्त प्रह्लाद के लिए नरसिंह का अवतार धारण करके क्षण भर में ही हिरण्यकश्यप का अन्त कर दिया तथा डूबते हुए गजराज की रक्षा की ।[4] इस भाँति भक्तों पर स्नेह रखने वाले भगवान् यदाकदा निर्मोही भी हो जाते हैं । जब तक साधक सच्चा प्रेमी नहीं होता, भगवान् उससे अधिक स्नेह रखते हैं परन्तु जब वह पूर्णरूपेण उनका ही हो जाता है तब वे उसे कुछ और ही समझने लगते हैं । साधक नही समझ पाता कि यह कहाँ की विचित्र रीति है ! कुछ नही ऐसे अविनाशी भगवान् अपने स्वार्थ के मित्र हैं । साधक को अपना सच्चा प्रेमी भक्त बनाकर फिर उसे छोड़कर आगे बढ चलते हैं अन्य जन को अपना भक्त बनाने ।[5] मीरा ने भगवान् की व्याजस्तुति के द्वारा प्रत्यक्ष मे निन्दा करते हुए भी उनकी भक्तवत्सलता को ही व्यक्त किया है ।

सहजोबाई के विचार से ईश्वर निराकार होते हुए भी सर्वाकारमय, निर्गुण होते हुए भी गुणमय, तथा 'अस्ति व नास्ति' से परे है ।[6] अनाम होने पर भी नाममय तथा अरूप होने

---

१. पावन जस माधो तेरा तू दारुन अघमोचन मेरा ।
कीरति तेरी पाप बिनासै लोक वेद यों गावै ।
कहै रैदास प्रभु तुम दयाल हौ······ रैदास बानी, पृ० ३१

२. तू मोहिं देखै हौं तोहि देखूँ प्रीति परस्पर होई ।
सब घट अन्तर रमसि निरंतर मैं देखन नहिं जाना ।
गुन सब तोर मोर सब अवगुन कृत उपकार न माना ।
कह रैदास कृष्ण करुनामय जै जै जगत अधारा । रैदास, सं० बा० सं० भा २, पृ० ३२

३. प्रभु जी तुम चन्दन हम पानी, जाकी अंग अंग बास समानी ।
प्रभु जी तुम घन बन हम मोरा जैसे चितवत चन्द चकोरा ।। रैदास, सं० बा० सं० भा० २, पृ० ३४

४. हरि तुम हरो जन की भीर
द्रोपदी की लाज राखी तुरत बाढ़यो चीर ।
भक्त कारण रूप नरहरि धरयो आप सरीर ।
हिरनाकुस मारि लीह्यो धरयो नाहिन धीर ।
बूड़तो गजराज राख्यो कियो बाहर नीर ।। मी० प० ६५, पृ० २५

५. जाओ हरि निरमोहड़ा रे जानी थारी प्रीति ।
लगन लगी जद प्रीति और ही अब कुछ और ही रीति ।
इमरत पाइ के विष क्यूँ दीजै कौन गाँव की रीति ।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी अपने गरज के मीत । मी० प० ६०, पृ० २४

६. है नाहीं सूँ रहित है सहजो यों भगवन्त ।। सहजोबाई, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १६५

पर भी सर्वस्वरूपमय है। प्रकट या गुप्त रूप में जो कुछ है, सब ब्रह्म ही है। संसार में उनके अवतरित होने का कारण संतों की रक्षा करके पापियों का मारना तथा पृथ्वी का भार उतारना है। इस प्रकार निर्गुण भगवान् सगुण होकर भक्तों का उद्धार करते हैं।[1] उस परमात्मा के अनन्त रूप हैं, अनेक नाम हैं, अगणित लीलाएँ तथा विविध वेष हैं।[2]

दयाबाई परमात्मा को 'सूत्रे मणिगणा इव' सर्वव्यापक मानती हैं। स्थावर, जंगम, कीट, पतंग सभी में वह व्याप्त है।[3] संयम, साधना, तीर्थ, व्रत, दान, आदि सब व्यर्थ हैं, उनसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। भक्त सब भाँति से भगवान् के सहारे उसी प्रकार है जिस प्रकार अबोध बालक माता के भरोसे रहता है।[4] वह परमात्मा भयमोचन, सर्वमय, व्यापक, अचल, दयासिंधु तथा ब्रह्माण्डपति है।[5] वह साधनरहित का साधन तथा निरवलम्ब का अवलम्ब है। वह भक्तों का एकमात्र जीवन प्राणाधार है।[6] वह भक्तों का प्रभु, पतित-पावन, ईश्वर कृपानिधि, विश्वेश है।[7]

दादू सहज स्वरूप, सर्वव्यापक, सदानन्दमय परमात्मा का ही सर्वत्र दर्शन करते हैं, अन्य का नही।[8] वह परमात्मा परम दयालु दाता, दुःखों का भंजन करने वाला तथा भक्तों

---

१. निराकार आकार सब निर्गुन और गुनवन्त।
है नाहीं सूं रहित है सहजो यों भगवन्त।।१
नाम नहीं औ नाम सब रूप नहीं सब रूप।
सहजो सब कछु ब्रह्म है हरि परगट हरि गूप।।२
भक्ति हेत हरि आइया पिरथी भार उतारि।
साधन की रच्छा करी पापी डारे मारि।।४
निर्गुन सूँ सर्गुन भये भक्त उधारन हार।। — सहजोबाई, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १६५

२. ता के रूप अनन्त हैं जाके नाम अनेक।
ता के कौतुक बहुत हैं सहजो नाना भेष।।६ — सहजोबाई, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १६६

३. वही एक व्यापक सकल ज्यों मनिका में डोर।
थिर चर कीट पतंग में दया न दूजो और।।५ — दयाबाई, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १७१

४. नहिं संजम नहिं साधना नहिं तीरथ व्रत दान।
मात भरोसे रहत है ज्यों बालक नादान।।२३ — दयाबाई, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १७५

५. भयमोचन अरु सर्वमय व्यापक अचल अखण्ड।
दयासिंधु भगवान जू ता के सब ब्रह्मण्ड।।२ — दयाबाई, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १७३

६. निरपच्छी के पच्छ तुम निराधार के धार।
मेरे तुम ही नाथ इक जीवन प्रान अधार।।८ — दयाबाई, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १७३

७. हौं पांवर तुम हो प्रभू अधम-उधारन ईस।
दयादास पर दया हो दयासिंधु जगदीस।।१६ — दयाबाई, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १७४

८. सदा लीन आनन्द में सहज रूप सब ठौर।
दादू देखै एक को दूजा नाहीं और।। — दादू

को दर्शन देने वाला है।[1] यह संसार दुःख की सरिता है तथा राम सुख के सागर हैं और इस सुखसागर में दुःख-सरिता का पर्यवसान होता है।[2]

परमात्मा एक है जिसकी छत्रछाया में हम सब प्राणी रहते हैं। अनेक युगों के व्यतीत हो जाने पर भी वह निरंतर स्मरणीय है।[3] वह अपनी इच्छानुसार ही प्राणी को रखता है, क्योंकि प्राणी तो बहुत ही अशक्त है, उसमे अपना कोई बल नहीं। सब उसी परमात्मा के हाथ में है, उससे भाग कर कोई कहां जा सकता है।[4] वह सब प्रकार से समर्थ है और भक्तों के हृदय में निवास करता है। इसी कारण भक्तों का चित्त दूसरी ओर आकर्षित नहीं होता।[5] जीव को कार्य में प्रवृत्त कराने वाले कर्म होते हैं और कर्मों को प्रवृत्त करने वाला परमात्मा है परन्तु परमात्मा को प्रवृत्त करने वाला कोई नहीं है।[6] जीव का तन, मन, प्राण सब कुछ परमात्मा का है, परमात्मा ही भक्त की एकमात्र निधि है।[7] तैल तिलों में व्याप्त रहता है, सुगंधि से पुष्प समावेशित रहते हैं तथा दुग्ध में नवनीत समाया रहता है, उसी प्रकार सब प्राणियों में परमात्मा व्याप्त है।[8] जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि व्याप्त रहती है उसका कोई अवयव उससे रिक्त नही होता उसी प्रकार परमात्मा प्रत्येक मन में समाया हुआ है।[9] तीनों लोक निरन्तर परमात्मा से व्याप्त हैं। लोग अज्ञानवश उसे दूर समझते हैं।[10] विश्व का सृजनकर्त्ता

---

१. मैं भिष्यारी मंगिता दरसन देहु दयाल।
तुम दाता दुख भंजिता मेरी करहु सँभाल ॥४ — दादू, सं० वा० सं० भा० १, पृ० ८१

२. दुख दरिया संसार है सुख का सागर राम।
सुख सागर चलि जाइये दादू तजि बेकाम ॥४ — दादू, सं० वा० सं० भा० १, पृ० ७९

३. दादू दूजा क्यूँ कहै सिर परि साहिब एक।
सो हमकूँ क्यूँ बीसरै जे जुग जाहि अनेक ॥३ — दादू, सं० वा० सं० भा० १, पृ० ८४

४. ज्यूं राखें त्यूं रहैंगे आपणे बल नाहीं।
सबै तुम्हारे हाथि है भाजि कत जाहीं ॥२ — दादू, सं० वा० सं० भा० १, पृ० ८४

५. समरथ सब विधि साइयां ताकी मैं बलि जाउँ।
अन्तर एक जु सो बसै औरां चित न लाउँ ॥१ — दादू, सं० वा० सं० भा० १, पृ० ८४

६. करम फिरावै जीव कौं कर्मों कौं करतार।
करतार कौं कोई नहीं दादू फेरनहार ॥४ — दादू, सं० वा० सं० भा० १, पृ० ८५

७. तन भी तेरा मन भी तेरा तेरा प्यण्ड परान।
सब कुछ तेरा तू है मेरा यह दादू को ज्ञान ॥६ — दादू, सं० वा० सं० भा० १, पृ० ९१

८. जीयें तेल तिलन्नि में जीयें गन्ध फुलन्नि।
जीयें माखण षीर में ईयें रब रूहन्नि ॥३ — दादू, सं० वा० सं० भा० १, पृ० ८५

९. काठ हुतासन रह्या समाइ।
त्यूँ मन माहि निरंजन राइ ॥२ — दादू, भा० २, पृ० १६५

१०. निरंतर पिउ पाइया तीन लोक भरपूरि।
सब सेजौं साईं बसै लोग बतावैं दूरि ॥१ — दादू, सं० वा० सं० भा० १, पृ० ९२

परमात्मा ही एक माननीय है।[1] प्रेम ही परमात्मा की जाति है, प्रेम ही उसका अंग है, प्रेम ही उसका अस्तित्व है तथा प्रेम ही उसका रंग है, वह सब प्रकार से प्रेममय ही है।[2]

दादू ने मानव-शरीर को बाड़ी तथा परमात्मा को उस कायाबाड़ी का माली कहा है। कायाबाड़ी में रमे हुए माली ने ही यह सब रास रचा है। वह स्वामी होने पर भी अपने सेवक जीव से क्रीड़ा करने के लिए स्वय दया करके प्रकट होता है। बाहर भीतर, निरन्तर सर्वत्र सब में वह समाया हुआ है। प्रकट होते हुए भी वह गुप्त और गुप्त होते हुए भी वह प्रकट है। वह अविगत दृष्टि से परे है। ऐसे माली रूप परमात्मा की कथा अगम, अगोचर तथा सर्वथा अनिर्वचनीय होते हुए केवल आनन्द का विषय है।[3]

मलूकदास तीनों लोकों को परमात्मा की ही माया मानते हैं। सब जीव-जन्तु भी परमात्मा से ही उत्पन्न हैं, अन्यत्र कहीं से कोई नही आया। सब का उत्पत्ति-स्थान एक ही है। इसी कारण परमात्मा सब पर समान प्रीतिभाव रखता है।[4] उसका निवास स्वयं हृदय में ही है। उसे तीर्थों, मन्दिरों या जनशून्य स्थानों मे खोजने का प्रयत्न व्यर्थ है।[5] हाथी से लेकर चींटी तक तथा पशु और मनुष्य सब में एक ही परमात्मा का वास है।[6]

धरनीदास के भगवान् करुणामय, गरीबनिवाज तथा विश्वम्भर हैं।[7]

---

१. दादू जिन जग सिरजिया ताही कौं मानौं ॥१६८ — दादू, भा० २, पृ० ८४
घड़ी महूरत चालणां राखै सिरजनहार ॥५१ — दादू, भा० १, पृ० २१६

२. इसक अलह की जाति है इसक अलह का अंग।
इसक अलह औजूद है इसक अलह का रंग ॥१२ — दादू, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ८३

३. मोहन माली सहजि समाना कोई जाणै साध सुजाना।
काया बाड़ी माहैं माली तहाँ रास बनाया।
सेवग सौं स्वामी खेलन कौं आप दया करि आया।
बाहरि भीतरि सर्व निरंतरि सब में रह्या समाई।
परगट गुप्त गुप्त पुनि परगट अविगत लख्या न जाई।
ता माली की अकथ कहाणी कहत कही नहिं आवै।
अगम अगोचर करै अनन्दा दादू ये जस गावै ॥३७१ — दादू, भा० २, पृ० १५६

४. सबहिन के हम सबै हमारे जीव जन्तु मोहि लगे पियारे।
तीन लोक हमारी माया। अन्त कतहु से कोई नहिं आया — मलूकदास, भा० २, पृ० २३

५. राम राय घट में बसै ढूंढत फिरै उजाड़।
कोइ कासी कोइ प्राग में बहुत फिरै झख मार ॥७ — मलूकदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १०५

६. कुंजर चींटी पसु नर सब में साहिब एक ॥ — मलूकदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १०३

७. धरनी जनकी बीनती करु करुनामय कान ॥१
धरनी सरनी रावरी राम गरीब निवाज।
कवन करैगो दूसरो मोहि गरीब के काज ॥३
मनसा वाचा कर्मना विस्वम्भर विस्वास ॥६ — धरनीदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ११४

दूलनदास का साहब परमात्मा धरती, आकाश, जल, थल, घट-घट में व्याप्त है ।[१] तीनों लोकों का रचयिता वही है । इसके अतिरिक्त वह निर्धन तथा निर्बल का एकमात्र हितैषी है । अनन्त सागर में यात्रा करने वाले जहाज पर बैठे हुए काग का एकमात्र सहारा जहाज ही होता है, उसी प्रकार भवसागर के यात्री जीव का अवलम्ब तथा हित एकमात्र परमात्मा ही है ।[२]

भीखा का मत है कि परमात्मा केवल एक है । उसके जो अनन्त रूप लोक में प्रचलित हैं, वे सब कृत्रिम हैं । सम्पूर्ण जीवों में निवास करने वाला एक ही परमात्मा है ।[३]

पलटू अपने शरीर का कर्तृत्व भी अपना नहीं मानते । उनके विचार से करने-कराने वाला तो केवल परमात्मा है । मनुष्य में तो व्यर्थ ही कर्तृत्व का आरोप किया जाता है ।[४] इस संसार सृष्टि का कर्त्ता कौन है यह ज्ञात नहीं, परन्तु सबके मध्य में उसकी शक्ति का अस्तित्व प्रतीत होता है । परमात्मा मनुष्य मे व्याप्त होकर कार्यों का कर्त्ता स्वयं ही है । मनुष्य व्यर्थ ही सुकृतों अथवा दुष्कृतो के लिए यश-अपयश का भागी होता है ।[५]

चरनदास अपनी जिह्वा में उस शक्ति का अभाव पाते हैं जिससे वे भगवान् की महिमा का वर्णन करने में समर्थ हो सकते ।[६] भगवान् की शक्ति अपार है तथा उसकी लीला अनन्त है ।[७]

भगवान् की गति के विषय में कुछ भी जाना नही जाता । किसमें इतनी बुद्धि है कि उस अविगत-गति का वर्णन कर सके । ब्रह्मा, विष्णु, महेश, शेष भी भगवान् की उस अपार अगाध गति को जान नहीं सके, उसके वर्णन करने में असमर्थ होकर उन्हें मौन ग्रहण करना पडा । रवि, शशि आदि प्रकाश-पुंज उसकी क्षणमात्र की ही रचना है तथा समस्त प्रकाश

---

१. साहिब जल थल घट घट व्यापत धरती पवन अकास हो । — दूलन, सं० बा० सं० भा० २, पृ० १६६

२. दूलन एक गरीब के हरि से हितू न और ।
ज्यों जहाज के काग को सूझै और न ठौर ।।५ — दूलनदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १३८

३. भीखा केवल एक है किरतिम भया अनन्त ।
एकै आतम सकल घट यह गति जानहिं संत ।।३ — भीखा सं० बा० सं० भा० १, पृ० २१३

४. ना मैं किया न करि सकौं साहिब करता मोर ।
करत करावत आपु है पलटू पलटू सोर ।।२ — पलटू, सं० बा० सं० भा० १, पृ० २१७

५. कौन सकस करि जाय नाहिं कछु खबर है ।
बीच में सबके देइ बडा वह जबर है ।
हरि धरि मेरो रूप करै सब काम है ।
अरे हां पलटू बीच मंहै इक नाम मोर बदनाम है ।।२ — पलटू, सं० बा० सं० भा० २, पृ० २३५

६. तुम्हरी कहा अस्तुति करूँ मो पै कही न जाय ।
इतनी सक्ति न जीभ को महिमा कहै बनाय ।।४ — चरनदास, सं० बा० सं० भा १, पृ० १४६

७. तुम्हरी सक्ति अपार है लीला को नहिं अन्त ।
चरनदास यौं कहत है ऐसे तुम भगवन्त ।।३ — चरनदास, सं० बा० सं० भा १, पृ० १४५

जो सर्वत्र व्याप्त है उसी की ज्योति का विस्तार है। जगत के प्राण, सत्य गुरु, भगवान् भक्तों के लिए एकमात्र शरण हैं।[1]

समस्त ज्ञान-विज्ञान क्या, कहाँ, कौन और क्यों के उत्तर के रूप में ही प्राप्त होता है। भौतिक-विज्ञान का भी अंततोगत्वा मूल इन्हीं प्रश्नों में निहित है। दिखलाई पड़ने वाली यह समस्त सृष्टि किसने उत्पन्न की, किये हुए शुभाशुभ कर्मों का कौन फल देने वाला है, मृत्यु किसके द्वारा होती है, किसकी कृपा से जीव को सुख प्राप्त होता है आदि प्रश्नों के उत्तर मनुष्य को ईश्वर तक ले जाने वाले हैं। सभी भिन्न प्रतीत होने वाले विषयों के अंतर में पाई जाने वाली समानता की तर्क द्वारा प्रतिष्ठा तथा बुद्धि द्वारा कल्पना सत्य के रूप में ईश्वर का बौद्धिक ग्रहण है। विविधता में समानता किंवा एकता का पराबौद्धिक प्रत्यक्ष रहस्यवादियों का ईश्वर विषयक अनुभव हुआ। सत्य के इसी स्वरूप से इस प्रकरण में हमारा सम्बन्ध है।

परमात्मा या ईश्वर के विषय में पूर्व वैदिक काल से मध्य युग तक अनेक धारणाएँ तथा अनुभूतियाँ जनसाधारण तथा पण्डितों के मध्य प्रचलित थीं। हिन्दी के सन्तकवि अपने पूर्ववर्ती सन्तों तथा उनके साहित्य से प्रभावित नही थे ऐसी बात नहीं है। उनकी धारणाएँ उन धारणाओं का प्रतिरूप मात्र थी, यह भी सत्य नहीं है। ईश्वर विषयक उन धारणाओं को उन्होंने आत्मसात् करके उनमें अपने निजीपन के साथ नवीनता जोड़ी जिनकी झाँकी हम यथास्थान देख चुके हैं। इन सन्त कवियों के पूर्व भारतीय दर्शन अपने गौरव के शिखर पर पहुँच कर अवनति के गर्त में जा चुका था। जो कुछ किसी भी दर्शन में कहने के योग्य था वह कहा जा चुका था। ईश्वर तथा परमात्मा के विषय में भी सभी आस्तिक तथा नास्तिक दर्शनों के विचार उपस्थित थे। सभी के ग्राह्य-विचारो का समन्वय हो चुका था तथा वे जनता द्वारा सर्वमान्य हो चुके थे। जन साधारण में वेदान्त ही दार्शनिक पिपासा को शान्त करने का माध्यम रह गया था। उस समय की सामाजिक तथा राजनैतिक स्थिति भी ऐसी थी कि वेदान्त का दर्शन ही उस पतन की अवस्था में आशा की किरण का कार्य कर रहा था। भारत में मुसलमानों का आगमन हो चुका था। वे पर्याप्त शक्तिशाली बन चुके थे तथा उनका एकछत्र साम्राज्य भी स्थापित हो चुका था। ऐसी परिस्थिति मे हिन्दी-सन्तों द्वारा प्रस्तुत ईश्वर विषयक धारणाओं में वेदान्ती सिद्धान्तों की प्रचुरता दिखाई देती है।

---

१. प्रभु गति जानि नाहीं जाइ।
कहै केतिक बुद्धि केहि मँह कहै को गति गाइ।
सेष संभू थके ब्रह्मा विष्णु तारी लाइ।
है अपार अगाध गति प्रभु केहू नाहीं पाइ।
भान गन ससि तीन चौथौ लियो छिनहिं बनाइ।
जोति एकै कियो विस्तर जहाँ तहाँ समाइं।
सीस देकै कहौं चरनन कबहुँ नहिं बिसराइ।
जग जीवन के सत्य गुरु तुम चरण की सरनाइ॥ जगजीवन, सं० बा० सं० भा० २, पृ० १३५

यद्यपि बाह्यरूप से अद्वैत तथा एकेश्वरवाद में विशेष अन्तर नहीं दिखाई पड़ता परन्तु वास्तव में उनमें महान् अन्तर है तथा कोई भी साम्य नहीं है। एकेश्वरवाद एक ही ईश्वर या कर्त्ता की सत्ता स्वीकार करता है परन्तु उस कर्त्ता से भिन्न असंख्य जीवों की भी वास्तविक सत्ता को मानता है जिनके कर्मों का वह फल देने वाला होता है तथा जिन पर वह दया आदि कर सकता है। इन जीवों का भी वह सृजनकर्त्ता है। अद्वैतवादी दर्शन एक परमात्मा के अतिरिक्त दूसरी किसी सत्ता के अस्तित्व को स्वीकार ही नहीं करता। उस परमात्मा से भिन्न न सृष्टि है, न जीव है, न और कुछ है। केवल परमात्मा ही सत्य है वही सब कुछ है तथा उससे भिन्न कोई या कुछ भी दूसरा नही है।

निर्गुणिया सन्तों ने जहाँ परमात्मा को एक कहा है, वहाँ भी वस्तुतः वह मुसलमानी पैगम्बरवाद या दार्शनिक एकेश्वरवाद के सिद्धान्तों के अनुसार नहीं कहा है। मुसलमान शासकों की कट्टरपंथी विचारधारा की गति मद करने के विचार से अथवा हिन्दू मुसलमानो में ईश्वर की धारणा के प्रश्न पर मत-भेद दूर करने के विचार से ईश्वर एक है यह विचार संतों ने प्रकट किये हैं। सत नामदेव के **एक अनेक वियापक पूरक जित देखौ तित साईं** में एक ईश्वर अथवा परमात्मा की सत्यता तथा सत्ता तो प्रतिपादित की गई है परन्तु वास्तव में वे उसे अद्वैत दर्शन की ही पृष्ठभूमि पर कहते हुए दिखाई पड़ते हैं जहाँ उस परमात्मा से भिन्न कुछ नहीं है और वह परमात्मा घट-घट में अनुस्यूत है अन्य किसी की वास्तविक सत्ता नही है। वह तो जल के बुदबुद या लहर के समान जल ही है। परमात्मा और जीव में कोई भेद नहीं है। **सो तैं ताहि तोहि नहि भेदा** से हमे उपनिषद के **तत्वमसिश्वेतकेतो** का बरबस स्मरण हो जाता है। जीव और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है। दोनो एक ही है। भेद केवल समझ का है जो कि स्वय मिथ्या है—**समुझें मिथ्या सोपि** सब परमात्मा ही है मानते हुए परमात्मा का अनेकत्व स्वीकार नहीं किया गया है।

बहुदेववाद सभ्यता के अनादिकाल से प्रचलित था। देवताओ का जन्म, प्रकृति की उद्दण्ड शक्तियों के दैवीकरण के रूप में हुआ था। आदि मानव की भयमिश्रित भावना उनकी पूजा एव शान्ति कराने की हेतु थी। धीरे-धीरे सभ्य मानव की उदात्त भावनाओं के फल-स्वरूप देवताओ को उनका कल्याणकारी लोकरंजक स्वरूप प्राप्त हुआ। परन्तु साथ ही साथ देवताओं को इन्द्रियों का तथा विषयों का स्वामी व प्रेरक होने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ। कबीर प्रभृति सतों ने बहुदेववाद का खण्डन ही किया है। संत तुलसी जैसे विद्वानों ने भी देवताओं को विषय-वासना आदि का अविरति प्रेरक होने के कारण निम्न स्थान ही दिया है।[1] देवताओं की उत्पत्ति भय से हुई थी तथा अत में उनका सम्बन्ध विषय विकारादि से जुड़ गया। देवी-देवताओं की पूजा भी भूत-प्रेतों की पूजा के साथ गिनी जाने लगी थी। संतों ने जहाँ परमात्मा को अनेक कहा है, वहाँ भासित अनेकरूपता के ही अर्थ में कहा है,

---

१. इन्द्रन्ह सुरन्ह न ज्ञान सोहाई। बिषय भोग पर प्रीति सदाई।८
इन्द्री द्वार झरोखा नाना तहँ सुर बैठे करि थाना।
आवत देखहिं बिषय बयारी ते हठि देहिं कपाट उघारी। तु० रा०, उ० का० ११७.६

बहुदेववाद के अर्थ में नहीं। जैसा कि हम उनके कथन में देख चुके हैं कि सभी जीव और सभी सृष्टि ईश्वरमय होने से उससे भिन्न नहीं है। यदि उस अनेकता को व्यावहारिक रूप ही में स्वीकार कर लें तो भी कम से कम उतने समय के लिए परमात्मा में भी अनेकता का आरोप हो जाता है। सागर से बिन्दु समूहों के सम्बन्ध की भाँति परमात्मा भी अनेक रूप है। सीय राममय सब जग जानकर ही तुलसी समस्त जगत को प्रणाम करते हैं। इसके अतिरिक्त यह अनेकता पारमार्थिक दृष्टि से स्वीकार नहीं की गई है।

परमात्मा को पुरुष के रूप में भी कल्पना का विषय बनाया गया है। जिस प्रकार पुरुष के अंग-प्रत्यंग दृष्टिगोचर होते हैं तथा उन अंगों या इन्द्रियों के कार्य अथवा गुण भी जाने जाते हैं उसी प्रकार सृष्टि के तमाम दृष्ट विषय उस परम पुरुष के अंग माने गये हैं तथा समाज में दृष्टिगोचर होने वाले मानसिक और दार्शनिक गुणों की कल्पना उन इन्द्रियों में की गई है। विश्वरूप रघुवंशमणि[1] तथा देखरावा मातहिं निज अद्‌भुत रूप अखण्ड, रोम रोम प्रति लागे, कोटि कोटि ब्रह्माण्ड[2] में इन्हीं कल्पनाओं को व्यक्त किया गया है। 'विश्वरूप' या 'विराट पुरुष' की कल्पना हिन्दी-संतों की अपनी निजी सम्पत्ति नहीं थी। वह उन्हें ऋग्वेद और गीता से पैत्रिक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुई थी। इस कल्पना की पृष्ठ-भूमि में दार्शनिक सिद्धान्त जो दृष्टिगोचर होता है वह यही कि समस्त स्थूल एवं सूक्ष्म सृष्टि उस परमात्मा का ही अग है। उसी स्थिति में उनकी सत्ता की वास्तविकता है, उससे भिन्न कोई भी वस्तु नहीं है। यद्यपि यह कल्पना इतनी स्थूल है कि अब के विचारक इसको अधिक महत्त्व नहीं देते फिर भी वैदिक काल के लिए निःसन्देह यह कल्पना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और प्रगतिमय रही होगी।

ईश्वर विषयक उपर्युक्त धारणाओं के अध्ययन के बाद उन अवांतर कारणों का देख लेना भी आवश्यक होगा जिनके कारण हिन्दी-संतों के उद्‌गार किसी एक सम्प्रदाय के ईश्वर विषयक विचार न होकर समस्त मानव-जाति के तद्‌विषयक विचार हो जाते हैं। दर्शन के विकासक्रम में सदैव पूर्व से पर में अन्तर आता जाता है। पूर्व की पृष्ठभूमि पर उससे प्रभावित होते हुए मनीषीगण पर में अपने विचार प्रस्तुत करते हैं। पूर्व की धारणाएँ परवर्तियों को प्रभावित करती हैं तथा उन धारणाओं के अनुकूल या प्रतिकूल स्वयं के विचारो की छाप लगाकर उन धारणाओं का स्वरूप उनके द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। यही क्रम निरन्तर चला करता है। इसी प्रकार का अंतर हम इन हिन्दी-संतों में अपने पूर्ववर्ती सम्प्रदायगत दर्शनों की अपेक्षा देखते हैं जिन दर्शनो से वे स्वय प्रभावित हुए प्रतीत होते हैं। जहाँ तक इस प्रकार के अन्तर का प्रश्न है वह आवश्यक भी है और स्वाभाविक भी। अर्ध-चेतन में पड़े हुए भाव स्वाभाविक प्रक्रिया के द्वारा स्वयं से भिन्न स्वरूप धारण करके सम्मुख आते हैं। उन्हें हम उनकी पृष्ठभूमि के साथ ही अधिक स्पष्टता से देख सकते हैं।

---

१. तु० रा०, लं० का० १४ से १५
२. तु० रा०, बा० का० २०१ से २०२

सभी रहस्यवादी ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध में एकमत हैं। ईश्वर है तथा वह उसके व्यक्तिगत प्रत्यक्ष अनुभव का भी विषय है। फिर उसके क्या मुख्य गुण हैं जिनसे वह पहिचाना जा सकता है ? उसका कार्यक्षेत्र क्या है ? उसे कैसे व्यक्त कर सकते हैं ?—आदि प्रश्नों के उत्तर में हम हिन्दी-संतों की वाणियों पर विचार करेंगे। परमात्मा घट-घट में विराजमान है। वह सब में व्याप्त है, उससे कोई रिक्त नही है। इस प्रकार वह व्यापक (Imminent) कहा गया है। परन्तु क्या इससे यह भ्रम हो सकता है कि वह घट-घट आदि व्याप्त विषयों के अतिरिक्त नहीं है तथा क्या यह भी सम्भव है कि वह कही पर न हो। इसका उत्तर यही है कि उपनिषद् में वर्णित वृत्वात्यतिष्ठद्दशांगुलम् के अनुसार वह सर्वत्र सबको व्याप्त करके उनसे भी अतिरिक्त है। वह सबका अतिक्रमण करता है। जहाँ तक देश अथवा काल का सम्बन्ध है वह सर्वत्र सबमें उपस्थित है। सारा स्थान उसका क्षेत्र है। वह व्यापक है परन्तु व्याप्य भी उससे भिन्न कुछ नहीं है। वह भी स्वयं परमात्मा ही है। यह प्रपच भिन्न दृष्टिगोचर होता हुआ भी वास्तव में ईश्वर रूप ही है। जिस प्रकार पुष्प में सुगन्धि व्याप्त है, उसका कोई भी अंश बिना सुगन्धि के नही है, उसी प्रकार जीव किसी प्रकार भी परमात्मा से शून्य नही है। मुकुर में मनुष्य अपना प्रतिबिम्ब देखता है। प्रतिबिम्बरूप में मनुष्य की सत्ता मुकुर में उपस्थित रहती है। इस हृदय के दर्पण में भी मानव देखने का प्रयत्न करे; परमात्मा का प्रतिबिम्ब तो उपस्थित है ही, वह स्वयं उसमें विराजमान है।

प्रत्येक के अंत: में निवास करने वाले अन्तर्यामी परमात्मा की हमें एक अन्य धारणा हिन्दी संतो में दृष्टिगोचर होती है। जिस प्रकार एक सूत्र में हजारों मणियाँ अनुस्यूत रहती हैं, परन्तु उनमें से प्रत्येक के अन्दर से जाने वाला सूत्र एक ही होता है तथा वही समस्त मणियों का धारक होता है। उसी प्रकार मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव मे व्यक्त परमात्मा समस्त जीवों को धारण करने वाला तथा सबके अन्दर विद्यमान है। परमात्मा के इसी सूत्र की भाँति सबमे अनुस्यूत धारणा का आगे चलकर सूत्रधार के रूप की धारणा में विकास हुआ है।

परमात्मा की व्यापकता तथा सत्ता पर विचार कर लेने के बाद परमात्मा के गुणों आदि पर विचार कर लेना अधिक समीचीन होगा। परमात्मा का कर्त्ता कौन है ? वह किस नाम या किन गुणों वाला है ? वह किस प्रकार जाना जा सकता है ? हिन्दी-संतों के अनुसार परमात्मा स्वयं-भू है। उस 'अनगढ़िया देव' का न कोई कर्त्ता है न कोई कारण। जन्म देश काल में किसी विशेष बिन्दु का द्योतक है जिसमें कि उत्पन्न अपनी सत्ता ग्रहण करता है। जन्म किसी जन्मदाता की भी अपेक्षा रखता है जो कि उसकी उत्पत्ति का कारण होता है परन्तु परमात्मा अजन्मा है और किसी की अपेक्षा नहीं रखता। आदि समय का वह बिन्दु है जिसमें कि कोई सत्ता ग्रहण करता है तथा अंत समय के उस द्वितीय बिन्दु का द्योतक है जिसमें कि किसी वस्तु का नाश हो जाता है। उस परमात्मा का न आदि है, न अन्त, न मृत्यु है, न जरा। उस अखण्ड का क्षय भी नहीं है, वह अक्षय है। यदि क्षय को किसी भी

गति से स्वीकार कर लिया जाय, वह कितना ही मन्द क्यों न हो तथा कितनी ही महान् वस्तु का क्यों न हो, समय के किसी न किसी बिन्दु पर उसका नाश अवश्य हो जायगा। परन्तु उस अविनाशी का न नाश है, न वृद्धि या क्षय है। कलावान् से तात्पर्य किसी वस्तु का चन्द्रमा की भाँति घटते या बढ़ते रहना है परन्तु उस परमात्मा के किसी प्रकार घटने-बढ़ने का कोई तात्पर्य नही है। कोई भी स्वयं अपने से अधिक नहीं हो सकता है।

जिस अर्थ में हम दृष्ट सृष्टि में रूप जानते हैं उस अर्थ में परमात्मा के कोई रूप नहीं है। उसके कोई आकार नहीं जिससे वह किसी अन्य से भिन्न जाना जा सके। वास्तव में जब किसी दूसरे की सत्ता ही नही है, कोई दूसरा है ही नहीं, तब किसी से भिन्न द्योतन करने से कोई तात्पर्य ही नहीं रहता। फिर भी संतों तथा विद्वानों ने निरन्तर बार-बार आंशिक रूप में भी उसी सत्य को व्यक्त किया है जिसे कि वह पूर्णता में भी व्यक्त कर चुके है। इस प्रकार परमात्मा का कोई भी आकार, रूप या वर्ण नहीं है जिसे देखकर वह पहचाना जा सके। वह चक्षुइन्द्रिय द्वारा किसी भी प्रकार ग्राह्य नही है। परमात्मा का कोई अपना विशेष नाम नही जिससे वह श्रवणेन्द्रिय का विषय बन सके। यद्यपि 'नाम' के प्रकरण में परमात्मा के अनन्त नामों की धारणा पर हम विचार करेंगे परन्तु दोनों के वास्तविक अर्थ तथा स्तर में समानता नहीं होगी।

यदि गुणों को परमात्मा का परिचायक माना जाय तो वह भौतिक मलरहित, विकाररहित, या मनोवैज्ञानिक अथवा आध्यात्मिक दृष्टि से निर्विकार, निर्मम, निर्मोह, निरीह तथा निर्दोष है। मनुष्य में मनोवैज्ञानिक स्तर पर इच्छा, मोह, ममता, विकार, दोष आदि वृत्तियाँ पाई जाती हैं तथा स्थूल में भी मल, विकार, दोष आदि दृष्टिगोचर होते हैं। परमात्मा मे इन सभी का अभाव है, वह स्थूल और सूक्ष्म सबसे भिन्न, प्रकृति से परे है। लौकिक अर्थ मे जो हम प्रकृति से जानते हैं उससे भिन्न तथा सांख्य दर्शनगत प्रकृति से भी भिन्न, जिसकी झाँकी हमें, **मूल प्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः।**—में पाते हैं उससे भी भिन्न ईश्वर है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों प्रकृति रूप से माने जाने से सत्य हो सकते है परन्तु हिन्दी-संतों का परमात्मा पिण्ड ब्रह्माण्ड दोनों से भिन्न एवं परे, मन बुद्धि किसी के द्वारा न जाना जा सकने वाला है।

इस प्रकार 'नेति नेति' के आधार पर नकारात्मक ढंग से परमात्मा को गुण, रूप, सीमा आदि से अग्राह्य कहा गया है। परन्तु इससे न साधक को ही संतोष होता है और न वास्तविकता का ही द्योतन होता है। साधक उस महान् की महिमा को मानता है तथा उसे वह व्यक्तिगत भक्ति के आराध्य-नायक के रूप में ग्रहण करता है। वास्तव में परमात्मा का वर्णन हो ही नहीं सकता परन्तु अपनी वाणी को पवित्र तथा सुफल करने के हेतु कविगण उसका वर्णन करके स्वांतःकरण को सुख प्रदान करते हैं।[1] उसका रहस्य साधारण अथवा तीव्र

---

१. तु० रा०, बा० का० १२० से १२२, १३६ से १४१, बा० का०, मंगलाचरण ७

किसी प्रकार की बुद्धि के माध्यम से जाना नहीं जा सकता है। लोक में हम जो भेद देखते हैं वह परमात्मा में समाप्त हो जाते हैं। यूनानी दार्शनिक Heraklcitos ने ठीक ही कहा है कि 'In the world exist dualities but in the God dualities disappear' जगत के समस्त द्वित्व भगवान् में एकाकार हो जाते हैं तथा परस्पर विरोधी गुणों का उस निर्गुण में समाहार हो जाता है। इसीलिए सन्तो ने परमात्मा में उन गुणों का आरोप किया है जो कि अपनी उपस्थिति से, भासित द्वित्वों को पूर्ण करने वाले होते हैं। भक्तों के दृष्टिकोण से वे ही उनके आश्रय व शक्ति के स्रोत हैं।

स्वयं निर्गुण होता हुआ भी समस्त गुणों का मूल परमात्मा ही है। ज्ञान, मन, बुद्धि का विषय न होता हुआ भी निर्विकार तथा निष्क्रिय कहा जाता हुआ भी, विज्ञान स्वरूप परमात्मा ही समस्त सृष्टि का कर्त्ता है। सारी सृष्टि परम रचयिता परमात्मा के द्वारा ही सम्भव है। यह कर्तृत्व भी परमात्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में एक प्रमाण है। वह सृष्टि का कर्त्ता तो है ही, समस्त ज्ञान एवं कर्मों का अलौकिक आचरण भी बिना इन्द्रियों के ही सम्पन्न करता है। उसके उन कर्मों एवं ज्ञान का क्षेत्र असीम है। वह सभी कुछ जानने वाला तथा सब कुछ करने वाला है।

हम देख चुके हैं कि परमात्मा सूत्र की भाँति सबमें अनुस्यूत होकर उनको धारण करने वाला है। अब हम परमात्मा की सूत्रधार की धारणा पर विचार करेंगे। तुलसीदास ने राम सूत्रधार अंतर्यामी के द्वारा परमात्मा राम को सूत्रधार की भाँति सबके कर्मो का प्रेरक तथा पूर्णतया नियन्त्रित करने वाला कहा है। कठपुतली के नृत्य में सब कठपुतलियों के अन्दर से जाता हुआ सूत्र सूत्रधार के हाथ में रहता है तथा वह उन लकड़ी के खिलौनो से मनचाहा नृत्य कराता है। प्रतीत यह होता है कि कठपुतलियाँ स्वय अपनी प्रेरणा या शक्ति के द्वारा विभिन्न कृत्य कर रही हैं परन्तु वास्तव में कर्त्ता कोई और है और वह है सूत्रधार। इसी प्रकार मनुष्य स्वयं कर्त्ता नहीं है। कर्त्ता सूत्रधार परमात्मा है। मनुष्य तो निमित्त मात्र है जिसे बरबस कार्य करना पड़ता है तथा उसे कर्तृत्व का श्रेय प्राप्त होता है।

अंतर्यामी सूत्रधार परमात्मा की धारणा हमें आचारशास्त्र में उस स्थान पर पहुँचा देती है जहाँ किसी शुभाशुभ कर्म के लिए व्यक्ति उत्तरदायी नहीं रह जाता। ऐसी स्थिति रहस्यवेत्ता सत्पुरुषो के लिए तो सत्य हो सकती है, परन्तु जनसाधारण के लिए जिसे कि परमात्मा की प्रेरक शक्ति वास्तविक सचेतन प्रेरणा देती नहीं प्रतीत होती, मान्य सिद्धान्त के रूप में नही ग्रहण की जा सकती। जिसे परम सत्य का साक्षात्कार हो गया है उसके लिए अवश्य कोई कार्य स्वय का किया न होकर परमात्मा की ही कृति होता है। गीता में भी श्रीकृष्ण ने स्वयं अपने द्वारा ही समस्त विनाश करने के कारण अर्जुन को निमित्त मात्र होकर युद्ध करने का आदेश दिया है। परमात्मा केवल साधारण मनुष्यों या जीवों का सूत्रधार नहीं है। वह ब्रह्मा, विष्णु, महेश जैसे त्रिदेवों को भी नचाने वाला है। माया, जीव, जगत, काल, स्वभाव सभी का वह शासक है। माया और अज्ञान ही जीव के जगत में बन्धन का कारण माने गये हैं। परमात्मा उस माया और अज्ञान का शासक है। उसी की कृपा से उस

माया तथा अज्ञान का प्रसार दूर होता है और जीव अपनी वास्तविक स्थिति परमात्मा को प्राप्त करता है। अज्ञान के भ्रम को नाश करके, परम सुख देने वाला कार्य परमात्मा किसी बदले के रूप में नहीं देता। वह अपनी सहज कृपालुता के वश यह उपकार करता है और भक्त को स्वयं अपना ज्ञान करा देता है।

वह महान, अमोघ-शक्ति-सम्पन्न परमात्मा घट-घट में निवास करता हुआ प्रत्येक श्वास में व्याप्त होकर सबका परम प्रकाशक है। वही अंतःकरण में ज्ञान के प्रकाश का मूल तथा जगत में भौतिक प्रकाश एवं शक्ति का स्रोत है। उसकी यह बुद्धिमत्ता जिससे कि उसने इस सम्पूर्ण सृष्टि की रचना की है, तथा बहुत्व में एकत्व की व्यवस्था की है, बुद्धि द्वारा अतर्क्य एवं मन द्वारा अग्राह्य है। उसे कोई किसी प्रकार भी जानने-समझने में समर्थ नहीं है।

उसकी भाव-ग्राहकता ही जनकल्याण की जननी है। इस भाव-ग्राहकता को ही आधार बनाकर समस्त संतवर्ग परमात्मा की कृपाकोर का काक्षी होता है। यही उसे वह प्रेरणा देने वाली धारणा है जिसके द्वारा वह पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हुए बिना और स्वयं अपनी त्रुटियों तथा दोषों से परिचित किंवा विचलित होते हुए भी परमतत्त्व की प्राप्ति तथा अपने समस्त अवगुणो एवं बन्धनों के कारणों से मुक्ति की आशा करता है।

परमात्मा के इसी वैयक्तिक भावनागत सम्बन्ध तथा सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न प्रतिक्रियाओं ने अवतारवाद के दर्शन को जन्म दिया है। निर्गुण से भला कोई कैसे सम्बन्ध जोड़े। शुष्क ज्ञान भावनाओं को सन्तुष्ट नहीं कर सकता। **हरि अवतार हेतु केहि होई** यह तो पूरी तरह बता सकना सम्भव नहीं है। परन्तु जब-जब धर्म की हानि होती है तथा अधर्मियों की वृद्धि होती है तब-तब परमात्मा को अपने भक्तों की रक्षा एवं उद्धार के लिए जन्म लेना पड़ता है। अवतार के अन्य कारण भी हैं। परमात्मा स्वयं अपने नियमों की शृंखला से बद्ध है और वह उनकी रक्षा के लिए अपने को स्वयं मनुष्य आदि शरीरों मे बद्ध करता है। संतों में अवतारवाद, उसकी वास्तविक सत्ता आदि के विषय में काफी मतभेद रहा है। अवतारवाद का किसी संत द्वारा चाहे जितने कटु शब्दो में विरोध किया गया हो परन्तु वह स्वय उसकी परम्परा में ही अधिक दिन तक नही चल सका। मनुष्य की व्यक्तिगत भावना तथा सहानुभूति ने परम्परा से भिन्न किसी दूसरे अवतार की ही रचना कर डाली। कबीर के अनुसार—

> **नां दसरथ घर अवतरि आवा, नां लंका का राव सतावा।**
> **देवै कूख न औतरि आवा, नां जसवै लै गोद खिलावा।**
> **ना वो ग्वालन कै संग फिरिया, गोबरधन ले न कर धरिया।**
> **बावन होय नहीं बलि छलिया, धरनी वेद लेन उधरिया।**
> **गण्डक सालिग राम न कोला, मच्छ कच्छ ह्वै जलहि न डोला।**
> **बदरी बैसि ध्यान नहि लावा, परसराम ह्वै खत्री न सतावा।**
> **द्वारामती सरीर न छाड़ा, जगननाथ ले प्यण्ड न गाड़ा।**

क० ग्र०, पृ० २४२

इस प्रकार कबीर ने परमात्मा को किसी भी अवतार के द्वारा वर्णित सत्य नहीं कहा। परन्तु उनकी मृत्यु के थोड़े दिन बाद ही कबीर-पंथियों ने उन्हें स्वयं· अवतार बना दिया। यही हाल गुरु नानक या अन्य धार्मिक क्रातिकारियों का भी हुआ। तुलसी जैसे संत (भक्त) आदि ही इस वितर्क से मुक्त रहे तथा स्थान-स्थान पर अवसर-अवसर पर दशरथ-सुत राम में ही अपनी भावनानुरूप परमात्मा के समस्त गुणों का आरोप करके अपनी मानवीय भावनागत आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहे और बौद्धिक आवश्यकताओं की भी। परब्रह्म परमात्मा ही भक्तों की विनय स्वीकार कर सन्तों एवं देवों के रक्षार्थ पृथ्वी का भार उतारने के लिए उनके इष्टदेव राम के रूप में अवतरित हुए थे। जिससे कि उनके भक्त मोक्षसुख की भी परवाह न करके उनके सान्निध्य का आनन्द लाभ कर सकें।

हिन्दी-साहित्य के निर्गुण सन्त-कवियो अथवा सगुण भक्त-कवियों की भावाभिव्यक्तियों पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि भगवान् की भक्तवत्सलता के विषय में किसी प्रकार का मतवैभिन्न्य उनमें नही है। भगवान् भक्तों पर स्नेह रखने वाले, उनको कष्टों से छुड़ाने वाले तथा हर प्रकार से उनके परम हितैषी हैं। इसके अतिरिक्त निर्गुण मार्गी एव सगुण मार्गी कवियों में परमात्मा विषयक जो तत्त्व समान रूप से सबमें पाया जाता है, वह है परमात्मा की अनुभवगम्यता तथा अनिर्वचनीयता। परम सत्य के स्वरूप का वर्णन नहीं किया जा सकता। न वह बुद्धिइन्द्रिय अथवा कल्पना का ही विषय है। यदि वह किसी का विषय हो सकता है और अवश्य ही है तो वह है प्रत्यक्ष-अनुभव का और यह वही प्रत्यक्ष-अनुभव अथवा साक्षात्कार है जो कि रहस्यवाद का प्रधान एवं मूलतत्त्व है।

सप्तम परिच्छेद

नाम

साधना के पथ में जप अथवा नाम-स्मरण का विशेष स्थान है। वैदिककालीन भारत में भी किसी न किसी रूप में जप का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। वैदिक दीक्षाएँ, गायत्री जप व उपांशु जप इसी प्रकार के हैं। स्मृतिकारों ने साधारणतया तीन प्रकार के जप का उल्लेख किया है। ये तीनों प्रकार हैं: वाचिक, उपांशु तथा मानस।[1] वाचिक जप: उच्च-नीच तथा स्वरित भेद से जिसमें मंत्रों का स्पष्ट उच्चारण किया जाय वह वाचिक जप यज्ञ है।[2] उपांशु: उपांशु जप वह मंद स्वर में उच्चरित मंत्र है जिसमें केवल ओष्ठ मात्र हिलते हैं। इस जप में शब्द स्पष्ट नहीं होता है।[3] मानस: मानस जप वर्ण तथा पदों के भेद से बुद्धि के द्वारा मंत्र का अर्थ समझते हुए स्मरण किया जाता है।[4] मानस में जिह्वा अचल होनी चाहिए।[5] ये तीनों प्रकार के जप क्रमशः उत्तरोत्तर श्रेष्ठ माने गये हैं।[6] वाचिक जप से उपांशु जप श्रेष्ठतर है तथा उपांशु से भी मानस श्रेष्ठतर है। यही नहीं, यदि उच्चस्वर के स्मरण का फल एक गुना है तो ध्वनि वाले का दस गुना, उपांशु का सौ गुना तथा मानस का सहस्र गुना है।[7] मनु ने यही क्रम विधि-यज्ञ को इकाई मानकर प्रस्तुत किया है। मनु के अनुसार यदि विधि यज्ञ का फल एक गुना है तो जप यज्ञ का दस गुना, उपांशु का

---

१. त्रिविधो जप यज्ञः स्यात्तस्यभेदं निबोधत।
वाचिकाख्य उपांशुश्च मानसस्त्रिविधः स्मृतः॥
जपस्तु त्रिविधः प्रोक्तः स तूच्चोपांशु मानसः॥ — दि गास्पेल आफ डिवाइन लव, पृ० १५२

२. यदुच्चनीचस्वरितैः स्पष्टैः स्पष्टपदाक्षरैः॥
मंत्रमुच्चारयेद् वाचा जपयज्ञः स वाचिकः॥ — दि गास्पेल आफ डिवाइन लव, पृ० १५२

३. शनैरुच्चारयेन्मंत्रानीषदोष्ठौ प्रचालयन्।
किंचित् शब्दं स्वयं विद्याद् उपांशुः स जपः स्मृतः॥
ओष्ठस्पन्दन मात्रेण यत्तूपांशु तदध्वनि। — दि गास्पेल आफ डिवाइन लव, पृ० १५२

४. धिया यदक्षरश्रेण्यां वर्णाद्वर्णं पदात् पदम्।
मंत्रार्थं चिंतनाभ्यासो मानसो जप उच्यते।
कृत्वा जिह्वा निर्विकल्पां चिन्तयेत्तद्धि मानसम्। — दि गास्पेल आफ डिवाइन लव, पृ० १५२

५. यो भवेदचलजिह्वो दशनावरणो जपः
स मानसः समाख्यातो जपश्रुतिविभूषणैः॥ — दि गास्पेल आफ डिवाइन लव, पृ० १५२

६. त्रयाणां जप यज्ञानां श्रेयान् स्यादुत्तरोत्तरम्।
उच्चादुपांशुरुत्कृष्टः उपांशोरपि मानसः। — दि गास्पेल आफ डिवाइन लव, पृ० १५२

७. उच्चैस्त्वेक गुणः प्रोक्तो ध्वानो दशगुणः स्मृतः
उपांशुःस्याद् शतगुणा सहस्रो मानसः स्मृतः॥ — दि गास्पेल आफ डिवाइन लव, पृ० १५२

सौ गुना तथा मानस का गुण सहस्र गुना है।[1] विधि यज्ञ सहित चारों यज्ञ, जप यज्ञ की सोलहवीं कला तक भी नहीं पहुँचते।[2] गीताकार ने भी भगवान् की विभूतियों का वर्णन करते हुए 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' के द्वारा जप की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है।[3] स्मृतिकारों ने जप के तीन अथवा चार प्रकारों का उल्लेख किया है। उन्होंने जपों का स्वरूप निश्चित करके उनका मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। दस, सौ, हजार आदि संख्याओं का प्रयोग गणितज्ञ के दृष्टिकोण से नहीं हुआ है वरन् उनका प्रयोग बाह्य जप की अपेक्षा मानस जप को अत्यधिक महत्त्व प्रदान करने के लिए किया गया है।

भौतिक अथवा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखने पर वाचिक या उच्चस्तरीय जप भौतिक स्वरूप में प्राणी के गले की ध्वनितंत्री (वोकल कार्ड) द्वारा वायु में उत्पन्न तरंग मात्र हैं। उन तरंगों के साथ लगा हुआ जापक का मनोभाव ही जप का मुख्य आधार है। हर्ष, शोक एव भय आदि मे भी मनुष्य नाद, ध्वनि या वर्ण उच्चारित करता है, परन्तु वह जप नहीं कहा जायगा। किसी भी शब्द के उच्चारण के साथ व्यक्ति में एक मनोभाव उत्पन्न होता है वही उच्चारण के अर्थ का व्यंजक होता है। जहाँ तक स्मरण का सम्बन्ध है, चाहे वह किसी भी वस्तु या भाव का क्यों न हो अपने साथ लगे हुए पूर्वगामी भावों के (अर्थ के) बाद ही होता है। नामजप या स्मरण के साथ भी यही स्थिति है। स्मरण या जप पागल का प्रलाप नहीं है। वह किसी एक विशिष्ट भावना की पुनः पुनः आवृत्ति है। महर्षि पतंजलि ने 'तज्जपस्तदर्थभावनम्'[4] के द्वारा यही भाव व्यक्त किया है। उसका जप ही उसकी भावना है। परन्तु किसका जप, इसका समाधान वह पूर्ववर्ती सूत्रों द्वारा पहले ही कर चुके हैं। पतंजलि ने 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः'[5] के द्वारा ईश्वर के स्वरूप को निश्चित करके 'तस्य वाचक: प्रणवः'[6] के द्वारा प्रणव मे ईश्वर के स्वरूप भावना की स्थापना की है। इस प्रकार 'प्रणव' के द्वारा ईश्वर के गुण रूप सभी का समुच्चय पतंजलि की कल्पना में विद्यमान हो गया।

वाचिक जप में मनुष्य, भावना पर समस्त शक्ति केन्द्रित न करके, अधिक शक्ति बाह्य उच्चारण की क्रिया में लगाता है। उपांशु में भावना पर बल अधिक हो जाता है, क्रिया में कम तथा मानस में बाह्यक्रिया का सर्वथा अभाव ही हो जाना चाहिए, केवल भावना शेष रह जानी चाहिए। उसी भावना की केवल स्थिति समाधि होती है।

---

१. विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुस्याच्छत गुणः सहस्रो मानसः स्मृतः॥ मनु० २।८५

२. ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः।
सर्वे ते जप यज्ञस्य कलानार्हन्ति षोडशीम्॥ मनु० २।८६

३. गी० १०।२५

४. यो० सू० १।२८

५. यो० सू० १।२४

६. यो० सू० १।२७

जप का विषय तथा जप का स्वरूप निश्चित कर लेने के पश्चात् योगसूत्र में उस जप का फल प्रदर्शित करते हुए कहा गया है कि स्वाध्याय से इष्ट-देवता का साक्षात् होता है।[१] यहाँ पर स्वाध्याय मंत्र-जप-रूप में प्रयुक्त हुआ है। सूत्र पर भोजवृत्ति के अनुसार इष्ट मंत्र के जप-रूप स्वाध्याय के सिद्ध होने पर योगी को इष्ट देवता का योग होता है। अर्थात् देवता का प्रत्यक्ष होता है।[२] तथा जप की अन्य साधनों की अपेक्षा महत्ता "ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च"[३] के द्वारा प्रतिपादित करते हैं। उसमें प्रत्यक् चेतना का ज्ञान भी होता है तथा विघ्नों का अभाव भी होता है। इस प्रकार पतंजलि ने जप को भगवत्प्राप्ति का बहुत ही उपादेय साधन माना है तथा उसे सैद्धान्तिकता प्रदान की है।

बुद्ध-दर्शन की साधना के अन्तर्गत मंत्रत्रय एक स्वीकृत तथा महत्त्वपूर्ण अंग माना गया है। महायान सूत्रान्तर्गत सन्दर्भ पुण्डरीक में तो अवलोकितेश्वर के नाम लेने मात्र से सब कुछ, निर्वाण तक, संभव माना गया है। तिब्बत की साधना-परम्परा में नाम-जप अभी तक विद्यमान है। मंत्र-जप की महत्ता तथा अमोघता पर सभी तंत्र चाहे वे वैष्णव या शैव, शाक्त अथवा बुद्ध हों एक मत से विश्वास करते है।[४]

वैदिक काल में मंत्रों का जप उसका अर्थ एवं उसकी भावना के साथ होता रहा। पतजलि ने भावना पर विशेष बल दिया परन्तु तंत्रों में मंत्रों के अर्थ पर से सारा महत्त्व हट कर केवल भावना तथा श्रद्धापूर्वक जप पर आ गया। हिन्दी-काव्य पर पुराणों तथा तंत्रों का ही विशेष रूप से प्रभाव पड़ा है। नाम-जप या मंत्र-जप के सम्बन्ध में भी तंत्रयुग में प्रचलित भावना का स्पष्ट दर्शन हम तुलसी-साहित्य में भी पाते हैं।[५] जो विचार तुलसी ने शाबर मंत्र समूह के लिए व्यक्त किये है वही भाव अन्य तंत्रों की मंत्र-रचना तथा उनके किसी अर्थ के द्योतक न होने में प्रतिनिधि रूप में ग्रहण किये जा सकते हैं। केवल श्रद्धा से जप करने मात्र से कोई स्वर-समूह फलदायक हो सकता है।

तन्त्रों में विचार व भाव सूक्ष्मता के साथ व्यक्त किये गये। सूत्रों की तुलना में वे पर्याप्त स्पष्ट थे परन्तु बृहत्काय महापुराणों की तुलना में तंत्रों में उतना विशद विवेचन सम्भव नहीं था। सूत्रों ने केवल इंगित किया, तन्त्रों ने उसके मुख्य विषय को स्पष्ट किया परन्तु पुराणो ने उसी को अत्यन्त विस्तार के साथ उपमाओं आदि के द्वारा सर्वग्राह्य व रोचक बना कर प्रस्तुत किया।

---

१. स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः। योο सूο २।४४

२. योग प्रदीप पतंजलि, पृο ३६२

३. योο सूο १।२६

४. कल्याण वर्ष १५ अंक १
कल्याण वर्ष ३२ अंक १

५. कलि बिलोकि जगहित हर गिरिजा। साबर मंत्रजाल जिन्ह सिरिजा।
अनमिल आखर अरथ न जापू। प्रकट प्रभाउ महेस प्रतापू॥ तुο राο, बाο काο, १४।३

विष्णु-पुराण में कहा गया है कि जो सतयुग में ध्यान, त्रेता में यज्ञ, द्वापर में पूजा के द्वारा प्राप्त होता है वही कलियुग में हरिकीर्तन से मिल जाता है।[1] ध्यान, यज्ञ, पूजा परमार्थ के लिए सभी उपादेय हैं, यह सर्व स्वीकृत है। पुराणों के द्वारा कीर्तन को भी उसी श्रेणी में स्थान दिया गया है। भागवत पुराण में स्मरण नवधा भक्ति के एक भेद के रूप में ग्रहीत हुआ है।[2] जपों के भेद में हम देख चुके हैं कि जप वाचिक हो सकता है, उपांशु हो सकता है तथा मानस हो सकता है। नवधा भक्ति में कीर्तन वाचिक जप-यज्ञ के समीप आता है तथा स्मरण मानस जप के समीप। इस प्रकार कीर्तन तथा स्मरण दोनों ही शास्त्रीय जप के अनुकूल ही हैं।

विष्णु पुराण की ही भाँति भागवत में भी कलियुग की गुण महिमा इसलिए मानी गई है कि कलियुग में कृष्ण के कीर्तन से ही मनुष्य निःसंग होकर मुक्ति प्राप्त कर लेता है।[3] जब कि सतयुग में ध्यान से, त्रेता में यज्ञ से तथा द्वापर में भगवत परिचर्या से वही फल प्राप्त होता है।[4] जो मनुष्य गिरते-पड़ते, फिसलते, दुःख भोगते, अथवा छींकते समय विवशता से भी नाम उच्चारण कर लेता है वह सब पातकों से मुक्त हो जाता है।[5] भगवान् के किसी एक नाम-उच्चारण मात्र से सारे कर्मबन्धन छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, परन्तु कलियुग के प्रभाव से ही लोग उस भगवान् की आराधना से विमुख हो जाते हैं।[6] स्कन्दपुराण तथा पद्मपुराण में कहा गया है कि जिसने एक बार भी 'हरि' इन दो अक्षरों का उच्चारण कर लिया वह मोक्ष तक पहुँचने के लिए मानो कटिबद्ध हो गया।[7] पद्मपुराण के अनुसार यदि मनुष्य ने श्री हरि के नाम का आश्रय ग्रहण कर लिया तो उसे अन्य मंत्रों के जप की क्या आवश्यकता।[8] इसी प्रकार की भावना

---

१. ध्यायन्कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरे ऽर्चयन् ।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम् ।। कल्याण वर्ष २९ सं० १, पृ० ७५, विष्णु पु० ६, २, १७

२. श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम् ।
अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् । भा० ७, ५, २३

३. कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः ।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंगः परं व्रजेत् ।। भा० १२, ३, ५१

४. कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ।। भा० १२,३,५२

५. पतितः स्खलितश्चार्तः क्षुत्वा वा विवशोब्रुवन ।
हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात् ।। भा० १२, १२, ४६

६. यन्नामधेयं म्रियमाण आतुरः, पतन् स्खलन् वा विवशो गृणन् पुमान् ।
विमुक्तकर्मार्गल उत्तमां गतिं प्राप्नोति यक्ष्यन्ति न तं कलौ जनाः ।। भा० १२, ३, ४४

७. सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम् ।
बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति ।। कल्याण वर्ष २९ सं० १, पृ० ८७,
स्क० पु० प्र० ख० ३१७।१८ पद्म० पु० ८१।१६४

८. हरिभक्तिसुधां पीत्वा उल्लंध्यो भवति द्विजः ।
किं जपैः श्रीहरेर्नाम गृहीतं यदि मानुषैः ।। कल्याण वर्ष २९ सं० १, पृ० ९५, पद्म०पु० ख० ६१, ८

साधना की प्रवृत्ति को मंत्र-जप से केवल नाम-जप की ओर अग्रसर करने वाली है। अनिच्छा से भी लिये हुए हरिनाम से पाप-समूह उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे एक चिनगारी से शुष्क घास का ढेर।[1] जिसकी जिह्वाग्र पर हरि इन दो अक्षरों का निवास है उसे विष्णुलोक प्राप्त होता है तथा उसकी मुक्ति हो जाती है।[2] भागवत के टीकाकार श्रीधर स्वामी ने कहा है—सम्पूर्ण जगत का मंगलकारक भगवान् श्रीहरि का नाम सर्वोपरि विराजमान है। एक बार प्रकट होने पर वह अखिल विश्व की समस्त पापराशि को उसी प्रकार नाश कर देता है, जिस प्रकार भगवान् सूर्य अन्धकार के सागर को नष्ट कर देते हैं।[3]

भगवन्नाम कौमुदी में श्री लक्ष्मीधर की उक्ति है :—"अनादि संसार में अनन्त जन्मों के निरन्तर संचित किये हुए महान् पापों से मेरे हृदय में कालिमा जम गई है, परन्तु वह आपके नामरूपी प्रचण्ड अग्नि के, उदर में तृण के एक टुकड़े के समान भी नहीं हो सकती जब कि आपका नाम पर्वतो को भी भस्म कर देने वाले महान् प्रलयानल के सदृश है।[4] यह एक नामरूपी मंत्र दीक्षा, दक्षिणा, पुरश्चरण आदि का तनिक भी विचार नहीं करता। यह मत्र जिह्वा का स्पर्श होते ही सबके लिए पूर्ण फलदायक होता है।[5] वाणीविहीन मूक के अतिरिक्त चाण्डाल से लेकर उच्चकुलजन्मा सभी के लिए सुलभ है।[6] चैतन्य महाप्रभु का कथन है : भगवन् ! आपने अपने अनेक नाम प्रकट किये तथा उन नामों में अपनी सम्पूर्ण शक्ति निहित करदी है। स्मरण में कोई कालाकाल का भी विचार नहीं रखा है।[7] उनकी यह अभिलाषा है कि कब वह सुअवसर आवेगा जब कि नाम ग्रहण करते समय उनके दोनों नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित हो पड़ेगी, हर्षातिरेक से कंठ अवरुद्ध हो जावेगा तथा पुलक से शरीर

---

१. हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।
अनिच्छायापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः ॥ कल्याण, वर्ष २९, सं० १, पृ० १२७, ना० पू० ११, १००

२. जिह्वाग्रे वसते यस्य हरिरित्यक्षर द्वयम्।
स विष्णुलोकमाप्नोति पुनरावृत्ति दुर्लभम् ॥ कल्याण, वर्ष, २९, सं०१, पृ० १२७, ना०पू०११, १०१

३. अंहः संहरदखिलं सकृदुदयादेव सकल लोकस्य।
तरणिरिव तिमिरजलधिं जयति जगन्मगल हरेर्नाम ॥ श्रीधर स्वामी, कल्याण, वर्ष २९, सं० १, पृ०१४३

४. अनादौ संसारे निरवधिकजन्मस्वविरतै-
र्महाघैरेवान्तश्चितकलुषताया हि दहनम्।
महीध्राणां भस्मीकृतिगहन संवर्तशिखिनी।
भवनाम्नः कुक्षेः कियदिव हरे खण्डनलवत् ॥ भगवन्नाम कौमुदी, लक्ष्मीधर, कल्याण, वर्ष २९, सं० १, पृ० १४६

५. नो दीक्षा न च दक्षिणां न च पुरश्चर्या मनागीक्षते।
मन्त्रोऽयं रसनास्पृगेव फलति श्री रामनामात्मकः ॥ लक्ष्मीधर, कल्याण, वर्ष २९, सं १, पृ० १४७

६. आकृष्टिः कृतचेतसां सुमहतामुच्चाटनं चांहसा।
माचान्डालममूकलोकसुलभो वश्यश्च मोक्षश्रियः ॥ लक्ष्मीधर, कल्याण वर्ष २९, सं० १, पृ० १४७

७. नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति।
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः। चैतन्य, कल्याण, वर्ष २९, सं० १, पृ० १६३

रोमांचित हो उठेगा ।[1] सनातन गोस्वामी, नामानन्द रूप मुरारि की वन्दना करते हैं जिसके नाम के जिह्वा पर आ जाने से पूजा-ध्यान, स्वधर्म-पालन आदि समस्त प्रयत्न छूट जाते हैं ।[2] रूप गोस्वामी की जिह्वा पर 'कृष्ण' यह—दो अक्षरों का नाम—जब नर्तन करने लगता है तब उनकी ऐसी इच्छा होती है कि उनके करोड़ो जिह्वाएँ हो जायें । उस नाम के कानों में प्रवेश करते ही ऐसी लालसा होती है कि कोटिशः कान हो जायँ । जब वह नामसुधा चित्त-प्रांगण में प्रविष्ट होती है तब समस्त इन्द्रियो की वृत्तियों को हर लेती है तथा चित्त सब कुछ भूलकर नामसुधा में निमग्न हो जाता है । न जाने इस नामसुधा की सृष्टि कितने प्रकार के अमृतों से हुई है ।[3]

कृष्ण यह दो अक्षर पापरूपी पर्वतों को विदीर्ण करने के लिए सिद्ध औषधि है । मिथ्या ज्ञानरूपी रजनी के महान् अंधकार को समूल नष्ट करने के लिए सूर्योदय के समान हैं, क्रूर क्लेश-रूपी वृक्षों को भस्मीभूत करने के लिए प्रचण्ड ज्वालाओं से प्रज्वलित अग्नि हैं, तथा परमानन्द निकेतन के मनोहर द्वार हैं ।[4]

मध्यकालीन हिन्दी-रहस्यवादी कवियों के नामस्मरण विषयक विचारो के पूर्व जप अथवा नामस्मरण सम्बन्धी विचारों की एक परम्परा प्राप्त होती है, जिसका प्रभाव अवश्य ही हिन्दी-सन्तों व भक्तों पर पड़ा । वाचिक जप या मानसिक जप, स्मरण का फल तथा उसका महत्त्व और सबसे अधिक उसका आनन्द, जो कि हिन्दी-सन्तों एव भक्तों को भी मान्य था, पूर्ववर्ती संस्कृत साहित्य से उन्हें, उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ । हिन्दी-संतो ने ही नही संसार के सभी संतों तथा रहस्यवादियों ने नामस्मरण को अत्यन्त महत्त्व प्रदान किया है । ईश्वर प्रकरण में हम देख चुके हैं कि वह अनाम है, उसका कोई एक विशेष नाम नही है फिर भी सभी नाम उसी के हैं तथा वह अनन्त नामों वाला है । तो फिर नाम है क्या, किस नाम

---

१. नयनं गलदश्रुधारया, वदनं गद्‌गद रुद्धया गिरा ।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा, तवनामग्रहणे भविष्यति ।। चैतन्य, कल्याण वर्ष २९, सं० १, पृ० १६३

२. जयति जयति नामानन्दरूपं मुरारे विरमित निजधर्मध्यान पूजादियत्नम् ।
कथमपि सकृदात्तं मुक्तिदं प्राणिनां यत् परमममृतमेकं जीवनं भूषणं मे ।। सनातन गोस्वामी, कल्याण वर्ष २९, सं० १, पृ० १६५, वृहद्‌भागवतामृत १, १, ९

३. तुण्डे ताण्डविनी रतिं वितनुते तुण्डावली लब्धये
कर्णक्रोडकडम्बिनी घटयते कर्णार्बुदेभ्यः स्पृहाम ।
चेतः प्रांगणसंगिनी विजयते सर्वेन्द्रियाणां कृतिं ।
नो जाने जनिता कियद्भिरमृतैः कृष्णेति वर्णद्वयी ।। रूप गोस्वामी, कल्याण वर्ष २९, सं० १, पृ० १६६, विदग्ध माधव १.३३

४. वज्रं पापमहीभृतां भगवदोद्रेकस्य सिद्धौषधं ।
मिथ्याज्ञाननिशाविशालतमसस्तिग्मांशु बिम्बोदयः ।
क्रूर क्लेश महीरुहामुरुतर ज्वाला जटालः शिखी ।
द्वारं निर्वृतिसद्मनो विजयते कृष्णेति वर्णद्वयम् ।।
पंडितराज जगन्नाथ, कल्याण, वर्ष २९, सं० १, पृ० १७२

का संतों में महत्त्व है, और क्यों ? संतों ने नाम को परमात्मा की प्राप्ति का कारण माना है। इसीलिए उसे इतना महत्त्व प्रदान किया है।

परमात्मा की प्राप्ति कर्म के द्वारा हो सकती है, योग के द्वारा संभव है, भक्ति के द्वारा वह प्राप्त किया जा सकता है, ज्ञान के माध्यम से वह निश्चय ही ज्ञातव्य है तथा परमात्मा की प्राप्ति नामस्मरण से भी हो सकती है। इसी नामस्मरण को संतों ने सुरत शब्द योग नाम दिया है।

जीव को इस संसार से विदा लेनी है। उस सुदूर देश का मार्ग अपरिचित है तथा राह में कोई विश्रामस्थल नहीं है। मार्ग में सहायता देने वाला कोई मित्र अथवा धन भी नहीं है। इस भवसागर को पार करने के लिए एकमात्र अवलम्ब रामनाम ही है।[1] कबीर ने इसलिए रामनाम को जीवन-पर्यन्त निर्भय होकर जपने के लिए अनुरोध किया है। जब तक दीपक में तेल तथा बत्ती सब ठीक है, तब तक वह जल सकता है। जब तेल समाप्त हो गया या बत्ती घट गई तब तो उसे चिर अन्धकार में ही विलीन हो जाना है। इसी प्रकार जीवन में ही रामनाम जपने का अवसर है फिर तो चिरनिद्रा में ही पैर पसार कर सोना है।[2] नानक रामनाम का नित्य स्मरण करने का आग्रह करते हैं क्योंकि रामनाम से ही उद्धार सम्भव है। नानक को योग प्रतिपादित नैरन्तर्य[3] स्वीकार्य प्रतीत होता है।[4] रामनाम के बिना किसी को सिद्धि नही मिली। सिद्धि के लिए परमात्मा का नाम आवश्यक कारण है।[5]

रामनाम का अक्षय भण्डार सर्वत्र विद्यमान है। मनुष्य अपनी इच्छानुसार इस अक्षय निधि को लूट सकता है परन्तु तभी तक जब तक कि काल दसों इन्द्रियों को अवरुद्ध कर उसे कवलित नही कर लेता। अर्थात् जीवनकाल में मनुष्य मनचाहा रामनाम स्मरण कर सकता है। नाम की लूट के सम्बन्ध में यही भाव एक सामान्य प्रचलित दोहे में भी प्राप्त होता है :—

राम नाम की लूट है लूटा जाइ सो लूट।
अन्त समय पछितायगा प्रान जायँगे छूट ॥

---

१. बंदे तोहि बंदगी सो काम हरिबिन जानि और हराम।
दूरि चलना कूंच बेगा इहां नही मुकाम।
रहा नहीं कोई यार दोस्त गांठि गरथ न दाम।
एक एकै संगि चलणां बीचि नहीं विश्राम।
संसार सागर विषम तिरणां सुमिरि लै हरि नाम।
कहै कबीर तहाँ जाइ रहणा नगर बसत निधांन ।।२५१ — ह० प्र० क०, पृ० ३६०

२. कबीर निरभै राम जपि जब लगि दीवै बाति।
तेल घट्या बाती बुझी (तब) सोवैगा दिन राति ॥१० — क० ग्र०, पृ० ५

३. स तु दीर्घकाल नैरन्तर्यसत्कारासेवितोदृढभूमिः — यो० सू० १।१४

४. कहु नानक भजु राम नाम नित जातें होत उधार।३ — नानक, सं० बा० सं० भा० २, पृ० ४७

५. कहै कबीर सुनहु रे भाई।
राम नाम बिन किन सिधि पाई ।।१३२ — क० ग्र०, पृ० १३०

लुटेरे की संज्ञा ग्रहण करके कबीर रामनाम का भण्डार लूटते तथा लुटाते दृष्टिगोचर होते हैं। अपने अभीष्ट की प्राप्ति में वे बदनामी उठाने को भी तैयार हैं। रामनाम के वे लुटेरे ही नहीं बनना चाहते, वे रामनाम का व्यापार करते भी नज़र आते हैं। साधारण भौतिक व्यापारियों में कोई कांसा, पीतल तथा कोई लौंग, सुपारी या अन्य सांसारिक पदार्थों का व्यापार करता है। परन्तु सतगण गोविन्द नाम का ही व्यापार करते हैं। इस व्यापार में कबीर को ऐसा नामरूपी अनमोल हीरा हाथ लग गया जिससे कि संसार के आवागमन से निवृत्ति प्राप्त हो गई। इन सच्चे व्यापारियों को सत्य 'नाम' ही वास्तविक प्रतीत होता है। शेष सब अनुकरणमात्र है। उसी सत्य वस्तु के साथ से भण्डारी परमात्मा तक मनुष्य सौदागर की पहुँच हो जाती है। यही नही वही नाम मणि, रत्न, जवाहर तथा वही सौदागर भी है।[1]

नाम केवल साधन ही नही साध्य भी बन जाता है। प्रत्यक्ष की अतिम स्थिति में जिस प्रकार ज्ञाता व ज्ञेय का भेद मिट जाता है, सब एकाकार हो जाता है, उसी प्रकार यहाँ नाम के विषय में भी व्यक्त किया गया है। कबीर की ही भाँति उनके शिष्य धरमदास भी धनी परमात्मा के नाम व्यापार में संलग्न दिखाई देते हैं। उनका व्यापार की क्रिया में लगना अपने स्वजातीय स्वाभाविक कर्म के अनुकूल है। परन्तु वे भी कांसा, पीतल, लौंग, सुपारी के व्यापार में जीवन नष्ट नहीं करते। वे सत्यनाम के व्यापारी हैं। उन्होंने अपनी खेप में परमात्मा का नाम ही लादा है। इसी से उनकी खेप पूरी उतर गई है। अन्य सभी व्यापारों में हानि की आशंका, मार्ग मे चुंगी आदि करों का भुगतान और चोर-डाकुओं का भय सदैव बना रहता है, परन्तु सतों के नाम-व्यापार में न कोई मार्ग अवरोधक है न कर, न डर, केवल चौगुना लाभ ही लाभ है। उनके घट ही में मोती बिन्दु उत्पन्न होते हैं तथा सुकृतों का भण्डार अक्षय होता है।[2] उनके सभी कार्य सुकृत ही होते हैं फिर भला सुकृतों से भण्डार परिपूर्ण क्यों न हो।

---

१. किनही बनज्या कांसा तांबा किनही लौंग सुपारी।
संतहु बनज्या नाम गोविन्द का ऐसी खेप हमारी।
हरिनाम के व्यापारी।
हीरा हाथ चढ़यो निर्मोलिक छूटि गई संसारी।
सांचे लाये तो सच लागे सांचे के व्योपारी।
सांची वस्तु के भार चलाये पहुँचे जाइ भण्डारी।
आपहि रतन जवाहर मानिक आपै है पासारी।
आपै है दस दिसि आप चलावै निहचल है व्यापारी।
मन करि बैल सुरति करि पैंडा ज्ञान गोनि भरि डारी।
कहत कबीर सुनहु रे संतहु निबही खेप हमारी।४४ क० ग्रं०, पृ० २७७

२. हम सत्तनाम के वैपारी।
कोइ कोइ लादै काँसा पीतल कोइ कोइ लौंग सुपारी।
हम तो लाद्यो नाम धनी को पूरन खेप हमारो।

ऐसा प्रतीत होता है कि संत पलटू को रामनाम के व्यापार का यह भाव बहुत मन भाया। उन्होंने उसे सम्मानित वाणिज्य कर्म ही नहीं रक्खा। उन्होंने उस समय प्रचलित डांडी मारना आदि निन्दनीय कार्य भी सम्मिलित कर लिये तथा नाम के व्यापार में उन्हें भी स्थान दे दिया। उन्होंने उसी को पूरा बनिया माना है जो सतनाम का व्यापार करे। व्यापार के इस सांग रूपक में उन्होंने बनियों के सभी कर्मों एव साज-सामान को भगवत्-प्राप्ति के उपकरणों में देखा है। क्षमा का टाट, प्रेम का तराजू, विश्वास का बाँट, विवेक की दुकान, ज्ञान का लेन-देन, भजन का लादना-उलदना, मीठा बोलना तथा नाम का टेना मारना पूरे बनिये के लक्षण गिनाये गये हैं। सुरत-ध्यान के द्वारा शब्द का ताला खोलकर उस दुकान में प्रवेश करके अपना कर्त्तव्य पूरा करने पर नाम का रहस्य अपने आप प्रकट हो जाता है।[1]

नाम-व्यापार के भाव की भाँति नाम को स्वादिष्ट भोजन के रूप में ग्रहण करने तथा युद्धक्षेत्र में विजय प्राप्त करने के शस्त्रादि साधनों की भाँति भी वर्णन किया गया है। समाज में ब्राह्मणों की विद्वत्ता के साथ-साथ उनकी भोजन-भट्टता की भी ख्याति रही है। हरि-भजन में भी उन्हें स्वादिष्ट मिष्टान्नों का ध्यान बना रहा तथा उन्हें :

राम नाम लड्डू गोपाल नाम घी।
कृष्ण नाम मिसरी घोल घोल पी ॥

ही दिखाई दिया। लड्डू, घी तथा मिश्री की भाँति प्रभुनाम ही निरन्तर उनके सेवन की वस्तु रही। सुन्दरदास भी राम-नाम का भोजन तथा जलपान करके राम के समान ही हो रहे हैं। क्षत्रियों के युद्ध, शासन, राज्य आदि स्वकर्म थे। लोकोत्तर कर्मों के सम्बन्ध में भी उनकी कल्पना अस्त्र-शस्त्र तथा युद्धक्षेत्र आदि की ही भाँति रही। यह संसार युद्धक्षेत्र तो है ही, इसी को जीतकर उसे भगवत्प्राप्ति करनी है। क्षत्रिय सत यम का द्वारा जीतने का कार्य रामनाम को तलवार, कृष्णनाम को कटार तथा दया, धर्म को ढाल बनाकर सम्पादित करता

पूंजी न टूटै नफा चौगुना बनिज किया हम भारी।
हाट जगाती रोकि न सकिहै निर्भय गैल हमारी।
मोती बुन्द घटही में उपजत सुकिरत भरत कोठारी।
नाम पदारथ लाद चला है धरम दास बैपारी।   धरमदास, सं० बा० सं० भा० २, पृ० ३८

१. बनिया पूरा सोई है जो तौलै सतनाम।
जो तौलै सतनाम छिमा का टाट बिछावै।
प्रेम तराजू करै बाट विस्वास बनावै।
विवेक की करै दुकान ज्ञान का लेना देना।
गादी है संतोष नाम का मारै टेना।
लादै उलदै भजन वचन फिर माठे बोलै।
कुंजी लावै सुरत सबद का ताला खोलै।
पलटू जिसकी बनि परी उसी से मेरा काम।   पलटू, सं० बा० सं० भा० २, पृ० २३७
बनिया पूरा सोई है जो तौलै सतनाम ॥

है।[1] कबीर भी इस जीवन-संग्राम को जय करने के लिए तथा विषय-विकाररूपी तस्करों को परास्त करने के लिए 'ररा' का टोप 'ममा' का कवच तथा ज्ञान की तलवार को आवश्यक समझते हैं।[2] विकारों से रक्षा करने की सामर्थ्य 'राम' मे ही है तथा विकारों पर आघात एवं प्रहार करने की क्षमता ज्ञान में है। प्रस्तुत दोनों दोहो में एक ही बात कही जाने पर भी यही एक विशेष अंतर है कि एक में प्रहार करने वाली शक्ति राम के हाथों में दिखाई पड़ती है और रक्षा की सामर्थ्य दया, धर्म आदि में तथा दूसरे—कबीर के दोहे में—रक्षा की शक्ति राम में है तथा प्रहारक ज्ञान है। फिर भी दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं है। दोनों का एक ही गन्तव्य है—रामनाम। अन्यत्र भी कबीर ने अपनी बुद्धिरूपी कृषि के लिए रामनाम के दो अक्षरों को ही समर्थ रक्षक माना है।[3]

इस प्रकार हमने देखा कि परमात्मा-प्राप्ति का कार्य ब्राह्मण नाम के भोजन द्वारा, बनिया नाम के व्यापार द्वारा तथा शूद्र हरिभजन द्वारा सम्पन्न करता है।

…… जाति पांति पूछे नहिं कोय, हरि का भजै सो हरि का होय—

आदि कवियो की प्रस्तुत अभिव्यक्तियाँ उनके कुलगत मनोभावों की ही द्योतक हैं, यथार्थ स्वरूप निरूपण की नही। वर्णन करने का यह ढग विषय को अपने अनुसार अधिक हृदयग्राही बना देने के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।

दरियासाहब ने नाम बिना भव-कर्म का छूटना असम्भव माना है। साधु संगति और हरिभजन के बिना प्राणी निरन्तर काल का ही ग्रास बनकर आवागमन में फँसा रहता है। कीचड़ के द्वारा कीचड का धुलना सम्भव नही है। सम्भवत: दरियासाहब का तात्पर्य कर्मों के द्वारा कर्मों के बन्धन से छूटने की असम्भावना से है। प्रेम सहित नाम-स्मरण के द्वारा सब कर्मों का पंक धुल सकता है तथा आवागमन के क्रम से मुक्ति मिल सकती है। इस गुरुमुख नाम के प्रेमपूर्वक स्मरण द्वारा सत्य के स्पष्ट प्रत्यक्ष हो जाने से भेद-अभेद आदि दार्शनिक सिद्धान्तो का भ्रम मिट जाता है। भेदाभेद आदि दार्शनिक सिद्धान्त सत्य के स्वरूप ज्ञान के बौद्धिक पक्ष है। पराबौद्धिक सत्य के रहस्य-ज्ञान के बाद सिद्धान्तों के पचड़े से मुक्ति हो जाती है। अमृत की वृष्टि होती है, प्राणी को प्रेम से नाम का ध्यान करना चाहिए। जरा-मरण से छूटने और अमृतत्व प्राप्त करने में तनिक विलम्ब नहीं

---

१. राम नाम शमशेर पकड़लो कृष्ण कटारा बांध लिया।
दया धर्म की ढाल बनाकर जम का द्वारा जीत लिया॥

२. ररा करि टोप ममा करि बख्तर
ज्ञान रतन कर खांग रे। क० ग्र०, पृ० २०६

३. बुधि मेरी किरषी
गुरु मेरौ बिझुका आखर दोइ रखवारे।३१६ क० ग्र०, पृ० २१६

है।[1] दूलनदास अपने लिए केवल नाम का ही आधार मानते हैं। यह नाम की ही महत्ता है कि आधे नाम के पुकारते ही भगवान् ने स्वयं आकर गज को जल से निकाल कर उसकी रक्षा की।[2] कबीरदास ने भी नाम तेरा आधार के द्वारा यही भाव व्यक्त किया है।[3]

उसी दिन की गणना ईश्वर के यहाँ होती है जो दिन परमात्मा के नाम में लगता है। मजदूर की उपस्थिति काम करने वाले दिन की ही मानी जाती है तथा उसी दिन का पारिश्रमिक उसे मिलता है। हरि-भक्ति ही मनुष्य का एक मात्र कार्य है जिससे कि वह प्रभु को अपने जीवन का लेखा देता है। निरन्तर माया का दीपक जल रहा है जिसमें देवता मनुष्य सभी शलभवत् आहुत होकर भस्म हो रहे हैं। हरिनाम में जागने वाले भक्तों का परमात्मा स्वय साथी है। समत्व प्राप्त करके कबीर उस मायादीपक में जलने से बच गये उसी एकमात्र नाम के कारण।[4] हरि-स्मरण के द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति होती है और इसीलिए वह दिवस महत्त्वपूर्ण तथा उल्लेखनीय होता है जो हरि-स्मरण में लगता है।

अब देखना यह है कि हरि-स्मरण किया किस प्रकार जाय, वह हो कैसा ? कबीर ने निम्नलिखित पद में इसी को स्पष्ट किया है :

राम जपो जिय ऐसे ऐसे ध्रुव प्रह्लाद जप्यो हरि जैसे।[5]

गुरु के प्रसाद से उन्हें ऐमी बुद्धि, ऐसा ज्ञान प्राप्त हो गया जिसके द्वारा राम-जप का अवलम्ब लेकर वे आवागमन से मुक्त हो गये।[6] वे परमात्मा अथवा गुरु की कृपा से शब्द-डोर को पकड़कर नाम-स्मरण द्वारा भवसिंधु से पार हो गये।[7] इसीलिए उन्होंने पढ़ना-लिखना

---

१. नाम बिन भाव करम नहिं छूटै।
साध सगति अरु राम भजन बिन काल निरन्तर लूटै।
मल सेती जो मल को धोवै सो मल कैसे छूटै।
प्रेम का साबुन नाम का पानी ता मिलि ताता टूटै।
भेद अभेद भरम का भांडा चौड़े परि परि फूटै।
गुरु मुख सबद गहै उर अंतर सकल भरम से छूटै।
राम का ध्यान धरहु रे प्राणी अमृत का मेंह बूटै।
जन दरियाव अपर दे आपा जरा मरन तब छूटै ।। दरिया, सं० बा० सं० भा० २, पृ० १५३

२. हमरे तो केवल नाम अधार।
अरध नाम टेरत प्रभु धाये आय तुरत गज गाढ़ निवार ।। दूलनदास, सं० बा० सं० भा० २, पृ० १६७

३. क० ग्रन्थावली, पृष्ठ ३०७

४. हरि नांमैं दिन जाइ रे जाको।
सोई दिन लेखै लाइ रांम ताको।
हरि नाम मैं जन जागै ताकै गोब्यंद साथी आगै।
दीपक एक अभंगा तामैं सुर नर पड़ैं पतंगा ।।
ऊँच नीच सम सरिया तातैं जन कबीर निस्तरिया ।।१८५ क० ग्र०, पृ० १५०

५. क० ग्र०, पृ० ३२०.१७६

६. गुरु प्रसाद ऐसी बुद्धि समानी। चूकि गई फिरि आवन जानी ।१७६ क० ग्र०, पृ० ३२०

७. हम तो बचिगे साहब दया से शब्द डोर गहि उतरे पार ॥

छोड़कर दर्शनों के चक्कर में न उलझकर, पुस्तकीय ज्ञान को तिलांजलि देकर केवल 'रा' और 'म' से प्रेम करने का आदेश दिया है।[1] कबीर स्वयं शास्त्रीय ज्ञान सम्पन्न पण्डित नहीं थे न उन्हें झूठे पांडित्य में रुचि ही थी। इसीलिए वे नाम के सम्मुख या हरि-भजन के तो अनुकूल थे परन्तु पण्डितों के प्रति पीठ किये हुए उदासीन थे।[2] कबीर के इस विचार से दादू भी सहमत हैं। शरीररूपी पिंजड़े में मनरूपी शुक बन्दी है, उस बन्दी मन का कोई मूल्य नहीं, कोई महत्त्व नहीं। परमात्मा का नाम ही ऐसा है जिसे पढ़कर वह विद्वान् हो जाता है।[3] पुस्तकों के पढ़ने से कोई लाभ नही। इनसे वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, ज्ञान होता है प्रेमपूर्वक राम-नाम पढ़ने से। यदि राम में चित्त लग जाय तो और किसी सिद्धान्त-ज्ञान या अक्षर-ज्ञान की आवश्यकता नही। वे सब उस रहस्यदर्शी में स्वयं प्रस्फुटित हो जाते हैं। मनरूपी भँवर अर्थरूपी वास को ग्रहण करता है जिसमें विश्वासरूपी फल फलता है। उस वृक्ष को राम-नामरूपी अमृत से सींचने की आवश्यकता है।[4]

रामनाम से यदि किसी अन्य धार्मिक कृत्य की तुलना की जाय तो कोई भी राम-नाम की समता नहीं कर सकेगा। नाम सभी से गुरुतम सिद्ध होगा परन्तु मूर्ख नाम के इस रहस्य को नही जान पाते।[5] परमात्मा की अपरम्पार गति किसी को दृष्टिगोचर नहीं होती, उसी परमात्मा के नाम का भजन करना श्रेयस्कर है। नाम की महत्ता की तुलना न करोड़ों गायों के दान से की जा सकती है न पर्वताकार स्वर्णदान से अथवा गज या बाजिदान से ही की जा सकती है।

संतों ने परमात्मा-प्राप्ति के लिए ही उसे रामनाम से सम्बोधित किया है। इस नामरूपी जहाज पर बैठकर—नाम का आश्रय ग्रहण करके पल मात्र मे जीव भवसागर पार हो जाता है।[6] नाम को सुन्दरदास ने सभी दर्शनों अथवा धर्म-कार्यों का सार माना है। जिस प्रकार दुग्ध और दधि मे घृत सार वस्तु है उसी प्रकार समस्त धार्मिक क्रिया-कलापों

---

१. कबीर पढ़िबौ दूरि करि पुस्तक देइ बहाइ।
बावन आखिर सोधि करि ररै ममैं चित लाइ ।। २ — क० ग्र०, पृ० ३८

२. पंडित दिसि पछिवारा कीन्हा। मुख कीन्हौ जित नामा ।।१२२ — क० ग्र०, पृ० १२७

३. दादू यहु तन पींजरा माहीं मन सूवा।
एकै नांव अल्लाह का पढि हाफिज हूवा ।।१० — दादू भा० १, पृ० २५

४. पाडल पजर मन भँवर अरथ अनूपम बास।
राम नाम सींच्या अमी फल लागा बेसास ।।१६

५. तत्त गहन को नाम है भजि लीजै सोई।
लीला सिंध अगाध है गति लखै न कोई ।।
कंचन मेरु सुमेरु हय गज दीजै दाना।
कोटि गऊ जो दान दे नहि नाम समाना ।। — नामदेव, सं० बा० सं० भा० २, पृ० २६

६. राम नाम संतनि धर्‌यो राम मिलन के काज।
सुन्दर पल में पार है बैठे नाम जिहाज ।। —सुन्दरदास

में नाम-स्मरण सार तत्त्व है।[1] रैदास ने पौराणिक व्यवस्था को स्वीकार करते हुए यह कहा है कि कलियुग में तो नाम के अतिरिक्त कोई अन्य आधार है ही नहीं, जब कि सतयुग में सत्य, त्रेता में यज्ञ तथा द्वापर में पूजा भगवत्-प्राप्ति का साधन हो सकती है।[2]

सहजोबाई तो तप की कठोर साधना की अपेक्षा नाम को ही श्रेयस्कर समझती हैं। धुँआधार वर्षा में, कँपा देने वाले शीत में तथा पिघला देने वाले ग्रीष्म में पर्वत पर तपस्या करने वाले साधक की साधना भी नाम-स्मरण के सम्मुख फीकी ही उतरती है।[3]

नाम-स्मरण अन्य साधनों की अपेक्षा कितना श्रेष्ठतर है यह तो स्पष्ट ही हो गया। अब देखना है कि नाम है क्या ?

ईश्वर के विषय में पहले कहा जा चुका है कि उसके कोई नाम नहीं हैं—वह अनाम है अथवा परमात्मा के रूप-गुण सम्बन्धी कथाओं तथा नामों की गणना नहीं है, वे अपार हैं।[4] सभी लोग राम-नाम कहते हैं परन्तु कबीर के दृष्टिकोण से वे उस रामनाम का मर्म (भेद) नहीं जानते। रामनाम केवल कहने की वस्तु नहीं है वह प्रत्यक्ष दर्शन की वस्तु है। जो उसका साक्षात्कार करके कहता या गाता है वही वास्तविक आनन्द का भागी होता है तथा नाम के उसी परिचय से परमात्मा का मर्म अवगत होता है।[5] संत पलटू के अनुसार नाम स्वयं अनाम है। यदि कोई उसे नाम द्वारा जानना चाहे तो वह सम्भव नहीं। वह नाम न लिखा जा सकता है, न पढ़ा जा सकता है। वह अक्षरों (शब्दों) द्वारा व्यक्त नहीं हो सकता। यदि उसे रूप की श्रेणी में बद्ध करना चाहे, तो वह रूप द्वारा भी व्यक्त किये जाने योग्य नहीं। नाम, रूप आदि सभी ज्ञान के कर्मों द्वारा व्यक्त न हो सकने योग्य अनिर्वचनीय है। यह कल्पना की वस्तु नहीं है। यह वही नाम है जिसका सत अचाक्षुष प्रत्यक्ष करते हैं।[6]

---

१. सुन्दर सब ही सन्त मिलि सार लियौ हरि नाम।
तक तजी घृत काढ़िकै और क्रिया किहि काम ॥६ — सुन्दरदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १०८

२. सतयुग सत त्रेताहि जग द्वापर पूजा चार।
तीनों जुग तीनों दृढ़े कलि केवल नाम अधार ॥६ — रैदास, सं० बा० सं०, भा० १ पृ० ६६

३. मेहं सहै सहजो कहै सहै सीत औ घाम।
पर्वत बैठो तप करै तोभो अधिको नाम ॥४ — सहजोबाई, सं० बा० सं०, भा० १, पृ० १५५

४. हरि गुण नाम अपार
कथा रूप अगणित अमित ॥ — तु० रा०, बा० का० १२० (ख)

५. है कोई रांम नांम बतावै बस्त अगोचर मोहि लखावै।
रांम नांम सब कोई बखानै रांम नांम का मरम न जांनै ॥
ऊपर की मोहि बात न भावै देखै गावै तो सुख पावै।
कहै कबीर कछू कहत न आवै परचै बिना मरम को पावै ॥२१८ — क० ग्र०, पृ० १६२

६. जो कोई चाहै नाम तो नाम अनाम है।
लिखन पढ़न में नाहि निअच्छर काम है।
रूप कहौं अनुरूप पवन अनरेख ते।
अरे हां पलटू गैब दृष्टि से संत नाम वह देखते ॥ — पलटू, सं० बा० सं० भा० २, पृ० २१६

प्रोफेसर रानाडे के मतानुसार मनुष्य के ध्यान की सफलता का एक लक्षण यह भी है कि नाम स्वयं अपने आपको साधक के सम्मुख अनाहृत करे और वही नाम अजर तथा अमर है।[१] कबीर के **अजर अमर इक नाम है सुमरिन जो आवै**—में यही भाव व्यक्त किया गया है। वह नाम जो, स्मरण मे साधक के सम्मुख अपने आपको प्रकट करे वही बिना जिह्वा डुलाये हुए जप करने की वस्तु है। इस प्रकार सुरत ऊपर करके जप करने वाले को स्वयं रूप का अनावरण होता है। यह रूप साधक के आत्मगत (Subjective) सुझाव का कार्य न होकर स्वय परमात्मा के द्वारा प्रत्यक्ष उपस्थिति की स्थिति होता है।[२] जिस नाम-स्मरण में न जिह्वा हिले, न ओष्ठ फड़के, न मुख खुले अर्थात् किसी भी प्रकार से बाह्य उच्चारण न हो केवल मानसिक स्मरण रहे, उसी को सतों ने नाम-स्मरण का यथार्थ ढंग कहा है। मलूकदास ने कहा है—

सुमिरन ऐसा कीजिये दूजा लखै न कोय।
ओंठ न फरकत देखिये प्रेम राखिये गोय॥[३]

सहजोबाई ने इसी को निम्नलिखित प्रकार से कहा है :

सहजो सुमिरन कीजिये हिरदे माँहि दुराय।
होठ होठ सूँ ना हिलै सकै नहीं कोइ पाय॥[४]

हरिनाम-स्मरण करने के लिए मुख से हरिनाम जपने की अपेक्षा नहीं रहती। दादू के मानस में नाम-स्मरण की यही सहज धुन लगी हुई है, फिर उन्हें बाह्य जप की क्या आवश्यकता।[५] कबीरदास का भी यही मत है कि यदि अंतःकरण में प्रेम है तो ऊपर से नाम रटने की कोई आवश्यकता नही। पतिव्रता स्त्री अपने पति के नाम का उच्चारण नही करती परन्तु पति से अनन्य प्रीति करने वाली होती है। इसी प्रकार मुख से नामउच्चारण न करने पर भी भक्त के हृदय में नामस्मरण के द्वारा प्रभु के प्रति अगाध प्रेम विद्यमान रहता है।[६] चरनदास ने मन में ही जप करके हृदय के दर्पण को उज्ज्वल रखने का उल्लेख

---

१. So, that name which will reveal itself before you in meditation automatically, unconsciously, even without your thinking about it, is the only name which is Ajara and Amara.
Pathway to God, P. 154.

२. अजर अमर इक नाम है सुमिरन जो आवै।
बिन ही मुख के जप करो नहि जीभ डुलावो।
ताही विच इक रूप है वहि ध्यान लगावो॥

३. सं० बा० सं० भा० १, पृ० १००

४. सं० बा० सं० भा० १, पृ० १५६

५. अंतर्गति हरि हरि करै मुख की हाजत नाहिं।
सहज धुन्न लागी रहै दादू मन ही माहिं॥ दादू, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ४४

६. नाम न रटा तो क्या हुआ जो अंतर है हेत।
पतिबरता पति को भजै मुख से नाम न लेत॥११ सं० बा० सं० भा० १, पृ० ४१

किया है जिससे अंधकार नष्ट होकर प्रकाशस्वरूप परमात्मा का दर्शन हो । प्रेम की ओढ़नी ओढ़कर मनरूपी माला के द्वारा अंतःकरण में नाम का स्मरण करने से समस्त कर्म-जनित भ्रम दूर हो जाते हैं ।[1] नाम की इस प्रकार अबाधित अवतारणा से जिसमें कि समस्त क्रियाएं कहना-सुनना, लेना-देना, खाना-पीना, राम-नाम में ही सम्पादित होती हैं, आत्मा को विश्राम प्राप्त होता है ।[2] कबीरदास को बाह्य नाम-स्मरण ग्राह्य नहीं है । न वे माला जपते हैं और न उंगलियों पर ही रामराम जपते हैं । मानसिक स्मरण के द्वारा वे परमात्मा-मय उस स्थिति को पहुँच गये हैं जहाँ पूर्ण विश्राम प्राप्त होता है ।[3] प्रायः समस्त निर्गुणिया सन्तों ने :

माला तो कर में फिरै जीभ फिरै मुख माहिं ।
मनुवां तो चहु दिसि फिरै ...

को सुमिरन नहीं माना है । उन्होंने श्वास-प्रश्वास मे सप्रेम नाम-स्मरण को ही वास्तविक स्मरण स्वीकार किया है ।[4] इसी आतरिक नाम-स्मरण को स्मृतिकारों ने मानस-जप की संज्ञा प्रदान की है, यह हम पहले देख चुके हैं ।

कबीर ने शरीर को दीपक, परम तत्व परमात्मा को तेल तथा नाम को बत्ती कहा है । शरीररूपी दीपक मे नामरूपी बत्ती को डालकर जलाने से सर्वत्र प्रकाश फैल जाता है ।[5] जिस प्रकार दीपक की ज्योति में पतिंगे उड़-उड़कर गिरते हैं और भस्म हो जाते हैं उसी प्रकार रामनामरूपी ज्योतिशिखा के हृदय में स्थिर हो जाने पर कर्मरूपी शलभ उसमें गिर-गिरकर नष्ट हो जाते हैं ।[6] परमात्मा के शरीर का दर्शन किस प्रकार हो । वह तीनों लोकों द्वारा वन्दित है परन्तु अशरीरी है । उसके नाम की पताका सर्वोपरि फहरा रही है जिसका प्रत्यक्ष दादू को हुआ है । नाम वह प्रतीक है जिसके द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार साकार होता है ।[7] भक्ति, ज्ञान आदि सब साधनों का शिरोमणि नाम ही है । वे उसी नाम पर न्योछावर होते है । दुस्तर भवसागर को सरलता से पार उतारने वाला और नरक से बचाने-

---

१. प्रेम रग रंग ओढ़ चदरिया मन तसबीह गहो रे ।
अंतर लाओ नामहि की धुनि करम भरम सब धो रे ।।४ दूलनदास, सं० बा० सं० भा० २, पृ० १६१

२. कहता सुनता राम कहि लेता देता राम ।
खाता पीता राम कहि, आतम कँवल बिसराम ।।७५ दादू, भा० १, पृ० २३

३. माला जपौं न कर जपौं जिभ्या कहो न राम ।
सुमिरन मेरा हरि करैं मैं पाया बिसराम ।।

४. राम नाम सब कोई कहै ठग ठाकुर अरु चोर ।
बिना प्रेम रीझै नहीं तुलसी नन्द किशोर ।।

५. तत्तु तेल नाम कीया बाती दीपक देह उज्यारा ।।२१० क० ग्रं०, पृ० ३२८

६. राम नाम दीपक सिखा दूलन दिल ठहराय ।
करम बिचारे सलभ से जरहिं उड़ाय उड़ाय ।।७ दूलनदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १३८

७. वंदित तीनों लोक बापुरा कैसैं दरस लहै ।
नांव निसान सकल जग ऊपरि दादू देखत है ।।१०६ दादू, भा० १, पृ० २६

वाला नाम ही है। वह केवल नकारात्मक ढंग से रक्षा या सहायता का कार्य सम्पादन करने वाला ही नहीं है, वह परमात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार कराने वाला तथा अनन्त ज्योति में समाहित करने वाला निर्मल सार तत्त्व है जो कि अमृत-तुल्य सब सुखों का दायक है। इसी अमृत को पान करके दादू अमर तथा आनन्द मे मतवाले हो गये हैं।[1]

दादू के मतवालेपन तथा कबीर के नाम-अमल में वस्तुतः विशेष अन्तर नही है। नाम का नशा उन नशों में नही है जो एक निश्चित समय के पश्चात् उतर जाते हैं। जो एक बार इस नशे का सेवन कर लेता है वह सदैव के लिए उसी में निमग्न हो जाता है। अन्य नशे एक बार पूरे जोर पर पहुँचकर प्रत्येक क्षण स्वतः घटने लगते हैं परन्तु नाम का नशा तो प्रत्येक क्षण बढ़ता ही जाता है। यही नही कि नाम का नशा केवल सेवन करने से ही प्रभावित करता है वह तो ऐसा नशा है जो कि देखने मात्र से चढ जाता है, श्रवण मात्र से हृदय स्पर्श कर लेता है तथा स्मरण मात्र से सारे शरीर के रोम-रोम को व्याप्त करके मतवाला बना देता है। यह इस प्रकार का नशा है कि प्याला पीते ही कबीर सदैव के लिए मस्त हो गये तथा चित्त की द्विविधा मिट गई। इसी नशे को चखकर गणिका, सदन कसाई आदि भवसागर तर गये। कबीर इस गूंगे के गुड़ का स्वाद बिना रसना के किस प्रकार वर्णन करें। स्वाद का आनन्द तो मिलता है परन्तु वाणी में सामर्थ्य नही कि उसे व्यक्त कर सके।[2] नाम की अनिर्वचनीयता तो है ही उसके स्वयं प्रकट होने का आभास भी मिलता है।

प्रायः सभी संतकवियों ने नाम की महत्ता, उसकी श्रेष्ठता आदि का विभिन्न प्रकार से उल्लेख किया है परन्तु तुलसीदास द्वारा प्रस्तुत निरूपण इतना विशद्, सुसम्बद्ध तथा सुग्रथित है कि उसकी तुलना अन्यत्र नही मिलती। तुलसी भगवान् के सगुण रामरूप के उपासक थे। उनके राम गुण आदि से रहित होते हुए भी सर्वगुण-सम्पन्न होकर विरोधाभासों के आश्रय-स्थान थे। तुलसीदास के शब्दों मे **नाम रूप दुइ ईश उपाधी नाम और** रूप ईश्वर के दो विशेषण (Attributes) है। ईश्वर इन दोनों से परे एवं भिन्न है। यह

---

१. नांउ रे नांउ रे सकल सिरोमणि नांउ रे।
मैं बलिहारी जाउँ रे।
दूतर तारै पार उतारै नरक निवारै नाउ रे।
नूर दिखावै तेज मिलावै ज्योति जगावै नांउ रे।
तारणहारा भौजल पारा निर्मल सारा नांउ रे।
सब सुख दाता अमृत राता दादू माता नांउ रे।१ — सं० बा० सं० भा० २, पृ० ६१

२. नाम अमल उतरै ना भाई।
और अमल छिन छिन चढ़ि उतरै नाम अमल दिन बढ़ै सवाई।
देखत चढ़ै सुनत हिय लागै सुरत किये तन देत घुमाई।
पियत पियाला भये मतवाला पायो नाम मिटी दुचिताई।
जो जन नाम अमल रस चाखा तर गई गनिका सदन कसाई।
कहत कबीर गूँगे गुड़ खाया बिन रसना का करै बड़ाई।।१८३ — क० ग्र० क०, पृ० ३३३

दोनों उपाधियाँ मात्र उस परमात्मा की हैं। परमात्मा का तत्वत: वर्णन केवल उन उपाधियों द्वारा संभव नहीं है। प्रोफेसर रानाडे ने तुलसी की इन्हीं पंक्तियों पर लिखा है कि "नाम और रूप स्वयं परमात्मा नही है। यह केवल परमात्मा की उपाधियाँ हैं।"[1] नाम और रूप का वास्तविक सम्बन्ध तथा रहस्य अनादि काल से दार्शनिकों के चिन्तन का विषय रहा है। नाम और रूप परमात्मा की ही उपाधियाँ हैं परन्तु उनका वास्तविक स्वरूप अवर्णनीय है, वह केवल प्रत्यक्ष अनुभव में आने वाली वस्तु है।[2]

नाम और रूप में कौन अधिक महत्त्वपूर्ण है, इस पर तुलसी ने संभवत: कुछ नहीं कहना चाहा। उन दोनो बड़ों के बीच में किसी को भी छोटा कहकर पाप के भागी बनना वे नहीं चाहते। वे एक मानदण्ड अवश्य प्रस्तुत कर देते है जिससे साधु पुरुष उनके बड़प्पन के विषय में स्वयं निर्णय कर लें।[3] वह मानदण्ड है कि "कौन किसके आधीन या अनुगामी है"—पीछे चलने वाला ही लोक में छोटा माना जाता है। केवल नाम के उच्चारण या ज्ञान से स्वरूप-ज्ञान संभव ही नहीं, अवश्यम्भावी भी है परन्तु रूप का ज्ञान बिना नाम (शब्द) के माध्यम के असम्भव है। किसी रूप का दर्शन होने पर भी नाम की सहायता के बिना अत्यन्त समीप होता हुआ भी वह पहचाना नहीं जा सकता परन्तु केवल नाम के स्मरण द्वारा बिना पूर्व परिचय के भी हृदय में रूप की आवृत्ति होती है।[4] गिरा के साथ अर्थ की भाँति नाम शब्द के साथ उसका स्वरूप भी संलग्न है। कोई न कोई रूप नाम-स्मरण के साथ ही मानव-मस्तिष्क के सम्मुख उपस्थित हो जाता है। ईश्वर के इसी नामस्मरण के द्वारा उसके रूप का हृदय में सस्नेह आगमन होता है।[5] इस प्रकार समान दृष्टिगोचर होते हुए भी नाम और नामी में स्वामी तथा अनुगामी का सम्बन्ध है।[6] नाम-रूप की इसी अकथ गति को समझकर आनन्द प्राप्त होता है परन्तु वह वर्णन से परे है।[7]

तुलसी ईश्वर के सगुण रूप के उपासक थे। निर्गुण ब्रह्म की वास्तविक सत्ता का ज्ञान तथा प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त किये हुए भी वे अपने परम प्रिय भावगत ईश्वर के स्वरूप सान्निध्य आनन्द से किंचित मात्र भी विलग नही रहना चाहते थे। जैसा कि हम देख चुके

---

१. Nama and Rupa do not constitute God, but they are the attributes of God. — Pathway to God P. 146.

२. नाम रूप दुइ ईस उपाधी, अकथ अनादि सुसामुझि साधी। — तु० रा०, बा० का० २०.१

३. को बड़ छोट कहत अपराधू, सुनि गुनभेदु समुझिहहिं साधू। — तु० रा०, बा० का० २०.२

४. देखिअहिं रूप नाम आधीना, रूप ज्ञान नहिं नाम विहीना।
रूप विशेष नाम बिनु जानें, करतलगत न परहिं पहिचानें।
सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखे, आवत हृदयं सनेह विसेषें॥ — तु० रा०, बा० का० २०.३

५. गिरा अरथ जल बीचि सम, कहिअत भिन्न न भिन्न। — तु० रा०, बा० का० १८

६. समुझत सरिस नाम अरु नामी, प्रीति परसपर प्रभु अनुगामी। — तु० रा०, बा०का० २०.१

७. नाम रूप गति अकथ कहानी, समुझत सुखद न परति बखानी। — तु० रा०, बा० का० २०.४

हैं नाम के बिना किसी प्रकार का रूप-ज्ञान संभव नही है। 'निर्गुण' तथा 'सगुण' शब्द भी अपने अर्थों समेत नाम से ही संभव है। इसीलिए सगुण राम तथा निर्गुण ब्रह्म दोनों के ही साक्षी रूप में तथा दोनों का ही ज्ञान एक दूसरे को अथवा साधक को कराने के लिए नाम को चतुर दुभाषिया माना है।[1] नाम ही सगुण में उसके गुणों तथा निर्गुण में उसकी गुणातीतता का द्योतन कराने वाला होता है। अनादि, अगाध, अनुपम, अनिर्वचनीय ब्रह्म की निर्गुण तथा सगुण दो स्वरूपो में कल्पना की गई है परन्तु तुलसीदास के मत से 'नाम' उस ब्रह्म की निर्गुण तथा सगुण दोनों ही धारणाओं से श्रेष्ठ है क्योंकि उसने दोनों को ही हठात् अपने वश में कर रक्खा है।[2] नाम और नामी (प्रभु) का सम्बन्ध प्रभु और अनुगामी सेवक के सम्बन्ध की भाँति है तथा नाम का नामी सदैव अनुसरण करता है।[3]

निर्गुण उस अप्रकट अग्नि के समान है जो काष्ठ के अन्दर विद्यमान रहती हुई भी दृष्टिगोचर नही होती तथा सगुण उस प्रकट अग्नि के समान है जो दृष्टि मे आती है। तत्वतः दोनों एक ही है। दोनो ही जानने में अगम्य है, परन्तु नाम से दोनों ही सुगम हो जाते है। इसलिए नाम को निर्गुण तथा सगुण दोनों ब्रह्मस्वरूपों से श्रेष्ठ कहा गया है।[4] तुलसी इस कथन के पश्चात् कदाचित् अनुभव करते हैं कि उन्होने अपने अधिकारक्षेत्र के बाहर का कुछ कह दिया। संभवतः उन्हें सत्य के वस्तुगत स्वरूप के सिद्धान्त-निरूपण का अधिकार नही था। शीघ्र ही उस कथन को अपने मन की बात होने के कारण कहा हुआ कह कर समाधान कर देते हैं। न ब्रह्म के स्वरूप की हीनता दिखाने के लिए और न किसी सिद्धान्त-निरूपण अथवा पांडित्य-प्रदर्शन के लिए वे कहते हैं।[5]

निर्गुण तथा सगुण से नाम किस प्रकार श्रेष्ठ है, इनमें से प्रत्येक का पृथक्-पृथक् उल्लेख करते हुए तुलसीदास ने कहा है कि यद्यपि सच्चिदानन्द, अविनाशी, व्यापक, अक्षत तथा अविकारी ब्रह्म प्रत्येक हृदय में विराजमान है परन्तु ससार में सभी जीव दीन और दुखी हो रहे हैं—उस आनन्दमय में स्वयं अपना भाग नहीं पा रहे हैं। नाम के द्वारा वही ब्रह्म अपने स्वरूप में उन्हीं दुखी जीवों के प्रति इस प्रकार प्रकट हो जाता है जिस प्रकार रत्नों से उनका मूल्य प्रकट हो जाता है।[6] जीव सच्चिदानन्द स्वरूप हो जाता है—स्वयं

---

१. अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी, उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी। — तु० रा, बा० का० २०.४

२. अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा, अकथ अगाध अनादि अनूपा।
मोरें मत बड़ नामु दुहूंते, किए जेहिं जुग निज बस निज बूते।। — तु० रा०, बा० का० २२.१

३. समुझत सरिस नाम अरु नामी, प्रीति परसपर प्रभु अनुगामी। — तु० रा०, बा० का० २०.१

४. एकु दारुगत देखिअ एकू, पावक सम जुग ब्रह्म बिवेकू।२
उभय अगम जुग सुगम नाम तें, कहेउँ नाम बड़ ब्रह्म राम ते। — तु० रा०, बा० का० २२.३

५. प्रौढ़ि सुजन जन जानहिं जन की, कहउं प्रतीति प्रीति रुचि मन की। — तु० रा०, बा० का० २२.१

६. व्यापकु एकु, ब्रह्म अविनासी, सत चेतन घन आनन्दरासी।३
अस प्रभु हृदयँ अछत अविकारी, सकल जीव जग दीन दुखारी।
नाम निरूपन नाम जतन तें, सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें।। — तु० रा०, बा० का० २२.४

अपने स्वरूप एवं गुणों की प्राप्ति कर लेता है। इस प्रकार निर्गुण ब्रह्म से नाम की श्रेष्ठता सिद्ध होती है।

संभव है कि सगुण उपासक तुलसी निर्गुण ब्रह्म की अपेक्षा राम-नाम को अधिक महत्त्व प्रदान करते और अपने इष्टदेव सगुण ब्रह्म राम के सम्मुख नाम को श्रेष्ठ न गिनते परन्तु निम्नलिखित पंक्तियो में उन्होने यह स्पष्ट कर दिया है कि राम की अपेक्षा नाम किस प्रकार श्रेष्ठ है :

राम भगत हित नरतनु धारी, सहि संकट किए साधु सुखारी।
नामु सप्रेम जपत अनयासा, भगत होहिं मुद मंगल बासा ॥१॥
राम एक तापस तिय तारी, नाम कोटि खल कुमति सुधारी।
रिषि हित राम सुकेतु सुता की, सहित सेन सुत कीन्हि बिबाकी ॥२॥
सहित दोष दुख दास दुरासा, दलइ नाम जिमि रबि निसि नासा।
भंजेउ आपु राम भव चापू, भव भय भंजन नाम प्रतापू ॥३॥
दंडक बनु प्रभु कीन्ह सुहावन, जन मन अमित नाम किए पावन।
निसिचर निकर दले रघुनन्दन, नाम सकल कलि कलुष निकन्दन ॥४॥

सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्हि रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल बेद बिदित गुन गाथ ॥२४॥[1]

राम सुकन्ठ विभीषण दोऊ, राखे सरन जान सबु कोऊ।
नाम गरीब अनेक नेवाजे, लोक बेद बर बिरिद बिराजे ॥१॥
नाम भालु कपि कटक बटोरा, सेतु हेतु श्रम कीन्ह न थोरा।
नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं, करहु बिचारु सुजन मनमाहीं ॥२॥
राम सकुल रन रावनु मारा, सीय सहित निज पुर पगुधारा।
राजा राम अवध रजधानी, गावत गुन सुर मुनि वर बानी ॥[2]३॥

नरतनुधारी सगुण राम के चरित्र तथा कर्म देश-काल द्वारा सीमित प्रतीत हो सकते हैं परन्तु नाम-स्मरण के द्वारा अनन्त और असीम चरित्रों और प्राप्तियों की सभावना साकार हो उठती है। इसलिए राम-नाम स्वयं सगुण वेषधारी ब्रह्म राम से भी श्रेष्ठ कहा गया है।[3]

सगुण अवतारी राम को अपने सुहृद एवं सेवकों के उद्धार के लिए श्रम और युद्ध करना पड़ा परन्तु प्रेम सहित नाम-स्मरण से जीव बिना श्रम के ही प्रबल मोह दल को जीत लेता है। नाम-प्रसाद से ही निःशोक होकर प्राणी आत्मानन्द-मग्न होकर विचरण करता

---

१. तु० रा०, बा० का० २३ से २४

२. तु० रा०, बा० का० २४, १, २, ३

३. कहउँ नामु बड़ राम तें निज विचार अनुसार ॥ तु० रा०, बा० का० २३
ब्रह्म राम ते नामु बड़ बरदायक बरदानि ॥ तु० रा०, बा० का० २५

है ।[१] अनन्त (सतकोटि) प्रभुचरित्रों के ज्ञाता तथा द्रष्टा शिव ने इसीलिए राम-नाम को ही श्रेष्ठ मानकर ग्रहण किया है ।[२]

रामनाम. के प्रभाव से भूत-भावन कपर्दी स्वयंभू शिव शंकर रूप से शोभायमान हुए । बाहर से अमगल स्वरूप दृष्टिगोचर होते हुए भी स्वयं मंगलनिधान हुए ।[३] शुकदेव, सनक, सनन्दन आदि अनेक सिद्धो एव मुनियों को भी नाम के प्रसाद से ब्रह्मानन्द की उपलब्धि हुई ।[४] यद्यपि साधारणतया संसार में ईश्वर ही प्रीति का पात्र है परन्तु इसके विपरीत नाम के प्रभाव से नारद (जीव) भगवान् के प्रेम के भाजन बने ।[५] प्रह्लाद नामजप से ही भक्त-शिरोमणि हुए ।[६] ध्रुव के द्वारा ग्लानिपूर्वक नाम जपने पर भी उनको शाश्वत दिव्य स्थान की प्राप्ति हुई । पवनसुत हनुमान ने तो स्वयं राम को ही नाम-स्मरण के द्वारा अपने वश में कर लिया है ।[७] यही नही अजामिल, गज, गणिका प्रभृति अनेक नैतिक, सामाजिक अथवा भौतिक स्थिति के प्राणियों को नाम के द्वारा ही मोक्ष प्राप्त हुआ है ।[८] राम के स्थान में मरा-मरा के जपने से आदि कवि वाल्मीकि की गति सुधर गई । एक हत्यारे डाकू से परिवर्तित होकर वे कवि-शिरोमणि, ब्रह्मज्ञानी महर्षि हो गये । गणिका और अजामिल जैसे अभ्यस्त पापियों का भी उद्धार हो गया । पाण्डुवधू द्रौपदी की लाज भी नाम-प्रताप के बल से ही बच सकी । गजराज भी ग्राह से हार कर जब मृत्यु के मुख में जा रहा था, नाम-स्मरण के द्वारा ही मृत्यु का ग्रास बनने से बच गया ।[९] जब तक वह स्वय अपनी शक्ति का प्रयोग करता रहा तब तक कोई कार्य नही सधा । हार मानकर वह जैसे ही हरि की शरण

---

१. सेवक सुमिरत नाम सप्रीती, बिनु श्रम प्रबल मोह दलु जीती ।
फिरत सनेहँ मगन सुख अपनें, नाम प्रसाद सोच नहिं सपने ।। — तु० रा०, बा० का० २४.४

२. ब्रह्म राम तें नामु बड़ बर दायक बरदानि ।
राम चरित सत कोटि महँ लिय महेस जियँ जानि ।। — तु० रा०, बा० का० २५

३. नाम प्रसाद संभु अविनासी, साजु अमंगल मंगल रासी । — तु० रा०, बा० का० २५.१

४. सुक सनकादि सिद्ध मुनि जोगी, नाम प्रसाद ब्रह्मसुख भोगी । — तु० रा०, बा० का० २५.१

५. नारद जानेउ नाम प्रतापू, जग प्रिय हरि हरि हर प्रिय आपू । — तु० रा०, बा० का० २५.२

६. नामु जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू, भगत सिरोमनि भे प्रहलादू । — तु० रा०, बा० का० २५.२

७. ध्रुवँ सगलानि जपेउ हरिनाऊं, पायउ अचल अनूपम ठाऊं ।
सुमिरि पवनसुत पावन नामू, अपनें बस करि राखे रामू ।। — तु० रा०, बा० का० २५.३

८. अपितु अजामिल गज गनिकाऊ, भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ । — तु० रा०, बा० का० २५.४

९. राम बिहाय मरा जपते बिगरी सुधरी कवि-कोकिल हू की ।
नामहि तें गज की गनिका की अजामिल की चलिगै चल चूकी ।
नाम-प्रताप बड़े कुसमाज बजाइ रही पति पाण्डुवधू की ।
ताको भलो अजहूं तुलसी जेहि प्रीति प्रतीति है आखर दू की ।।८९ — तु० ग्र०, पृ० १८४

गया आधे नाम के लेने से ही भगवान् ने आकर उसका उद्धार किया।[1] अतीत में ही नहीं, तुलसी के अनुसार आज भी जिसे दो अक्षर 'राम' नाम से प्रीति है उसका कल्याण ही है।[2]

भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल, तीनों लोक तथा चारों युगों में नामजप द्वारा लोगों ने मुक्ति-लाभ किया है। यद्यपि मनुष्यों की सामाजिक तथा वैयक्तिक मनःस्थिति के अनुसार सतयुग में ध्यान, त्रेता में यज्ञ तथा द्वापर में पूजन के द्वारा भी परमात्मा की प्राप्ति मानी गई है परन्तु वर्तमान काल कलियुग में, जब कि जीव पाप-सागर में मीन की भाँति गोते लगा रहा है, केवल प्रभुनाम ही जगत्-जाल को नष्ट करने वाला एकमात्र साधन है।[3] तीनों कालों में नाम के द्वारा मुक्ति-प्राप्ति होती ही है परन्तु विशेषता यह है कि कलियुग में नाम के अतिरिक्त और कोई साधन है ही नहीं, जब कि सतयुग, त्रेता, द्वापर आदि में नाम तो साधन था ही, कर्म, भक्ति तथा ज्ञान के द्वारा भी मुक्ति-लाभ हो सकता था।[4]

कालनेमिरूपी कलिकाल राक्षस के लिए नाम समर्थ हनुमान की भाँति संहारक है। कलियुगरूपी हिरण्यकश्यप को वध करके प्रह्लादरूपी अपने भक्तों की रक्षा करने वाले नरसिंह की भाँति है।[5] तुलसी अपने समान पापी अन्य किसी को नहीं समझते। भगवान् किस प्रकार उनके पापों को क्षमा करेंगे। योग, विराग, जप, यज्ञ, तप, त्याग, तीर्थ, व्रत धर्मादि कार्य या सुकृत कुछ भी उनके पास नहीं है जिनसे कि उन पापों से मुक्ति मिल जाय तथा पुण्य संचय हो जाय, फिर भी उनको दृढ़ विश्वास है कि सभी सुकृतों की अपेक्षा नाम का प्रभाव अधिक है और इसी से बड़े से बड़े सुकृती की तुलना में केवल नाम के प्रभाव से वे अपने को बड़ा समझते हैं।[6] यद्यपि वे वर्णाश्रमधर्म के समर्थक थे और उनके विचार से

---

१. जब लौं गज बल अपन्यो बरत्यो नेकु सरयो नहिं काम।
निरबल है बलराम पुकारे आये आधे नाम ।।

२. ताको भलो अजहूँ तुलसी जेहि प्रीति प्रतीति है आखर दूको ।।८६ — तु० ग्रं०, पृ० १८४

३. ध्यानु प्रथम जुग मखबिधि दूजें, द्वापर परिपोषत प्रभु पूजें।
कलि केवल मलमूल मलीना, पाप पयोनिधि जन मन मीना। — तु० रा, बा० का० २६.२

४. चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ, कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ। — तु० रा०, बा० का० २१.४

५. कालनेमि कलि कपट निधानू राम सुमति समरथ हनुमानू ।४
राम नाम नरकेसरी कनककसिपु कलिकाल।
जापक जन प्रहलाद जिमि पालहि दलि सुरसाल ।। — तु० रा०, बा० का० २७

६. जोग न बिराग जप जाग तप त्याग व्रत,
तीरथ न धर्म जानौं बेद बिधि किमि है।
तुलसी सो पोच न भयो है नहिं ह्वैहै कहूँ,
सोचैं सब याके अघ कैसे प्रभु छमिहै।
मेरे तो न डर रघुबीर सुनौ साँची कहौं,
खल अनखैहैं तुम्हैं सज्जन न गमिहै।
भले सुकृती के संग मोहिं तुला तौलिये तौं,
नाम के प्रसाद भार मेरी ओर नमि है।७१ — तु० ग्रं०, पृ० १८०

उच्च कुलोत्पन्न ब्राह्मणादि वर्ण सर्वश्रेष्ठ थे, शूद्रों की तो कोई गणना ही नहीं थी, परन्तु भक्ति के क्षेत्र में उनका मत है कि निरन्तर रामनाम लेने वाला वह श्वपच भी उस उच्च-कुलोत्पन्न व्यक्ति से कहीं अधिक श्रेष्ठ है जो रामनाम नहीं लेता ।[1] रामनाम की सर्व-सम्पन्नता प्रकट करने के लिए तुलसी ने अंकगणित के सिद्धांत का सुन्दर रूपक उपस्थित किया है। अंकगणित का साधारण सिद्धांत है कि किसी अंक पर शून्य रख देने से उसका मूल्य दस गुना हो जाता है परन्तु कोई अंक न होने पर कितने भी शून्य रखने से उनका मूल्य शून्य के बराबर ही रहता है। श्रेय के सभी साधनों को तुलसी ने शून्य का स्थान दिया है तथा रामनाम को अंक का स्थान। रामनाम के साथ यदि अन्य साधन रहते हैं तो साधक की साधना का मूल्य बहुत अधिक बढ़ जाता है परन्तु नामरूपी अंक के अभाव में योग, विराग, तप आदि शून्य से अधिक महत्त्व नहीं रख पाते। ध्यान देने की बात है कि अन्य सभी साधनों के अभाव में भी नाम अंकरूप होने से मूल्यवान रहता ही है।[2]

स्वेच्छा से नहीं, विवशता से भी परमात्मा के नामस्मरण से अनेक जन्मों के संचित पातक नष्ट हो जाते हैं। उसका आदरपूर्वक स्मरण करने से भवसागर का पार करना गोपद को पार करने की भाँति सहज, सरल तथा सुसाध्य हो जाता है।[3] नाम ने अजामिल जैसे अनेक पापियों को अपार भवसागर में डूबने से बचा लिया। नाम का यही फल है कि जिसने स्मरण कर लिया, उसके मार्ग का अवरोधक सुमेरु पर्वत भी कण के समान तथा अथाह समुद्र भी 'अजाखुर' के समान क्षुद्र हो गया। साधारणतया लघुता एवं क्षुद्रता के मापदण्ड के लिए 'गोखुर' शब्द ही प्रयुक्त होता है परन्तु तुलसी ने सम्भवतः उसकी विशेष हीनता के द्योतन के लिए 'अजाखुर' का नवीन प्रयोग किया है।[4] तुलसी स्वयं अपने बड़प्पन एवं महत्ता का कारण नाम को ही मानते हैं।[5] उनके लिए रामनाम ही सर्वस्व है। माता, पिता, स्वामी, हितू सभी रामनाम है। रामनाम का ही प्रेम है, रामनाम का ही नेम है। स्वार्थ के लिए संसार में सभी हितैषी हैं परन्तु परमार्थ के लिए केवल रामनाम ही है। उसी की तुलसी को आशा है तथा उसी का भरोसा है। जिस प्रकार दरिद्र को भी कामधेनु तथा काम-वृक्ष से सभी इच्छित पदार्थ प्राप्त हो सकते हैं उसी प्रकार तुलसी अपने जैसे अकिंचन के

---

१. तुलसी भगत सुपच भलो भजै रैनि दिन राम।
ऊँचो कुल केहि काम को जहाँ न हरि को नाम ॥३८ — तु० ग्रं०, पृ० १२

२. रामनाम को अंक है सब साधन है सून।
अंक गये कछु हाथ नहिं अंक रहे दसगून ॥१० — तु० ग्रं०, पृ० ८७

३. बिबसहु जासु नाम नर कहहीं जनम अनेक रचित अघ दहहीं।
सादर सुमिरन जे नर करहीं भव वारिध गोपद इव तरहीं — तु० रा०, बा० का० ११८.२

४. नाम अजामिल से खल कोटि अपार नदी भव बूड़त काढ़े।
जो सुमिरै गिरि-मेरु सिला-कन होत अजाखुर बारिधि बाढ़े ।५ — तु० ग्रं०, पृ० १३७

५. सोई है खेद जो बेद कहै न घटै जन जो रघुबीर बढ़ायो।
हौं तो सदा खर को असवार तिहारोई नाम गयंद चढ़ायो ।६० — तु० ग्रं०, पृ० १७७

लिए रामनाम को ही सर्वस्व का दाता मानते हैं ।[1] कलियुग में कल्याण के लिए रामनाम ही कल्पवृक्ष है । उस कल्याणकारक रामनाम-स्मरण द्वारा ही तुलसी जैसा साधारण व्यक्ति तुलसीदास जैसा महाकवि कहलाने के योग्य हुआ । भंग जैसा अनुपयोगी, मदकारी तथा ज्ञान-शून्य कर देने वाला वृक्ष तुलसीवृक्ष के समान पवित्र एवं उपयोगी हो गया ।[2] वन की साधारण घास को नामस्मरण के द्वारा ही तुलसी वृक्ष की महिमा प्राप्त हुई ।[3]

तीर्थ, तप, यज्ञ, दान, उपवास, नियम सभी आध्यात्मिक उन्नति तथा भगवत्प्राप्ति के साधन हैं परन्तु इन सबसे रामनाम का जप श्रेष्ठतम है ।[4] रामनाम की श्रेष्ठता उसकी सर्व-सुलभता मे भी है । समस्त इच्छित पदार्थों को देने वाले कल्पवृक्ष की भाँति नाम-रूपी कामधेनु समस्त अभिलषितों की दात्री तो है ही साथ ही अचल न होकर गतिशीला भी है ।[5] यही नही रामनाम ही कामधेनु भी है, जो अंधे की लाठी की भाँति सदैव साथ रक्खी जा सकती है[6] तथा कल्पवृक्ष के समान ही फल देती है । तुलसीदास नाम के महत्त्व को पूर्णतया वर्णन करने में स्वयं को तो असमर्थ पाते ही हैं, उनके मत से स्वयं राम भी नाम का महत्त्व व्यक्त करने में समर्थ नही हैं ।[7]

तुलसी ने रामनाम की वन्दना करते हुए रामनाम को ही सभी शक्तियों तथा प्रकाश का कारण, भानु, कृषानु तथा हिमकर का मूल कहा है । रामनाम ही त्रिदेव—ब्रह्मा, विष्णु,

---

१. राम नाम मातु पितु स्वामि समरथ हितु
आस राम नाम को भरोसो राम नाम को ।
प्रेम राम नाम ही सों नेम राम नाम ही को,
जानौं न मरम पद दाहिनो न बाम को ।
स्वारथ सकल परमारथ को रामनाम,
रामनाम हीन तुलसी न काहू काम को ।
राम की सपथ सरबस मेरे रामनाम,
कामधेनु कामतरु मो से छीन छाम को ।।१७८ — तु० ग्रं०, पृ० २०४

२. राम नाम को कलप तरु कलि कल्यान निवास ।
जो सुमिरत भयो भांग ते तुलसी तुलसीदास ।

३. केहि गिनती महँ गिनती जस बनघास ।
राम जपत भए तुलसी तुलसीदास ।।५६ — तु० ग्रं०, पृ० २१

४. तप तीरथ मख दान नेम उपवास ।
सब ते अधिक राम जपु तुलसीदास ।।५२ — तु० ग्रं०, पृ० २१

५. कामधेनु हरिनाम काम तरुराम ।
तुलसी सुलभ चारि फल सुमिरत नाम ।६२ — तु० ग्रं०, पृ० २१

६. कामधेनु हरिनाम कामतरु राम ।

७. कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई । राम न सकहिं नाम गुन गाई ।। — तु० रा०, बा० का० २५.४

महेश—रूप से वेदों का प्राण, निर्गुण होता हुआ भी गुणों का निधान तथा अनुपम है ।[1] इस महामंत्र रामनाम के जपने के कारण ही काशी में शिव मुक्ति के दाता माने जाते हैं । उन्होंने इसी नाम के द्वारा यह मोक्षदायिनी शक्ति प्राप्त कर ली कि उनकी नगरी काशी में मृत्यु को प्राप्त होने वाले सभी जीवों को मोक्ष प्राप्त हो जाय । इसी नाम के प्रभाव से काल-कूट जैसे विष ने अपनी हलाहलता का प्रभाव न दिखाकर उन्हें सुधा का अमरत्व प्रदान किया ।[2] नाम-प्रभाव से ही गणेश देवताओं के प्रथम पूज्य हुए तथा वाल्मीकि उलटा जप करके भी आदि कवि महर्षि वाल्मीकि कहलाये । इसी नाम को शकर के सहित पार्वती ने जपकर स्त्रियों में शिरोमणि स्थान प्राप्त किया ।[3]

भक्तिरूपी वर्षा ऋतु में रामनाम के दो अक्षर ही मानो अधिक वर्षा वाले दो मास श्रावण और भाद्रपद हैं । भक्तिरूपी धान की कृषि के लिए रामनामरूपी यह दो मास ही उसके जीवन-सर्वस्व है ।[4] इनके बिना यह भक्तिरूपी कृषि न जीवित ही रह सकती, न फल-फूल सकती है । भक्त चार प्रकार के माने गये हैं आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी ।[5] इन चारों को नाम का ही आधार है ।[6] जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं भगवत्प्राप्ति कर्मयोग, ज्ञान-योग, भक्ति-योग, हठ-योग आदि से भी हो सकती है परन्तु नाम का महत्त्व इन सबसे अधिक है । हठ-योग में भी नामजप करके ही प्रपंच से विरक्त योगीजन तत्त्व-ज्ञानरूपी दिवस (प्रकाश) में सचेत (जाग्रत) रहते हैं । वे उसी नामजप के द्वारा अनिर्वचनीय अनामय, सुख का अनुभव करते हैं ।[7] यही नहीं, जिज्ञासुगण तत्त्व का रहस्य ज्ञान भी जप के द्वारा ही प्राप्त करते हैं ।[8] अर्थार्थी अणिमादि सिद्धियों के इच्छुक साधकगण नाम जपकर इच्छित सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं ।[9] सांसारिक कष्टो व क्लेशों में पड़े हुए जीव भी नाम जपकर संकटों से मुक्ति

---

१. बंदउँ नाम राम रघुबर को हेतु कृसानु भानु हिमकर को ।
विधि हरिहर मय वेद प्रान सो, अगुन अनूपम गुननिधान सो । — तु० रा०, बा० का० १८.१
कासी मरत जन्तु अवलोकी, जासु नामबल करउँ बिसोकी । — तु० रा०, बा० का० ११८.१

२. महामंत्र जोइ जपत महेसू कासीं मुकुति हेतु उपदेसू ।२
नाम प्रभाउ जान सिव नीको, कालकूट फल दीन्ह अमीको ।। — तु० रा०, बा० का० १८.४

३. महिमा जासु जान गनराऊ प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ ।२
जान आदिकबि नाम प्रतापू, भयउ सुद्ध करि उलटा जापू ।। — तु० रा०, बा० का० १८.३

४. बरषा रितु रघुपति भगति तुलसी सालि सुदास ।
राम नाम बर बरन जुग सावन भादों मास ।। — तु० रा०, बा० का० १.६

५. "आर्त जिज्ञासु अर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ"

६. चहू चतुर कहुँ नाम अधारा । — तु० रा०, बा० का० २१.३

७. नाम जीह जपि जागहिं जोगी, बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी ।
ब्रह्म सुखहि अनुभवहिं अनूपा, अकथ अनामय नाम न रूपा । — तु० रा०, बा० का० २१.१

८. जाना चहहि गूढ़ गति जेऊ, नाम जीह जपि जानहिं तेऊ ।। — तु० रा०, बा० का० २१.२

९. साधक नाम जपहिं लय लाएँ, होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ । — तु० रा०, बा० का० २१.२

पाकर सुखी होते हैं ।[1] कलियुग में रामनाम स्वार्थ और परमार्थ दोनों के लिए ही सब कामनाओं की पूर्ति करने वाला है । ऐसे परम हितकारी नाम को भूलने वाले के विषय में भला क्या कहा जाय । सब प्रकार से निष्काम भक्ति में लीन ज्ञानी भी नामरूपी अमृत के कुण्ड में अपने मन को मछली बनाये हुए है ।[2] मीन को जल के आधार की भाँति भक्तों ने अपने हृदयों को नाम में ही धारण करा रक्खा है । ऐसे महत्त्वपूर्ण तथा लोक-परलोक सिद्धि की प्राप्ति में निमित्तोपादान कारण रामनाम को इसीलिए तुलसी ने जिह्वारूपी देहली पर सर्वदा रखने अर्थात् नाम-उच्चारण करते रहने का आग्रह किया है ।[3] इस नामजप से अंतः और बाह्य दोनों ही प्रकाशित होते हैं । स्मरणकर्त्ता तथा श्रोता दोनों का ही कल्याण होता है अथवा जापक के अंतःकरण को प्रकाशित करने वाला तथा उसका सांसारिक बाह्य जीवन में कल्याण करने वाला नामजप होता है ।[4] देहली पर रक्खा हुआ दीपक घर के भीतर तथा बाहर दोनों ही ओर प्रकाश करता है । दीपक तो संकेत मात्र से नाम के प्रकाशक गुण को व्यंजित करता है । वास्तव में तो भ्रमरूपी अंधकार के लिए राम का नाम साक्षात् सूर्य की भाँति है ।[5] प्रेमी को अपनी प्रिय वस्तु का सभी कुछ भला प्रतीत होता है । अवगुण भी गुणतुल्य दिखाई पड़ते हैं । उसे अपने प्रिय में जो विशेषता एव सौंदर्य, शौर्य आदि दिखलाई देते हैं, वह अन्य उदासीन दर्शकों को दृष्टिगोचर नही हो पाते । तुलसी को रामनाम से प्रीति है । उन्हें उस नाम के अक्षरों में भी सौंदर्य दृष्टिगत होता है । उन्हें वे दोनों अक्षर वर्णमाला के नेत्रों के समान तथा भक्तों के जीवन-सर्वस्व दिखलाई पड़ते हैं ।[6] रामनाम मत्रों की भाँति क्लिष्ट न होकर स्मरण करने में सुलभ, सुख को देने वाला, लोक में लाभ तथा परलोक में निर्वाह करने वाला है ।[7] अन्यत्र भी वे रामनाम को सब प्रकार से सुलभ मानते हैं ।[8] केवल नाम जपकर बिना कष्ट किये ही संसार-सागर को प्राणी पार कर लेता है ।[9] कहावत है कि जैसा बोवे वैसा लुणे । ससार मे बीज के बोने से ही वृक्ष का प्रादुर्भाव होता है । कर्म करने से ही उसके फल-प्राप्ति का प्रश्न उठता है परन्तु परमात्मा का नाम जपने से बिना बोये भी फसल काटी जा सकती है । नाम केवल साधन न होकर साध्य भी है ।[10] रामनाम के दोनों वर्ण कहने, सुनने, स्मरण करने सभी मे सुन्दर हैं और तुलसी के

---

१. जपहिं नामु जन आरत भारी, मिटहिं कुसंकट होहि सुखारी । — तु० रा०, बा० का० २१.३

२. सकल कामना हीन जे राम भगति रस लीन ।
नाम सुप्रेम पियूष ह्रद, तिन्हहुँ किए मन मीन — तु० रा, बा० का० २२

३. राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरी द्वार ।

४. तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौ चाहसि उजिआर । — तु० रा०, बा० का० २१

५. जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा । तेहि किमि कहिअ बिमोह प्रसंगा । — तु० रा०, बा० का० ११५.२

६. आखर मधुर मनोहर दोऊ, बरन बिलोचन जन जिय जोऊ । — तु० रा०, बा० का० १६.१

७. सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू, लोक लाहु परलोक निबाहू । — तु० रा०, बा० का० १६.१

८. बंदउँ बाल रूप सोइ रामू । सब बिधि सुलभ जपत जिसु नामू । — तु० रा०, पृ० १८८

९. जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं, भवनाथ सो समरामहे ।। — तु० रा०, उ० का० १२.२

१०. तुलसी काको नाम जपत जग जगती जामति बिनु बई ।।३८ — तु० प्र०, पृ० ३२४

लिए तो साक्षात् राम-लक्ष्मण की ही भाँति प्रिय हैं ।[1] वर्णरूप से अलग जान पड़ते हुए भी वे ब्रह्म तथा जीव की भाँति सदैव साथी हैं ।[2] नर-नारायण की भाँति सहोदर संसार के पालक परन्तु भक्तों के विशेष त्राण हैं ।[3] भक्तिरूपी स्त्री के लिए कर्णफूल की भाँति अलंकार और संसार के लिए सूर्य और चन्द्रमा की भाँति पालक तथा प्रकाशदायक हैं ।[4] मोक्षरूपी अमृत के स्वाद एवं तुष्टि के समान तथा संसार के धारण करने में कच्छप और शेष की भाँति हैं ।[5] भक्तों के मनरूपी कमल के लिए विहार करने वाले भ्रमर की भाँति तथा जीभरूपी यशोदा के लिए कृष्ण और बलदेव की भाँति प्रिय हैं ।[6] रेफ रूपी छत्र तथा अनुस्वाररूपी मुकुट से युक्त राम सभी अक्षरों से श्रेष्ठ उनके शिरोआसन पर आसीन हैं ।[7]

जिसके मुख से धोखे में भी रामनाम निकलता है उसकी पैर की जूती के लिए तुलसी अपने शरीर की त्वचा तक देने के लिए तैयार हैं । वे उसके जूते की खाल की कीमत अपने शरीर की खाल के मूल्य से अधिक मानते हैं ।[8] तुलसी ने किसी भी प्रकार से हो नामजप को कल्याणकर ही माना है :

> भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ
> नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ ।

उनके इस कथन ने एक सैद्धान्तिक प्रश्न उपस्थित कर दिया है । अधिकांश संतों का मत स्पष्ट है कि नामस्मरण के फलदायक होने के लिए प्रेम, भक्ति, श्रद्धा, ध्यान आदि अत्यन्त आवश्यक अंग हैं । केवल तोते की भाँति नामस्मरण करने से कोई लाभ नहीं माना गया । कबीर ने सहज बोधगम्य तर्क के द्वारा इस प्रकार के 'शुकस्मरण' तोतारटन्त का खण्डन किया है । जिस प्रकार शर्करा कहने मात्र से मुख मीठा नही हो सकता तथा जल कहने मात्र से तृषा शान्त नही होती उसी प्रकार राम कहने मात्र से राम की प्राप्ति नहीं हो सकती । यदि भोजन के नाम लेने मात्र से क्षुधा की तृप्ति हो सकती है तो नामस्मरण मात्र से समस्त प्राणियो के मुक्त हो जाने में कोई विलम्ब न होगा । परन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं । जब तक कि नाम से 'सुरत' न लगी हो तब तक नाम मोक्षदायक परमात्मा की प्राप्ति का कारण नहीं हो सकता । तोता भी मनुष्य के सम्पर्क में रामनाम उच्चारण करता है परन्तु जंगल में उड़ जाने पर पुनः राम का ध्यान नही करता । यह ध्यान ही स्मरण में मुख्य है, केवल नाम का उच्चा-

---

१. कहत सुनत सुमिरत सुठि नीके, राम लखन सम प्रिय तुलसी के । — तु० रा०, बा० का० १९.२
२. बरनत बरन प्रीति बिलगाती, ब्रह्म जीव सम सहज संघाती । — तु० रा०, बा० का० १९.२
३. नर नारायन सरिस सुभ्राता, जग पालक बिसेषि जनत्राता । — तु० रा०, बा० का० १९.३
४. भगति सुतिय कल करन बिभूषन, जगहित हेतु बिमल बिधु पूषन । — तु० रा०, बा० का० १९.३
५. स्वाद तोष सम सुगति सुधा के, कमठ सेष सम धर बसुधा के । — तु० रा०, बा० का० १९.४
६. जन मन मंजु कंज मधुकर से, जीह जसोमति हरि हलधर से । — तु० रा०, बा० का १९.४
७. एकु छत्रु एकु मुकुटमनि, सब बरननि पर जोउ ।
तुलसी रघुबर नाम के बरन बिराजत दोउ । — तु० रा०, बा० का० २०
८. तुलसी जाके बदन तें धोखेहु निकसत राम ।
ताके पग की पगतरी मेरे तनु को चाम ।३७ — तु० अ०, पृ० १२

रण नहीं ।[1] 'रामहि राम कहंतका काल घसीटा जाय' के द्वारा रामनाम के केवल उच्चारण की निरर्थकता ही सिद्ध की गई है । यही नही यदि मन स्थिर न हुआ, वह चंचल बना हुआ दसों दिशाओं में भटकता ही रहा तो हाथ में माला घुमाते रहने तथा मुख में जिह्वा से राम-नाम उच्चारण करने से यथार्थ स्मरण का प्रयोजन पूरा नही होता । मन को एकाग्र करके राम में ध्यान लगाना ही स्मरण है ।[2]

कबीर को तो इस प्रकार का स्मरण मान्य है :

सुमिरन सुरति लगाइ के मुखतें कछू न बोल ।
बाहर के पट देइ के अंतर के पट खोल ।।[3]

इसके विपरीत तुलसी ने धोखे से अथवा भूल से राम कहने वाले का महत्त्व भी कम नहीं माना है । इसीलिए वे भूल से भी राम कहने वाले के पैर की जूती के चमड़े से भी अपनी त्वचा को निकृष्टतर मानते हैं । राम कहने वाला मुक्त तो है ही यमदूत और काल स्वयं उससे भयभीत दूर खड़े रहते हैं । ऐसा कौन है जिसने पतित पावन राम का भजन करके सुगति नही पाई, परन्तु निरतर भजन से ही नहीं । गणिका, अजामिल, व्याध, गीध, आभीर, यवन, किरात इत्यादि कितने ही पापरूप भी केवल एक बार के नाम-उच्चारण से पवित्र हो गये ।[4] एक बार नामस्मरण करने मात्र से मनुष्य केवल स्वयं ही तरने योग्य नहीं हो जाता वरन् उसमें दूसरों को तारने की भी सामर्थ्य हो जाती है । प्रस्तुत पंक्तियाँ बरबस नारद भक्ति सूत्र के 'स तरति स तरति स लोकांस्तारयति' की याद दिला देता है ।[5] पूर्ण रूप सेएक बार भी नहीं, केवल आधे नाम के स्मरण से ही भगवान् का उनकी रक्षा के लिए आगमन भी कहा गया है ।[6] परन्तु यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि एक बार अथवा आधे बार के स्मरण से ही

---

१. पंडित बाद बदंते झूठा,
राम कह्यां दुनिया गति पावै, षाड कह्यां मुख मीठा ।
पावक कह्यां पाव जे दाझै जल कहि त्रिषा बुझाई ।
भोजन कह्यां भूष जे भाजै तौ सब कोई तिरि जाई ।
नर कै साथि सुवा हरि बोलै हरि परताप न जानै ।
जो कबहूँ उड़ि जाइ जंगल में बहुरि न सुरतैं आनै ।४० — क० ग्र०, पृ० १०१

२. माला तो कर में फिरै जीभि फिरै मुख माँहि ।
मनुवा तो चहुँ दिसी फिरै, यह कछु सुमिरन नाँहि ।।

३. सं० बा० सं० भा० १, पृ० ६

४. पाई न केहिं गति पतित पावन राम भजि सुनु सठ मना ।
गनिका अजामिल व्याध गीध गजादि खल तारे घना ।
आभीर यवन किरात खस स्वपचादि अति अघ रूप जे ।
कहि नाम बारक तेपि पावन होहिं राम नमामि ते ।। — तु० रा०, उ० का० १२९.१

५. बारक राम कहत जग जेऊ । होत तरन तारन नर तेऊ ।। — तु० रा०, अयो० का० २१६.२

६. ....आधे आधे नाम ।। सूरदास

अधम जनों को भी सुगति कैसे प्राप्त हो गई ? इसका समाधान हो सकता है इस उत्तर से कि वह एक बार अथवा आधे बार का स्मरण अन्तःकरण से भक्तिभावपूर्वक किया गया होगा। परन्तु तुलसी के अनुसार प्रेमभक्ति की भी आवश्यकता नहीं।
"भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ" तु० रा०, बा० का० २७.१ के द्वारा तुलसी ने स्पष्ट कर दिया है कि मन से अथवा बेमन से खीझ कर अथवा आलस में ही राम का नाम जिह्वा पर आ जाने से सर्वत्र मंगल हो जाता है। इससे भी अधिक राम-नाम का प्रभाव यह है कि राम-राम कहकर जम्हाई लेने वालों के सम्मुख भी पाप-पुंज नहीं जा सकते।[1] आज भी हम देखते हैं कि जम्हाई लेते समय लोग राम-राम, हरिओम् आदि कहा करते हैं।

तुलसी नाम के सर्वव्यापी समान प्रभाव का वर्णन करने में अद्वितीय हैं। पौराणिक ढंग से एक यवन के मुक्ति-लाभ का उल्लेख करते हुए कहा है कि एक अधम जर्जर नेत्रहीन वृद्ध यवन को सूकर के बच्चे ने मार्ग में धक्का देकर गिरा दिया। गिरकर वह पातकी 'हराम' ने गिरा दिया, इस प्रकार हाय-हाय करता हुआ मृत्यु को प्राप्त हो गया। उसके मुख से हराम के रूप में धोखे में ही जो रामनाम का उच्चारण हुआ उसके प्रभाव से वह मृत्यु के अनन्तर विष्णु-लोक को गया।[2] जान या अनजान किसी प्रकार से भी नाम लेने वाले के लिए तुलसी ने स्वर्ग या नरक की योजना नहीं की है। वह कैवल्य मोक्ष का अधिकारी हो जाता है तथा आवागमन से मुक्त हो जाता है।[3]

एक ओर तुलसी उपर्युक्त प्रकार से भायँ कुभायँ, अनख आलसहूँ आदि में नामस्मरण व्यक्त करते दिखाई पड़ते हैं परन्तु दूसरी ओर वे 'स्वासो-स्वास' अबाध गति से सोहं जप पर पूर्ण बल देते हैं। यही नहीं उसे वे अपना स्वयं का मन्तव्य भी कहते हैं। अनन्य भक्त जिसका बिना टूटे निरन्तर नित्य प्रति स्वासो-स्वास जप चलता है उसके बराबर अन्य कोई श्रेष्ठ नहीं।[4] इसी प्रकार के (सोहं) जप पर निर्गुणियाँ संतों ने भी बहुत जोर दिया है।

---

१. राम-राम कहि जे जमुहाहीं तिन्हहि न पाप पुंज समुहाहीं।

२. आंधरो अधम जड़ जाजरो जरा जवन,
सूकर के सावक ढका ढकेल्यों मग में।
गिरो हिये हहरि हराम हो हराम हन्यो,
हाय-हाय करत परीगो कालफँग में।
तुलसी बिसोक ह्वै त्रिलोकपति-लोक गयो,
नाम के प्रताप बात बिदित है जग में।
सोई रामनाम जो सनेह सो जपत जन,
ताकी महिमा क्यों कही है जाति अगमैं।६ तु० ग्र०, पृ० १८१

३. जानि नाम अजानि लीन्हे सरग जमपुर मने ।। तुलसी, सं० वा० सं० भा० २, पृ० ८३

४. अति अनन्य जो हरि को दासा। रटै नाम निसि दिन प्रति स्वासा।
तुलसी तेहि समान नहिं कोई। हम नीके देखा सब लोई।४० तु० ग्र०, पृ० १२

तुलसी सोने-जागने जैसे जीवन के नैत्यिक कार्यों में भी रामनाम से पृथक् रहना नहीं चाहते। सिरहीन कबन्ध की भाँति पथभ्रष्ट भटकने से कोई लाभ नहीं होता। शयन वही सार्थक है जिसमें रामस्नेह की समाधि निन्द्रा हो तथा जागरण भी वही है जिसमें जीव रामनाम का स्मरण करता रहे।[1] श्रवणेन्द्रिय रामकथा सुनने के लिए, मुख रामनाम कहने के लिए तथा हृदय रामनाम के निवास के लिए है। कोई इस मत से सहमत हो अथवा असहमत तुलसी के मत से जीवन का लाभ यही है—रामकथा कहना, सुनना तथा उसे हृदय में धारण करना।[2] निद्रा के सुखद अंक में जाकर मनुष्य सब प्रकार से चिन्ता रहित हो जाता है। तुलसी राम-नाम के प्रसाद से सभी द्वन्द्वों से निश्चित होकर आनन्दनिद्रा को प्राप्त करते हैं।[3] एकमात्र राम के अवलम्ब से वे सुख की नींद सोते हैं जब कि संसार के सभी प्राणी जोगी, जंगम, जती, जमाती, राजा, सेवक, बुध, पंडित, लोभी, भोगी, वियोगी, रोगी सभी किसी न किसी चिन्ता या अर्थ की लालसा में जागते रहते हैं। उन्हें सुख की नींद प्राप्त नहीं होती।[4] इसी लिए तुलसी अपने लिए भगवान् राम से यही वरदान चाहते हैं कि उनको रामनाम का ही भरोसा रहे, नाम का ही बल रहे तथा नाम से ही स्नेह रहे और इनकी यह स्थिति जन्म-जन्मांतर में बनी रहे।[5]

---

१. जागिए न सोइए बिगोइए जनम जाय,
दुख रोग रोइए कलेस कोह काम को।
राजा रंक रागी औ बिरागी भूरि, भागी ये
अभागी जीव जरत प्रभाव कलि बाम को।
तुलसी कबंध कैसो धाइबो बिचारु अंध,
धंध देखियत जग सोच परिनाम को।
सोइबो जो राम के सनेह की समाधिसुख,
जागिबो जो जीह जपै नीके राम नाम को।८३ तु० ग्र०, पृ० १८३

२. श्रुति राम कथा मुख राम को नाम हिये पुनि रामहि को थलु है।
सब को न कहै तुलसी के मते इतनो जग जीवन को फलु है।।३७ तु० ग्र०, पृ० १७४

३. प्रसाद रामनाम के पसारि पायँ सूतिहौं।।६८ तु० ग्र०, पृ० १७६

४. जागैं जोगी जंगम जती जमाती ध्यान धरैं,
डरैं उर भारी लोभ मोह कोह काम के।
जागैं राजा राजकाज, सेवक समाज साज,
सोचैं सुनि समाचार बडे बैरी बाम के।
जागैं बुध बिद्याहित पंडित चकित चित्त,
जागैं लोभी लालच धरनि धन धाम के।
जागैं भोगी भोग ही वियोगी रोगी सोग बस,
सोवै सुख तुलसी भरोसे एक राम के।।१०६ तु० ग्र०, पृ० १८८

५. नाम भरोस नाम बल नाम सनेहु।
जनम जनम रघुनन्दन तुलसिहि देहु।।६८ तु० ग्र०, पृ० २२

निर्गुणिया सतों ने प्रेम-भक्ति के बिना केवल तोतारटंत नामस्मरण को निरर्थक माना है। नामस्मरण का फल प्रेम पर ही निर्भर है। हार्दिक प्रेम तथा ध्यान के अभाव में केवल मुख से 'राम-राम' कहने से प्राणी का हित-साधन नहीं होता। इस प्रकार निर्गुणमार्गी सन्तों ने वाचिक नामस्मरण की अपेक्षा मानस-नामस्मरण को अधिक महत्त्व प्रदान किया है। भक्त कवियो में तुलसीदास ने नामस्मरण के दोनों पक्षों की महत्ता प्रतिपादित की है। एक ओर वे अनन्य भक्तिपूर्वक प्रत्येक श्वास में रामनाम जप करने वाले की सर्वोत्कृष्टता प्रकट करते है तो दूसरी ओर धोखे से ही अधम यवन के मुख से हराम के रूप में राम का उच्चारण हो जाने से ही उसको मुक्ति-लाभ होने का उल्लेख करते हैं। वास्तव मे बात यह है कि तुलसीदास उस उच्च स्तर पर पहुँचे हुए भक्त थे, जहाँ राम की अनन्य भक्ति उनके लिए सहज हो गई थी, वरन् कहना तो यह चाहिए कि वे राम से एकाकार हो गये थे। राम के सिवा वे कुछ देखते ही नहीं थे (सीयराममय सब जग जानी)। तभी तो सोने-जागने जैसे दैनिक कार्यों में भी उन्हें राम से विलग होना स्वीकार्य न था। उनके लिए नामस्मरण चाहे वह भाव से हो या कुभाव से, रीझ से हो अथवा खीझ से, हर प्रकार से फलदायक है। परन्तु यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि तुलसी के कथन का अर्थ उसके शब्दार्थ से नही लेना चाहिए। उनकी कोटि के मानदण्ड से आँकने पर यही प्रतीत होता है कि वे भी नाम के एकाग्रचित्त (Concentrated) स्मरण के समर्थक थे। स्मरण का नैरन्तर्य, दीर्घकालत्व, एकाग्रता तथा प्रीति निर्गुणमार्गी सन्तों तथा तुलसी में समान ही है।

अष्टम परिच्छेद

मुक्ति के साधन

(भक्ति-ज्ञान-योग)

भक्ति शब्द भज् सेवायाम् धातु से क्तिन् प्रत्यय लगा कर बना है। क्तिन् प्रत्यय वस्तुतः भाव अर्थ में होता है और इस प्रकार वैयाकरण, भजनं भक्तिः मानते हैं परन्तु कृदन्तीय प्रत्ययर्थ परिवर्तनों के द्वारा उन्होंने भज्यते अनया इति भक्तिः अथवा भजन्ति अनया इति भक्तिः आदि व्युत्पत्तियाँ भी उपस्थित की हैं। कुछ भी हो हर प्रकार से भक्ति का अर्थ सेवा या भजन ही रहता है।

डा० सम्पूर्णानन्द का कथन है कि वैदिक वाङ्मय में भक्ति शब्द का प्रयोग, जिस अर्थ में हम उसे जानते हैं, नही हुआ है। उनके विचार से "वह किसी भी संहिता की किसी भी प्रसिद्ध शाखा में नहीं मिलता और यदि कहीं आ भी गया होगा तो उसका व्यवहार उसी अर्थ में नही होगा, जिस अर्थ में हम उसका आजकल प्रयोग करते हैं।"[1] डा० ताराचन्द ने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि निम्बार्क, रामानुज, रामानन्द, बल्लभाचार्य, दक्षिण के आलवार संत तथा वीर सैव संप्रदाय इन सबका इस्लाम के प्रभाव के कारण प्रादुर्भाव हुआ। विष्णुस्वामी, निम्बार्क और मध्व का चिन्तन नज्जाम, अशअरी और गज्जारी के चिन्तन के समान लगता है। उन आचार्यों ने जो मार्ग चलाया उसमे जाति-प्रथा की कठोरता नही थी, धर्म के बाह्य उपचार गौण थे तथा एकेश्वरवाद, विरहाकुल भक्ति-भावना, प्रपत्ति और गुरुभक्ति पर उसमे बहुत जोर दिया गया था। ये सब इस्लाम की ही विशेषताएँ है।[2] डा० हुमायूँ कबीर ने यह निर्धारित करने का प्रयत्न किया है कि आचार्य शंकर ने अद्वैत का पाठ इस्लाम से सीखा है।[3] दक्षिण में अन्य आचार्यों तथा भक्तों के अभ्युदय को भी वे वहाँ के तत्कालीन नवागन्तुक इस्लाम धर्म से सम्बद्ध करते हैं।

वास्तव में किसी विचारधारा के भारतीय अथवा अभारतीय होने का मापदण्ड उस विचार या भाव का वैदिक साहित्य में अस्तित्व या अभाव माना गया है। यह सिद्धान्त किसी सीमा तक ठीक भी है। वह भी कम से कम उस सीमा तक जहाँ तक किसी विचारधारा का अस्तित्व यदि वैदिक वाङ्मय में प्राप्त हो जाता है तब तो उसके भारतीय होने में कोई सन्देह का स्थान ही नहीं रह जाता। यद्यपि सभी विचार, जिनका अस्तित्व वेदों में नहीं भी

---

१. 'कल्याण' वर्ष ३२ भक्ति अंक 'भक्ति' डा० सम्पूर्णानन्द, पृ० १०६

२. Influence of Islam on Indian Culture. By Dr. Tarachandra

३. Our Heritage By Dr. Humayun Kabir

मिलता, अभारतीय या विदेशी नहीं कहे जा सकते परन्तु उस दशा में प्रत्येक विषय को उसकी व्यक्तिगत स्थिति एव महत्त्व पर देखना होगा। इस प्रकार से यदि हमें भक्ति की भावना तथा विचारधारा का दर्शन या आभास वैदिक साहित्य में मिल जाय तो फिर उसके भारतीय सिद्ध करने के लिए अन्य बाह्य कारणों की अपेक्षा ही नही रह जाती। भक्ति-भावना पूर्ण-तया भारतीय है यह हम प्रस्तुत वैदिक उद्धरणों से देख सकते हैं।

डा० सम्पूर्णानन्द का कथन सत्य हो सकता है कि किसी भी महत्त्वपूर्ण वैदिक संहिता में भक्ति शब्द का प्रयोग न हुआ हो। परन्तु उपनिषद् में हम भक्ति शब्द और वह भी आधु-निक अर्थ में प्रयुक्त पाते हैं। "जिसकी ईश्वर में पराभक्ति है और ईश्वर में जैसी भक्ति है वैसी ही गुरु में भी है—"[1] में भक्ति शब्द भक्ति के आधुनिक प्रचलित अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अन्य प्राचीन उपनिषदों में चाहे भक्ति शब्द का प्रयोग न हुआ हो परन्तु भक्ति की भावना का अभाव नहीं रहा है। स्थान-स्थान पर उसके दर्शन हमें होते हैं। वैदिक स्तुति-परक ऋचाओं के अतिरिक्त भी यज्ञ अथवा कर्मकाण्ड में भी श्रद्धापूर्वक यज्ञ या उपासना करने का ही विधान है। उपनिषद् अंश में ज्ञान के साथ यदि किसी अन्य महत्त्वपूर्ण भाव का अस्तित्व मिलता है तो वह तद्मय उपासना तथा श्रद्धाभक्तिपूर्वक उसकी अनुभूति का।

ऋग्वेद में श्रद्धे श्रद्धापयेह नः (हे श्रद्धे ! तू हमें श्रद्धावान् बना)[2] के द्वारा श्रद्धा को स्पष्ट शब्दो में गौरव सहित स्वीकार किया गया है। "श्रद्धा के द्वारा सत्य की प्राप्ति होती है"[3] के द्वारा भी श्रद्धा की आवश्यकता तथा फलमयता के विषय में कहा गया है। जो भूत, भविष्य, वर्तमान-कालिक समस्त जगत का नियन्ता है, केवल स्वः ही जिसका स्वरूप है, उस ज्येष्ठ ब्रह्म को नमस्कार है।[4] उसे सायकाल नमस्कार हो, प्रातःकाल नमस्कार हो, रात्रि में नमस्कार हो तथा दिवस मे नमरकार हो। भक्ति-भाव से भरी हमारी बुद्धि वृत्तियाँ सर्वदा झुकी रहा करें[5] देव ! संस्कान ! सहस्त्रापोषस्येशिषे। तस्य नो रास्व, तस्य नो धेहि, तस्य ते भक्तिवांसः स्याम[6] में भी भक्ति शब्द का प्रयोग किया गया है। पीछे कहा गया है कि श्वेताश्वतर उपनिषद् में भक्ति शब्द स्पष्ट तथा आधुनिक अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। जिसकी ईश्वर में पराभक्ति है और ईश्वर में जैसी भक्ति है वैसी ही गुरु में भी है उसके सामने सब कुछ कहा जा सकता है।[7] अन्य उपनिषदो में यद्यपि भक्ति शब्द का प्रयोग नहीं मिलता

---

१. यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। — श्वे० उ० ६|२३

२. ऋग्वेद १०|१५१|५

३. श्रद्धया सत्यमाप्यते। — शु० यजु० १९|३०

४. ॐ यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ — अथर्व० १०|८|१

५. ॐ नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमोदिवा।
भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः॥ — अथर्व० ११|२|१६

६. अथर्व० ६|७९|३

७. यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥ — श्वे० उ० ६|२३

परन्तु भक्ति-भाव की उपस्थिति अवश्य दृष्टिगोचर होती है। वह ब्रह्म भजनीय होने के कारण उपासना करने योग्य है।[1] सूर्य ही ब्रह्म है ऐसी उपासना करे।[2] मोक्ष की प्राप्ति के लिए मैं आपकी शरण लेता हूँ[3], इस कथा में भक्ति के साथ उपासना तथा आत्म-समर्पण या शरणागति का भाव भी दृष्टिगोचर होता है। अस्तु यह समझ में नहीं आता कि डा० सम्पूर्णानन्द भक्ति-तत्त्व को अवैदिक किस प्रकार मानते हैं। भक्ति के अवान्तर भेदों का स्पष्ट उल्लेख वेदों में न हुआ हो यह एक बात है परन्तु उनके मूल रूप भी वहाँ उपलब्ध न हों यह दूसरी बात है।

भक्ति-साहित्य में भागवत का वही स्थान है जो आस्तिक हिन्दुओं के लिए वेद का, इसीलिए वेदों के भक्ति-तत्त्व का अनुशीलन कर लेने के पश्चात् ऐतिहासिक क्रमानुसार भक्ति-भाव का अध्ययन न करके भागवत में आये हुए भक्ति-तत्त्व का विवेचन कर लेना युक्तिसंगत होगा। भक्ति के स्वरूप तथा लक्षण के विषय में कहा गया है कि जिस प्रकार गंगा का प्रवाह अखण्ड रूप से समुद्र की ओर बहता रहता है उसी प्रकार भगवत् गुण-श्रवण मात्र से मन की गति का अविच्छिन्न रूप से सर्व अन्तर्यामी के प्रति हो जाना तथा उसी में निष्काम तथा अनन्य प्रेम भक्ति कही जाती है।[4] जो भगवान् के चरित्र का श्रवण करते हैं, गायन करते हैं, स्मरण करते हैं तथा उससे आनन्द प्राप्त करते हैं, वे शीघ्र ही भगवान् के चरणों को प्राप्त होते हैं तथा आवागमन से मुक्त हो जाते हैं।[5] परन्तु भागवत ने श्रवण, गायन तथा स्मरण को भक्ति तथा उसके फल को मुक्ति माना है। यद्यपि नवधा भक्ति का स्वरूप भागवत की ही देन है।[6]

मानव के परम कल्याण के साधक केवल तीन ही मार्ग माने गये हैं। वे हैं ज्ञान-योग, कर्म-योग तथा भक्ति-योग। इनके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है।[7] परन्तु साधक जो कुछ कर्म, तप, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान, धर्म या अन्य श्रेय के साधनों द्वारा प्राप्त करता है, वह भगवत्-

---

१. तद्वनमित्युपासितव्यम्। — केन० उ० ४।६

२. आदित्योब्रह्मेत्युपासीत। — छा० उ० ३।१९।१

३. मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये। — श्वे० उ० ६।१८

४. मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोऽम्बुधौ॥ — भा० ३।२९।११
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥ — भा० ३।२९।१२

५. शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं
भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्॥ — भा० १।८।३६

६. श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥ — भा० ७।५।२३

७. योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्मंच भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥ — भा० ११।२०।६

भक्त भक्ति-योग के द्वारा अनायास ही प्राप्त कर लेता है।[१] इसीलिए संभवतः यह कहा गया है कि संसृति से मुक्ति-प्राप्ति के एकमात्र उपाय भक्ति को छोड़कर जो केवल ज्ञान के लिए प्रयत्न करते हैं उनका प्रयत्न भूसी को कूटकर चावल निकालने के प्रयत्न की भाँति निष्प्रयोजन (क्लेशल) है।[२] निर्मल ज्ञान भी जो कि मोक्ष का साक्षात् साधन है, यदि भक्ति से रहित हो तो शोभनीय नहीं होता फिर ईश्वर को अर्पित न किये हुए अभद्र कर्मों की बिसात ही क्या।[३] इस प्रकार की भक्ति के कार्य या फल के विषय में भागवतकार का कथन है कि जिस प्रकार धधकती हुई अग्नि लकड़ियों के विशाल ढेर को भी जलाकर भस्म कर देती है उसी प्रकार भगवान् की भक्ति सम्पूर्ण घोर पापराशि को पूर्णतया जला देती है।[४] जिस अकिंचन के हृदय में भगवत्-भक्ति है उसमें समस्त गुण तथा देवता निवास करते हैं किन्तु जो भगवान् का भक्त नहीं उसमें महापुरुषों के गुण आ ही कैसे सकते हैं। उसके मनोरथ तो केवल बाह्य विषयों की ओर दौड़ते रहते हैं।[५] इस प्रकार महापुरुषों के गुणों के लिए भी भक्ति आवश्यक कारण सिद्ध होता है। यदि भक्ति के अभाव में भी महत् गुण आदि का अस्तित्व संभव होता तो कारणीयता की आवश्यकता स्थापित न होती। इस जगत में मनुष्यों के लिए यही सबसे बड़ा धर्म है कि नाम-कीर्तन आदि के द्वारा भगवान् में भक्ति-योग प्राप्त कर लें।[६] शरणागति को भक्ति मानते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति प्रकृति तथा पुरुष इन दोनों के नियामक साक्षात् वासुदेव की शरण लेता है, वह मुझे निश्चय ही प्रिय है।[७]

---

१. यत् कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञान वैराग्यतश्च यत् ।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ।३२
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तोलभतेञ्जसा ।। भा० ११।२०।३३

२. श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद्य यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ।। भा० १०।१४।४

३. नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यद्प्यकारणम् ।। भा० १।५।१२

४. यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात् ।।
तथामद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः ।। भा० ११।१४।१६

५. यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा
मनोरथेनासति धावतो बहिः भा० ५।१८।१२

६. एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः ।
भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः ।। भा० ६।३।२२

७. यः परं रंहसः साक्षात्त्रिगुणाज्जीवसंज्ञितात् ।
भगवन्तं वासुदेवं प्रपन्नः स प्रियो हि मे ।। भा० ४।२४।२८

इस प्रकार भगवान् के द्वारा भक्त का प्रिय माना जाना भागवत् की विशेषता है। उसके अनुसार जिनके जिह्वाग्र पर भगवान् का नाम रहता है, वे चाण्डाल होने पर भी श्रेष्ठ हैं। जो उसका नाम लेते हैं, उन्होंने यथार्थ तपस्या कर ली, हवन कर लिये तथा वे ही आर्य हैं और उन्होंने ही वेदों का अध्ययन किया है।[1] उन्हीं भक्तों के लिए परमात्मा स्वयं मनुष्य देह धारण करके अवतार लेता है जिनकी लीलाओं को सुनकर तथा जिनका भजन करके भक्त उन्हीं में लीन हो जाते हैं।[2] भगवान् के संगी ऐसे भक्तों के क्षण भर के संग के लिए प्रचेतागण ने स्वर्ग और मोक्ष के सुख को भी नगण्य समझा फिर मानवी भोगों की तो बात ही क्या।[3] साधारणतया मोक्ष ही वह लक्ष्य माना गया है जिसके लिए ज्ञान, भक्ति, योग आदि सब साधन स्वीकार किये गये हैं परन्तु यहाँ पर भक्ति की अतिशय साध्यता प्रदर्शित करने के लिए मुक्ति को भी भक्त के सत्संग तक से अल्प बतलाया गया है। अन्यत्र भी कहा गया है कि भक्त सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य आदि मुक्ति भी भगवत्-सेवा के सम्मुख स्वीकार नहीं करते। भगवत्-सेवा के लिए मुक्ति की भी अवहेलना करने वाला यह भक्ति-योग ही परम पुरुषार्थ कहा गया है जिसके द्वारा पुरुष त्रिगुण को पारकर भगवत्-भाव को प्राप्त हो जाता है।[4]

हम देख चुके हैं कि भक्त स्वयं भगवान् को प्रिय होता है परन्तु कभी-कभी भक्त के भजन करने पर भी वे उसमें उतनी ही रुचि प्रदर्शित नहीं करते परन्तु उसका कारण वे अपने और भक्त के बीच बदले हुए सम्बन्ध को नहीं मानते वरन् उसका कारण वे साधक भक्त में भगवान् के लिए अधिक व्यग्रता उत्पन्न करना मानते हैं। जिस प्रकार किसी दरिद्र को प्राप्त धन के नष्ट होने से अत्यन्त व्याकुलता होती है उसी प्रकार भक्त को परमात्मा की झलक पाकर फिर ओझल हो जाने पर उसी प्रकार की व्याकुलता होती है[5] तथा और अधिक

---

१. अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥ भा० ३।३३।७

२. अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमास्थितः।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परोभवेत् ॥ भा० १०।३३।३७

३. तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गि सङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥ भा० १।१८।१३

४. सालोक्य सार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥ भा० ३।२९।१३
स एवभक्ति योगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते ॥ भा० ३। २९।१४

५. नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्
भजाम्यमीषामनुवृत्ति वृत्तये।
यथाधनो लब्धधने विनष्टे
तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद ॥ भा० १०।३२।२०

व्यग्रता से वह उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार भगवान् के द्वारा भक्त की अवहेलना भी उसके वास्तविक हित में ही होती है। यों तो स्वयं भगवान के वाक्य हैं—हे द्विज ! मैं भक्तों के आधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं हूँ, मेरे हृदय पर भक्तों का पूर्ण अधिकार है, भक्त मुझे बहुत ही प्रिय हैं।[1] इन चार वाक्यों में भक्तों के भगवान् के साथ उत्तरोत्तर बढ़ते हुए सम्बन्ध तथा अधिकार का प्रदर्शन है। भक्तों की वशवर्तिता व्यक्त करने में मानो भगवान् को संतोष ही नहीं मिलता और वे निरन्तर एक के बाद दूसरे वाक्य के द्वारा उसे कहते हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

जिन भक्तों का भगवान् से सम्बन्ध है तथा भगवान् भी जिनके वशवर्ती हैं उनके जीवनयापन की गतिविधि यही है कि भगवान् के वियोग में वे कभी रो उठते हैं, कभी हँसते हैं, कभी प्रसन्न होते हैं, कभी अलौकिक भाव में स्थिर होकर कुछ बड़बड़ाने लगते हैं, कभी नृत्य करते हैं, कभी गाते हैं, कभी परमात्मा को खोजने लगते हैं और कभी परम शान्ति का अनुभव करके शान्त हो जाते हैं।[2] स्वप्रिय भगवान् का कीर्तन करते-करते उपर्युक्त प्रकार से लोकबाह्य आचरण करते हुए वे विचरण करते हैं।[3] भगवद्भावावेश में लोकबाह्य आचरण त्याज्य नहीं माना गया है। इसी लोकबाह्य की मीमांसा में कभी-कभी लोकत्याज्य अनैतिक आचरणों को भी भक्ति के साथ सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। पतित तत्तन्नामधारी भक्तों के द्वारा लोकत्याज्य तथा लोकग्राह्य भी कितने ही अनैतिक आचरणों को भक्ति सम्प्रदायों के अन्तर्गत स्थान मिला है परन्तु उसका विवेचन यहाँ अभीष्ट नहीं। यहाँ पर भगवान् की भक्ति के मार्ग में अवरोधक लज्जा आदि का त्याग करके मनोभावों को व्यक्त करने की स्वतन्त्रता की लोकबाह्यता के होते हुए भी श्रेयस्कर माना गया है। मीरा, सूर, तुलसी आदि में इसी भाव की आवृत्ति हमें दृष्टिगोचर होगी।

देवी भागवत में भी कर्म-योग, ज्ञान-योग, तथा भक्ति-योग तीनों ही मोक्ष-प्राप्ति के मार्ग माने गये हैं, परन्तु इन तीनों मे भक्ति-योग ही सुलभ है क्योंकि वह केवल मानसिक है, बिना शरीर को कष्ट दिये सम्पन्न होता है।[4] पराभक्ति-प्राप्त मनुष्य नाम-कीर्तन तथा गुणश्रवण

---

१. अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥ भा० ९।४।६३

२. क्वचिद् रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्तितूष्णीं परमेत्य निर्वृताः॥ भा० ११।३।३२

३. एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या, जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः
हसत्यथो रोदिति रौति गायन्त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥ भा० ११।२।४०

४. मार्गास्त्रयो मे विख्याता मोक्ष प्राप्तौ नगाधिप।
कर्मयोगो ज्ञानयोगो भक्तियोगश्च सत्तम॥ २
त्रयाणामप्ययं योग्यः कर्तुं शक्योऽस्ति सर्वथा।
सुलभत्वान्मानसत्वात् कायचित्ताद्यपीडनात्। दे० भा० ७।३७।३

करता रहता है। गुणों की खान भगवान् में ही उसका मन तैलधारा के समान सदा अविच्छिन्न भाव से स्थित रहता है।[1] वह प्रभु की सेवा के अतिरिक्त (से अधिक) कुछ भी नहीं जानता।[2]

शिवपुराण में मुक्ति का मूल ज्ञान, ज्ञान का मूल भक्ति, भक्ति का मूल प्रेम, प्रेम का मूल शिव-गुण-श्रवण, गुण-श्रवण का मूल सत्संग तथा सत्संग का मूल सद्गुरु माना गया है।[3] देवता तथा भक्ति के सम्बन्ध में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध स्थापित करते हुए बीजांकुर की उपमा प्रस्तुत की गई। जिस प्रकार अंकुर से बीज तथा बीज से अंकुर उत्पन्न होता है उसी प्रकार देवता प्रसाद से भक्ति तथा भक्ति के द्वारा देवता की प्रसन्नता प्राप्त होती है।[4]

विष्णुपुराण में भक्त भगवान् से प्रार्थना करता है : कर्मफल के वश होकर जिन-जिन योनियों में परिभ्रमण करूँ, उन सभी योनियों में तुम्हारे प्रति मेरी अचल भक्ति बनी रहे। अविवेकी मनुष्य की विषयों में जैसी आसक्ति रहती है, तुम्हारा स्मरण करते हुए तुम्हारे प्रति भी मेरी वैसी ही प्रीति रहे तथा वह मेरे हृदय से कभी विलग न हो।[5] महाभारत में कृष्ण-प्रणामी अथवा भक्त दस अश्वमेध यज्ञों के करने वाले से भी श्रेष्ठ हैं क्योंकि अश्वमेध करने वाले को तो क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकेविशन्ति के अनुसार पुनः संसार में आना पड़ता है परन्तु कृष्ण को प्रणाम करने वाला पुनः जन्म नहीं लेता।[6] महाभारत के अन्तर्गत गीता तो मानो भक्ति को प्रामाणिकता प्रदान करने का मुख्य साधन ही है।

गीता ज्ञानपरक है, कर्मपरक अथवा भक्तिपरक, यह यहाँ आलोचना का विषय नहीं

---

१. अधुनातु पराभक्तिं प्रोच्यमानां निबोध मे।
मद्गुण श्रवणं नित्यं ममनामानुकीर्तनम्॥ ११
कल्याणगुणरत्नानामाकरायां मयि स्थिरम्।
चेतसो वर्त्तनं चैव तैलधारासमं सदा॥ — दे० भा० ७।३७।१२

२. मत्सेवातोऽधिकं किंचित् नैव जानाति कर्हिचित्॥ — दे० भा०

३. ज्ञानमूलं तथाध्यात्मं तस्य भक्तिः शिवस्य च।
भक्तेश्च प्रेम सम्प्रोक्तं प्रेम्णस्तु श्रवणं मतम्। ३०
श्रवणस्य सतां संगः संगस्यसद्गुरुः स्मृतः।
सम्पन्ने च तथा ज्ञाने मुक्तिर्भवति निश्चितम्॥ — शि० पु० ७८।३१

४. प्रसादाद् देवताभक्तिः प्रसादो भक्तिसम्भवः।
यथेहाङ्कुरतो बीजं बीजतो वा यथाङ्कुरः॥ — शि० पु० १।१४

५. नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्॥
तेषु तेष्वचलाभक्तिरच्युतास्तु सदात्वयि॥ १९
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥ — विष्णु पुराण १।२०।२०

६. एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो
दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥ — महा० शान्ति ४७।९२

है। आचार्यों एवं विद्वानों ने तीनों प्रकार से ही उसका विवेचन अपने-अपने मत के समर्थन में किया है। फिर भी गीता के मूलभूत तत्त्व को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वरार्पित निष्काम कर्म तथा ईश्वर के प्रत्यक्ष ज्ञान के साथ भी ईश्वर-भक्ति के साथ ही उसे फल-दायक कहा गया है। परमात्मा का स्वयं अपने ऊपर भक्त की मुक्ति का भार ले लेना भी भक्ति की ही श्रेष्ठता का द्योतक है। भगवान् के भक्त चार प्रकार के होते हैं : आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी।[१] इनमें से नित्य परमात्मा में एकीभाव से स्थित हुआ भक्त ज्ञानी अति उत्तम है।[२] वे दृढ़ संकल्पी भक्तजन निरन्तर कीर्तन करते हुए, परमात्मा की प्राप्ति का यत्न करते हुए, ध्यान में लीन परमात्मा की अनन्य भक्ति से उपासना करते हैं।[३] तथा अनन्य भाव से भजने वाले का योग-क्षेम स्वयं भगवान् सम्पादित करते हैं।[४] वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है। शाश्वत शान्ति प्राप्त करता है और इसमें तनिक भी सन्देह नही कि भगवत्भक्त कभी नष्ट नहीं होता।[५]

गीता में विराट् रूप के दर्शन देने के पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण के वचन हैं : मैं दान, तप, यज्ञ किसी से इस प्रकार प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता जिस प्रकार कि तुमने देखा है।[६] मैं अनन्य भक्ति के द्वारा ही देखा जा सकता हूँ तथा एकीभाव से प्राप्त होने के लिए भी शक्य हूँ।[७] जो केवल मेरे लिए ही कर्म करने वाला, मुझ में ही गति वाला, मेरा भक्त, सम्पूर्ण आसक्तियों से रहित तथा सम्पूर्ण भूतों से निर्वैर है, वह मुझे ही प्राप्त होता है।[८] जो भक्त-जन समस्त कर्मों को मुझ परमेश्वर को ही अर्पित करते हैं उन अपने में चित्त लगाने वालों का मैं मृत्यु संसार से उद्धार कर देता हूँ।[९] यही नहीं मुझ में जिसकी बुद्धि एवं मन अर्पित है

---

१. चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ — गी० ७।१६

२. तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥ — गी० ७।१७

३. सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥ — गी० ९।१४

४. अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ — गी० ९।२२

५. क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति। — गी० ९।३१

६. नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥ — गी० ११।५३

७. भक्त्यात्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥ — गी० ११।५४

८. मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डवः॥ — गी० ११।५५

९. ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥ — गी० १२।६

वह मुझे अत्यन्त प्रिय है[1] तथा श्रद्धापूर्वक जो मुझ में गति वाले होते हैं वे मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।[2]

ज्ञान और भक्ति के बीच प्रतीत होने वाले विरोधाभास को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जो ज्ञानी इस प्रकार तत्त्व से परमात्मा को जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकार से परमात्मा को ही भजता है।[3] ब्रह्म में स्थित हुआ न किसी के लिए शोक करता है, न किसी की आकांक्षा ही करता है, सब भूतों में समभाव हुआ वह परमात्मा की पराभक्ति को प्राप्त करता है।[4] इस पराभक्ति के द्वारा भक्त भगवान् के स्वरूप को तत्वतः जानकर तत्काल उसी में प्रविष्ट हो जाता है।[5] भगवान् का कथन है—मुझ में ही लीन मन वाला होकर मुझे ही नमस्कार कर, मुझमें ही भक्ति कर, तू सत्य जान क्योंकि तू मुझे अतिशय प्रिय है। तू सब धर्मों को त्याग कर मेरी ही शरण में आ। मैं तुझे सभी पापों से मुक्त कर दूंगा, इसमें संदेह नहीं।[6]

अस्तु यह स्पष्ट है कि चरमोत्कर्ष पर समस्त ज्ञान, कर्म, तथा योग परमात्मा की भक्ति में ही अन्तर्हित होते हैं अथवा यह कहा जा सकता है कि परमात्मा ही वह आधार-भूमि है जिस पर कि इन सब का अस्तित्व तथा लय है।

भक्ति के शास्त्रीय विवेचन व अध्ययन का प्रयत्न हमें शाण्डिल्य व नारदभक्तिसूत्र में उपलब्ध होता है। नारदसूत्र के अंतःसाक्ष्य पर व्यास (पाराशर्य) तथा गर्ग के शास्त्रीय

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ गी० १२।७

१. संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धि र्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ गी० १२।१४
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ गी० १२।१६

२. तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥ १९
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥ गी० १२।२०

३. यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ गी० १५।१९

४. ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ गी० १८।५४

५. भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्वतः।
ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥ गी० १८।५५

६. मन्मनाभव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ ६५
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ गी० १८।६६

विवेचन का भी सन्दर्भ प्राप्त होता है। शाण्डिल्य नारद से पूर्ववर्ती थे जिनका उल्लेख नारद ने अपने सूत्रों में किया है। उनके मत से ईश्वर के प्रति परम अनुराग भक्ति है।[१] नारद ने शाण्डिल्य के मत को आत्मरति के अविरोधी विषय में अनुराग होना भक्ति कहा है।[२] दोनों में विशेष अन्तर नहीं कहा जा सकता। आत्मरति का अविरोधी विषय ईश्वर है ही। उन्होंने भक्ति को रसरूपा माना है।[३] भक्ति की परिशुद्धि बाह्य लक्षणों से ग्रहण करते हुए[४] तीन प्रकार की गौणी भक्ति स्वीकार की है[५] और गौणी भक्ति को पराभक्ति की प्राप्ति में हेतु माना है।[६] भक्ति ही उनके मत से सर्वश्रेष्ठ है।[७] जिसमे कि सब का अधिकार है।[८] तथा जिसके अनुसार अल्पमात्र किया हुआ भजन भी बड़े-बड़े पापों को नष्ट करने वाला है।[९]

नारद के अनुसार भक्ति का स्वरूप प्रेमरूपा व अमृतरूपा है।[१०] भगवान् में अपने समस्त कर्मों को अर्पण करना और भगवान् के तनिक भी विस्मरण होने पर परम व्याकुल होने को वे भक्ति का लक्षण मानते हैं।[११] भक्ति के साधन के लिए उन्होंने विषय तथा संग-त्याग,[१२] अखण्ड भजन,[१३] समाज में भी भगवद्गुणश्रवण व कीर्तन तथा मुख्यतया महापुरुषों की कृपा व भगवत्कृपा के लेशमात्र से माना है।[१४] उन महापुरुषों का दुर्लभ संग भी भगवत्कृपा से ही प्राप्त होता है।[१५]

गौणीभक्ति सत्व, रज, तम, अथवा आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी भेद से तीन प्रकार की

---

१. सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा ॥ — ना० भ० सू० २
२. आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः ॥ — ना० भ० सू० १८
३. हेया रागत्वादिति चेन्नोत्तमास्पदत्वात् सङ्गवत् ॥ — शा० भ० सू० २१
   द्वेषप्रतिपक्षभावाद्रसशब्दाच्च रागः ॥ — शा० भ० सू० ६
४. तत्परिशुद्धिश्च गम्या लोकवल्लिङ्गेभ्यः ॥ — शा० भ० सू० ४३
५. गौणं त्रैविध्यमितरेण स्तुत्यर्थत्वात् साहचर्यम् ॥ — शा० भ० सू० ७२
६. भक्त्या भजनोपसंहाराद्गौण्या परायैतद्धेतुत्वात् ॥ — शा० भ० सू० ५६
७. तदेव कर्मिज्ञानियोगिभ्य आधिक्यशब्दात् ॥ — शा० भ० सू० २२
८. आनिन्द्ययोन्यधिक्रियते पारम्पर्यात् सामान्यवत् ॥ — शा० भ० सू० ७८
९. लब्ध्वपि भक्ताधिकारे महत्क्षेपकमपरसर्वहानात् ॥ — शा० भ० सू० ७६
१०. सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा ॥ — ना० भ० सू० २
    अमृतस्वरूपा च ॥ — ना० भ० सू० ३
११. नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति ॥ — ना० भ० सू० १९
१२. तत्तु विषयत्यागात् सङ्गत्यागाच्च ॥ — ना० भ० सू० ३५
१३. अव्यावृतभजनात् ॥ — ना० भ० सू० ३६
१४. मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा ॥ — ना० भ० सू० ३८
१५. महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च । — ना० भ० सू० ३९

होती है ।[1] प्रेमाभक्ति एक होकर भी ग्यारह प्रकार की होती है ।[2]

प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है[3] तथा गूंगे के स्वाद की भाँति वर्णन का विषय नहीं है ।[4] कोई विरला भक्त ही इससे युक्त होता है[5] तथा वह प्रेमाभक्ति कर्म, ज्ञान तथा योग से भी श्रेष्ठतर[6] तथा स्वयं फलरूपा है ।[7]

भारतीय दर्शन के इतिहास में हम प्रायः यह देखते हैं कि दार्शनिकों एवं विद्वानों ने अपने नाम से अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन न करके अपने पूर्ववर्ती किसी प्रामाणिक ग्रन्थ का सिद्धान्त निरूपण किया और उसे अपना मन्तव्य न कहकर उस पूर्ववर्ती ग्रन्थ का ही वास्तविक अभिप्राय कहा। इस प्रकार स्वतंत्र ग्रन्थ लिखने की अपेक्षा टीका एवं भाष्य लिखने की परम्परा अधिक मान्य तथा रुचिकर हो गई। भक्ति के विकास में भी यही परम्परा दृष्टिगत होती है। सम्पूर्ण वेदान्त दर्शन प्रस्थानत्रयी के भाष्य रूप में विकसित हुआ है। विभिन्न आचार्यों ने उसका विवेचन ज्ञानपरक, कर्मपरक अथवा भक्तिपरक किया। भक्ति स्वयं मनोभावों के स्तर की होने के कारण कितने ही भक्तों तथा विद्वानों के स्वतंत्र निरूपण का भी विषय हुई है।

शंकराचार्य केवलाद्वैती ज्ञानमार्गी थे। उनकी दृष्टि में केवल ब्रह्म ही सत्य है, सब ब्रह्म ही है तथा उसकी प्राप्ति ज्ञान के द्वारा हो सकती है। उनका ज्ञान केवल बौद्धिक ज्ञान से उच्चस्तरीय प्रत्यक्षानुभूति ज्ञान था। इस प्रकार का ज्ञान रहस्यवादी की सत्ता में सब प्रकार से उपयुक्त प्रमाणित होता है। फिर भी ज्ञान की उस रहस्यात्मक अनुभूति के पहले व्यावहारिक जगत में उन्होंने भक्ति का महत्त्व बराबर स्वीकार किया है। ब्रह्मसूत्र भाष्य में भी **महते हि फलाय ब्रह्मोपासनमिष्यते**[8] के द्वारा उन्होंने भक्ति को (उपासना को) महान् फलदायिनी माना है। विवेकचूड़ामणि में मोक्ष-प्राप्ति के साधनों में भक्ति ही सब से श्रेष्ठ कही गई है।[9] प्रबोध सुधाकर के अनुसार जिस प्रकार मलिन वस्त्र बिना क्षारीय जल के स्वच्छ नहीं होता उसी प्रकार मलिन अंतःकरण को शुद्ध करने के लिए भक्ति परम आवश्यक

---

१. गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादिभेदाद्वा ॥ ना० भ० सू० ५६

२. गुणमाहात्म्यासक्तिरूपासक्तिपूजासक्तिस्मरणासक्तिदास्या
सक्तिसख्यासक्तिकान्तासक्तिवात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदना
सक्तितन्मयतासक्तिपरमविरहासक्तिरूपा एकधाप्येकादशधा भवति ॥ ना० भ० सू० ८२

३. अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् ॥ ना० भ० सू० ५१

४. मूकास्वादनवत् ॥ ना० भ० सू० ५२

५. प्रकाशतेक्वापि पात्रे ॥ ना० भ० सू० ५३

६. सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा ॥ ना० भ० सू० २५

७. फलरूपत्वात् ॥ ना० भ० सू० २६

८. ब्र० सू० शा० भा० १।१।१०।२४

९. मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी। विवेकचूडामणि ३२

है[1] जिसके प्रसाद से शुक आदि बन्ध-मुक्त हो गये वह एकमात्र भक्ति ही मुक्ति के लिए समर्थ उपाय है ।[2] भक्ति के स्वरूप का निरूपण करते हुए शंकराचार्य ने कहा है—अपने वास्तविक स्वरूप का अनुसंधान ही भक्ति है । कोई-कोई आत्मतत्त्व के अनुसंधान को भक्ति कहते हैं ।[3] अंकोल वृक्ष मूल वृक्ष से, सूई चुम्बक से, पतिव्रता अपने पति से, लता वृक्ष से, सरिता सागर से जा मिलती है, उसी प्रकार जब चित्तवृत्तियाँ भगवान् के चरण-कमलों से मिलकर सदैव के लिए स्थित हो जाती हैं तब उसे भक्ति कहते हैं ।[4] प्रबोध सुधाकर में स्थूल और सूक्ष्म भेद से भक्ति दो प्रकार की कही गई है—प्रारम्भ में स्थूल तथा बाद में सूक्ष्म ।[5] श्रेष्ठ भक्त की परिभाषा है कि जो सभी जीवों में भगवान् को देखता है तथा सब जीवों को भगवान् में देखता है उसे भक्तप्रवर कहा गया है ।[6] अंततः उन्होंने समस्त अपने मनोभावों को हरिचरणों में अर्पित करते हुए कहा है—हे नाथ ! यह सत्य है कि मुझ में तथा आप में कोई भेद नहीं है । परन्तु समुद्र की ही तरग होती है तरंग स्वयं समुद्र नहीं होती । इस प्रकार आपसे ही मैं हूँ आप मुझसे नहीं हैं ।[7] मध्व मत के सार-निरूपण में भक्ति को ही मुक्ति का साधन माना गया है ।[8]

स्त्री, परिवार आदि की अपेक्षा भगवत्-महिमा को जानते हुए उसमें अधिक एवं दृढ़तर स्नेह रखना ही भक्ति है । इसी से मुक्ति होती है अन्यथा नहीं ।[9] गीता भाष्य में भी यही उल्लेख मिलता है कि ज्ञान के बिना भक्ति कहाँ तथा भक्ति के बिना वह परमात्मा

---

१. शुद्धयति हि नान्तरात्मा कृष्णपदाम्भोजभक्तिमृते ।
वसनमिव क्षारोदैर्भक्तया प्रक्षाल्यते चेतः ।। — प्रबोध सुधाकर

२. यस्य प्रसादेन विमुक्तसङ्गाः शुकादयः संसृतिबन्धमुक्ताः ।
तस्य प्रसादो बहुजन्मलभ्यो भक्त्येकगम्यो भवमुक्तिहेतुः । — सर्ववेदान्तसिद्धान्त सार संग्रहः

३. स्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते । ३२
स्वात्मतत्वानुसंधानं भक्तिरित्यपरे जगुः ।। — विवेकचूड़ामणि ३३

४. अङ्कोलं निजबीजसंततिरयस्कान्तोपलं सूचिका
साध्वी नैजविभुंलता क्षितिरुहं सिन्धुः सरद्वल्लभम् ।
प्राप्नोतीह यथा तथा पशुपतेः पादरविन्दद्वयं ।
चेतोवृत्तिरुपेत्य तिष्ठति सदा सा भक्तिरित्युच्यते ।। — शिवानन्द लहरी

५. स्थूला सूक्ष्माचेति द्वेधा हरिभक्तिरुद्दिष्टा ।
प्रारम्भेस्थूला स्यात् सूक्ष्मा तस्याः सकाशाच्च ।। — प्रबोध सुधाकर

६. जन्तुषु भगवद्भावं भगवति भूतानि पश्यति क्रमशः ।
एतादृशी दशा चेत सैवहरिदासवर्यः स्यात ।।

७. सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
समुद्रोहितरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ।। माध्व ।।

८. मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधनम् ।

९. माहात्म्य ज्ञान पूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः ।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्नचान्यथा ।।

कहाँ ।[1] अन्य सभी कर्म भक्ति की प्राप्ति के लिए किए जाते हैं पर मोक्ष का साधन तो एक भक्ति ही बनती है । इसीलिए मुक्तों को भी भक्ति नित्यानन्द स्वरूपिणी प्रतीत होती है ।[2]

निम्बार्क दैन्यादि गुणों से युक्त प्रेमाभक्ति के पोषक प्रतीत होते हैं । उनके अनुसार भक्ति दो प्रकार की होती है : एक साधनरूपा अपराभक्ति, दूसरी उत्तमा पराभक्ति ।[3] भक्तों की इच्छा से अवतार लेने वाले भगवान् के चरणों के अतिरिक्त जीव की कोई गति नहीं है ।[4] रामानुज ज्ञान-कर्म द्वारा ग्रहीत भक्ति-योग का सिद्धान्त मानते हैं । उन्होंने 'गीता भाष्य' में कहा है :

> पाण्डुतनययुद्धप्रोत्साहनव्याजेनपरमपुरुषार्थलक्षणमोक्ष
> साधनतया वेदान्तोदितं स्वविषयं ज्ञान कर्मानुग्रहीतं भक्ति
> योगम् अवतारयामास ॥

मधुसूदन सरस्वती भगवत्-भाव से द्रवित होकर भगवान् के साथ चित्त के सविकल्प तदाकार भाव को भक्ति कहते हैं ।[5] उन्होंने 'भक्तिरसायन' में भगवत्-गुण-श्रवण से मन की समस्त वृत्तियों के धारावाहिक रूप से लगने को भक्ति कहा है ।[6] इस प्रकार वे भक्ति को रसपूर्ण मानते हैं परन्तु भगवत्-विषयिणी रति परिपूर्ण रसरूप होने से क्षुद्र कान्तादि विषयक रति से उसी प्रकार बलवती है जिस प्रकार खद्योतों के सम्मुख आदित्य-प्रभा प्रचंड होती है ।[7] धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों सुख साधक होने से पुरुषार्थ कहे जाते हैं परन्तु भक्ति तो

---

१. विना ज्ञानं कुतो भक्तिः कुतो भक्तिं विना च तत् ॥ — गीता भाष्य ।

२. भक्त्यर्थान्यखिलान्येव भक्तिर्मोक्षाय केवलम् ।
मुक्तानामपि भक्तिर्हि नित्यानन्दस्वरूपिणी ॥ — गीता तात्पर्य

३. कृपास्य दैन्यादियुजि प्रजायते
यया भवेत् प्रेमविशेषलक्षणा
भक्तिर्ह्यनन्याधिपते महात्मनः
सा चोत्तमा साधनरूपिकापरा ॥ — निम्बार्क, वेदान्त कामधेनु

४. नान्यागतिः कृष्ण पदारविन्दात्
संदृश्यते ब्रह्म शिवादिवंदितात् ।
भक्तेच्छयोपात्तसुचिन्त्यविग्रहा
द्दचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्यशासनात् ॥ — निम्बार्क, वेदान्त कामधेनुः

५. द्रवीभावपूर्विका मनसो भगवदाकारता रूपासविकल्पवृत्तिर्भक्तिः — अद्वैत सिद्धि

६. द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता ।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ॥ — भक्तिरसायन १।३

७. परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रतिः ।
खद्योतेभ्य इवादित्य प्रभव बलवत्तरा ॥ — भक्तिरसायन २.७७

स्वयं सुखरूप है ।[1]

चैतन्य महाप्रभु समाधि-सुख की ही भाँति भक्ति-सुख को भी स्वतन्त्र पुरुषार्थ मानते हैं । परमानन्द रूप होने से भक्ति-योग पुरुषार्थ है ।[2] उनके अनुसार एक ओर ब्रह्मानन्द को परार्ध करके रखा जाय, दूसरी ओर भक्ति-सागर का एक परमाणु, तो उस परमाणु की भी समता वह ब्रह्मानन्द नहीं कर सकता ।[3] संभवतः इसीलिए उन्हें न धन, न जन, न सुन्दरी ही अपेक्षित है । उनकी यही लालसा है कि जन्मजन्मान्तर तक भगवान् की अहेतुकी भक्ति बनी रहे ।[4] सर्वसाधारण सुत, वित्त, तथा लोक इन्हीं तीनों ऐषणाओं के चक्र में पड़े रहते हैं परन्तु भक्त उनसे उदासीन केवल भक्ति में रति रखता है ।

रूपगोस्वामी तो भुक्ति ही क्या मुक्ति को भी पिशाचिनी मानते हैं । तथा जब तक वे पिशाचिनियाँ हृदय में स्थित हैं तब तक भक्ति का अभ्युदय होना संभव नहीं,[5] ऐसा उनका मत है ।

'ब्रहन्नारदीय' में विष्णुभक्त चाण्डाल भी ब्राह्मण से श्रेष्ठ तथा भक्तिविहीन ब्राह्मण भी चाण्डालाधिक कहा गया है ।[6] नारद पाचरात्र में भक्ति का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि अन्य के प्रति ममता त्यागकर भगवान् में जो प्रेमयुक्त ममता होती है उसी को भीष्म, प्रह्लाद, उद्धव और नारद ने भक्ति कहा है ।[7] मुक्ति ज्ञान के द्वारा सरलता से मिल सकती है, यज्ञ आदि के द्वारा भोग भी सुलभ है परन्तु भक्ति सहस्रों साधनों के द्वारा भी कठिनता से प्राप्त की जाने योग्य है ।[8] हरिभक्ति-रूपी महादेवी के पीछे सम्पूर्ण मुक्ति आदि सिद्धियाँ

---

१. नवरसमिलितं वा केवलं वा पुमर्थं
परममिहमुकुन्दे भक्तियोगं वदन्ति ॥
निरुपम सुखसंविद्रूपमस्पृष्ट दुःखं
तमहमखिलतुष्ट्यै शास्त्रदृष्ट्या व्यनज्मि ॥

२. समाधिसुखस्येव भक्तिसुखस्योपि स्वतन्त्र पुरुषार्थत्वात्
भक्तियोगः पुरुषार्थः परमानन्द रूपत्वादिति निर्विवादम् ॥

३. ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्धगुणीकृतः ।
नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि ॥ — भक्तिरसामृतसिन्धु

४. न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये
ममजन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद् भक्तिरहैतुकी त्वयि ॥ — चैतन्य शिक्षाष्टक

५. भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदिवर्तते ।
तावद्भक्ति सुखस्यात्रं कथमभ्युदयोभवेत् ॥ — रूपगोस्वामी, भक्तिरसामृतसिन्धु पूर्व लहरी २।११

६. चांडालोऽपि मुनिश्रेष्ठ विष्णुभक्तो द्विजाधिकः ।
विष्णु भक्तिविहीनश्च द्विजोऽपि श्वपचाधिकः ॥ — ब्रहन्नारदीय ३२।३६

७. अनन्यममता विष्णो ममता प्रेमसंगता ।
भक्तिरित्युच्यते भीष्मप्रह्लादोद्धवनारदैः ॥

८. ज्ञानतः सुलभा मुक्ति भक्तिर्यज्ञादिपुण्यतः ।
सेयं साधनसाहस्रै र्हरिभक्तिः सुदुर्लभा ॥ — नारद पाञ्चरात्र

तथा भोग दासी की भाँति लगे रहते हैं।[1] 'वैष्णवतंत्र' में शरणागति के षट लक्षण बतलाये गये हैं :—

१. भगवत् भाव के अनुकूल कर्तव्यों का पालन
२. भगवत् भाव की प्रतिकूलता का त्याग
३. भगवान् के रक्षक होने का विश्वास
४. अपनी रक्षा के लिए भगवान् से एकान्त में प्रार्थना
५. आत्म-निवेदन
६. तथा कार्पण्य।[2]

पंचदशीकार ने भक्त के लक्षण का उल्लेख किया है। जिस प्रकार परपुरुषानुरक्ता स्त्री गृह-कार्यों में व्यस्त रहती हुई भी उस प्रेम की रसानुभूति करती रहती है उसी प्रकार भक्त भी लौकिक कर्तव्यों में संलग्न रहने पर भी प्रभु के प्रेममय ध्यान में मग्न रहता है।[3]

यद्यपि तुलसी मोक्ष के लिए भक्ति के अतिरिक्त अन्य साधनों की उपादेयता को भी स्वीकार करते हैं तथा स्पष्ट शब्दों में--

'धर्म ते बिरति जोग ते ग्याना ग्यान मोक्षप्रद बेद बखाना'

कहते हुए धर्मपालन, योग की क्रिया तथा ज्ञान को मोक्षदायक मानते हैं परन्तु यह सब साधन उनके राम को तत्काल करुणार्द्र करने वाली भक्ति की कोटि के नहीं हैं। जहाँ ज्ञान योग पर आश्रित है, विरति धर्म पर, वहाँ भक्ति किसी अन्य साधन पर अवलम्बित नहीं है। वह स्वतन्त्र है तथा उसी के आधीन ज्ञान-विज्ञान है। वह परम सुखमय भक्ति अत्यन्त सरलता से भगवान् को प्राप्त करा देती है।[4] ज्ञानरूपी खग से विरतिरूपी ढाल के सहारे काम क्रोधादि पर विजय प्राप्त कराने वाली भक्ति ही है।[5]

अब प्रश्न है कि भक्ति के साधन क्या हैं? प्रथमतः विप्रों के चरणों में अत्यन्त प्रीति

---

१. हरिभक्ति महादेव्याः सर्वामुक्त्यादि सिद्धयः।
मुक्तयश्चाद्भुतास्तस्याश्चेटिकावदनु व्रताः॥ — नारद पांचरात्र

२. आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूलस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधाशरणागतिः॥

३. परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मणि। — पंचदशी ६।८४
तदेवास्वादयत्यन्तः परसंग रसायनम्॥

४. धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना ग्यान मोच्छप्रद वेद बखाना।
जाते बेगि द्रवउँ मैं भाई, सो मम भगति भगत सुखदाई।१
सो सुतंत्र अवलम्ब न आना, तेहि आधीन ग्यान बिग्याना।
भगति तात अनुपम सुखमूला, मिलइ जो संत होइँ अनुकूला।२
भगति कि साधन कहउँ बखानी, सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी। — तु० रा०, अर० का० १५.३

५. बिरति चर्म, असि ग्यान, मद लोभ मोह रिपु मारि।
जय पाइअ सो हरि भगति, देखु खगेस बिचारि। — तु० रा०, उ० का० १२० (ख)

हो तथा वेद-विहित वर्णाश्रम धर्म का भलीभाँति पालन हो। इससे विषयों से वैराग्य होगा, वैराग्य होने पर भगवत् धर्म मे अनुराग उत्पन्न होगा। श्रवण, कीर्तन आदि नवधा भक्ति दृढ़ होगी तथा भगवान् की लीलाओं में अत्यन्त रति होगी। इस प्रकार जो संतों के चरण-कमलों में अत्यन्त प्रेम रखता हो, मन, वचन, कर्म से भगवान् के भजन में दृढ़ हो और भगवान् को ही गुरु, पिता, माता, भाई, पति और देवता सब कुछ जाने अर्थात् ईश्वर से ही सब सम्बन्ध स्थापित करे और सेवा में दृढ़ हो तथा भगवत् गुणगान करते हर्ष-विह्वलता से जिसका शरीर पुलकित हो जाय, वाणी गद्गद हो जाय और नेत्रों से प्रेमाश्रु बहने लगें, काम, मद और दंभ आदि से रहित हो—भगवान् सदैव उसी भक्त के वश में रहते हैं। जिनकी वचन, कर्म और मन से परमात्मा की ही गति है और जो निष्काम भाव से उसे भजते हैं, उनके हृदय-कमल में भगवान् सदा विश्राम करते हैं।[1] यही है वह भक्ति-योग जिसका प्रतिपादन तुलसी ने भगवान् राम के मुख से करवाया है।

भक्ति-योग और ज्ञान-योग मे जो सूक्ष्म परन्तु गहन अन्तर है वह प्रायः सामान्य बुद्धि की समझ से परे की वस्तु है। भक्ति का महत्त्व तो अधिक है ही परन्तु वेद-पुराणो में ज्ञान को अत्यन्त दुर्लभ कहा गया है। ज्ञान और भक्ति के इसी अन्तर को तुलसी ने स्पष्ट शब्दो में व्यक्त किया है। उन्होने माया तथा भक्ति को स्त्री-वर्ग का तथा ज्ञान-विराग आदि को पुरुष-वर्ग का माना है। पुरुष-वर्ग का होने के कारण ज्ञान को मोहित करने के लिए स्त्री-वर्ग की माया सदैव तत्पर रहती है। यद्यपि पुरुष सब प्रकार से प्रबल तथा प्रतापी होता है और स्त्री, अबला और जड़-बुद्धि होती है। परन्तु वही पुरुष स्त्री को त्याग सकता है जो विषयो से अनासक्त विरागी तथा धैर्यवान् हो। यह भी सत्य है कि ज्ञान-निधान मुनि भी स्त्री के मुखचन्द्र से आकर्षित होकर उसके वश में हो जाते हैं। भक्ति स्त्री-वर्ग की होने के कारण माया के द्वारा आकर्षित नही होती। माया और भक्ति दोनों के एक ही वर्ग की होने पर भी भगवान् को भक्ति अधिक प्रिय है। बेचारी माया तो नर्तकी मात्र है, परमात्मा की विशेष कृपा के कारण भक्ति से माया सदैव भयभीत रहती है तथा उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित नही कर पाती।[2]

---

१. भगति कि साधन कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहि प्रानी।
प्रथमहि बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती।। ३
एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा।
श्रवणादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं।। ४
संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा।
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानइ दृढ़ सेवा।। ५
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा।
काम आदि मद दंभ न जाकें। तात निरंतर बस मैं ताकें।। ६
बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहि निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करऊँ सदा विश्राम।। तु० रा०, अर० का० १६

२. कहहिं संत मुनि बेद पुराना, नहि कछु दुर्लभ ग्यान समाना।
सोइ मुनि तुम्ह सन कहेउ गुसाईं, नहि आदरेहु भगति की नाईं।। ५

ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की श्रेष्ठता प्रदर्शित करते हुए तुलसी ने एक अन्य रूपक प्रस्तुत किया है जिसमें उन्होंने ज्ञान को दीपक का तथा भक्ति को मणि का रूप प्रदान किया है। ज्ञानदीप और भक्तिमणि दोनों ही अज्ञानान्धकार के नाशक प्रकाश पुंज हैं परन्तु ज्ञानदीप के बुझ जाने का भय सदैव बना रहता है तथा अत्यन्त कष्टसाध्य प्रयत्नों के द्वारा वह प्रकाशित किया जाता है (जिसका तुलसी ने विस्तार से वर्णन किया है)। भक्तिमणि के लिए किसी साधन की आवश्यकता नहीं है। वह परम प्रकाशरूपा बिना दीपक, घृत, बत्ती के सदैव आलोकित रहती है। उस मणि की उपस्थिति में मोहरूपी दारिद्रय निकट नहीं आता, न लोभरूपी प्रभंजन उसे बुझाने में ही समर्थ होता है। उसके आलोक में अविद्या का अंधकार दूर हो जाता है तथा शलभ जो दीपशिखा पर मडरा कर ज्योति को मलिन कर देते हैं उस मणि के सम्मुख नहीं ठहरते। जिसके हृदय में यह भक्तिरूपी मणि निवास करती है, कामादि दुष्ट उसके निकट तक नहीं फटकने पाते। भक्त के लिए गरल भी सुधा का फल देने वाला तथा शत्रु भी मित्र की भाँति हितैषी हो जाता है। समस्त जीवों को पीड़ित करने वाले मानस-रोग भी भक्त का कुछ बिगाड़ नही सकते। जिसके हृदय में राम-भक्तिमणि रहती है उसको नाममात्र के लिए स्वप्न में भी दुःख नही मिलता। अस्तु वे ही बुद्धिमान हैं जो इस प्रकार की भक्तिमणि की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते है। यद्यपि वह मणि सर्वत्र प्रगट है फिर भी भगवान् की कृपा के बिना किसी को प्राप्त नही होती। वह मणि प्राप्त कहाँ होती है ?

ग्यानहि भगतिहि अंतर केता, सकल कहहु प्रभुकृपानिकेता।
सुनि उरगारि बचन सुख माना, सादर बोलेउ काग सुजाना। ६
भगतिहि ग्यानहि नहि कछु भेदा, उभय हरहि भव सभव खेदा।
नाथ मुनीस कहहिं कछु अंतर, सावधान सोउ सुनु बिहंगबर। ७
ग्यान बिराग जोग बिग्याना, ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना।
पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँती, अबला अबल सहज जड़ जाती॥ ८
पुरुष त्यागि सक नारिहि जो बिरक्त मति धीर।
न तु कामी बिषयाबस बिमुख जो पद रघुबीर। ११५ (क)
सोउ मुनि ग्यान निधान मृगनयनी बिधु मुख निरखि।
बिबस होइ हरिजान नारि बिष्णु माया प्रगट। ११५ (ख)
इहाँ न पच्छपात, कछु राखउँ बेद पुरान संत मत भाषउँ।
मोह न नारि नारि के रूपा, पन्नगारि यह रीति अनूपा। १
माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ, नारि बर्ग जानइ सब कोऊ।
पुनि रघुबीरहि भगति पियारी, माया खलु नर्तकी बिचारी। २
भगतिहि सानुकूल रघुराया, ताते तेहि डरपति अति माया।
राम भगति निरुपम निरुपाधी, बसइ जासु उर सदा अबाधी। ३
तेहि बिलोकि माया सकुचाई, करि न सकइ कछु निज प्रभुताई।
अस बिचारि जे मुनि बिग्यानी, जाचहि भगति सकल सुखखानी। ४
यह रहस्य रघुनाथ कर बेगि न जानइ कोइ।
जो जानइ रघुपति कृपाँ सपनेहुँ मोह न होइ। तु० रा०, उ० का० ११६ (क)

उसकी प्राप्ति के सुगम उपाय हैं परन्तु हतभाग्य मनुष्य उसकी खोज में भटकते रहते हैं। वेद-पुराणरूपी पर्वत ही वह स्थान है जहाँ राम-कथारूपी भक्तिमणि की खानें हैं। रहस्यदर्शी सज्जन ज्ञान और वैराग्य के नेत्रों से सुबुद्धि की कुदाली के द्वारा यदि सप्रेम खोदने का प्रयत्न करते हैं तो समस्त सुखों को देने वाली भक्तिमणि प्राप्त होती है।[1]

यदि मनुष्य इहलोक किंवा परलोक में सुख चाहता है तो उसे भक्ति का मार्ग ही अपनाना चाहिए। यह परम सुखद तथा सरल है। जहाँ तक ज्ञानमार्ग का सम्बन्ध है वह स्वयं तो अगम है ही साथ ही मनुष्य का मन चंचल है कभी स्थिर नहीं रहता। यदि कष्ट-साधित प्रयत्न करके कोई ज्ञानमार्ग में सफल भी हो जाय तो वह परमात्मा को उतना प्रिय नहीं होता जितना कि भक्त।[2] तुलसीदास इस धारणा की पुष्टि एक अन्य दृष्टांत से करते हैं। एक पिता के कई पुत्र हों जिनमें से प्रत्येक ज्ञानी, पंडित, तपस्वी, धनवान, वीर, धर्मज्ञ, सर्वज्ञ तथा सब प्रकार से योग्य हो परन्तु उनमे से एक सब गुणों से हीन हो, केवल मन, वचन, कर्म से वह पितृभक्त हो तो पिता का यद्यपि सभी पुत्रों पर समान स्नेह होगा परन्तु यह पितृभक्त विशेष स्नेह का पात्र होगा। इसी प्रकार समस्त ससार के रचयिता परमात्मा को सभी जीव प्रिय हैं परन्तु जो मोह, लोभ को त्यागकर सब प्रकार से निष्कपट होकर मन, वचन और शरीर से परमात्मा का भजन करता है, वह सर्वाधिक प्रिय होता है। स्त्री,

---

१. कहेउँ ज्ञान सिद्धांत बुझाई, सुनहु भगति मनि कै प्रभुताई।
राम भगति चिंतामणि सुंदर. बसइ गरुड़ जाके उर अंतर। १
परम प्रकास रूप दिन राती, नहि कछु चहिअ दिआ घृत बाती।
मोह दरिद्र निकट नहि आवा, लोभ बात नहि ताहि बुझावा। २
प्रबल अबिद्या तम मिटि जाई, हारहिं सकल सलभ समुदाई।
खल कामादि निकट नहिं जाहीं, बसइ भगति जाके उरमाही। ३
गरल सुधा सम अरि हित होई, तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई।
ब्यापहिं मानस रोग न भारी, जिन्ह के बस सब जीव दुखारी। ४
राम भगति मनि उर बस जाके, दुख लवलेस न सपनेहुँ ताके।
चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीं, जे मनि लागि सुजतन कराहीं। ५
सो मनि जदपि प्रगट जग अहई, रामकृपा बिनु नहि कोउ लहई।
सुगम उपाय पाइबे केरे, नर हतभाग्य देहिं भट भेरे। ६
पावन पर्वत बेद पुराना, राम कथा रुचिराकर नाना।
मर्मी सज्जन सुमति कुदारी, ग्यान बिराग नयन उरगारी।
भाव सहित खोजइ जो प्रानी, पाव भगति मनि सब सुख खानी। तु० रा०, उ० का० ११९.८

२. जो परलोक इहाँ सुख चहहू, सुनि मम बचन हृदय दृढ़ धरहू।
सुलभ सुखद मारग यह भाई, भगति मोरि पुरान श्रुति गाई। १
ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका, साधन कठिन न मन कहु टेका।
करत कष्ट बहु पावइ कोऊ, भक्तिहीन मोहि प्रिय नहिं सोऊ। २
भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी, बिनु सतसंग न पावहि प्रानी।
पुन्यपुंज बिनु मिलहिं न संता, सत संगति संसृति कर अंता। तु० रा०, उ० का० ४४.३

पुरुष, नपुंसक अथवा कोई भी भक्त हो परमात्मा को परम प्रिय होता है। इसलिए सब आशा और भरोसा त्यागकर परमात्मा की भक्ति करनी चाहिए।[१]

ज्ञानी और भक्त दोनों ही परमात्मा के लिए पुत्रों की भाँति हैं। ज्ञानी प्रौढ़ पुत्र की भाँति है तथा भक्त अबोध बालक की भाँति। प्रौढ़ पुत्र को ज्ञान का तथा निज का बल होता है। अतः माता उसके कार्य, अकार्य की ओर विशेष ध्यान नहीं देती और उसके प्रति, अपेक्षतः कम सतर्क रहती है परन्तु अबोध बालक की ओर से वह कभी निश्चिन्त नहीं होती। यदि वह किसी हानिप्रद कार्य को करने के लिए बढ़ता है तो माँ उसे बरबस उस कार्य के करने से रोक देती है जैसे यदि बालक अग्नि अथवा सर्प पकड़ने को दौड़े तो माँ उसे तुरन्त हटा लेती है। ऐसे ही परमात्मा ज्ञानी के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करता परन्तु भक्त को परमात्मा अकार्य में प्रवृत्त नहीं होने देता। भक्त तथा ज्ञानी दोनों के ही शत्रु काम, क्रोध आदि हैं जिनसे ज्ञानी को अपनी रक्षा स्वयं ही करनी होती है परन्तु भक्त की रक्षा का भार परमात्मा पर है। इसी कारण चतुर ज्ञानी ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी भक्ति का सहारा नहीं छोड़ते।[२] स्वामी या माता के भरोसे रहने वाले सेवक और सुत का परिपालन उन्हें करना ही पड़ता है। इसी प्रकार भगवान् के भरोसे रहने वाले भक्त का परिपालन भगवान् को करना ही पड़ता है। यद्यपि परमात्मा समदर्शी कहलाता है परन्तु अनन्य गति सेवक उस को विशेष प्रिय है। अनन्य गति सेवक वह है जो समस्त चराचर को भगवानमय देखे तथा स्वयं

---

१. एक पिता के बिपुल कुमारा, होहिं पृथक गुन सील अचारा।
कोउ पंडित कोउ तापस ग्याता, कोउ धनवंत सूर कोउ दाता। १
कोउ सर्बग्य धर्मरत कोई, सब पर पितहि प्रीति सम होई।
कोउ पितु भगत बचन मन कर्मा, सपनेहुँ जान न दूसर धर्मा। २
सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना, जद्यपि सो सब भाँति अयाना।
एहि बिधि जीव चराचर जेते, त्रिजग देव नर असुर समेते। ३
अखिल बिस्व यह मोर उपाया, सब पर मोहि बराबर दाया।
तिन्ह महँ जो परिहरि मद माया, भजै मोहि मन बच अरु काया। ४
पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्बभाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ। ८७ (क)
सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रान प्रिय।
अस बिचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब॥ तु० रा०, उ० का० ८७ (ख)

२. तब बिबाह मैं चाहउँ कीन्हा, प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा।
सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा, भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा। २
करउँ सदा तिन्हकै रखवारी जिमि बालक राखइ महतारी।
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई, तह राखइ जननी अरगाई। ३
प्रौढ़ भएँ तेहि सुत पर माता, प्रीति करइ नहिं पाछिलि बाता।
मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी, बालक सुत सम दास अमानी। ४
जनहिं मोर बल निज बल ताही, दुहु कहं काम क्रोध रिपु आही।
यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं, पाएहुँ ग्यान भगति नहिं तजहीं। तु० रा०, अर० का० ४२.५

को सचराचर का सेवक।[1]

तुलसी ने भगवान् राम के मुख से भक्ति-सिद्धांत का विवेचन इस प्रकार करवाया है—समस्त संसार तथा जीव परमात्मा के द्वारा ही उत्पन्न हुए हैं तथा सब समान रूप से उसे प्रिय हैं परन्तु मनुष्य उसे सब से अधिक प्रिय है। मनुष्यों में भी द्विज तथा द्विजों में भी वैदिक धर्म का आचरण करने वाले प्रिय हैं। उनमें भी विरक्त, विरक्त से भी ज्ञानी तथा ज्ञानी से भी विज्ञानी प्रिय हैं। अंतिम कोटि मे पहुँचे हुए विज्ञानी से भी अधिक प्रिय साधारण श्रेणी का भक्त है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भक्त भगवान् का सर्वाधिक प्रिय पात्र होता है। भक्ति से हीन साक्षात् विधाता भी परमात्मा को उतना प्रिय नहीं जितना भक्ति से युक्त एक तुच्छ प्राणी।[2] यद्यपि तुलसीदास वर्ण-व्यवस्था के समर्थक हैं तथा ब्राह्मण और शूद्र का पृथक्-पृथक् मूल्यांकन करते हैं परन्तु भक्ति की कसौटी पर कसे जाने में वे भक्ति में रत जाति के श्वपच को भी उस ब्राह्मण से श्रेष्ठ मानते हैं जो परमात्मा का भजन नहीं करता।[3]

यदि एक ओर तुलसीदास को शास्त्रीय नवधा भक्ति का स्वरूप मान्य है तो दूसरी ओर उन्होंने एक नवीन नवधा भक्ति का स्वरूप भी प्रस्तुत किया है। किन्हीं अर्थों में यह नवीन नवधा भक्ति शास्त्रीय नवधा भक्ति से अधिक समीचीन प्रतीत होती है। भक्ति के विकास का प्रथम सोपान संतों का संग है जिसका महत्त्व हम संतों के अध्याय मे देख चुके हैं। दूसरी प्रकार की भक्ति भगवत्कथा मे रति है। गुरु-पदसेवा तृतीय प्रकार की भक्ति है। संतसंग द्वारा उत्पन्न भगवत्कथा में रति का अंकुर गुरुकृपा के द्वारा भगवत्-भक्ति के विशाल वृक्ष में विकसित हो जाता है तथा साधकभक्त चौथी प्रकार की भक्ति निष्कपट

---

१. सेवक सुत पति मातु भरोसें। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें। २
समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ। ४
सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर रूपस्वामि भगवन्त॥ तु० रा०, कि० का० ३

२. निज सिद्धांत सुनावउँ तोही. सुनु मन धरु सब तजि भजु मोही। १
मम मया संभव संसारा, जीव चराचर बिबिधि प्रकारा।
सब मम प्रिय सब मम उपजाए, सब ते अधिक मनुज मोहि भाए। २
तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ श्रुतिधारी, तिन्ह महुँ निगम धरम अनुसारी।
तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ग्यानी, ग्यानिहु ते अति प्रिय बिग्यानी। ३
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा, जेहि गति मोरि न दूसरि आसा।
पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं, मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं। ४
भगतिहीन बिरंचि किन होई, सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई।
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी, मोहि प्रान प्रिय असि मम बानी। तु० रा०, उ० का० ८५.५

३. तुलसी भगत सुपच भलो भजै रैनि दिन राम।
ऊँचो कुल केहि काम को जहाँ न हरि को नाम॥ ३८
अति ऊँचे भूधरनि पर भुजगन के अस्थान।
तुलसी अति नीचे सुखद ऊख अन्न अरु पान। तु० ग्र०, पृ० १२

भाव से भगवत् गुणगान में प्रवृत्त हो जाता है। मंत्रजप में दृढ़ विश्वास पाँचवी भक्ति मानी गयी है। छठी भक्ति समस्त सांसारिक कार्यों से निरत होकर दम का आचरण करना तथा सज्जनों के धर्म लोकसंग्रह के लिए सद्धर्म का पालन करना है। भक्ति की अवस्थाओं में आठवीं यथा लाभ, संतोष तथा किसी के स्वप्न में भी अवगुण न देखना है।

अंतिम सीढ़ी सब प्रकार से धनरहित तथा बिना किसी हर्ष या शोक के केवल परमात्मा में भरोसा है। पूर्ण आत्मसमर्पण की यह अंतिम अवस्था भक्त की है। इनमें से एक प्रकार की भी भक्ति जिस स्त्री, पुरुष अथवा किसी जीव की हो वही भगवान् को अत्यन्त प्रिय होता है फिर जिसमें सब प्रकार से भक्ति दृढ़ हो उसके विषय में तो कहना ही क्या।[1] इसीलिए तो भगवान् राम ने परम भक्तिमती शबरी के जूठे बेरों को भी खाया था।

राम के निवास स्थानों के बतलाने के व्याज से 'मानस' में तुलसी ने भक्ति के विभिन्न अंगों पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार जिन मनुष्यों के श्रवण सागर की भाँति हों जिसमें कि निरन्तर सरिताएं प्रवहमान होती रहती हैं फिर भी वह सदैव पूर्ण ही रहता है कभी अमर्यादित नहीं होता तथा सदैव अपने में सरिताओं के प्रवेश के लिए स्थान बनाये रखता है उसी प्रकार भगवत् कथारूपी सरिताओं के लिए जिनके कर्ण सदैव ग्रहण करने को तत्पर रहते हुए भी कभी संतुष्ट नहीं होते उन भक्तों के हृदय में परमात्मा का निवास होता है। जिनके नेत्र चातक के समान केवल भगवत् रूपासक्त हों, अनेक सरिता-सागर भरे रहने पर भी जिस प्रकार चातक केवल स्वातिबिन्दु की ओर ही अपलक दृष्टि लगाये रहता है उसी प्रकार जो केवल भगवान् के रूपबिन्दु में ही तन्मय रहते हैं तथा जिनकी जिह्वा परमात्मा के यशरूपी मानसरोवर से केवल गुणरूपी मुक्ताओं का ग्रहण करती है, उनके हृदय में भगवान् का निवास होता है।[2] यही नही जिनकी नासिका प्रभु प्रसाद की सुवास

---

१. नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं।
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा। ४
गुरु पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान॥ ३५
मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा।
छठ दम सील बिरत बहु करमा। निरत निरन्तर सज्जन धरमा। १
सातवँ सम मोहिमय जग देखा। मोतें अधिक संत करि लेखा।
आठवँ जथालाभ संतोषा। सपनेहुँ नहि देखइ परदोषा। २
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना।
नव महुँ एकउ जिन्ह कें होई। नारि पुरुष सचराचर कोई। ३
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें॥ तु० रा०, अर० का० ३५.४

२. सुनहु राम अब कहउँ निकेता, जहां बसहु सिय लखन समेता।
जिन्ह के श्रवण समुद्र समाना, कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना। २
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे, तिन्हके हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे।
लोचन चातक जिन्ह करि राखे, रहहिं दरस जलधर अभिलाषे। ३

ही ग्रहण करती हो, जो भगवान् को अर्पित करके ही भोजन करते हों तथा प्रसाद-रूप से ही वस्त्रालंकार धारण करते हों तथा जिनका मस्तक स्वत. ही देवताओं व गुरुजनों के सम्मुख होने पर झुक जाता हो तथा हाथों से भगवान् की पूजा आदि करते हों, जिनके चरणों की सफलता तीर्थयात्रा करने मे ही हो, जिनके हृदय में भगवान् का ही भरोसा हो, उनके हृदय में भगवान् का निरन्तर वास होता है । इनके अतिरिक्त अन्य लौकिक कार्यों बलिवैश्वदेव आदि का भी एक ही फल चाहते हों और वह कि भगवान् के चरणों में दृढ़तर प्रीति हो उन्हीं के हृदय में परमात्मा का निवास होता है ।[1]

यद्यपि भगवान् सर्वत्र सदैव सब में समान रूप से व्याप्त हैं परन्तु वे भक्त की रुचि तथा उसकी प्रीति के अनुसार ही प्रकट होते हैं ।[2]

परमात्मा भक्तों के प्रण को सर्वदा निभाते हैं । प्रह्लाद की वाणी को सत्य सिद्ध करने के लिए ही भगवान् नृसिंह रूप धारण कर खंभ से प्रकट हुए । ग्राह द्वारा गज के त्रासित होने पर भगवान् ने अविलम्ब आकर गजराज की रक्षा की । कौरव-सभा में दुःशासनादि द्वारा द्रोपदी के चीर-हरण का प्रयत्न किये जाने पर भी द्रोपदी की लज्जा भगवान् द्वारा ही बचाई जा सकी ।

निदरहिं सरित सिन्धु सर भारी, रूप विन्दु जल होहि सुखारी ।
तिन्ह के हृदय सदन सुखदायक, बसहु बन्धु सिय सह रघुनायक ।४
जस तुम्हार मानस बिमल हंसिनि जीहा जासु ।
मुकताहल गुन गन चुनइ राम बसहु हियँ तासु । १२८
प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा सादर जासु लहइ नित नासा ।
तुम्हहि निबेदित भोजन करही प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं ।१
सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी, प्रीति सहित करि बिनय विसेषी ।
कर नित करहिं राम पद पूजा राम भरोस हृदय नहि दूजा ।२
चरन राम तीरथ चलि जाहीं, राम बसहु तिन्हके मन माही ।
मंत्रराजु नित जपहिं तुम्हारा, पूजहिं तुम्हहि सहित परिवारा ।३
तरपन होम करहिं बिधि नाना, बिप्र जेंवाइ देहि बहु दाना ।
तुम्ह तें अधिक गुरहिं जियँ जानी, सकल भायँ सेवहिं सनमानी ।४
सबुकर मांगहि एक फलु राम चरन रति होउ ।
तिन्ह कें मन मंदिर बसहु सिय रघुनन्दन दोउ । तु० रा०, अयो० का० १२६

1. जाके हृदयँ भगति जस प्रीती, प्रभु तँह प्रकट सदा तेहि रीती । २
हरि व्यापक सर्वत्र समाना, प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना ।
देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं, कहहु सो कहां जहां प्रभु नाहीं । ३
अग जगमय सब रहित बिरागी प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिम आगी । तु० रा०, बा० का० १८४.४

2. प्रभु सत्य करी प्रहलाद गिरा प्रगटे नरके हरिखंभ महाँ ।
झखराज ग्रस्यो गजराज कृपा ततकाल बिलम्ब कियो न तहां ।
सुर साखी दै राखी है पान्डुबधू पट लूटत कोटिक भूप जहाँ ।
तुलसी भजु सोच बिमोचन को जन को पन राम न राख्यो कहाँ । तु० ग्र०, पृ० १६८

भगवान् ने भक्तों की रक्षा की, उनका पन भी रक्खा और साथ ही उन भक्तों के लिए लीला-शरीर भी धारण किया।[1] जिस परमात्मा का वर्णन 'नेति-नेति' करके वेदों ने किया है तथा जिनका योगी लोग ध्यान करते हैं उसी निर्गुण ब्रह्म ने भक्त के लिए सगुण रूप दशरथ-सुत राम का शरीर धारण किया।[2] जो भगवान् संसार में निर्गुण, अरूप तथा अलख प्रतीत होता है भक्त के प्रेम के वशवर्ती होकर वही सगुण हो जाता है।[3] इस प्रकार *उपर्युक्त गुणों वाले निर्गुण ब्रह्म परमात्मा राम जिनकी प्राप्ति के लिए योगी योग* करते हैं, शिव आदि ध्यान करते हैं तथा मन समेत वाणी भी जिनको नहीं जान पाती है, वही भगवान् भक्त के प्रत्यक्ष दर्शन की वस्तु हो जाते हैं।[4]

भगवान् भक्त की रक्षा उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार पलकें नेत्र-गोलकों की करती हैं। किसी प्रकार की भी क्षति वह भक्त को नहीं होने देते।[5] वे अपने प्रति किये गये अपराध से किसी पर कुपित नहीं होते परन्तु अपने भक्त के प्रति किये गये अपराध को किसी प्रकार भी क्षमा नहीं करते। भक्त का अहित करने वाला भगवान् के कोप का भाजन होता है। दुर्वासा ऋषि भक्त के प्रति दुर्व्यवहार करने के कारण कष्ट भोग चुके हैं। इसीलिए मन में भी भगवान् के भक्त का अकाज न सोचना चाहिए। यद्यपि भगवान् को समदर्शी, राग-रोष रहित तथा निर्गुण कहा जाता है परन्तु भक्त तथा अभक्त के प्रति वे उसी के अनुसार सम अथवा विषम व्यवहार करते हैं। वे भक्त के सम्बन्ध से ही वैर और प्रीति करते हैं। भक्त के प्रेमी से प्रेम तथा भक्त के शत्रु से उन्हें द्वेष होता है। अगुण, अमान, अलेप तथा एकरस भगवान् भक्त के हेतु ही सगुण रूपधारी हुए हैं।[6] श्रीराम किसी भी

---

१. संभु बिरंचि बिष्णु भगवाना। उपजहि जासु अंस तें नाना।२
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीला तनु गहई।। तु० रा०, बा० का० १४३.४

२. जेहि इमि गावहि बेद बुध जाहि धरहि मुनि ध्यान।
सोइ दसरथसुत भगतहित कोसलपति भगवान। तु० रा०, बा० का० ११८

३. अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई। तु० रा०, बा० का० ११५.१

४. करहिं जोग जोगी जेहि लागी। कोहु मोहु ममता मदु त्यागी।
ब्यापकु ब्रह्म अलखु अबिनासी। चिदानन्दु निरगुन गुनरासी।३
मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी।
महिमा निगमु नेति कहि कहई। जो तिहुँ काल एक रस रहई।४
नयन बिषय मो कहुँ भयउ सो समस्त सुखमूल।
सबइ लाभु जग जीव कहँ भएँ ईसु अनुकूल।। तु० रा०, बा० का० ३४१

५. जोगवहिं प्रभु सिय लखनहि कैसें। पलक बिलोचन गोलक जैसें। तु० रा०, अयो० का० १४१.१

६. सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ, निज अपराध रिसाहिं न काऊ।२
जो अपराधु भगत कर करई, राम रोष पावक सो जरई।
लोकहुँ बेद बिदित इतिहासा, यह महिमा जानहिं दुरबासा।३
भरत सरिस को राम सनेही, जगु जप राम रामु जप जेही।४
मनहुँ न आनिअ अमरपति रघुबर भगत अकाजु।
अजसु लोक परलोक दुख दिन दिन सोकसमाजु।।२१८

समय भक्त की चिन्ता से मुक्त नहीं होते। कामदेव से प्रसन्न होकर उसे विश्व-विजयी होने का वर देते समय भी उन्हें अपने भक्तों का ध्यान बना रहा तथा काम को मदान्ध होकर भगवत्‌भक्तों को दुःख न देने का आदेश दिया।[1] यही कारण है कि भगवान् के भक्तों को कभी काम पीड़ित नहीं करता।

भक्ति के प्रभाव से श्राप भी श्रेष्ठ वर के समान फलदायक हो जाता है। काग-भुशुंडि द्वारा भक्ति पक्ष का प्रतिपादन करने पर लोमश ऋषि के द्वारा उन्हें शाप दिया गया परन्तु वह शाप उन्हें वरदान से भी अधिक फलदायक सिद्ध हुआ। यह भजन का ही प्रभाव है। भक्ति की ऐसी महिमा को जानते हुए भी जो मनुष्य केवल ज्ञान के लिए श्रम करते हैं, उनका परिश्रम उसी प्रकार निष्फल है जिस प्रकार कामधेनु के रहते हुए भी आक के वृक्षों से दुग्ध प्राप्त करने की चेष्टा करना अथवा महासागर को बिना नौका के ही तैर कर पार करने का प्रयत्न करना।[2] भक्ति की महिमा को जानकर, भगवान् के पतित-पावन विरद को सुनकर और अपने को पतित जानकर ही अपने उद्धार की आशा से तुलसीदास भगवान् की शरण में आये हैं।[3]

सुनु सुरेस उपदेसु हमारा रामहि सेवकु परम पियारा।
मानत सुखु सेवक सेवकाई, सेवक बैर बैरु अधिकाई।१
जद्यपि सम नहिं राग न रोषू, गहहिं न पाप पुण्य गुन दोषू।
करम प्रधान बिस्व करि राखा, जो जस करइ सो तस फलु चाखा।२
तदपि करहिं सम बिषम बिहारा, भगत अभगत हृदय अनुसारा।
अगुन अलेप अमान एकरस रामु सगुन भए भगत प्रेम बस।३
राम सदा सेवक रुचि राखी बेद पुरान साधु सुर साखी। — तु० रा० अयो० का० २१८.४

१. काम कौतुकी यहि बिधि प्रभुहित कौतुक कीन्ह।
रीझि राम रतिनाथहिं जग बिजयी बर दीन्ह।१७
दुखवहु मोरे दास जनि मानेहु मोरि रजाइ।
'भलेहि नाथ' माथे धरि आयसु चलेउ बजाइ।१८.४७ — तु० ग्र०, पृ० २९१
कीबत जीते सुर असुर नाग हठि सिद्ध मुनिन के पंथ लाग।
कह तुलसिदास तेहि छाँड़ मैन जेहि राख राम राजीवनैन।४८ — तु० ग्र०, पृ० २९२

२. भगति पच्छ हठि करि रहेउँ दीन्ह महारिषि साप।
मुनि दुर्लभ बर पायउँ देखहु भजन प्रताप।११४ (ख)
जे असि भगति जानि परिहरहीं केवल ग्यान हेतु श्रम करहीं।
ते जड़ कामधेनु गृहँ त्यागी खोजत आक फिरहि पय लागी।१
सुनु खगेस हरि भगति बिहाई जे सुख चाहहि आन उपाई।
ते सठ महासिन्धु बिनु तरनी पैरि पार चाहहिं जड़ करनी। — तु० रा० उ० का० ११४.२

३. मैं हरि पतित पावन सुने।
मैं पतित तुम पतित पावन दोउ बानिक बने।
दास तुलसी सरन आयो राखिए अपने।७ — तुलसीदास, सं० वा० सं० भा० २, पृ० ८३

भक्ति की महिमा हम देख चुके हैं। भक्ति से युक्त भक्त के महिमामय आदर्श चरित्र पर एक दृष्टि डाल लेना उपयुक्त होगा। भक्तों की श्रेणी में भरत का नाम सदैव अग्रगण्य रहेगा। भक्त भरत का चरित्र, कीर्ति, कार्य, धर्म, शील तथा गुण सुनने तथा समझने में तो सबको सुखद हैं ही पवित्रता में देवसरि गंगा तथा रस में अमृत को भी निन्दित करते हैं। असीम गुणों वाले अनुपमेय पुरुष भरत को भरत के ही समान कहते बन पड़ता है। उनके लिए कोई उपमान मिलता ही नहीं। यदि उपमा दी भी जाय तो वह वास्तविक महत्ता का बोध न कराकर लघुता ही प्रदर्शित करेगी। जिस प्रकार सुमेरु पर्वत की उपमा सेर से देने पर उसकी गुरुता, उच्चता एवं विशालता प्रकट नहीं होती। वर्णन करने में वह सब के लिए उसी प्रकार अगम है जिस प्रकार जल में निवास करने वाली मीन के लिए स्थल की यात्रा करना। और कहाँ तक कहा जाय भरत की महिमा को जानते हुए श्रीराम भी वर्णन करने में समर्थ नहीं हैं। भरत और राम का भ्रातृ-प्रेम तर्क का विषय नहीं है। राम यदि समता की पराकाष्ठा हैं तो भरत स्नेह तथा ममता की साक्षात् सीमा हैं। भरत को न परमार्थ की चिन्ता है न स्वार्थ की। स्वप्न में भी किसी प्रकार के सुख का विचार उनके मन में नहीं आता। उनके लिए साधन तथा सिद्धि दोनों ही राम-चरण-रति हैं।[1] यह केवल भरत का ही मत नही है, भक्त तुलसी स्वयं इस मत के रूप में बोल रहे हैं। भरत के असीम स्नेह को देखकर सभा सहित मुनि वशिष्ठ जैसे ज्ञानी आत्म-विस्मृत हो गये। मुनियों की बुद्धि भरत की महान् महिमा का अन्त पाना चाहती है परन्तु सफल नहीं होती। जब मुनियों की यह दशा है तो अन्य किसी की क्या सामर्थ्य। भक्त भरत की महिमा उसी प्रकार बुद्धि के लिए अनवगाह्य है जिस प्रकार एक नन्हीं शुक्तिका में सागर की अथाह जल-राशि का समाना।[2]

---

१. भरत चरित कीरति करतूती धरम सील गुन बिमल बिभूती।
समुझत सुनत सुखद सब काहू, सुचि सुरसरि रुचि निदरि सुधाहू।४
निरवधि गुन निरुपम पुरुषु भरतु भरतसम जानि।
कहिअ सुमेरु कि सेर सम कबिकुल मति सकुचानि।।२८८
अगम सबहि बरनत बरबरनी जिमि जलहीन मीन गमु धरनी।
भरत अमित महिमा सुन रानी जानहिं रामु न सकहिं बखानी।१
देबि परन्तु भरत रघुबर की प्रीति प्रतीति जाइ नहिं तरकी।
भरतु अवधि सनेह ममता की यद्यपि रामु सीम समता की।३
परमारथ स्वारथ सुख सारे भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे।
साधन सिद्धि राम पद नेहू मोहि लखि परत भरत मत एहू। तु० रा०, अयो० का० २८९.४

२. भरत बचन सुनि देखि सनेहू। सभासहित मुनि भये बिदेहू।
भरत महा महिमा जलरासी। मुनि मति ठाढ़ि तीर अबला सी।१
गा चह पार जतनु हियँ हेरा, पावति नाव न बोहित बेरा।

भगवत्-भक्ति शतशः कामधेनुओं की भाँति फलप्रदा है। भक्त का प्रभाव ही ऐसा है जिससे कि भगवान् उसके वश में होने को विवश होते हैं।[1] तुलसी का यह विश्वास है कि राम से राम का भक्त अधिक श्रेष्ठ है। उनके मत से यदि राम सिंधु है, तो सज्जन भक्त मेघ। यदि राम चन्दन वृक्ष है, तो संत उसकी सुगंधि को वहन करने वाली वायु। मेघ और वायु दोनों ही अपने आधार के उत्कर्ष का प्रकाशन करने वाले हैं। बादलों के अभाव में सागर खारे, अपेय, अनुपयोगी जल का आगार मात्र ही रह जायगा। यदि मलयाचल की सुगंधि को पवन सर्वत्र प्रसारित न करे तो उसकी सुगंधि अपने तक ही सीमित रह जायगी। सागर के खारे जल को निर्मल बनाकर तथा बरसाकर भूमि को शस्य श्यामला बनाने का श्रेय मेघों को ही है। इसी प्रकार भगवत्-भक्ति को सर्व-सुलभ बनाकर उसे दूसरे के हृदय तक पहुँचाने का श्रेय भक्तों को ही है। ब्रह्मरूपी क्षीर-सागर से ज्ञानरूपी मन्दराचल के द्वारा सतगण जिस कथामृत को प्राप्त करते हैं, वह भक्ति के माधुर्य से ओत-प्रोत रहता है।[2]

तुलसी का यह कथन कि राम से राम का भक्त अधिक श्रेष्ठ है, भरत के वनगमन के वर्णन से अधिक स्पष्ट हो जाता है। राम के वनगमन के समय मार्ग की कठिनाइयाँ स्वतः दूर हो गई थीं परन्तु प्रकृति ने जितना सुखप्रद मार्ग भरत के लिए प्रस्तुत किया उतना राम के लिए नहीं हुआ था।[3] भरत के सुकोमल शरीर को आतप-कष्ट से बचाने के लिए मेघों ने छाया की तथा शीतल सुखद समीर बहकर भरत के मार्ग-श्रम को मानो हरने लगी। चर, अचर जिन प्राणियों ने भरत के दर्शन किये अथवा जिन पर उनकी दृष्टि पड़ गई, उन सब को भव-रोगों से मुक्ति मिल गई। ऐसा हो भी क्यों न। जो एक बार 'राम' कहता है वही तरण तारण हो जाता है फिर राम के प्रिय और उस पर भी उनके भ्राता भरत जिनका स्मरण राम स्वय किया करते हैं, उनके दर्शन से यदि समस्त सासारिक संताप नष्ट हो जायँ तो आश्चर्य ही क्या। यही कारण है कि तुलसी ने माता, पिता, भ्राता,

---

और करिहि को भरत बड़ाई, सरसी सीप कि सिधु समाई ॥ तु० रा०, अयो० का० २५६.२

१. सीतापति सेवक सेवकाई। कामधेनु सय सरिस सहाई।
देखु देवपति भरत प्रभाउ। सहज सुभायँ बिबस रघुराऊ ॥ तु० रा०, अयो० का० २६५.२

२. मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा ॥८
राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा।
सब कर फल हरिभगति सुहाई, सो बिनु संत न काहूँ पाई ।९
अस बिचारि जोइ कर सतसंगा, राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा।
ब्रह्म पयोनिधि मंदर ग्यान संत सुर आहि।
कथा सुधा मथि काढ़हिं भगति मधुरता जाहिं । १२० (क)
बिरति चर्म असि ग्यान मद लोभ मोह रिपु मारि।
जय पाइअ सो हरिभगति देखु खगेस बिचारि। तु० रा०, उ० का० १२० (ख)

३. किएँ जाहिं छाया जलद सुखद बहइ बर बात।
तस मगु भयउ न राम कहँ जस भा भरतहि जात ॥२१६

पत्नी, सुत, मित्र, स्वामी, सखा, सगा, सेवक, गुरु सब कुछ उसी को माना है तथा वही उनका प्राण समान प्रिय है जो देह का मोह त्यागकर भक्ति से राम का सेवक हो जाता है ।[1]

अब प्रश्न यह है कि वे कौन से कारण हैं जो भक्ति की मधुरिमा से युक्त रामकथा कहने में भक्त को प्रवृत्त करते हैं । तुलसीदास ने रामचरित मानस की प्रस्तावना में रघुनाथ गाथा को कहने में 'स्वांतःसुखाय' को प्रमुख कारण माना है ।[2] दूसरा कारण उन्होंने पौराणिक ढंग का दिया है । कवि के स्मरण करने पर साक्षात् देवी शारदा स्वर्ग से पृथ्वी पर पदार्पण करती हैं । उनका मार्ग-श्रम केवल रामचरित्र-रूपी सरोवर में स्नान करने से दूर होता है अन्य किसी उपाय से नहीं । इसीलिए कविगण सरस्वती के श्रम विमोचनार्थ हरियश-कथा का गान करते हैं ।[3] निःसन्देह प्रभु की प्रभुता का पूर्णतया वर्णन करने में कोई भी समर्थ नहीं है । शारदा, शेष, महेश, ब्रह्मा, वेद, पुराण ने भी अपने को वर्णन में असमर्थ पाकर 'नेति नेति' के द्वारा उसका गुणगान किया है । जिस भयंकर तूफान में सुमेरु जैसे पर्वत उड़े जा रहे हों, उसमें तूल जैसी वस्तु की क्या गणना ।[4] इसीलिए तो प्रभु की अमित महिमा को समझते हुए

---

१. जड़ चेतन मग जीव घनेरे जे चितए प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे ।
ते सब भए परमपद जोगू भरत दरस मेटा भवरोगू ।१
यह बड़ि बात भरत कइ नाहीं, सुमिरत जिनहि रामु मन माही ।
बारक राम कहत जग जेऊ, होत तरन तारन नर तेऊ ।
भरतु रामप्रिय पुनि लघु भ्राता, कस न होइ मगु मंगलदाता । — तु० रा०, अयो० का० २१६.२
सो जननी सो पिता सोइ भाइ सो भामिन सो सुत सो हित मेरो ।
सोई सगो सो सखा सोइ सेवक सो गुरु सो सुर साहिब चेरो ।
सो तुलसी प्रिय प्रान समान कहाँ लौं बनाइ कहौं बहुतेरो ।
जो तजि देह को नेह सनेह सों राम को सेवक होइ सबेरो ।३५ — तु० ग्र०, पृ० १७३

२. नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्,
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि ।
स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा,
भाषा निबन्धमतिमञ्जुलमातनोति ।। — तु० रा०, बा० का० ७

३. भगति हेतु बिधि भवन बिहाई, सुमिरत सारद आवति धाई ।२
रामचरित सर बिनु अन्हवाएं, सो श्रम जाइ न कोटि उपाएँ ।
कबि कोबिद अस हृदयँ बिचारी, गावहि हरि जस कलिमलहारी ।३

४. कबि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ, मति अनुरूप राम गुन गावउँ ।
कहँ रघुपति के चरित अपारा, कहँ मति मोरि निरत संसारा ।५
जेहिं मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं कहहु तूल केहि लेखे माहीं ।
समुझत अमित राम प्रभुताई, करत कथा मन अति कदराई ।६
सारद सेस महेस बिधि आगम निगम पुरान ।
नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरंतर गान । — तु० रा०, बा० का० १२

तुलसी का मन उसका वर्णन करने में हिचकता है। सभी जानते हैं कि भगवान् की महिमा अव-र्णनीय है परन्तु हृदय में उठे हुए भक्ति के प्रबल आवेग में वाणी स्वयं प्रस्फुटित हो पड़ती है इसीलिए कोई भी बिना कहे नहीं रह सका है। भजन के प्रभाव की श्रेष्ठता को जानकर सब ने अनेक प्रकार से रामकथा कही है।[1] तुलसी ने बाल्यकाल की अज्ञानावस्था में रामकथा अपने गुरु के मुख से सुनी थी, पर समझ नहीं सके थे। गुरु के अनेक बार समझाने पर जो कुछ वे समझ सके, उसी के प्रकाशनार्थ तथा अपने हृदय को प्रबोध करने के लिए वे मानस की रचना में संलग्न हुए। साथ ही परमात्मा-प्रदत्त प्रेरणा तो थी ही।[2]

निर्गुण, अनीह, अनाम, अरूप, अजन्मा, सच्चिदानन्द ब्रह्म अपने भक्तों के लिए शरीर धारण करता है। वह सर्वव्यापक विश्वरूप, अत्यन्त कृपालु तथा प्रणत अनुरागी है और अपने भक्तों पर प्रेम करके कभी क्रोध नहीं करता। गई हुई को पुनः प्राप्त करा सकने में समर्थ, दीन प्रतिपालक, सबल किन्तु सरल भगवान् के यश-वर्णन के द्वारा अपनी वाणी को पवित्र एवं सफल करने के लिए तुलसीदास ने हरियश वर्णन किया।[3] रामचरित्र असीम है। उसका सहस्र मुख वाले सहस्रों कोटि शेषनाग भी वर्णन नहीं कर पाते। तुलसीदास तो उसका यथाश्रुत वर्णन करने का प्रयत्न करते हैं। इसका कारण परमात्मा द्वारा प्रेरणा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। अपना भक्त जानकर परमात्मा जिस पर कृपा करता है सूत्रधार की भाँति उसके हृदय-प्रांगण में देवी सरस्वती को कठपुतली के समान नृत्य कराता है।[4]

---

१. सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई।
तहाँ बेद अस कारन राखा। भजन प्रभाउ भाँति बहु भाषा। — तु० रा०, बा० का० १२.१

२. मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत ॥३० (क)
तदपि कही गुर बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा ॥
भाषाबद्ध करबि मैं सोई। मोरें मन प्रबोध जेहिं होई ॥१
जस कछु बुधि बिबेक बल मेरें। तस कहिहउँ हियँ हरि के प्रेरें। — तु० रा०, बा० का० ३०.२

३. एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानन्द परधामा।
ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना।२
सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी।
जेहि जन पर ममता अति छोहू। जेहिं करुना करि कीन्ह न कोहू।३
गई बहोर गरीब नेवाजू। सरल सबल साहिब रघुराजू।
बुध बरनहिं हरि जस अस जानी। करहिं पुनीत सफल निज बानी।४

४. तेहिं बल मैं रघुपति गुनगाथा, कहिहउँ नाइ राम पद माथा।
मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई, तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई।५ — तु० रा० बा० का० १२.५
राम चरित अति अमित मुनीसा, कहि न सकहिं सत कोटि अहीसा।
तदपि यथा श्रुत कहउँ बखानी, सुमिरि गिरापति प्रभु धनु पानी।२
सारद दारुनारि सम स्वामी, रामु सूत्रधर अंतरजामी।
जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी, कबि उर अजिर नचावहिं बानी।३
मनवउँ सोइ कृपाल रघुनाथा, बरनउँ बिसद तासु गुन गाथा। — तु० रा०, बा० का० १०४.४

'मानस' के प्रारम्भ में तुलसीदास कह चुके हैं कि वे सुकवि नहीं हैं, न चतुर ही हैं। उनकी कथा रामभक्ति से विभूषित होने के कारण सज्जनों द्वारा सम्मान सहित श्रवण की जाती है। उनकी कविता सब गुणों से रहित होने पर भी केवल एक इतने महान गुण रामभक्ति से युक्त है जिसके कारण बुद्धिमान् लोग भविष्य में भी आदर के सहित उसका श्रवण करेंगे। सज्जनों का स्वभाव ही मधुकर की भाँति गुणग्राही है। निःसार धूम्र भी अगरु के सुसंग से अपनी सहज कटुता को छोड़कर सुवासित हो जाता है। भगवान् शंकर के पावन शरीर पर लगी हुई श्मशान की राख भी पवित्रकर्त्री विभूति हो जाती है। भगवान् के सुयश के सत्संग से उनकी कविता भी सज्जनों की मनभावनी होगी ऐसा तुलसी का अडिग विश्वास है। चन्दन के सम्पर्क से वृक्षों के सुगंधित हो जाने पर कोई काष्ठ विशेष का विचार नहीं करता, सब को चन्दन ही मानता है। गाय के काले होने पर भी दुग्ध उतना ही स्वादिष्ट एवं गुणकारी होता है जितना श्वेत गाय का और सबके द्वारा उसका रुचिपूर्वक पान किया जाता है। इसी प्रकार ग्राम्यवाणी में वर्णित होने पर भी भक्ति की मधुरिमा से युक्त रामकथा का सज्जन सप्रेम पठन एवं श्रवण करते हैं।[1]

---

१. भाषा भनिति भोरि मति मोरी। हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी।२
प्रभु पद प्रीति न सामुझि नीकी। तिन्हहि कथा सुनि लागिहि फीकी।
हरि हर पद रति मति न कुतरकी। तिन्ह कहुँ मधुर कथा रघुबर की।३
राम भगति भूषित जिय जानी। सुनिहहि सुजन सराहि सुबानी।
कबित बिवेक एक नहि मोरे। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे।६
भनिति मोरि सब गुन रहित बिस्व बिदित गुन एक।
सो बिचारि सुनिहहि सुमति जिन्हकें बिमल बिवेक। तु० रा०, बा० का० ६
एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अतिपावन पुरान श्रुति सारा।
मंगल भवन अमंगल हारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी।१
सब गुन रहित कुकबि कृतबानी। राम नाम जस अंकित जानी।
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस संत गुनग्राही।३
जदपि कबित रस एकउ नाही। राम प्रताप प्रगट एहि माही।
सोइ भरोस मोरें मन आवा। केहिं न सुसंग बडप्पनु पावा।
धूमउ तजइ सहज करुआई। अगरु प्रसंग सुगंध बसाई।
भनिति भदेस बस्तु भलि बरनी। राम कथा जग मंगल करनी।५
मंगल करनि कलि मल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।
गति कूर कबिता सरित की ज्यों सरित पावन पाथ की।
प्रभु सुजस संगति भनिति भलि होइहि सुजन मन भावनी।
भव अंग भूति मसान की सुमिरत सुहावनि पावनी।
प्रिय लागिहि अति सबहि मम भनिति राम जस संग।
दारु बिचारु कि करइ कोउ, बंदिअ मलय प्रसंग।१० (क)
स्याम सुरभि पय बिसद अति गुनद करहिं सब पान।
गिरा ग्राम्य सिय राम जस गावहिं सुनहिं सुजान। तु० रा०, बा० का० १० (ख)

रामकथा बुधों को विश्राम देने वाली, जनसाधारण का रंजन करने वाली, कलियुग के समस्त पापों को नाश करने वाली, कलिकालरूपी सर्प के लिए गरुड़ के समान तथा भ्रमरूपी भेकों के लिए सर्पिणी की भाँति है। यही मुनियों के विवेकरूपी पावक को वर्धित करने के लिए अरणी के समान है। कलिकाल में कामधेनु की भाँति सभी अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाली, संत-समाजरूपी क्षीरसागर से उत्पन्न विष्णुप्रिया साक्षात् रमा के समान तथा मुक्ति के लिए काशी के समान फलदायिनी है। यह तुलसी के समान राम को प्रिय है तथा तुलसीदास के लिए तो यह उनकी माता हुलसी के समान स्नेह, श्रद्धा तथा ममता की पात्र परमहितैषिणी है।[1] ऐसी महिमामयी हरिकथा श्रवण के अधिकारी होने के लिए तुलसी ने किसी विशेष नियम को स्थापित नहीं किया है। वेदान्त का अध्ययन करने के लिए शिष्य का शमदम आदि साधन-चतुष्टय से सम्पन्न होना अनिवार्य है। इनसे युक्त होने पर ही वह शिष्यत्व का अधिकारी होता है। यह कठिनाई तुलसी ने प्रस्तुत नहीं की। उनके विचार से यदि सुशील सुमति पवित्र भक्त हरिकथा का रसिक है तो उससे अत्यन्त गोपनीय कथा भी कह देनी चाहिए।[2] प्रचण्ड आतप से व्याकुल होने पर ही तरुवर की शीतल छाया का सुख अनुभव होता है। सदैव छाया मे रहने वाले को उसका सुख अनुभव नहीं होता। इसी प्रकार आर्त अधिकारी, जो उसका यथार्थ आनन्द अनुभव करता है, के प्राप्त होने पर साधु पुरुष अत्यन्त गूढ़ तत्त्व को भी न छिपा कर प्रकट कर देते हैं।[3]

राम के चरणों के अनुराग मात्र से विराग, जप, योग तथा व्रत के बिना शरीर रहते ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सब सुख तुरन्त ही प्राप्त हो जाते है। अस्तु यह प्रतीत होता है

---

१. बुध बिश्राम सकल, जनरंजनि, राम कथा कलि कलुष बिभंजनि।
राम कथा कलि पन्नग भरनी, पुनि बिवेक पावक कहुँ अरनी।३
राम कथा कलि कामद गाई, सुजन सजीवनि मूरि सुहाई।
सोइ बसुधातल सुधा तरंगिनि भय भंजनि भ्रम भेक भुअंगिनि।४
असुर सेन सम नरक निकंदिनि साधु बिबुध कुल हित गिरिनंदिनि।
संत समाज पयोधि रमा सी, बिस्व भार भर अचल छमा सी।५
जम गन मुहँ मसि जग जमुना सी, जीवन मुकुति हेतु जनु कासी।
रामहि प्रिय पावनि तुलसी सी तुलसिदास हित हियँ हुलसी सी।६
सिवप्रिय मेकल सैल सुता सी, सकल सिद्धि सुख संपति रासी।
सदगुन सुरगन अंब अदिति सी, रघुबर भगति प्रेम परमिति सी।७
राम कथा मंदाकिनी चित्रकूट चितचारु।
तुलसी सुभग सनेह बन सिय रघुबीर बिहारु॥ तु० रा०, बा० का० ३१

२. गूढ़उ तत्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं। तु० रा०, बा० का० १०९.१

३. जो अति आतप ब्याकुल होई। तरु छाया सुख जानइ सोई।२
श्रोता सुमति सुसील सुचि कथारसिक हरिदास।
पाइ उमा अति गोप्यमपि सज्जन करहिं प्रकास। तु० रा०, उ० का० ६९ (ख)

कि तुलसी को जीवन्मुक्ति का सिद्धान्त मान्य है ।[1] यदि एक ओर केवल अनुराग से चारों फलों का प्राप्त होना कहा गया है तो दूसरी ओर भगवत्प्राप्ति बिना अनुराग के असम्भव मानी गई है । योग, तप, ज्ञान, वैराग्य कोई भी भगवत्प्राप्ति कराने के लिए समर्थ नहीं है ।[2]

साधारणतया मोक्ष ही अत्यन्त दुर्लभ प्राप्तव्य पद माना जाता है । यही संत, पुराण मुनि सब का मत है परन्तु वही मुक्ति रामभजन करने के कारण न चाहने पर भी हठात् पीछे लगती है । जिस प्रकार भूमि के बिना जल की स्थिति नहीं रह सकती उसी प्रकार भक्ति के बिना मोक्ष-सुख नहीं हो सकता । मनुष्य केवल क्षुधा की तृप्ति के लिए भोजन करता है परन्तु वह भोजन स्वतः पचकर शक्ति का देने वाला हो जाता है । उसी प्रकार हरिभक्ति भी सहज है । उसका फल मोक्ष तो उसका अनुगामी है । यही विचार कर बुद्धिमान मुक्ति के लिए प्रयत्न न करके भक्ति के लिए लालायित रहते हैं जिसकी कि मुक्ति निश्चिततया अनुगामिनी है । सेवक-सेव्य भाव के बिना ससार-सागर से मुक्ति नहीं हो सकती । तुलसी की भक्ति एव उपासना सेवक-सेव्य भाव की थी । सभी स्थलों पर उन्होंने अपने को प्रभु का सेवक ही कहा है ।[3] राम की ऐसी प्रीति के कारण तुलसी जन्म-जन्मान्तर तक उनसे प्रीति व सगाई स्थापित रखना चाहते हैं । उन्होने तुलसी का पाप अथवा परिताप हरण करके शरीर ही शीतल नही कर दिया अपितु कपटी मांसभक्षी बगुले से उन्हें हंस जैसा विवेकी भी बना दिया ।[4] वे उन करुणायतनसदगुणाकर, सगुण ब्रह्म का ही मन, वचन,

---

१. बिनु बिराग जप जाग जोग ब्रत बिनु तप बिनु तनु त्यागे ।
सब सुख सुलभ सद्य तुलसी प्रभुपद-प्रयास अनुरागे ।।१५ — तु० ग्र०, पृ० ३४५

२. मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा, किऍ जोग तप ग्यान बिरागा । — तु० रा०, उ० का० ६१.१

३. अति दुर्लभ कैवल्य परम पद संत पुरान निगम आगम बद ।
राम भजत सोइ मुकुति गोसांई अनइच्छित आवइ बरिआंई ।२
जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई कोटि भांति कोउ करै उपाई ।
तथा मोच्छसुख सुनु खगराई, रहि न सकइ हरिभगति बिहाई ।३
अस बिचारि हरिभगत सयाने मुक्तिनिरादरि भगति लुभाने ।
भगति करत बिनु जतन पयासा संसृति मूल अविद्या नासा ।४।।
भोजन करिअ तृपिति हित लागी, जिमि सो असन पचवै जठरागी ।
असि हरि भगति सुगम सुखदाई, को अस मूढ़ न जाहि सोहाई ।५।।
सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि ।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धान्त बिचारि ।११९ (क)
जो चेतन कहँ जड़ करइ जड़हि करइ चैतन्य ।
अस समर्थ रघुनायकहि भजहिं जीव ते धन्य । — तु० रा०, उ० का० ११९ (ख)

४. पाप हरे परिताप हरे तन पूजि भो सीतल सीतलताई ।
हंस कियो बक तें बलि जाउं कहालौं कहौं करुना अधिकाई ।
काल बिलोकि कहै तुलसी मन में प्रभु को परतीति अघाई ।
जन्म जहाँ तहाँ रावरे सोनिबहै भरि देह सनेह सगाई ।।५८ — तु० ग्र०, पृ० १७७

कर्म से चरण अनुराग चाहते हैं।[1] जो प्रभु के रूपामृत का नेत्र भरकर माधुर्य पान करता है, उसी का जीवन सफल होता है अन्यथा वह नरपशु की गणना में आता है।[2] तुलसी के नेत्ररूपी मीनों के लिए राम-सीता का स्वरूप ही अगाध जलराशि है जिसमें कि वे जीवन धारण करती हुई आनन्दित होती हैं। श्रवणों में राम की ही कथा हो, मुख में राम का ही नाम हो तथा हृदय में राम का ही निवास हो। राम ही मति, राम ही गति, राम ही रति, तथा राम का ही बल हो। सब के लिए ऐसा हो न हो—सब इसमें विश्वास करें न करें परन्तु तुलसी के मत से—उनके विश्वास से जीवन का फल राममय होने में ही है।[3]

जो योद्धा संग्राम को सम्मुख उपस्थित पाकर युद्ध से विरत रहता है उसको गया हुआ ही समझना चाहिए। वह स्तुत्य नहीं होता। जो यती कहलाकर विषय-वासनाओं में लिप्त रहता है, जो धनवान होने पर भी दान नहीं देता, जो निर्धन होता हुआ धर्म में रत नहीं होता तथा जो पंडित पुराणों को पढ़कर भी सुकर्मों में संलग्न नहीं होता, उनको भी नष्टप्राय समझना चाहिए। इसी प्रकार जो पुत्र माता-पिता की भक्ति नहीं करता तथा जो पत्नी पति का हित नहीं करती, उनको भी गया हुआ ही समझना चाहिए तथा उसका सर्वस्व ही गया हुआ समझना चाहिए जिसके हृदय में राम के प्रति नित्य नवीन प्रीति उत्पन्न नहीं होती।[4]

तुलसीदास भगवान् के अनन्य प्रेम के उपासक हैं। उनका प्रेम चातक के प्रेम के समान है जिसे एकमात्र रामरूप स्वाति जलद से ही प्रयोजन है। तुलसी को केवल एक ही भरोसा, एक ही बल, एक ही आशा तथा विश्वास है और वह है राम का।[5] भक्त भरत

---

१. जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मन पर ध्यावहीं।
ते कहहुँ जानहुँ नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं।
करुनायतन प्रभु सदगुनाकर देव यह वर मागहीं।
मन बचन कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं।६ — तु० रा०, उ० का० १२.६

२. कस न पियहु भरि लोचन रूप सुधा रसु।
करहु कृतारथ जनम होहु कस नरपसु।।६१ — तु० ग्रं०, पृ० ४३

३. सियराम सरूप अगाध अनूप बिलोचन मीनन को जलु है।
श्रुति रामकथा मुख राम को नाम, हिये पुनि रामहि को थलु है।
मति रामहिं सों गति रामहिं सों रति राम सों रामहिं को बलु है।
सब की न कहै तुलसी के मते इतनो जग जीवन को फलु है।।३७ — तु० ग्रं०, पृ० १७४

४. जाय सो सुभट समर्थ पाइ रन रारि न मंडै।
जाय जो जती कहाय विषय बासना न छंडै।
जाय धनिक बिनु दान जाय निर्धन बिनु धर्महिं।
जाय सो पंडित पढ़ि पुरान जो रत न सुकर्महि।
सुत जाय मात पितु भक्ति बिनु तिय सो जाय जेहि पति न हित।
सब जाय दास तुलसी कहै जौ न राम पद नेह नित।।११६ — तु० ग्रं०, पृ० ११०

५. एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
राम रूप स्वाती जलद चातक तुलसीदास।।१५ — तु० ग्रं०, पृ० १०

के रूप में जो तुलसीदास अपने लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष तक की इच्छा नहीं करते, उनकी एकमात्र अभिलाषा है जन्म-जन्मान्तर में भी भगवान् के चरणों में भक्ति। कोई उन्हें भला कहे या बुरा, उन्हें चिन्ता नहीं। उनको केवल एक वरदान की अभिलाषा है और वह है—सीता-राम-चरण में दिनोंदिन रति। यदि मेघ सदैव के लिए चातक को भुला दे अथवा उसकी याचना पर स्वाति जल के स्थान पर उपल-वृष्टि करे तो भी चातक की पुकार में न्यूनता न होगी। उसकी याचना अथवा स्मरण का कम हो जाना स्वयं ही उसका घटना होगा। स्वर्ण का सौन्दर्य उसके दग्ध होने पर ही निखरता है, इसी प्रकार प्रिय पद-प्रेम-निर्वाह से ही भक्त निखार को प्राप्त होता है।[1]

यद्यपि सिद्धान्त रूप से तुलसी भक्तिमार्ग के समर्थक हैं परन्तु मोक्ष प्राप्ति के लिए उन्हें ज्ञान तथा योग भी साधन रूप मे मान्य है, जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं। जीव की मुक्ति के लिए विद्वानों ने हृदयग्रथि के खोलने पर जोर दिया है। तिमिराच्छन्न हृदय में पड़ी हुई इस अज्ञान ग्रंथि को खोलने के लिए जिससे जीव निर्बंध होकर मुक्त हो जाय, तुलसी ने ज्ञानदीप की योजना की है। उस ज्ञानदीप को प्रकाशित करने के लिए बड़े यत्न से तमाम सामग्री जुटानी पड़ती है। सात्विक, श्रद्धा, जप, तप, व्रत, यम, नियम, धर्माचरण, भाव, निवृत्ति, विश्वास, निष्कामता, संतोष, क्षमा, धृति, मोद, विचार, सत्य, योग, बुद्धि, समता, नि.त्रैगुण्यता आदि से युक्त होने पर ज्ञानदीप प्रकाशित होता है जिससे कि फिर सोऽहमस्मि की वह विज्ञानमय ज्योति उद्दीप्त होती है जिसके निकट जाते ही मदादिक शलभ विनष्ट हो जाते हैं। इस आत्मानुभव आनन्द के प्रकाश से संसार के मूल भेद-भ्रम का नाश हो जाता है तथा अविद्यात्मक मोह आदि का अधकार मिट जाता है। ज्ञान के प्रकाश में बुद्धि हृदयग्रथि को खोल देती है और यह जीव कृतकृत्य हो जाता है। उसके लिए मुक्ति का द्वार उन्मुक्त हो जाता है। यहाँ एक अन्य कठिनाई उत्पन्न होती है। अज्ञान-ग्रंथि को खुलता हुआ जानकर माया और विषय-प्रभंजन ज्ञानदीप को बुझा देने के लिए अनेक प्रकार से विघ्न-बाधाएँ उपस्थित करते हैं।[2] इस प्रकार माया आदि के कारण अनेक

---

१. अरथ न धरम न काम रुचि गति च चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन। तु० रा०, अयो० का० २०४
जानहुँ राम कुटिल करि मोही लोग कहउ गुरु साहब द्रोही।
सीता राम चरन रति मोरे अनुदिन बढ़इ अनुग्रह तोरें।१
जलदु जनम भरि सुरति बिसारउ जाचत जलु पवि पाहन डारउ।
चातकु रटनि घटें घटि जाई बढें प्रेम सब भाँति भलाई।२
कनकहिं बान चढ़इ जिमि दाहें तिमि प्रियतम पद प्रेम निबाहे। तु० रा०, अयो० का० २०४.३

२. अस संजोग ईस जब करई तबहुँ कदाचित सो निरुआई।४
सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई, जौं हरि कृपाँ हृदयँ बस आई।
जप तप ब्रत जम नियम अपारा, जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा।५
तेइ तृन हरित चरै जब गाई, भाव बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई।
नोइ निबृत्ति पात्र बिस्वासा, निर्मल मन अहीर निज दासा।६

कष्टसाधित प्रयत्नों से सँजोये हुए ज्ञानदीप के बुझने की आशंका निरंतर बनी ही रहती है। ज्ञानदीप के इस रूपक से तुलसी ने ज्ञान मार्ग की कठिनाइयों को स्पष्ट करते हुए भक्ति की श्रेष्ठता को प्रतिपादित किया है। भक्तिमार्ग अपेक्षतः सहज तथा सरल है। सब आशाएँ त्यागकर अनन्य विश्वास से जो भगवान् का भक्त होता है वह भगवान् के नाम जपने मात्र से बिना श्रम ही संसार से मुक्त हो जाता है।[1]

जहाँ तुलसीदास ने भक्ति को ही परम पुरुषार्थ तथा मुक्तिप्राप्ति का साधन माना है, कबीर ने ज्ञान, भक्ति, योग तीनों को ही समान रूप से अन्तिम लक्ष्य का साधन स्वीकार किया है। कबीर के पूर्ववर्ती काल में भारतीय दर्शन एवं साधना के तीनों अंग भक्ति, ज्ञान तथा योग अपनी चरमावस्था को पहुँच चुके थे। एक ओर वैदिक काल से प्रवाहित होती हुई ब्रह्मज्ञान की धारा उपनिषदों, बुद्ध दर्शन, शांकर अद्वैत से होती हुई कबीर तक पहुँच रही थी। दूसरी ओर वैदिक साहित्य से ही चलकर योग की धारा उपनिषदों में यत्र-तत्र दृष्टिगत होती हुई बौद्धों, तान्त्रिकों, योगियों(आष्टांगिकों) सिद्धो तथा नाथों के मध्य से जन-साधारण की विचारधारा मे घुलमिल गई थी। पूर्व विवेचन मे हम देख चुके है कि भक्ति की धारा का उद्गम भी वेद ही सिद्ध होते हैं तथा वह भागवत, शाण्डिल्य, नारद आदि सूत्रों से चलकर स्वतंत्र विवेचन एव अध्ययन का विषय बन चुकी थी। इस प्रकार कबीर

परम धर्ममय पय दुहि भाई, अवटै अनल अकाम बनाई।
तोष मरुत तब छमाँ जुडावै, धृति सम जावनु देइ जमावै।७
मुदितो मथै बिचार मथानी, दम अधार रजु सत्य सुबानी।
तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता, बिमल बिराग सुभग सुपुनीता।८
जोग अगिनि करि प्रगट तब कर्म सुभासुभ लाइ।
बुद्धि सिरावै ज्ञान घृत ममता मल जरि जाइ।११७ (क)
तब बिज्ञानरूपिनी बुद्धि बिसद घृत पाइ।
चित्त दिया भरि धरै दृढ़ समता दिअटि बनाइ। ११७ (ख)
तीनि अवस्था तीनि गुन तेहि कपास तें काढ़ि।
तूल तुरीय संवारि पुनि बाती करै सुगाढ़ि।११७ (ग)
एहि बिधि लेसै दीप तेज रासि बिज्ञानमय।
जातहि जासु समीप जरहिं मदादिक सलभ सब।११७ (घ)
सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा, दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा।
आतम अनुभव सुख सुप्रकासा, तब भव मूल भेद भ्रम नासा।१
प्रबल अबिद्या कर परिबारा, मोह आदि तम मिटइ अपारा।
तब सोइ बुद्धि पाइ उँजियारा, उर गृह बैठि ग्रंथि निरुआरा।२
छोरन ग्रंथि पाव जौं सोई, तब यह जीव कृतारथ होई।
छोरत ग्रंथि जानि खगराया, बिघ्न अनेक करइ तब माया। तु० रा०, उ० का० ११७.३

१. जे ग्यान मान बिमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी।
बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे।
जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव नाथ सो समरामहे। तु० रा०, उ० का० १२.३

के सम्मुख ज्ञान, योग और भक्ति की तीनों धाराएँ विद्यमान थीं जिनका स्पष्ट प्रभाव उन पर देखा जा सकता है। वे बहुश्रुत थे, 'मसि कागद' उन्होंने हाथ से भी नहीं छुआ था। जो भी उनको श्रेष्ठ ज्ञात हुआ तथा रुचा उसी को उन्होंने अपनाया। ज्ञान, योग तथा भक्ति तीनों ही का मोक्ष के साधन रूप में वर्णन हुआ है। कहीं एक को महत्ता प्रदान की गई है और कहीं दूसरे को परन्तु तीनों के समन्वय को ही उन्होंने मुक्ति का साधन स्वीकार किया है। *अथवा यह कहना अधिक उचित होगा कि मुक्ति की स्थिति में इस साधनत्रयी का भी* मुक्ति में परिवर्तन हो जाता है। भक्ति, ज्ञान, योग सभी का पर्यवसान मुक्ति में होता है जिससे उनमें कोई भेद नहीं रह जाता।

कबीर के विचार से ज्ञान से माया, मोह, तृष्णा, कुमति, आदि भ्रम-संशय सब नष्ट होते हैं तथा आत्मभानु के प्रकाश से साधक का अन्तर प्रकाशित हो जाता है। सब संशयों को दूर भगाने के लिए उन्होंने ज्ञान की आँधी का रूपक उपस्थित किया है। ज्ञान की आँधी से माया से बँधी हुई भ्रम की टटिया उड़ गई, द्विविधा एव संशय की थूनी गिर गई, मोह का बड़ीला टूट गया, तृष्णा का छानी-छप्पर उड़ गया तथा उससे कुमति का भण्डा फूट गया। सब विकारों के दूर हो जाने से हृदय निर्मल हो गया, तभी प्रेमवारि की वर्षा हुई। उसमें भक्त सराबोर हो गया। उस आँधी और वर्षा के पश्चात् जो आत्मज्ञान-प्रकाश उदय हुआ, उसमें कबीर ने स्वयं का साक्षात्कार किया।[1] प्रथमतः ज्ञान, ज्ञान के पश्चात् प्रेमभक्ति, तदुपरान्त साक्षात्कारजन्य आत्मज्ञान की स्थिति आती है। इस प्रकार कबीर द्वारा प्रस्तुत ज्ञान के दो भाग हो जाते हैं—एक साधनरूपी अपराज्ञान, जिसके द्वारा साधक माया, मोह आदि विकारो से निवृत्त होकर संशय रहित हो जाता है तथा दूसरा सिद्धिरूप पराज्ञान, जिसके द्वारा साधक परम तत्त्व का आत्म-प्रत्यक्ष करके तन्मय हो जाता है। कबीर ने ज्ञान के गज पर सहज रूपी आसन डालकर आरूढ़ होने का आदेश दिया है। हाथी के चलते समय श्वान निरर्थक ही भौंका करते हैं परन्तु वह उनकी परवाह न करके अपनी राह चलता ही जाता है। उसी प्रकार ससाररूपी श्वान की ज्ञान को तनिक भी चिन्ता नहीं होनी चाहिए।[2]

यह सब ज्ञान है किसका जिसके द्वारा ज्ञानी परम निश्चिन्त होकर आत्मप्रकाश से आलोकिक होता है। वह ज्ञान है एकत्व का, जिसके प्राप्त हो जाने से स्वतः ही सब सिद्ध

---

१. देखो भाई ज्ञान की आई आँधी।
सबै उड़ानी भ्रम की टाटी रहै न माया बाँधी।
दुचिते की दुइ थूनि गिरानी मोह बलेंडा टूटा।
त्रिष्णा छानि परी धर ऊपर कुमति का भांडा फूटा।
आँधी पीछे जो जल बरसै तिहि तेरा जन भीना।
कहि कबीर मन भया प्रगासा उदय भानु जब चीन्हा।११८ क० ग्र०, पृ० २९६

२. हसती चढ़िया ज्ञान कै सहज दुलीचा डारि।
स्वान रूप संसार है पड्या मुषै झखमारि।१५ क० ग्र०, पृ० ५६

हो जाता है। अनेक का ज्ञान अज्ञानरूप ही है। उसके जानने से क्या हित ? हित तो है अनेकत्व में एकत्व दर्शन से जिससे कि सब कुछ संभव होता है।[1] जब तक कबीर में 'अहम्' था, द्वित्व का भाव था, परमात्मा का साक्षात्कार संभव नहीं था। जब उनके अन्तस्तल में एक परमात्मा की ही सत्ता शेष रह गई है, सब जगत राममय हो गया है, उनके मानस में ज्ञान के प्रकाश हो जाने से अज्ञानान्धकार मिट गया है। वह तू है 'तत्वमसि' इस प्रकार की धारणा से अहम् नष्ट हो गया तथा सर्वत्र उस तू परमात्मा का दर्शन होने लगा।[2] सुरति निरति में तथा जप अजप में अन्तर्हित हो गया। अक्षर लेख निरक्षर अलेख में विलीन हो गया तथा स्वयं परमात्मा पुरुष में समाहित हो गया।[3]

कबीर ने इस संसार को मायाजन्य बिना मूल का वृक्ष माना है, जिसमें गुरु और शिष्य साक्षी और भोक्ता रूप में स्थित हैं। परमात्मा ही गुरु है, जो साक्षी रूप में विद्यमान है तथा जीव ही शिष्य है, जो भोक्ता रूप में है। अमूर्त होकर भी समस्त जीवों में वह परमात्मा मूर्तिमान है।[4] इसी भाँति का उद्‌गार हमें श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी दृष्टिगोचर होता है। उपनिषद् में वर्णन है : एक वृक्ष पर दो समान पक्षी बैठे हैं जिनमे एक वृक्ष के स्वादिष्ट फलों का भोग करता है तथा दूसरा साक्षी-भाव मात्र से उसका अवलोकन करता है। यही जीव और ब्रह्म का भोक्ता तथा साक्षी भाव है।[5]

योग का वर्णन करते हुए कबीर ने उसी को निर्द्वन्द्व मतवाला योगी माना है जिसका हृदय ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित हो। वह योगी हर समय अजपा जाप जपता है, व्यापक तथा व्याप्य ब्रह्म का ध्यान करता है। तथा आशा-तृष्णा पर विचार करके समस्त कार्य सम्पादित करता है। गुरु के ज्ञान द्वारा अगम ब्रह्म का परिचय प्राप्त करने में दत्तचित होता है; सुरती और नाद को अन्तः में स्थापित करके शरीर के प्रति उदासीन हो जाता है। सुरति, निरति, पंचप्राण सब का एकीकरण कर प्रेम-सागर में निमग्न हो जाता है। इस प्रकार के निर्द्वन्द्व योगी के निकट कलह-कल्पना आती तक नहीं। सहज प्रकाश प्राप्त, नाम

---

१. कबीर एक न जांणियां तौ बहु जांण्यां क्या होइ।
एक तैं सब होत हैं सब तैं एक न होइ।९ — क० ग्र०, पृ० १९

२. तूं तूं करता तूं भया मुझमैं रही न हूं।
वारी फेरी बलि गई जित देखौं तित तूं।९ — क० ग्र०, पृ० ५

३. सुरति समानी निरति मैं अजपा मांहै जाप।
लेख समाना अलेख मैं यूं आपा मांहै आप।२३ — क० ग्र०, पृ० १४

४. साखा पत्र कछू नहिं ताके सकल-कमल दल गाजै।
चढ़ तरवर दो पंछी बोले एक गुरू एक चेला।
चेला रहा सो रस चुन खाया गुरू निरंतर खेला।
पंछी के खोज अगम परगट कहैं कबीर बड़ी भारी।
सब ही मूरत बीज अमूरत मूरत की बलिहारी।४७ — ह० प्र० क०, पृ० २६४

५. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति। — श्वे० ४.६

में निरन्तर रत वह योगी स्वयं तो मुक्त होता ही है, दूसरों को भी मुक्त करता है।[1] नारदीय प्रेमाभक्ति के अनुसार भक्त स्वयं मुक्त होता है तथा दूसरों को भी मुक्त करता है। इसी भक्ति पद्धति से प्रभावित होकर कबीर ने जिस साधक का वर्णन किया है वह यौगिक क्रियाओं को साध कर और प्रेम का प्याला पीकर स्वयं तरता है तथा लोक का भी निस्तार करता है।

कबीर के एक अन्य पद में योग, प्रेम तथा ज्ञान का सुन्दर समन्वय हुआ है। उनके विचार से वही योगी है जो कलारहित, सम्पूर्ण, एकरस प्रेम की भिक्षा करता है। काम, क्रोध तथा विवाद से रहित अनहद शब्द ही उस योगी का शृंगीनाद है। वह अन्य आसन मुद्रा की अपेक्षा नहीं रखता। गुरु ज्ञान ही उसकी मानसिक मुद्रा है तथा त्रिकुटी में ही वह ध्यान लगाता है। उसे काशी आदि तीर्थ खोजने की आवश्यकता नहीं पड़ती, सब शरीर में ही प्राप्त हो जाते हैं। ज्ञान ही उसकी मेखला है। बंक नालि के रस का पान करने वाला वह परम ज्ञानी योगी स्थिर चित्त हो जाता है।[2] कबीर ने आधार परक आध्यात्मिक कर्मों के योग से सिद्धि प्राप्त करने की ओर भी इंगित किया है। शरीर का कंथा, मौनि की मुद्रा, दया की झोली तथा विचार का पात्र धारण करके योगार्जन की विधि का निर्देश किया गया है। ऐसा गुरुमुख भोगी शिष्ट जप तप, संयम का संचयन करता है। बुद्धि की विभूति लगाकर शृंगीनाद (अनहद) को सुरति में मिलाकर वैराग्य को धारण करके स्व-शरीर रूपी नगर में भ्रमण करता हुआ मन की ही किंगरी बजाता है। इस प्रकार के योग

---

१. अवधू सो जोगी मतवारा
जाके अन्तर भया उजियाला।
अजपा जाप जपे निसि वासर दुविधा चित नहि धरै।
सबसे न्यारा सब के माही ऐसा ब्रह्म विचारे। १
आशा परखे तृष्णा परखे परख परख सब लेवे।
गुरू कै ज्ञान अगम को परचे ब्रह्म अगनि में देवे। २
मेली सुरति नाद धर माही तन सो रहे निरासा।
प्रेम पियाला उलट के पीवे सहज होय परकासा। ३
सुरति निरति अरु पाचो पवना एकही संग चलावे।
रहे समाय प्रेम सागर में मन में मंगल गावे। ४
कलह कल्पना निकट न आवे निसि दिन नाम उचारे।
कहे कबीर अपनो क्या संसय सो जन औरहि तारे। ५ — शीलनाथ, पृ० १८

२. सो जोगी जाकै सहज भाइ अकल प्रीति की भीख खाइ।
सबद अनाहद सींगी नाद काम क्रोध बिषिया न बाद।
मन मुद्रा जाकै गुर को ग्यान त्रिकुट कोट मैं धरत ध्यान।
मनहीं करनि कौ करै सनोन गुर कौ सबद लेले धरै धियान।
काया कासी खोजै बास तहाँ जोति सरूप भयौ परकास।
ग्यान मेषली सहज भाइ बंक नालि कौ रस खाइ।
जोग मूल कौ देइ बन्द कहि कबीर थिर होइ कन्द ॥३७७ — क०ग्रं०,पृ० २१३

से निराली अलौकिक मस्ती का साम्राज्य छा जाता है।[1] सत्य तो यह है कि कबीर ने यहाँ योग के रूपक द्वारा ज्ञान-धर्म-मय सदाचरण को ही अलौकिक आनन्द की प्राप्ति का साधन स्वीकार किया है। एक अन्य पद में षडांग-योग के द्वारा अनुपम तत्त्व प्राप्ति की चर्चा की गई है।[2] अनहद शब्द का चिन्तन करके ब्रह्म का ध्यान धरने के लिए कबीर ने कहा है। पहले पंच वायु की खोज करे तत्पश्चात् वायु, बिन्दु को लेकर आकाश में लीन हो जाय। शून्य में इड़ा पिंगला के संधिस्थल पर रवि, शशि और पवन का एकीकरण करे जिससे कि मन स्थिर हो जाय। मन स्थिर हो जाने पर कमल प्रकाशित होता है जिसमें परमात्मा का वास है। कमल के सम्पुट को खोलकर परमात्मा का साक्षात्कार गुरु कराता है परन्तु जिसके गुरु नहीं होता उसके विषय में कहा ही क्या जाय। इस भाँति दृढ़ आसन और निद्रा को साधकर सहज लक्षणों से युक्त योग की साधना करनी चाहिए।[3] सच्चे योगी के विषय में कबीर का कथन है—आत्मानन्द रूपी महारस का पीने वाला ही योगी है। वह अपनी काया पंचाग्नि से दग्ध नहीं करता वरन् ब्रह्मज्ञानरूपी अग्नि से प्रकाशित करता है। वह जप जिह्वा अथवा मुख से नहीं करता, उसका अजपा जाप स्वतः चला करता है। वह आसन बाघम्बर या कुशासन पर नहीं लगाता। इड़ा पिंगला सुषुम्ना के संगम त्रिकूट में आसन लगाता है तथा उसी त्रिवेणी की विभूति में मज्जन करता है तथा सब विषयों को त्यागकर

---

१. मुद्रा मोनि दया करि झोली पत्र का करहु विचारू रे।
खिंथा यहु तनु सिअौ अपना नाम करो आधारू रे।
ऐसा जोग कमावे जोगी जप तप संयम गुरु मुख भोगी।
बुद्धि विभूति चढ़ाओ अपनी सिंगी सुरति मिलाई।
करि वैराग फिरो तन नगरी मन की किंगुरी बजाई।
पंच तत्व लै हिरदे राखहु रहै निराल मताड़ी।
कहत कबीर सुनहुरे संतहु धर्म दया करि बाड़ी ॥१६५ क० ग्र०, पृ० ३१७

२. षट नेम कर कोठड़ी बाँधी वस्तु अनूप बीच पाई।
कुंजी कुलुफ प्रान करि राखे करते बार न लाई।
अब मन जागत रहु रे भाई।
गाफिल होय के जनम गँवायो चोर मुसैं घर जाई।
पंच पहरुआ दर महि रहते तिनका नहिं पतियारा।
चेति सुचेत चित होइ रहु तौ लै परगासु उजारा।
नव घर देखि जु कामनि भूली वस्तु अनूप न पाई।
कहत कबीर नवै घर मूसे दसवें तत्व समाई ॥१६५ क० ग्र०, पृ० ३२४

३. ऐसा ध्यान धरौं नरहरी सबद अनाहद च्यन्तन करो।
पहिली खोजौ पंचे बाइ बाइ ब्यंद ले गगन समाइ।
गगन जोति तहाँ त्रिकुटी संधि रवि शशि पवना मेलौ बंधि।
मन थिर होइत कवल प्रकासै कवला मांहि निरंजन बासै।
सतगुरु संपट खोलि दिखावै निगुरा होइ तौ कहाँ बतावै।
सहज लछिन ले तजौ उपाधि आसन दृढ़ निद्रा पुनि साधि ॥३२५ क० ग्र०, पृ० १९८

सहज समाधि प्राप्त करता है।[1]

भक्ति, ज्ञान तथा योग की अपेक्षा अधिक सरल तथा स्वाभाविक है। भक्ति का सम्बन्ध हृदय से है। बिना किसी के सिखाये भी तप्त मानव रो पड़ता है, आर्त जगत् का प्रवर्तक किसी अदृश्य सत्ता की खोज में विह्वल होकर दौड़ पड़ता है और कलियों के चटकने, तारों के मुस्कराने, पत्तियों के मर्मर, चिड़ियों के कल्लोल और समुद्र के गर्जन में अपने को लय करके कवि-हृदय गा पड़ता है। भक्ति की इस मानव-हृदय-स्पर्शिता से कबीरदास भी अछूते नहीं बचे थे। यदि उन पर ज्ञान तथा योग का प्रभाव था तो वे भक्ति से भी उतने ही प्रभावित थे। उनके विचार से ब्रह्म के कथन मात्र से 'अहम् ब्रह्मास्मि' के पाठ से अन्त नहीं प्राप्त होता। यह बौद्धिक ब्रह्मज्ञान मनुष्य को आत्मसाक्षात्कार कराने में सक्षम नहीं है। रामभक्ति के द्वारा वह साक्षात्कार घर बैठे सहज ही में बिना प्रयास के प्राप्त हो जाता है। कबीर ने राम को अपना मन समर्पित कर दिया है और इस आत्म-समर्पण के द्वारा भगवान् उनके वश में हो गये हैं मानो उनके मोल लिये हों। जिस परमात्मा को कंचन से तोल कर भी प्राप्त नहीं किया जा सकता, वही परमात्मा भक्त के वश में रहता है।[2] भक्त के लिए भक्ति ही मुख्य है, स्थान आदि बाह्य साधन गौण हैं। काशी में शरीर त्यागने से यदि मुक्ति मिल गई तो इसमें राम का क्या निहोरा? काशी तो मुक्तिदायिनी कही ही गई है। कबीर साधारण जन से भक्त की कोटि में आ गये, यही मानव-जीवन का लाभ है। जिसकी राम में भक्ति रहती है उसके लिए कुछ भी आश्चर्य नहीं है। गुरु के प्रसाद से, साधु के संग से तथा रामभक्ति से जुलाहे की निम्न जाति के कबीर ने ससार विजय कर ली है अर्थात् उन्हें मोक्ष प्राप्त हो गया है। सर्वसाधारण को सचेत करते हुए कबीर कहते हैं—भ्रम में कोई मत पड़ो। जैसी फलदा काशी है वैसा ही मगहर।[3] काशी, मगहर आदि का महत्त्व नहीं है, महत्त्व तो है हृदयस्थ राम का और यही सत्य है।

---

१. आत्मा अनंदी जोगी,
पीवै महारस अंमृत भोगी।
ब्रह्म अगनि काया परजारी,
अजपा जाप उनमनीं तारी।
त्रिकुट कोट मैं आसन मांडै,
सहज समाधि विषै सब छांडै।
त्रिबेंणी बिभूति करै मन मंजन,
जन कबीर प्रभू अलख निरंजन ॥२०४ क०ग्र०, पृ० १५८

२. कंचन स्यो पाइयै नहिं तोलि। मन दे राम लिया है मोलि।
अब मोहिं राम अपना करि जान्या। सहज सुभाइ मेरा मन मान्या।
ब्रह्मै कथि कथि अन्त न पाया। राम भगति बैठे घर आया।
कहु कबीर चंचल मति त्यागी। केवल राम भक्ति निज भागी ॥३६ क०ग्र०, पृ० २७५

३. लोक मति के भोर रे।
जो कासी तन तजै कबीरा रामहिं कहा निहोरा रे।
तब हम वैसे अब हम ऐसे इहै जनम का लाहा रे।

कबीर ने भक्ति को परमात्मा के वर्णन करने का कारण माना है। यद्यपि परमात्मा अनिर्वचनीय है परन्तु उसके विषय में कथन और श्रवण इसलिए किया जाता है कि उससे सुख उत्पन्न होता है तथा परमार्थ की प्राप्ति होती है। कथन और श्रवण भक्ति के अन्तर्गत हैं इसलिए भक्ति से ये दोनों कार्य सम्पन्न होते हैं—सुख की उत्पत्ति तथा परमार्थ की उपलब्धि।[1] कबीर परमात्मा के अतिरिक्त किसी को मित्र नही मानते। उसी परम मित्र का स्मरण करने को वे कहते हैं। वे हाथ से काम करते हुए भी परमात्मा के ध्यान में लगे रहना चाहते हैं। जिस प्रकार मकडी जाले पर रहती हुई भी उसमें नही फँसती, उसी प्रकार मनुष्यों को संसार में रहते हुए भी उसमें लिप्त नही होना चाहिए। श्वासोश्वास हरि-स्मरण में चूक नहीं होनी चाहिए। हृदय से—भक्ति से हरि-स्मरण करो, जीवन क्षणिक है। मानव-जीवन बार-बार प्राप्य नही। परमात्मा तक पहुँचने का मार्ग कठिन और दूरस्थ है। इस मार्ग से संत जन ही प्रभु तक पहुँच पाते है।[2]

एक अन्य पद में कबीर ने जुलाहे को सम्बोधित करते हुए परमात्मा के नाम का ही वस्त्र बुनने के लिए कहा है। वस्त्र बुनना कबीर का व्यावसायिक कार्य था। इस कार्य के वह इतने अभ्यस्त हो गये थे कि रामनाम के विषय में भी उसे नही भूल सके। अभ्यास दूसरी प्रकृति (Second-Nature) कही ही गई है। वे राम की भक्ति में इनने लीन थे कि उन्हें व्यावसायिक कार्य में भी रामनाम का ही कार्य दिखलाई पड़ा। उनका मानसिक कार्य था हरि-स्मरण तथा शारीरिक कार्य था वस्त्र बुनना। दोनो कार्य उनके लिए इस प्रकार स्वाभाविक हो गये थे कि भावों की तल्लीनता में वे परस्पर एक दूसरे से ओत-प्रोत दृष्टिगत होते थे।[3] भक्ति की महत्ता और उसका फल परमात्मा-प्राप्ति के विषय में जान लेने

राम भगति परि जाकौ हित नित ताकौ अचरज कहा रे।
गुर परसाद साधकी संगति जनजीतें जाइ जुलाहा रे।
कहै कबीर सुनहु रे सन्तौ भ्रमि परै जनि कोई रे।
जस कासी तस मगहर ऊसर हिरदै राम सति होई रे।१६० ह० प्र० क०, पृ० ३२३

१. जस कथिये तस होत नहीं जस है तैसा सोइ।
कहत सुनत सुख उपजै अरु परमारथ होइ॥ क० ग्र०, पृ० २३०

२. मना भजले श्री भगवन्ता।
तेरा हरि बिन कोइ नही मिंता रे।
राम नाम की खूंटी गाड़कर चंद सूरज का तंता।
अर्ध ध्यान हरि से राखो भूलो नहिं गुणवन्ता रे।
कर से काम करो हरि से ध्यान धरो मकड़ी के जाल में तंता।
चढते उतरते दम की खबर रखो भूलो नहिं गुणवन्ता रे।
हरि बोलो हरि बोलो हृदय से मनुवा क्यों फिरता है घूमता।
यह जिन्दगी है दो ही दिन की फिर नहिं आना बन्ता रे।
साई का मारग दूर कठिन है राह बाट नहिं मिलता।
कहत कबीर सुनो भाई साधो पहुँचेगा संत महंता रे॥

३. जोलहा बीनहु हो हरि नामा जाके सुरनर मुनि धरे ध्याना।

के पश्चात् कबीर द्वारा प्रस्तुत भक्त के लक्षणों के विषय में भी हमें कुछ जान लेना आवश्यक है। कबीर के मत से विरला पुरुष ही भक्त की संज्ञा प्राप्त करने योग्य होता है। ऐसे भक्त परमात्मा में प्रीति रखने वाले काम, क्रोध तथा लोभ से रहित होते हैं। स्तुति, निन्दा, मान, अपमान, तृष्णा, अभिमान आदि से रहित, मूल्यवान्, एवं सुन्दर धातु सुवर्ण और कुधातु लोहा को एक भाव—सम दृष्टि—से देखने वाले भक्त साक्षात् भगवान् की मूर्ति ही हैं। यदि वे चिन्तन करते हैं तो माधव चिन्तामणि का, विषयों का नहीं। यदि वे रमण करते हैं तो हरिपद में, अन्यथा उदासीन रहते हैं। यदि सत्व, रज, तम त्रिगुण की बात कही जाय तो वह सब परमात्मा की माया मात्र ही है। भक्त इन तीनों से अतीत, माया से निर्लिप्त रहता है।[1] भक्त की कसौटी प्रस्तुत करते हुए एक अन्य स्थल पर कबीर का कथन है— उसी को भक्त समझना चाहिए जिसमें आतुरता नहीं। मन में धैर्य धारण किये हुए भक्त सदैव सत्य तथा संतोष को ग्रहण करता है। वह काम, क्रोध से प्रभावित नहीं होता, न तृष्णा से दग्ध होता है। उसे दूसरे की निन्दा में रस नहीं मिलता और न वह असत्य भाषण से प्रसन्न ही होता है। वह समद्रष्टा द्विविधा रहित, कालकल्पना का नाशक, प्रभु-चरणों का अनुरागी, आनन्द-विभोर, गोविन्द-गुण का गान करने वाला होता है।[2] उसी को हरिरस

तानां तिनको अँहुठा लीन्हौ चरखी चारिहुँ बेदा।
सर-खूटी एक रामनरायन पूरन प्रगटे कामा।
भवसागर एक कठवत कीन्हौं तामहँ माँडी साना।
माँडी के तन माड़ि रह्यो है माँडो बिरले जाना।
चांद सुरज दुई गोडा किन्हौं माँझ दीप कियो माँझा।
त्रिभुवननाथ जो माँजन लागे स्याम मुररिया दीन्हा।
पाई करि जब भरना लीन्हौं वै बाँधे को रामा।
भैंमरा तिहुँ लोकहि बाँधे कोइ न रहत बवाना।
तीनि लोक एक करिगह कीन्हौ दिगमग कीन्हौ ताना।
आदि पुरुष बैठावन बैठे कबिरा जोति समाना।।१०४ — ह० प्र० क०, पृ० २६१

१. तेरा जन एक आध है कोई।
काम क्रोध अरु लोभ बिवर्जित हरि पद चीन्है सोई।
राजस तांमस सातिग तीन्यूं ये सब तेरी माया।
चौथे पन कौं जे जन चीन्हैं तिनहि परम पद पाया।
असतुति निन्द्या आसा छांड़ै तजै मांन अभिमांना।
लोहा कंचन सम करि देखै ते मूरति भगवानां।
च्यंतै तौ माधौ चिंतामणि हरि पद रमैं उदासा।
त्रिष्नां अरु अभिमान रहित है कहै कबीर सौदासा। — क० ग्र०, पृ० १५०

२. राम भजै सो जांनिए जाकै आतुर नांहीं।
सत संतोष लीयैं रहै धीरज मन मांहीं।
जन कौं काम क्रोध व्यापै नहीं त्रिष्णा न जरावै।
प्रफुल्लित आनन्द मैं गोविन्द गुंण गावै।
जन कौं परनिन्द्या भावै नहीं अरु असति न भावै।

पिये हुए अर्थात् भक्त समझना चाहिए जिसके प्रेम का खुमार कभी न उतरे तथा परम निश्चिन्त होकर विचरण करता हुआ वह मस्त भक्त अपने शरीर की भी सुधि-बुधि भूल जाय। इस प्रकार जिसका मन राम का ही स्मरण करता है, राममय है तथा स्वयं ही राम हो गया है, वह किसका चरण-वन्दन करे।[1] जब साधक और सिद्धि, प्रेमी और प्रिय एक रूप हो जाते हैं, दोनो में कोई अन्तर नहीं रहता तो अर्चना-उपासना का प्रश्न ही नहीं रह जाता।

सब में राम को व्याप्त देखने वाले कबीर के लिए बैकुण्ठ या स्वर्ग का कोई महत्त्व नहीं है। स्वर्ग अथवा मुक्ति-प्राप्ति की अपेक्षा उन्हें राममय होना अधिक प्रिय है। यह मुक्ति स्वर्ग की भावना तभी तक है जब तक द्वित्व भाव विद्यमान है। जब सब एकाकार हो गया तब भ्रम की स्थिति नही रहती। तत्त्वज्ञान न होने तक ही तरण जीव तथा तारण परमात्मा की स्थिति रहती है अन्यथा सब एक ही है।[2] प्रश्न उठता है कि भक्त और भगवान् का सम्बन्ध क्या है। हम देख चुके हैं कि कबीर ने परमात्मा तथा जीवात्मा में अन्तर नहीं माना है। उनके मत से परमात्मा और जीवात्मा के बीच शाश्वत सम्बन्ध है। यह सत्य है कि शरीर धारण करके जीवात्मा अपने को भूल जाती है और यह चिर सम्बन्ध छूटा हुआ सा दिखलाई पड़ता है परन्तु यह भूल है। सदैव से स्थिर सम्बन्ध अन्त तक बना रहेगा। कमल के लिए जल की तथा चकोर के लिए चन्द्र की जो महत्ता है वही भक्त के लिए भगवान् की है। कमल जल से जीवन ग्रहण करता है, जल के ही नाम से 'जलज' कहलाता है, जल ही में निवास करता है, जल के बिना उसका अस्तित्व नहीं। चकोर चन्द्र का प्रेमी है। वह अपलक दृष्टि से उसकी रूप-सुधा का पान किया करता है। इसी प्रकार जीवात्मा परमात्मा से ही अस्तित्व धारण करती है, उसी से व्याप्त है तथा उसी के मिलन के लिए आकुल है। परमात्मा के ध्यान में दत्तचित्त व्यक्ति अपने अस्तित्व को खोकर परमात्मा मे उसी प्रकार लीन हो जाता है जिस प्रकार सरिता सागर में मिलकर अपना अस्तित्व खो देती है और सागर ही हो जाती है। यही है वह सायुज्य मुक्ति जो कबीर को मान्य है।[3]

काल कलपनां मेटि करि चरनूं चित राखै।
जन समष्टी-दृष्टी सीतल सदा दुबिधा नहि आनैं।
कहै कबीर ता दास सूं मेरा मन मन मानैं ।।३६३ — क० ग्र०, पृ० २०६

१. मेरा मन सुमिरै राम कूं मेरा मन रामहि आहि।
अब मन रामहि ह्वै रहा सीस नवावौं काहि ।।८ — क० ग्र०, पृ० ५

२. राम मोहिं तारि कहाँ लै जैहो।
सो बैकुन्ठ कहो धौं कैसा जो करि पसाव मोहि दे हौ।
जो मेरे जिउ दुइ जानत हौ तौ मोहि मुकुति बताओ।
एकमेव ह्वै रमि रह्या सबन मैं तौ काहे को भरमावो।
तारन तिरन तब लगि कहिये जब लग तत न जाना।
एक राम देख्या सबहिन मैं कहै कबीर मनमाना। — पी० द० ब०, पृ० ३६

३. मोहि तोहि लागी कैसे छूटे।
जैसे कमल पत्र जल बासा। ऐसे तुम साहिब हम दासा।

अपने अटूट स्नेह-सम्बन्ध के कारण भक्त भगवान् से अपने मन-मन्दिर में निवास करने के लिए हठ करता है। कबीर के शब्दों में भक्त का भगवान् से आग्रहपूर्ण निवेदन हैं, "जिस प्रकार से भी चाहो तुम हमारे बन जाओ। एक बार तुमको पाकर अब मैं हृदय से नहीं जाने दूंगा। बड़ा सौभाग्य है कि चिरकाल की प्रतीक्षा के बाद तुम घर बैठे ही बिना प्रयास के मिल गये। चरणों को पकड़कर हठ करके तुमको मैं मन-मन्दिर में रहने के लिए बाध्य करूँगा। अपने प्रेम में तुम्हें ऐसा उलझा दूंगा कि कहीं जाने ही नहीं पाओगे।"[1] ठीक ही है भक्त के वश में सदैव भगवान् रहते हैं। भक्त की यही अधिकारपूर्ण पुकार भगवान् को कृपा-दृष्टि करने के लिए बाध्य करती है। यही भाव भक्त विल्वमंगल के द्वारा इस प्रकार व्यक्त हुआ है :

हाथ छुड़ाये जात हौ निबल जानि कै मोहि।
हिरदै ते जब जाहुगे सबल बदौंगो तोहि ॥

कबीर ने परमात्मा से अनेक सम्बन्ध स्थापित किये हैं। उन्होंने कहीं परमात्मा को जननी, कहीं पति, कहीं मित्र और कहीं सहायक का रूप प्रदान किया है। भगवान् को माता का रूप प्रदान करते हुए कबीर का निवेदन है—हे हरि! तुम मेरी जननी हो। मैं तुम्हारा बालक हूँ। फिर मेरे अपराधों को क्षमा क्यों नहीं करते। बालक चाहे जितने अपराध करे परन्तु माँ उसे क्षमा ही कर देती है। यदि बालक माता के बाल पकड़कर नोचता भी है तो भी माता के प्रेम में तनिक भी न्यूनता नहीं आती। बालक के कष्ट से माँ कष्टित होती है। बालक के दुःख-सुख में ही वह अपना दुःख-सुख मानती है। इसी प्रकार जननी रूप परमात्मा के द्वारा भक्त के सब अवगुण क्षम्य हैं। वह भक्त के दुख में दुःखी तथा सुख में सुखी रहता है।[2] यहाँ पर कबीर अपनी ईश्वर विषयक धारणा "ईश्वर सुख दुख से परे है" से पृथक् जाते हुए प्रतीत होते हैं। उनके विचारों की यह असाम्यता उनके परमात्मा के साथ वैयक्तिक सम्बन्ध के कारण कही जा सकती है। अन्यत्र कबीर ने राम

जैसे चकोर तकत निसि चन्दा। ऐसे तुम साहिब हम बन्दा।
मोंहि तोंहि आदि अन्त बनि आई। अब कैसे लगन दुराई।
कहैं कबीर हमरा मन लागा। जैसे सरिता सिंध समाई।३४ — ह० प्र० क०, पृ० २५८

१. अब तोहि जान न देंहू राम पियारे।
ज्यूं भावै त्यूं होइ हमारे ॥
बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये भाग बड़े घरि बैठैं आये।
चरननि लागि करौं बरियाई प्रेम प्रीति राखौं उरझाई।
इत मन मंदिर रहो नित चोषै कहै कबीर पहहु मति षोषै ॥२ — क० ग्र०, पृ० ८७

२. हरि जननी मैं बालिक तेरा।
काहे न अवगुण बकसहु मेरा।
सुत अपराध करै दिन केते जननी के चित रहैं न तेते।
कर गहि केस करै जौं घाता तऊ न हेत उतारै माता।
कहै कबीर एक बुधि बिचारी बालक दुखी दुखी महतारी ॥१११ — क० ग्र०, पृ० १२३

को अपना प्रियतम और अपने को राम की बहुरिया कहा है।[1] इस वर्णन के द्वारा कबीर के ऊपर कान्तासक्ति भक्ति का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। कबीर के ही शब्दों में—हरि के अतिरिक्त कोई मित्र नहीं है।[2] जिस दिन अपना कहलाने वाला कोई नहीं होगा उस दिन राम ही सहायक होंगे। राम शरण में आये हुए भक्तों की रक्षा तथा उनका उद्धार करने वाले हैं, जिसके साक्ष्य रूप में है वह पौराणिक कथा जिसमें दुर्वासा के शाप से राजा अम्बरीष को बचाने के लिए भगवान् चक्र सुदर्शन को प्रयोग करने से भी नहीं हिचके।[3]

यद्यपि कबीर ने वात्सल्यभक्ति का भी उल्लेख किया है जैसा कि हम अभी देख चुके हैं, परन्तु उनके अधिकांश पद प्रेमाभक्ति विषयक ही हैं, गौणी भक्ति सम्बन्धी नही। वे नारदीय भक्ति के द्वारा जो कि प्रेमाभक्ति ही है, संसार-सागर से पार होना संभव मानते हैं परन्तु जब तक हृदय में भक्ति नहीं होती, उसका बाह्य दिखावा मात्र नितान्त व्यर्थ है।[4]

कबीर ने परमात्मा रंगरेज के द्वारा भक्त को प्रेम रंग से रंग देने का रूपक प्रस्तुत किया है। परमात्मा रंगरेज ने साधक के हृदय में स्थित अवगुणों तथा कलुषो की कालिमा को छुड़ाकर अनुराग के लाल रग से चित्त रूपी चुनरी रंग दी है। अनुराग का रंग ऐसा पक्का है कि धोने से छूटता नहीं वरन् दिन-दिन धोने से उसका रग निखरता ही जाता है। विघ्न-बाधाओं एवं कष्टों की कसौटी पर कसे जाने से ही प्रेम का रग निखरता है। भाव के कुण्ड में स्नेह के जल से यह रंग तैयार होता है। मैल छुड़ाकर चुनरी को रंगते समय कष्ट अवश्य होता है। हृदय को मल रहित करके अनुराग में रंजित करते समय प्रेम-मार्ग की अनेक कठिनाइयाँ सहन करनी पड़ती है परन्तु उसके बाद परम चतुर, दयालु, प्रियतम परमात्मा के द्वारा प्रेम के सुरग मे रंगी जो शान्तिदायिनी चुनरी (मनःस्थिति) प्राप्त

---

१. हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया।
राम बड़े मैं छुटक लहुरिया ॥११७ — क० ग्र०, पृ० १२५

२. मना भजले श्री भगवन्ता रे।
तेरा हरि बिन कोई नहीं किंता रे ॥

३. मन रे हरि भजि हरि भजि हरि भजि भाई।
जा दिन तेरो कोई नांही ता दिन राम सहाई।
तंत न जानूँ मंत न जानूँ जानूँ सुन्दर काया।
मीर मलिक छत्रपति राजा ते भी खाये माया।
वेद न जानूँ भेद न जानूँ जानूँ एकहि रामा।
पंडित दिसि पछिवारा कीन्हा मुख कीन्हौ जित नामा।
राजा अम्बरीक कै कारणि चक्र सुदरसन जारै।
दास कबीर कौ ठाकुर ऐसो भगत की सरन उबारै ॥१२२ — क० ग्र०, पृ० १२७

४. भगति नारदी मगन सरीरा।
इहि बिधि भव तिरि कहै कबीरा ॥२७८ — क० ग्र०, पृ० १८३
भगति नारदी रिदै न आई काछि कूछि तन दीना।
राग रागनी डिम्भ होइ बैठा उन हरि पहि क्या लीना ॥१६४ — क० ग्र०, पृ० ३२४

होती है उसे ओढ़कर भक्त आनन्द-मग्न हो जाता है ।[1]

प्रेम का मार्ग बड़ा ही अटपटा है। प्रेमरस सस्ता सौदा नहीं है । अनाज की भाँति वह न तो खेतों में उत्पन्न होता है और न हाट में द्रव्य से पाने योग्य क्रय की वस्तु है—न द्रव्य, न प्रयत्न ही इसकी प्राप्ति के लिए समर्थ हैं । इसकी प्राप्ति होती है शीश अर्पण करने से। राजा-रक जिसकी भी इच्छा हो अपने प्राण अर्पित करके—अपने प्राणों की बाजी लगाकर प्रेम प्राप्त कर सकता है । प्रेम की प्राप्ति का कोई विशेष पात्र नहीं है । छोटे-बड़े, धनी-निर्धन सभी इसके समानाधिकारी हैं ।[2] ऐसे प्रेमरस को प्राप्त करने वाले के हृदय में परमात्मा के अतिरिक्त अन्य के लिए स्थान नही रह जाता । सौभाग्यशीला के मस्तक पर सिंदूर की रेखा के अतिरिक्त काजल की रेखा स्थान नही पाती । इसी प्रकार जिसके नेत्रो में परमात्मा की छवि विराजमान है, उसे अन्य कोई दृष्टिगोचर नही होता ।[3] एक म्यान में दो तलवारें नहीं रक्खी जा सकतीं ।[4] नेत्रो में एक की ही छवि ग्रहण करने की क्षमता है फिर अन्य की छवि क्योकर ग्रहण की जाय ।

प्रेमाभक्ति का वर्णन करते हुए कवियों ने प्रेम और काम का सहअस्तित्व स्वीकार नहीं किया है । नारद ने भक्तिसूत्र में भी स्त्रीप्रेम को भगवत्-प्रेम से भिन्न तथा बहुत ही निम्न कोटि का माना है ।[5] कबीर ने भी काम तथा प्रेम के सहअस्तित्व को नितान्त असम्भव कहा है। सूर्य और रात्रि एक साथ नही रह सकते, एक ही रहेगा चाहे रात्रि रहे चाहे सूर्य । ज्ञान और अज्ञान का एक साथ रहना भी असम्भव है । इसी प्रकार जहाँ काम की सत्ता बलवती होती है, वहाँ प्रेम का अस्तित्व नहीं रहता और प्रेम उत्पन्न हो जाने

---

१. साहेब है रंगरेज चुनरी मेरी रंग डारो ।
स्याही रंग छुडाय के रे दियो मजीठा रंग ।
धोये से छूटे नही रे दिन दिन होत सुरंग ।
भाव के कुंड नेह के जल में प्रेम रंग दई बोर ।
दुख देई मैल लुटाय दे रे खूब रंगो झकझोर ।
साहिब ने चुनरी रंगो रे पीतम चतुर सुजान ।
सब कुछ उन पर वार दूँ रे तन मन धन और प्रान ।
कहैं कबीर रंगरेज पियारे मुझ पर हुए दयाल ।
सीतल चुनरी ओढिके रे भई हौं मगन निहाल ।।२२६ — ह० प्र० क०, पृ० ३५२

२. प्रेम न खेतौं नींपजै प्रेम न हाटि बिकाइ ।
राजा परजा जिस रुचै सिर दै सो ले जाइ । — क० ग्र०, पृ० ७०

३. कबीर रेख सिंदूर की काजल दिया न जाइ ।।२१
नैनूं रमइया रमि रह्या दूजा कहाँ समाइ ।।४ — क० ग्र०, पृ० १६

४. एक म्यान में दो खड्ग देखा सुना न कान । कबीर
रहे किमि एक म्यान असि दोय । सूर

५. तद्विहीनं जाराणामिव । — ना० भ० सू० २३
नास्त्येव तस्मिंस्तत्सुखसुखित्वम् । — ना० भ० सू० २४
सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा । — ना० भ० सू० २५

के पश्चात् काम नहीं रह जाता।[1] इस प्रसंग में कबीर का एक अन्य दोहा द्रष्टव्य है :

नैना अंतरि आव तूं ज्यूं हौं नैन झँपेउँ।
ना हौं देखौं और कूं ना तुझ देखन देउँ। क० ग्रं०, पृ० १९

इस दोहे के प्रथम तीन चरणों के भाव कबीर के भावों के अनुरूप ही हैं। परमात्मा का प्रत्यक्ष हो जाने के बाद अन्य विषयों के प्रति नेत्र बन्द कर लेना भक्त की अनन्यता ही कही जायगी। जब नेत्रों में परमात्मा का वास हो गया, तब दूसरा कैसे दृष्टिगोचर होगा। सब परमात्मामय ही दिखलाई पड़ेगा। दूसरे के देखने की प्रवृत्ति भी न रहेगी। इसके अतिरिक्त परमात्मा के दर्शन से साधक का निर्द्वन्द्व होकर आत्मानन्द की पूर्ण शान्तिमयी स्थिति में पहुँचकर नेत्र मूँद लेना स्वाभाविक ही है। भगवत्भक्ति में 'ना तुझ देखन देउँ' का उद्‌गार किस प्रकार हो सकता है। यह भाव तो लौकिक प्रेम या काम्य प्रेम में ही सम्भव है जिसमें प्रेमी अपने प्रिय के प्रेम का कोई साझीदार नहीं चाहता। भगवत्प्रेम और लौकिक प्रेम में यही मुख्य अंतर है। भगवत्प्रेम में प्रेमी की यही अभिलाषा रहती है कि उसके प्रिय से जड़-चेतन समस्त विश्व प्रेम करे, तदनुसार वह भी सबके प्रेम का पात्र बने। संत कबीर ने यह उद्‌गार किस धुन में व्यक्त किया पता नहीं। हाँ, यह अवश्य सत्य है कि इस भाव का मेल उनके दर्शन से नहीं बैठता।

कबीर प्रेमी भक्त थे। उनके विचार से प्रेम करने वाले को निरन्तर जाग्रत रहना पड़ता है। पता नहीं प्रिय की कब प्राप्ति हो जाय अथवा ऐसा न हो कि शयन की अर्ध चेतनावस्था में कहीं प्रिय विस्मृत हो जाय। जिस प्रकार प्रगाढ़ निद्रा की इच्छा होने पर तकिया, बिछावन आदि उपधानों की आवश्यकता नहीं रहती उसी प्रकार प्रेम के मार्ग में जब भक्त को मस्तक देना ही है तो रोने की क्या आवश्यकता।[2] प्रेम-मार्ग वीरों का

---

१. सूर परकास तहँ रैन कहँ पाइये
रैन परकास नहिं सूर भासै।
ज्ञान परकास अज्ञान कहँ पाइये
होय अज्ञान तहँ ज्ञान नासै।
काम बलवान तहं प्रेम कहँ पाइये
प्रेम जहाँ होय तहँ काम नाही।
कहै कबीर यह सत्त विचार है
समय विचार कर देख माही। ३७ ह० प्र० कृ०, पृ० २५६

२. समुझ देख मन मीत पियरवा
आसिक होकर सोना क्या रे।
पाया हो तो दे ले प्यारे
पाय पाय फिर खोना क्या रे।
जब अँखियन में नींद घनेरी।
तकिया और बिछौना क्या रे।
कहैं कबीर प्रेम का मारग,
सिर देना तो रोना क्या रे। ६६ ह० प्र० कृ०, पृ० २८६

मार्ग है, कायरों का नहीं। इसमें हँसते हुए आत्म-बलिदान करना होता है रोकर नहीं। केवल सिर देना ही पर्याप्त नहीं है। अपना शीश काटकर उसे भूमि पर रखकर उस पर ही पग रखते हुए अपने लक्ष्य तक पहुँचना होता है। जो ऐसा साहस तथा आत्म-बलिदान कर सके उसको ही प्रेम-पथ का पथिक बनना चाहिए।[1] कबीर की गणना ऐसे ही साहसी हरि-प्रेमियों में है। वे सर्वसाधारण के बीच खड़े होकर यह घोषणा करते हैं कि जो बन सके उनका अनुगामी बने। वे मोह-ममता को तिलाञ्जलि देकर अपना घर-द्वार स्वाहा करके निकले हैं। जिस लुकाठी से उन्होंने घर भस्म किया है, वह प्रतीक रूप से उनके हाथ मे है। उसकी अग्नि शान्त नहीं हुई है। जो कबीर के अपनाये हुए मार्ग पर चलना चाहें, वह मोह-ममता के केन्द्र घर को ही भस्म करके उनके साथ आवे।[2]

इस ससार को सुखसागर बतलाते हुए कबीर की उक्ति है—जीवन पाकर उसे प्रेम से रहित बनाकर व्यर्थ न करो। इस सुखसागर में आकर प्यासे मत जाओ। सम्मुख अथाह प्रेमजल भरा हुआ है। उसे श्वासोश्वास पी लो। इसी प्रेमरस को ध्रुव, प्रह्लाद, शुकदेव और रैदास ने पिया है। इसी में संत मस्त रहते हैं तथा इसी के लिए लालायित रहते हैं। मृगतृष्णा-जल माया के पीछे मत दौड़ो। वास्तव में यह राम प्रेमरस ही सुधा है। बाकी सब मृग-वारि की भाँति मिथ्या है।[3] भवतापों से संतापित होते हुए कबीर ने इसी भगवत्प्रेम-जल को प्राप्त कर लिया है जिससे उनकी व्यथा दूर हो गई है। सुर, नर, मुनि सब जिस भवताप से पीड़ित हो रहे है, उससे भक्तों को बचाने में यही प्रेम-जल समर्थ हुआ है। मन को जीतने के लिए साधक वन की शरण लेता है परन्तु इस जल के बिना वह भी प्राप्य नही।

कबीर के लिए यह संसार सुखसागर है, जो राम के प्रेमजल से परिपूरित है। निरन्तर पान करने पर भी इसका प्रेमजल तनिक भी नही घटता। इस प्रेमजल से भक्त कबीर की तृषा शान्त हो गई है।[4] यह हरिरस कैसा है? कबीर कहते हैं कि यह

---

१. सिर काटै औ भुँइ धरै तापै राखै पाँव।
दास कबीरा यों कहै ऐसा होय तो आव।

२. कबिरा खड़ा बजार में लिये लुकाठी हाथ।
जो घर फूकै आपनो चलै हमारे साथ। लोक प्रचलित।

३. सुखसागर में आय के मत जा रे प्यासा।
अजहुँ समभ नर बावरे जम करत निरासा।
निर्मल नीर भरे तेरे आगे पी ले स्वाँसो स्वाँसा।
मृग-तृष्णा-जल छांड़ बावरे करो सुधारस आसा।
ध्रु प्रहलाद शुकदेव पिया और पिया रैदासा।
प्रेमहि संत सदा मतवाला एक प्रेम की आसा।
कहै कबीर सुनो भाई साधो मिट गई भय की बासा।६१ ह० प्र० क०, पृ० २६६

४. अब मोहि जलत राम जल पाइया,
राम उदक तन जलत बुझाइया।
मन मारन कारन बन जाइयै। सो जल बिन भगवन्त न पाइयै।

के पश्चात् काम नहीं रह जाता ।[1] इस प्रसंग में कबीर का एक अन्य दोहा द्रष्टव्य है :

नैना अंतरि आव तूं ज्यूं हौं नैन झँपेउँ ।
ना हौं देखौं और कूं ना तुझ देखन देउँ । क० ग्रं०, पृ० १९

इस दोहे के प्रथम तीन चरणों के भाव कबीर के भावों के अनुरूप ही हैं । परमात्मा का प्रत्यक्ष हो जाने के बाद अन्य विषयों के प्रति नेत्र बन्द कर लेना भक्त की अनन्यता ही कही जायगी । जब नेत्रों में परमात्मा का वास हो गया, तब दूसरा कैसे दृष्टिगोचर होगा । सब परमात्मामय ही दिखलाई पडेगा । दूसरे के देखने की प्रवृत्ति भी न रहेगी । इसके अतिरिक्त परमात्मा के दर्शन से साधक का निर्द्वन्द्व होकर आत्मानन्द की पूर्ण शान्तिमयी स्थिति में पहुँचकर नेत्र मूँद लेना स्वाभाविक ही है । भगवत्भक्ति में 'ना तुझ देखन देउँ' का उद्गार किस प्रकार हो सकता है । यह भाव तो लौकिक प्रेम या काम्य प्रेम में ही सम्भव है जिसमें प्रेमी अपने प्रिय के प्रेम का कोई साझीदार नहीं चाहता । भगवत्प्रेम और लौकिक प्रेम में यही मुख्य अंतर है । भगवत्प्रेम में प्रेमी की यही अभिलाषा रहती है कि उसके प्रिय से जड-चेतन समस्त विश्व प्रेम करे, तदनुसार वह भी सबके प्रेम का पात्र बने । संत कबीर ने यह उद्गार किस धुन में व्यक्त किया पता नहीं । हाँ, यह अवश्य सत्य है कि इस भाव का मेल उनके दर्शन से नहीं बैठता ।

कबीर प्रेमी भक्त थे । उनके विचार से प्रेम करने वाले को निरन्तर जाग्रत रहना पडता है । पता नहीं प्रिय की कब प्राप्ति हो जाय अथवा ऐसा न हो कि शयन की अर्ध चेतनावस्था में कहीं प्रिय विस्मृत हो जाय । जिस प्रकार प्रगाढ़ निद्रा की इच्छा होने पर तकिया, बिछावन आदि उपधानों की आवश्यकता नहीं रहती उसी प्रकार प्रेम के मार्ग में जब भक्त को मस्तक देना ही है तो रोने की क्या आवश्यकता ।[2] प्रेम-मार्ग वीरों का

---

१. सूर परकास तहँ रैन कहँ पाइये
रैन परकास नहिं सूर भासै ।
ज्ञान परकास अज्ञान कहँ पाइये
होय अज्ञान तहँ ज्ञान नासै ।
काम बलवान तहं प्रेम कहँ पाइये
प्रेम जहा होय तहँ काम नाहीं ।
कहै कबीर यह सत्त विचार है
समय विचार कर देख माहीं ।३७ — क० ग्रं० क्र०, पृ० २५६

२. समुझ देख मन मीत पियरवा
आसिक होकर सोना क्या रे ।
पाया हो तो दे ले प्यारे
पाय पाय फिर खोना क्या रे ;
जब अँखियन में नींद घनेरी ।
तकिया और बिछौना क्या रे ।
कहैं कबीर प्रेम का मारग,
सिर देना तो रोना क्या रे ।१६ — क० ग्रं० क्र०, पृ० २८६

मार्ग है, कायरों का नहीं। इसमें हँसते हुए आत्म-बलिदान करना होता है रोकर नहीं। केवल सिर देना ही पर्याप्त नहीं है। अपना शीश काटकर उसे भूमि पर रखकर उस पर ही पग रखते हुए अपने लक्ष्य तक पहुँचना होता है। जो ऐसा साहस तथा आत्म-बलिदान कर सके उसको ही प्रेम-पथ का पथिक बनना चाहिए।[1] कबीर की गणना ऐसे ही साहसी हरि-प्रेमियों में है। वे सर्वसाधारण के बीच खड़े होकर यह घोषणा करते हैं कि जो बन सके उनका अनुगामी बने। वे मोह-ममता को तिलाञ्जलि देकर अपना घर-द्वार स्वाहा करके निकले हैं। जिस लुकाठी से उन्होंने घर भस्म किया है, वह प्रतीक रूप से उनके हाथ में है। उसकी अग्नि शान्त नहीं हुई है। जो कबीर के अपनाये हुए मार्ग पर चलना चाहे, वह मोह-ममता के केन्द्र घर को ही भस्म करके उनके साथ आवे।[2]

इस संसार को सुखसागर बतलाते हुए कबीर की उक्ति है—जीवन पाकर उसे प्रेम से रहित बनाकर व्यर्थ न करो। इस सुखसागर में आकर प्यासे मत जाओ। सम्मुख अथाह प्रेमजल भरा हुआ है। उसे श्वासोश्वास पी लो। इसी प्रेमरस को ध्रुव, प्रह्लाद, शुकदेव और रैदास ने पिया है। इसी में सत मस्त रहते हैं तथा इसी के लिए लालायित रहते हैं। मृगतृष्णा-जल माया के पीछे मत दौड़ो। वास्तव में यह राम प्रेमरस ही सुधा है। बाकी सब मृग-वारि की भाँति मिथ्या है।[3] भवतापों से सतापित होते हुए कबीर ने इसी भगवत्प्रेम-जल को प्राप्त कर लिया है जिससे उनकी व्यथा दूर हो गई है। सुर, नर, मुनि सब जिस भवताप से पीड़ित हो रहे हैं, उसमे भक्तों को बचाने में यही प्रेम-जल समर्थ हुआ है। मन को जीतने के लिए साधक वन की शरण लेता है परन्तु इस जल के बिना वह भी प्राप्य नहीं।

कबीर के लिए यह ससार सुखसागर है, जो राम के प्रेमजल से परिपूरित है। निरन्तर पान करने पर भी इसका प्रेमजल तनिक भी नही घटता। इस प्रेमजल से भक्त कबीर की तृषा शान्त हो गई है।[4] यह हरिरस कैसा है? कबीर कहते हैं कि यह

---

१. सिर काटै औ भुँइ धरै तापै राखै पाँव।
दास कबीरा यों कहै ऐसा होय तो आव।

२. कबिरा खड़ा बजार में लिये लुकाठी हाथ।
जो घर फूकै आपनो चलै हमारे साथ। लोक प्रचलित।

३. सुखसागर में आय के मत जा रे प्यासा।
अजहुँ समझ नर बावरे जम करत निरासा।
निर्मल नीर भरे तेरे आगे पी ले स्वासो स्वाँसा।
मृग-तृष्णा-जल छाँड़ बावरे करो सुधारस आसा।
ध्रू प्रह्लाद शुकदेव पिया और पिया रैदासा।
प्रेमहि संत सदा मतवाला एक प्रेम की आसा।
कहै कबीर सुनो भाई साधो मिट गई भय की बासा।६१ ह० प्र० क०, पृ० २६९

४. अब मोहि जलत राम जल पाइया,
राम उदक तन जलत बुझाइया।
मन मारन कारन बन जाइये। सो जल बिन भगवन्त न पाइये।

हरिरस ऐसा है, जिसके पान करने से अमरत्व प्राप्त हो जाता है। इसके साक्षी हैं ध्रुव, प्रह्लाद, मीराबाई, जो इसका पान करके अमर हो गये। इस हरिरस का मूल्य साधारण नहीं है। इस अमूल्य रस की प्राप्ति के लिए बलख बुखारे के बादशाह ने बादशाही तक का परित्याग किया है। परन्तु बादशाही के त्याग से भी इसका उपयुक्त मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है। इस महँगे सौदे का मूल्य है अपना शीश उतार देना। यही कारण है कि कोई विरला ही इसे पान करता है। आगे-आगे दावाग्नि जलती है परन्तु इसी रस के गुण से वहीं हरीतिमा भी होती जाती है। सांसारिक अर्थ में, एक ओर मृत्यु होती है दूसरी ओर जन्म सृष्टि-क्रम को स्थापित रखता है।[1]

परमात्मा से हृदय मिल जाने के पश्चात् कोई अन्तर नहीं रह जाता। भक्त परमात्मा में ही समाहित हो जाता है, जिस प्रकार तुषार जल में मिलकर अपने भिन्न प्रतीयमान अस्तित्व को खो देता है और जल ही हो जाता है।[2] परमात्मा से मिलन के लिए कबीर ने भय को भी बड़ा उपकारी माना है। भयाकुल भक्त सब सांसारिक झगड़ों को भूलकर परमात्मा के स्मरण में ही लीन हो जाता है। उसे सदैव परमात्मा का भय बना रहता है। आतप से पिघलकर तुषार पानी बनकर बह निकलता है तथा ढुलक कर तट पर पहुँच जाता है अपनी अंतिम गति सागर में मिलने। इसी प्रकार वह भक्त जो भय से द्रवित हो जाता है, निश्चित ही परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।[3] हिन्दी साहित्य में साधारणतया भय, वैर आदि कठोर भाव परमात्मा-प्राप्ति के कारण नही माने गये है। इनका जहाँ कहीं भी वर्णन हुआ है, अपवाद स्वरूप ही कहा जायगा। यह बात अवश्य है कि परमात्मा के प्रति कोई भी तीव्र भावना उसका साक्षात्कार कराने वाली हो सकती है। प्रेम जिस प्रकार साधक को तन्मय करके उसे अपने ही रूप का बना देता है, उसी प्रकार भय भी तद्रूप बना देता है। ऐसे भयमिश्रित ध्यान को 'भृंगीकीट ध्यान' कहते हैं। यह

जेहि पावक सुर नर हैं जारे। राम उदक जन जलत उबारे।
भव सागर सुख सागर माही। पीव रहे जल निखुटत नाही।
कहि कबीर भजु सारिंग पानी। राम उदक मेरी तिषा बुझानी।।७ — क० ग्रं०, पृ० २६६

१. ऐसो है रे हरि रस ऐसौ है रे भाई,
जाके पिये अमर है जाई।
ध्रुव पिया प्रहलादहु पीया पीया मीराबाई।
बलख बुखारे के मीयाँ पीयाँ छोड़ी है बादसाही।
हरि रस महँगा मोल का रे पीयै बिरला कोय।
हरि रस महँगा सो पियै जाके धर पै सीस न होय।
आगे आगे दौं जलै रे पीछे हरिया होय।
कहत कबीर सुनो भाई साधो हरि भजि निर्मल होय।४ — कबीर, सं० वा० सं० भा०२, पृ० २६

२. जब दिल मिला दयाल सौं तब अंतर कछु नाहिं।
ज्यों पाला पानी कौं मिल्या त्यों हरिजन हरि माहि।५ — दादू, सं० वा०सं० भा० १, पृ० ६२

३. भली भई जु भै पड्या गई दसा सब भूलि।
पाला गलि पाणी भया ढुलि मिलिया उस कूलि।।१८ — क० ग्रं०, पृ० १४

दो प्रकार से सम्पन्न होता है। एक ओर कीट के ऊपर मँडराते हुए भृंगी के द्वारा कीट के ध्यान किये जाने के प्रभाव से छिद्र में बन्द कीट का तद्रूप हो जाना, दूसरी ओर भयातुर कीट द्वारा भृंगी का निरन्तर चिन्तन करने से उसका (कीट का) तद्रूप हो जाना। यहाँ पर भय से परमात्मा का स्मरण करते हुए उसकी प्राप्ति संभव मानी गई है। इसी प्रकार मानस में तुलसीदास ने राक्षसों की मुक्ति का कारण उनके द्वारा ईर्ष्या-द्वेष समन्वित भाव से शत्रु की भाँति राम का निरन्तर चिन्तन करना माना है।[1] अस्तु यह निश्चित है कि ईर्ष्या, भय, द्वेष, प्रेम कोई भी तीव्र मनोवेग परमात्मा का प्रत्यक्ष कराने में समर्थ है। संभवतः तीव्र संवेगानाम् आसन्नः के द्वारा महर्षि पतञ्जलि ने इसी भाव की व्यञ्जना की है।

इश्क के माते कबीर को किसी प्रकार की चतुराई से प्रयोजन नहीं। चतुराई को हम वस्तु के स्वरूप से उसे भिन्न प्रदर्शित करने की कला कह सकते है। प्रेम और चतुराई साथ-साथ नही निभती। जगत्जाल से मुक्त रहने वाले के लिए संसार से मित्रता कैसी ? जिन प्रेमियों के प्रिय उनसे बिछुड़े हुए हैं, उन्हें प्राप्त करने के लिए वे यत्र-तत्र भटकते फिरते हैं परन्तु जिसका प्रियतम स्वयं उसी में समाया हुआ है, वह किसी की प्रतीक्षा क्यों करे ? कबीर का प्रियतम पल भर के लिए भी आँख की ओट नहीं होता। न प्रेमी ही विलग होता है। निरन्तर प्रिय के साथ रहने वाले में आतुरता नहीं रह जाती। हम पहले भी देख चुके हैं कि कबीर की दृष्टि से वही भक्त है जो आतुरता रहित हो। प्रेम में मतवाले भक्त के लिए कबीर का आदेश है द्वित्व को दूर करके एकत्व को ग्रहण करे। एकत्व प्राप्त हो जाने पर भ्रम से निस्तार मिल जाता है। एक का भार दो के भार की अपेक्षा हलका होता है। एकत्व मस्तिष्क के लिए हलका पड़ता है तथा द्वित्व भारी। प्रियतम की 'नाजुक राह' 'झीने पंथ' पर चलने वाले के सिर पर भारी बोझ नही होना चाहिए। द्वित्व अथवा अनेकत्व के गुरुभार के स्थान पर एकत्व के हलके भार को वहन करके चलने में ही सरलता होगी।[2]

---

१. बैर भाव मोहि सुमिरहिं निसिचर ॥
रामाकार भए तिन्हके मन।
मुक्त भए छूटे भव बंधन। तु० रा०, लं० का० ११३.४

२. हमन हैं इश्क मस्ताना हमन को होसियारी क्या।
रहै आजाद या जग से हमन दुनिया से यारी क्या।
जो बिछुड़े हैं पियारे से भटकते दर बदर फिरते।
हमारा यार है हममें हमन को इन्तजारी क्या।
खलक सब नाम अपने को बहुत कर सिर पटकता है।
हमन हरि नाम साचा है हमन दुनिया से यारी क्या।
न पल बिछुड़े पिया हमसे न हम बिछुड़े पियारे से।
उन्हीं से नेह लागा है हमन को बेकरारी क्या।
कबीरा इश्क का माता दुई को दूर कर दिल से।
जो चलना राह नाजुक है हमन सिर बोझ भारी क्या।६ कबीर, सं० बा० सं० भा० २, पृ० १४

साधारणतया हिन्दी साहित्य में भगवत्-प्रेम तथा भगवत्-मिलन किंवा साक्षात्कार का ही महत्त्व अधिक रहा है परन्तु मुसलमान सूफी संतों में जितना महत्त्व प्रेम तथा मिलन का है उससे अधिक विरह तथा विरहजन्य तड़पन का है। भागवत् में भी गोपी-प्रेम-विरह की व्यंजना के द्वारा प्रेम में विरह की महत्ता प्रतिपादित की गई है। विरह-भाव की साम्यता के कारण ही कतिपय विद्वान् भागवत् को भी सूफी प्रभाव से प्रभावित मानते है। इसके विपरीत कुछ इतिहासकार मुहम्मद साहब को, उनकी भक्तिभावना को अर्थात् इस्लाम धर्म को जिसका अर्थ आत्म-निवेदन है, भारतीय भक्तिदर्शन से प्रभावित एवं उद्भूत मानते हैं।

कबीर यदि अन्य भक्तिसाहित्य से परिचित थे, तो वे भागवत् के गोपी-विरह से अनभिज्ञ हों, ऐसा ठीक नहीं। उन पर सूफी संतों का भी प्रभाव था, इसमे भी सन्देह नही। जो कुछ भी श्रेयस्कर था, ग्रहण करने योग्य था, सब का उन पर समान प्रभाव पड़ा। वे किसी एक पंथ के या मत के न होकर, सार्वजनिक तथा सार्वदेशिक बन गये। उन्होंने योगियो के लिए कहा, ज्ञानियो के लिए कहा, भक्तो के लिए कहा, प्रेमियों के लिए कहा, और कहा मानव मात्र के लिए, अपितु जीव मात्र के लिए। उन्होने शरीर के लिए कहा (योग), मस्तिष्क के लिए कहा (ज्ञान) और कहा हृदय के लिए (भक्ति)। जिसके लिए भी उन्होंने कहा उसको ग्रहण करने में तनिक भी कठिनाई नही हुई। विरही भक्त के रूप में कबीर का कथन है—बहुत दिनो से वे राम की बाट जोह रहे हैं। उनका हृदय प्रिय से मिलने के लिए छटपटाता है। उनके मन को विश्राम एवं धैर्य नही मिलता। विरह से पीड़ित क्षीणकाय वियोगिनी प्रियतम के दर्शन के लिए उठने का प्रयत्न करती है परन्तु निर्बलता के कारण भूमि पर गिर पड़ती है। अब वियोगिनी की बहुत परीक्षा हो चुकी। यदि मृत्यु के पश्चात् उसको प्रिय के दर्शन हुए भी तो किस काम के। पारस पत्थर का उपयोग तभी तक है, जब तक कि लोह का अस्तित्व है। जब लोहा रगड़ते-रगड़ते समाप्त ही हो गया तब पारस किसका स्पर्श करके स्वर्ण मे परिवर्तित करे। इसीलिए वह भगवान् से जीवित अवस्था में ही मिलने का आग्रह करते हैं, मृत्यु के पश्चात् नही। परमात्मा से बिछुड़े हुए को किसी स्थिति मे सुख नही मिलता, न दिन में, न रात्रि में, न दोनों से भिन्न स्वप्न की ही अवस्था में। उसका वियोगजन्य दुःख ऐसा है जो किसी समय भी विस्मृत नहीं होता।[1] प्रेमी भक्त कबीर के अन्तः में विरह की अग्नि प्रज्वलित है परन्तु उसका धुआँ

---

१. बहुत दिनन की जोवती बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसे तुझ मिलन को मनि नाही विसराम।
बिरहिन ऊठै भी पड़े दरसन कारनि राम।
मूवा पीछे देहुगे सो दरसन केहि काम।
मूवा पीछे जिनि मिलै कहै कबीरा राम।
पाथर घाटा लोह सब पारस कौणें काम।
बासरि सुख नारैणि सुख ना सुख सुपिनै माहिं।
कबीर बिछुट्या रामसूँ ना सुख धूप न छाँहि।१९९ क० ग्रं० क०, पृ० ३४०

बाहर प्रकट नहीं होता। साधारणतया जहाँ अग्नि होती है वहाँ धुआँ होता है परन्तु विरही भक्त के अन्त: में अग्नि होते हुए भी उसका धुआँ प्रकट नहीं होता। इस अग्नि के विषय में दो ही व्यक्तियों को ज्ञान है—एक जिसके हृदय में विरहाग्नि प्रज्वलित रहती है और दूसरा वह जिसके लिए अथवा जिसके कारण यह विरहाग्नि प्रज्वलित होती है।[1] परमात्मा तथा प्रेमी भक्त दो ही विरह की अग्नि के विषय में जानते हैं। प्रस्तुत पद में यदि ध्यान से देखा जाय तो तुल्ययोगी[2] प्रेम की व्यंजना हुई है, एकांगी की नहीं। विरहाकुल भक्त की व्यथा के प्रति प्रिय परमात्मा उदासीन नहीं है। भक्त की व्यथा का अनुभव परमात्मा को है।

कबीर अपने प्रिय परमात्मा से अपने घर आने का आग्रह करते हैं। वे प्रिय के वियोग में अत्यन्त दुखित हैं। लोग उन्हे परमात्मा की प्रिया कहते हैं परन्तु परमात्मा उन्हें नही अपनाते। इसलिए वे बहुत लज्जित हो रहे हैं। भक्त-प्रतिपालक भगवान् यदि भक्त को नहीं अपनाते तो इससे बढकर लज्जा की बात भक्त के लिए क्या होगी। वह भक्तों की श्रेणी में ही परिगणित न होगा। विरह-व्यथा के कारण न उन्हे भोजन रुचता है, न नींद ही आती है, घर-बाहर कहीं पर भी चैन नहीं मिलता। जिस प्रकार तृषित मनुष्य के प्राण जल में ही बसते है तथा स्त्री को पति प्रिय होता है, उसी प्रकार भक्त को परमात्मा प्रिय है। कबीर किसी ऐसे परोपकारी सदेशवाहक की प्रतीक्षा में हैं जो उनके प्रियतम तक यह सन्देश पहुँचा दे कि कबीर की दशा शोचनीय हो गई है। विरह में वे अत्यन्त व्याकुल हो रहे हैं। प्रियतम के दर्शन के बिना उनके जीवित रहने की आशा नहीं है।[3]

प्रियतम के वियोग में कबीर का प्रेमी हृदय तड़प रहा है; उनको न दिन में शान्ति मिलती है न रात्रि में नींद आती है। बड़ी ही व्याकुलता से प्रिय की स्मृति में तड़प-तड़प कर रात व्यतीत होती है। विरह की यह तड़पनें सूफी संतों की ही देन हैं जिसको कबीर ने भी ग्रहण किया है। उनका मन तथा शरीर यंत्रवत् चला करता है, उसमें चेतना एवं जीवन-स्फूर्ति नही रहती। प्रियतम का मार्ग निहारते-निहारते उनकी आँखें थकित हो गई हैं परन्तु कठोर हृदय प्रियतम ने सुधि नही ली। उनकी व्यथा चरम सीमा पर पहुँच गई है और

---

१. हिरदा भीतरि दौ बलै धूवाँ न प्रगट होइ।
जाकै लागी सो लखै कै जिहि लाई सोइ ॥३ — क० ग्र०, पृ० ११

२. तुल्ययोगी प्रेम वह कहलाता है जिसमें प्रेमी औरप्रिय दोनों में हो प्रेम को समान भावना रहती है।

३. बालम आवो हमारे गेह रे।
तुम बिन दुखिया देह रे।
सब कोई कहे तुम्हारी नारी, मोकों लागत लाज रे।
दिल से नहीं दिल लगाया, तब लग कैसा सनेह रे।
अन्न न भावै नींद न आवै गृह बन धरै न धीर रे।
कामिन को है बालम प्यारा, ज्यों प्यासे को नीर रे।
है कोई ऐसा पर उपकारी पिव सों कहै सुनाय रे।
अब तो बेहाल कबीर भयो है बिन देखे जिव जाय रे।३५ — ह०प्र०क०, पृ० २५८

वह परमात्मा के मिलन से ही दूर हो सकती है अन्यथा नहीं ।[1] इन्हीं भावों की पुनरावृत्ति कबीर के एक अन्य पद में हुई है। भक्तों के रक्षक भगवान् से वे दर्शन देने की प्रार्थना करते हैं। जल से उत्पन्न मीन को जल से ही प्रेम है। बिना जल के मीन जीवित नहीं रहती, उसी प्रकार प्रियतम परमात्मा के बिना भक्त का जीवन संभव नहीं।[2] प्रभु प्रेमी के हृदय में पीड़ा हो रही है। उनका दिवस, रैन, पल-पल कठिनाई से बीत रहा है। कोई उनकी व्यथा सुनने वाला भी तो नहीं है किससे कहें। अर्ध रात्रि तक वे प्रियतम की प्रतीक्षा करते हैं, फिर उनसे मिलन न होने पर निराश होकर निद्रादेवी की गोद में शरण लेते हैं। उन्हें सुख नसीब नहीं। सुख-प्राप्ति तो प्रिय मिलन से ही हो सकती है अन्य किसी कारण से नहीं। कबीर के विरह सम्बन्धी ऐसे अनेक पद हैं जिनमें कोमल भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति के साथ ही साथ विरह की दसों दशाओं की व्यंजना हुई है।

भक्ति की अन्तिम अवस्था पूर्ण आत्मसमर्पण की है। कबीर स्वामी परमात्मा के सम्मुख आत्मसमर्पण करते हैं। स्वामी की आज्ञा उनको शिरोधार्य है। उसमें सोच-विचार करने की आवश्यकता नही। परमात्मा ही नदी है तथा परमात्मा ही पार करने वाला नाविक है। भक्त का तो प्रभु की स्तुति में ही अधिकार है। स्वामी चाहे रोष करे चाहे भक्त को प्यार करे उसे सब अधिकार है। कबीर को परमात्मा के नाम का ही एकमात्र आधार है और उनके जीवन की उत्फुल्लता का यही एक कारण है। पूर्ण-आत्मसमर्पण करके अपने को भगवान् का दास घोषित कर दिया है; चाहे वे मारें चाहे जीवित रक्खें। वे सब प्रकार समर्थ हैं।[3] यह है भक्त का जीवन जो पूर्णतया भगवान् के ऊपर निर्भर है—वे उसे ठुकरा दें, या

---

१. तलफै बिन बालम मोर जिया।
दिन नहि चैन रात नहिं निदिया, तलफ तलफ के भोर किया।
तन मन मोर रहंट-अस डोल, सून सेज पर जनम छिया।
नैन थकित भये पंथ न सूझै, साँई बेदरदी सुध न लिया।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, हरो पीर दुख जोर किया ॥१७३ ह० प्र० क०, पृ० ३२६

२. अबिनासी दुलहा कब मिलि हौ, भक्तन के रछपाल।
जल उपजी जल ही सों नेहा रटत पियास पियास।
मैं ठाढ़ी बिरहिन मग जोऊँ प्रियतम तुमरी आस।
छोड़े गेह नेह लगि तुमसों भई चरन लवलीन।
ताला-बेलि होति घर भीतर जैसे जल बिन मीन।
दिवस न भूख रैन नहि निद्रा घर अंगना न सुहाय।
सेजरिया बैरिन भइ हमको जागत रैन बिहाय।
हम तो तुमरी दासी सजना तुम हमरे भरतार।
दीन दयाल दया करि आओ समरथ सिरजनहार।
कै हम प्रान तजति हैं प्यारे कै अपनी करिलेव।
दास कबीर बिरहा अति बाढ़ेय हमको दरसन देव ।१७४ ह० प्र० क०, पृ० ३२६

३. फुरमान तेरा सिरै ऊपर फिरि न करत बिचार।
तुही दरिया तुही करिया तुझै ते निस्तार।

प्यार करें। भक्त को अपनेपन से कोई प्रयोजन नहीं। वह जो कुछ है राम का है।

भक्त नामदेव परमात्मा से होड़ बदते हैं। उन्हें भक्त की सापेक्षिक महत्ता का गर्व है। भगवान् से भक्त प्रादुर्भूत है ही, परन्तु भक्त से भगवान् है यह नामदेव जैसे भक्तों का उद्गार ही हो सकता है। परमात्मा ही देव है, देवालय है तथा उपासक भी वही है। वह स्वयं ही गाता है, नृत्य करता है तथा वाद्य बजाता है। उसका और भक्त का सम्बन्ध जल और तरंग की भाँति है। जल और तरंग एक ही हैं, केवल नाम का अन्तर है। भगवान् और भक्त भी एक ही है, नाम दोनों के अवश्य पृथक्-पृथक् हैं। यदि उनमें कोई अन्तर है तो केवल यह है कि भक्त अपूर्ण है, और भगवान् पूर्ण।[1]

रैदास ने भक्ति के विषय में एक पुष्ट सिद्धान्त प्रस्तुत किया है, जिसका कोई विरोध नहीं हो सकता। मोक्ष के दो उपाय माने गये हैं—मन का सब प्रकार से निग्रह करके योग[2] या ज्ञान साधना, तथा प्रेम या भक्ति। एक में निवृत्त होने की भावना तथा प्रयत्न पर बल दिया जाता है तथा दूसरे में परमात्मा के साथ हृदय को संयोजित करने पर। केवल विषयों से निवृत्त होने, अथवा चित्तवृत्तियों के निरोध से रैदास संतुष्ट नहीं हैं। उनके विचार से, यदि परमात्मा में प्रेमाभक्ति उत्पन्न न हुई तो सब व्यर्थ ही है।[3] अन्यत्र रैदास का कथन है—मैं किस प्रकार भक्ति करूँ। मेरी बुद्धि अत्यन्त चंचला है, उसमें तनिक भी स्थिरता नहीं। प्रिया तथा प्रेमी के पारस्परिक दर्शन से प्रीति उत्पन्न होती है। यहाँ प्रिय परमात्मा तो सब को देखता है परन्तु जीव बुद्धि के विकार के कारण परमात्मा को नहीं देख पाता। अस्तु उसको सर्वव्यापक परमात्मा का न ज्ञान हो पाता है न दर्शन। यह जीव का ही दोष है, परमात्मा तो सर्वगुणमय ही है। करुणामय, जगदाधार परमात्मा रैदास के हृदय में स्थित मैं, मेरा, तू, तेरा के अविचारों से किसी प्रकार उनका निस्तार कर दे, यही उनकी अभिलाषा है।[4] इस प्रकार रैदास के मत से मैं, तू के 'अहम्' और 'पर' भाव से निवृत्ति ही

बंदे वन्दगी इकतीयार। साहिब रोष धरौ कि पियार।
नाम तेरा आधार मेरा जिउ फूलि जइहै नारि।
कहि कबीर गुलाम घर का जियाइ भावै मारि ।।१४४ — क०ग्र०, पृ० ३०७

१. बदौ क्यों न होड़ माधो मोसों।
ठाकुर तें जन जनतें ठाकुर खेल परयो है तोसों।
आपन देव देहरा आपन आप लगावै पूजा।
जल तें तरंग तरंग तें है जल कहन सुनन को दूँजा।
आपहिं गावै आपहिं नाचै आप बजावै तूरा।
कहत नामदेव तू मेरो ठाकुर जन ऊरा तूँ पूरा। — नामदेव, सं० बा० सं० भा० २, पृ० २९

२. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।। — यो० सू० २

३. अनिक जतन निग्रह किये टारी न टरै भ्रम फाँस।
प्रेम भगति नहि ऊपजै ता ते रैदास उदास ।। — रैदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ६६

४. नरहरि चंचल है मति मेरी कैसे भगति करूँ मैं तेरी।
तू मोहिं देखै हौं तोहि देखूँ प्रीति परस्पर होई।
तू मोहिं देखै तोहि न देखूँ यह मति सब बुधि खोई।

मुक्ति एवं साक्षात्कार का कारण है।

परमात्मा को पिता कहकर संबोधित करते हुए रैदास कठिन यमफन्द में पड़े हुए जीव को तारने की प्रार्थना करते हैं। सब देवताओं तथा मुनियों को वे खोज चुके हैं परन्तु उन्हें यमफन्द से छुड़ाने वाला कोई नहीं मिला। उनको यही एक भरोसा है कि दीनों में वह चरम कोटि के दीन हैं तथा भगवान् चरम कोटि के दयालु हैं। वह भगवान् की शरण में हैं। अवश्य ही दीनदयालु प्रभु उन पर कृपा कटाक्ष करेंगे।[1] एक अन्य पद में रैदास ने भगवान् की यश एवं कीर्ति के प्रसार का श्रेय भक्तों को ही प्रदान किया है। भक्त के पापों का विनाश करने के कारण भगवान् का यश विख्यात है, वेद तथा लोक सभी ने भगवान् को पापों का विनाशक कहा है परन्तु भगवान् की यह कीर्ति केवल इसलिए है कि हम पाप करते हैं। यदि हम पाप न करे तो भगवान् किन पापों को नष्ट करके 'अघमोचन' की कीर्ति प्राप्त करें। शरीर में कीचड़ लगने पर ही वह जल से धोकर स्वच्छ किया जाता है। जब कीचड़ लगा ही न हो तो उसके प्रक्षालन की बात ही क्या। विषय-रस में आसक्त व्यक्ति का सुधार करने वाला हरिनाम है। यदि प्राणी पवित्र-हृदय है, दोषों से सर्वथा रहित है तो किन दोषों पर दृष्टिपात करके भगवान् उसे बन्धनग्रस्त करें। भगवान् अपनी दयालुता से बन्धन में पड़े हुए को मुक्त कर सकते हैं परन्तु जो निर्बन्ध हैं उन्हें मुक्त करने की बात ही नहीं उठती। अस्तु भवबन्धन-ग्रस्त रैदास अपनी मुक्ति के लिए भगवान् से प्रार्थना करते हैं।[2] इस भाँति परमात्मा के 'अघमोचन' यश का विस्तार करने वाले वास्तव में पापी ही हैं। भगवान् अपना विरद उनसे प्राप्त करते हैं, वे भगवान् से नहीं।

सब घट अन्तर रमसि निरन्तर मैं देखन नहि जाना।
गुन सब तोर मोर सब अवगुन कृत उपकार न माना।
मैं तैं तोरि मोरि असमझि सों कैसे करि निस्तारा।
कह रैदास कृष्ण करुनामय जै जै जगत अधारा। — रैदास, सं० वा० सं० भा० २, पृ० ३२

१. जन को तारि तारि बाप रमइया।
कठिन फंद पर्यो पंच जमइया।
तुम बिन सकल देव मुनि ढूंढ़ै
कहूँ न पाऊँ जमपास छुड़इया।
हम से दीन दयाल न तुम से
चरन सरन रैदास चमइया।८१ — रैदास बानी, पृ० ४०

२. पावन जस माधो तेरा।
तुम दारुन अघमोचन मेरा।
कीरति तेरी पाप बिनासे लोक बेद यों गावै।
जो हम पाप करत नहिं मूधर तौ तू कहा नसावै।
जब लग अंग पंक नहिं परसै तौ जल कहा पखारै।
मन मलीन विषया रस लंपट तौ हरि नाम सँभारै।
जो हम बिमल हृदय चित अन्तर दोष कौन पर धरिहौ।
कह रैदास प्रभु तुम दयाल हौ अबंध मुक्त का करिहौ।६५ — रैदास बानी, पृ० ३१

परमात्मा के गुणों को भक्त किस प्रकार प्रकाशित करता है, उन्होंने एक अन्य पद में बड़ी ही सरल भाव-व्यंजना के द्वारा व्यक्त किया है। यदि प्रभु चन्दन है, तो भक्त उसकी सुगंधि को तीव्र बना कर देवमस्तक पर धारण करने योग्य बनाने में सहायक जल, जिसके कण-कण में चन्दन की सुगंधि व्याप्त हो जाती है। भक्त का अंग-प्रत्यंग, उसका सूक्ष्माति-सूक्ष्म कार्य भगवान् के गुणों का प्रकाशक है। यदि भगवान् वन और मेघ है, तो भक्त मयूर जिसकी स्थिति (वन में) तथा आनन्द (घन गर्जन से) दोनों ही ईश्वर पर निर्भर हैं। चकोर चन्द्रमा की ओर अनिमेष दृष्टि लगाकर उसके रूपदर्शन में लीन रहता है, उसी प्रकार भक्त अनन्य गति से भगवान् का निरन्तर ध्यान करता है। यदि ईश्वर दीपक है, तो भक्त उसकी वर्तिका है, जो अपने को आहुत करके दीपक को प्रकाशित रखती है। यदि भगवान् मोती जैसी बहुमूल्य वस्तु हैं, तो भक्त धागे जैसी नगण्य वस्तु परन्तु मोतियों को अपने में अनुस्यूत करके उसे मुक्ताहार की उपाधि से विभूषित कराने वाला वह सूत्र ही है। साहित्य में ईश्वर तथा जीव के सम्बन्ध में 'मयि सर्वमिदम् प्रोक्तं सूत्रे मणिगणा इव' की चली आती हुई परम्परा के विपरीत रैदास ने भगवान् को मोती तथा भक्त को सूत्र इस नवीन भाव को जन्म दिया। भगवान् और भक्त का सम्बन्ध सोने और सुहागे के संयोग के सदृश है। स्वर्ण के स्वरूप को सुहागा निखार कर अधिक कान्तिमय बना देता है, इसी प्रकार भक्त भगवान् के निखरे हुए स्वरूप को सम्मुख प्रस्तुत करता है। भगवान् स्वामी हैं तथा भक्त हर प्रकार से उनका दास।[1] उपर्युक्त प्रसंग में ईश्वर तथा भक्त के बीच सम्बन्ध की स्थापना की गई है—एक महान् तथा अल्प का रूपक प्रस्तुत करते हुए। प्रत्येक दशा मे अल्प ही महान् के गुणों को अधिक प्राखर्य तथा प्रकाश प्रदान करने वाला है। वास्तव में यह सिद्धान्तरूपेण भी सत्य ही है कि बड़प्पन तथा लघुता सापेक्ष है। लघु की तुलना में ही बडा होता है। चन्दन की सुगधि को तीव्रतर बनाकर उपयोग में लाने वाला जल ही है। देवो के मस्तक पर सुशोभित होने वाला चन्दन जल के अभाव में किस प्रकार तैयार हो सकता है। वर्तिका नगण्य होती हुई भी दीपक को ज्योतित करती है।

तात्पर्य यह है कि रैदास ने परमात्मा की पवित्रता एवं गुणों को प्रकाशित करने वाला भक्तों को ही माना है। वे भगवान् के सम्मुख एक पातकी के रूप में गिडगिडाते हुए नही आते। भगवान् के 'पतित उधारन' विरद के कारण जहाँ वे मुक्ति की कांक्षा करते हैं वहाँ उसे भगवान् का कर्त्तव्य भी मानते हैं कि वह उनका उद्धार करे अन्यथा भगवान् का नाम सार्थक नहीं होगा। रैदास भक्तों की महत्ता व गुणों से पूर्णतया परिचित थे और उसे उन्होंने निःसंकोच भक्त की गर्वोक्ति के रूप में व्यक्त किया है।

---

१. अब कैसे छूटै नाम रट लागी।
प्रभु जी तुम चन्दन हम पानी जाकी अंग अंग बास समानी।
प्रभु जी तुम घन बन हम मोरा जैसे चितवत चन्द चकोरा।
प्रभु जी तुम दीपक हम बाती जाकी जोति बरै दिन राती।
प्रभु जी तुम मोती हम धागा जैसे सोनहिं मिलत सुहागा।
प्रभु जी तुम स्वामी हम दासा ऐसी भगति करै रैदासा। सं० बा० सं० भा० २, पृ० ३४

मीराबाई भक्तों के कारण भगवान् का अवतार धारण करना मानती हैं। वही भगवान् जिन्होंने भरी सभा में द्रोपदी के निर्वस्त्र किये जाने पर चीर को बढ़ाकर उसकी लाज बचाई थी, भक्त प्रह्लाद के लिए नरसिंह रूप धारण करके उसकी रक्षा की थी, तथा डूबते हुए गजराज को जल से बाहर निकालकर उसको ग्राह के मुख में जाने से बचाया था, उन्हीं गिरधारी भगवान् कृष्ण के चरणों में मीरा नतमस्तक है।[1] अन्यत्र वे भगवान् से अपनी ओर कृपादृष्टि करने की प्रार्थना करती हैं। इस लोक में उनके जो आत्मीय थे, वे सब उनके शत्रु हो गये है। परमात्मा के अतिरिक्त उनका कोई अपना नहीं है। भवसागर के बीच उनकी जीवन-नौका डगमगा रही है। इस विकट संकटपूर्ण स्थिति से भगवान् ही उद्धार कर सकते हैं। उनका हृदय भगवत्-विरह-बाणों से आबिद्ध है। वियोगव्यथा के कारण उन्हें न दिन में चैन है, न रात्रि में निद्रा। प्रिय के विरह में वे अत्यन्त क्षीणकाय हो गई हैं। पाषाण-रूप में पड़ी हुई अहिल्या का भगवान् ने उद्धार कर दिया था फिर प्रभु की प्रतीक्षा करती हुई अस्थि-चर्म की मीरा के लिए क्या विलम्ब।[2] यदि भगवान् विराग से प्रसन्न हों तो वे अपने प्रियतम परमात्मा को रिझाने के लिए वैरागिनी का वेष धारण करने को उद्यत हैं। यही नहीं, जिस-जिस वेष से उनके प्रियतम प्रसन्न हों वही-वही वेष धारण करने को वे तत्पर है। वे शील, संतोष और समता को धारण करके निरंजन परमात्मा का ध्यान करेंगी। गुरु के ज्ञान से शरीररूपी वस्त्र को रंग कर मनमुद्रा को धारण करेंगी, प्रेम से परमात्मा का गुणगान करती हुई उनके चरण-वन्दन में लीन होवेंगी तथा शरीर को किंगरी बनाकर जिह्वा से राम-नाम रटेंगी।[3] नवधा भक्ति मे से मीरा ने कीर्तन, स्मरण तथा चरण-वन्दन को प्रमुखता दी

---

१. हरि तुम हरो जन की भीर।
द्रोपदा की लाज राखी तुरत बाढ्यो चीर।
भक्त कारण रूप नरहरि धर्‌यो आप सरार।
हिरनाकुस मारि लीन्हो धर्‌यो नाहिन धीर।
बूड़तो गजराज राख्यो कियो बाहर नीर।
दासी मीरा लाल गिरधर चरण कँवल पै सीर मी० प०, पृ० २५

२. तुम पलक उघाड़ो दीनानाथ हूं हाजिर नाजिर कब की खड़ी।
साऊ थे दुसमन होइ लागे सब ने लगूं कड़ी।
तुम बिन साऊ कोऊ नहीं है डिगी नाव मेरी समँद अड़ी।
दिन नहि चैन रानि नहि निद्रा सूखूँ खडी खड़ी।
बान विरह के लगे हिये में भूलूँ न एक घड़ी।
पत्थर की तो अहिल्या तारी बन के बीच पड़ी।
कहा बोझ मीरा में कहिये सौ ऊपर एक धड़ी।
गुरु रैदास मिले मोहि पूरे धुर से कमल भिड़ी।
सतगुरु सैन दई जब आ के जोत में जोत रिली॥ मीरा, सं० बा० सं० भा० २, पृ० ७७

३. बालह मैं वैरागिण हूँगी हो।
जो जो भेष मेरो साहिब रीझै सोइ सोइ भेष धरूँगी हो।
सील संतोष धरूँ घट भीतर समता पकड़ रहूँगी हो।

है। प्रभु-मिलन के लिए उस अगम देश को प्रस्थान करने के लिए मीरा अनेक वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हो रही हैं। वह अगम देश कैसा है? उस अगम देश में जीवात्मा हंस प्रेम के सागर में आनन्दमग्न होकर विहार करते हैं। मीरा लज्जा, धैर्य, क्षमा, सुमति, सत्य, ध्यान, युक्ति, नामस्मरण, उज्ज्वल चित्त, शील, संतोष, निरति तथा गुरुज्ञान के वस्त्रालंकारों से सजकर प्रिय से मिलने के लिए उद्यत हैं। प्रिय की प्रीति के कारण ही उनके आकर्षण के लिए ही मीरा ने सब प्रकार से अपने को अलकृत किया है। जगत् से तो वे उदासीन हैं ही।[1] इस रूपक में मीरा ने सभी प्रकार के सदाचारों को अपने (भक्त के) आभूषणों में सम्मिलित किया है, जिनमें सत्य, ध्यान, नामस्मरण, निरति तथा गुरुज्ञान आध्यात्मिक सदाचरण हैं जो साधक को मुक्ति के द्वार तक पहुँचाते हैं।

मीरा योगी परमात्मा को अपने से विलग नहीं करना चाहती। प्रिय को हृदय-मंदिर से न जाने के लिए वे बार-बार उनसे अनुरोध करती हैं। प्रेमभक्ति का मार्ग बड़ा ही अटपटा है। वे उसके विषय में प्रियतम से पूछती हैं। केवल प्रेमभक्ति का मार्ग ज्ञात होना ही पर्याप्त नहीं है, वे उस पर चलने मात्र से संतुष्ट नही हैं, उनकी अभिलाषा है कि उनकी इहलोक लीला समाप्त हो जाय। वे अपनी चिता चन्दन तथा अगरु जैसे सुगंधित पदार्थों से स्वयं बनाना चाहती है। प्रियतम आकर अपने हाथ से चिता को प्रज्वलित कर दे, बस और अधिक वाछित नही। इस अतिम संस्कार को सम्पन्न करने मे प्रियतम को चिता बनाने का श्रम न उठाना पड़े, न उसे उस दुर्गन्धिपूर्ण वायु में श्वास लेनी पड़े, इसी-लिए मीरा पहले से ही अगरु-चन्दन की सुगंधित चिता बनाकर प्रस्तुत कर देती है। जीवन में तो वे प्रिय को सुखी देखना ही चाहती है, परन्तु जीवन के उपरान्त भी उनको कष्टित नहीं

जाको नाम निरंजन कहिये ताको ध्यान धरूँगी हो।
गुरुज्ञान रँगूँ तन कपरा मनमुद्रा पैरूँगी हो।
प्रेम प्रीति सूँ हरि-गुण गाऊँ चरणन लिपट रहूँगी हो।
या तन की मैं करूँ कींगरी रसना राम रटूँगी हो।
मीरा कहै प्रभु गिरधर नागर साधा संग रहूँगी हो। मी० प०, पृ० ५३

१. चलो अगम के देश काल देखत डरै।
वहाँ भरा प्रेम का हौज हंस केल्या करै।
ओढ़न लज्जा चीर धीरज को घाँघरो।
छिमता का कण हाथ सुमति को मुन्दरो।
दिल दुलड़ी दरियाव सांच को दोवड़ो।
उबटन गुरु को ज्ञान ध्यान को धोवणो।
कान अखोटा ज्ञान जुगत को भूटणो।
बेसर हरि को नाम चूड़ो चित्त ऊजलो।
जीहर शील संतोष निरति को घूँघरो।
बिंदली गज और हार तिलक गुरु ज्ञान को।
सज सोलह सिंगार पहिरि सोने राखड़ी।
साँवलिया सूं प्रीति और सूँ आखड़ी। मी० प०, पृ० १९२

देख सकतीं। योगी तो श्मशान की भस्म धारण करते ही हैं। मीरा की चिता की भस्म को उनके प्रिय परम योगी परमात्मा धारण कर लें, मृत्यु के पश्चात् भस्म के रूप में मीरा का प्रियतम से मिलन हो जाय, ज्योति में ज्योति मिल जाय और वे अपने प्रियतम के साथ एकाकार हो जायँ, यही उनके जीवन की महत्त्वाकांक्षा दृष्टिगत होती है।[1]

मीरा, जहाँ एक ओर उपर्युक्त प्रकार से प्रेमाभक्ति की 'गैल' जाने की आकांक्षा करती हैं, वहाँ दूसरी ओर वे यह घोषित करती हैं कि उन्होंने गोविन्द को मोल ले लिया है। गोविन्द के प्रेम में वे इतनी अनुरक्त हैं कि विभिन्न आक्षेपों की—लोकापवाद की उन्हें तनिक भी चिन्ता नहीं। उन्होंने गोविन्द का जो सौदा किया है कोई उसे सस्ता कहता है कोई महँगा परन्तु वह तो अमूल्य है, जिसका मूल्य आँकना ही व्यर्थ है। यह प्रेम का सौदा है। प्रेम ही वह वस्तु है जिसके कारण मीरा के प्रभु गिरधरनागर उसके समीप चले आते हैं।[2] भगवान् सदैव प्रेम के वश में रहते हैं तथा भक्त भगवान् के प्रेम में विभोर रहता है, इतना विभोर कि आत्मविस्मृत हो जाता है। कृष्ण-रूप में तल्लीन गोपबाला के आत्मविस्मृत स्वरूप की मनोहर झाँकी मीरा ने प्रस्तुत की है। कोई गोपबाला दधि-विक्रय के लिए घर से निकली तथा गली-गली में आवाज लगाती हुई घूमती है। उसको दधि का नाम विस्मृत हो गया है। उसके मस्तिष्क में घूम रही है कृष्ण की स्मृति। इसीलिए वह 'दधिल्यो' के स्थान पर 'हरिल्यो, हरिल्यो' की ही आवाज लगाती है। बिना मोल ही कृष्ण के हाथ बिकी हुई वह गोपी कृष्ण-रूप में इतनी विभोर है कि उसके मुँह से असम्बद्ध शब्द ही निकलते हैं, कहना चाहिए कुछ और वह कहती कुछ है।[3] उसकी चैतन्यावस्था को कृष्ण-रूप ने पूर्णतया आवृत्त कर रखा है। अर्धचेतन तथा अचेतन तो पहले ही उससे आवृत्त था, अब तो केवल प्रतिवर्ती (Reflex) क्रिया ही शेष रह गई है जिसके कारण दधि का पात्र सिर पर धारण किये हुए वह गली-गली आवाज दे रही है। मीरा की इन पंक्तियों

---

१. जोगी मत जा मत जा मत जा पाईं परूँ मैं चेरी तेरी हौं।
प्रेम भगति को पैंडोही न्यारो हमकूँ गैल बताजा।
अगर चन्दन की चिता बनाऊँ अपने हाथ जला जा।
जल बल भई भस्म की ढेरी अपने अंग लगा जा।
मीरा कहै प्रभु गिरधर नागर जोत में जोत मिला जा। मी० प०, पृ० ५०

२. माई री मैंने लियो गोविन्दो मोल।
कोई कहै छाने कोई कहै चौडे लियो री बजंता ढोल।
कोई कहै मुंहघो कोई कहै सुंहघो लियो री अमोलक मोल।
कोई कहै खोले कोई कहै मूंदे पायोरी नयन बिन कौल।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर आवत प्रेम ते डोल॥ मी० प०, पृ० १६

३. कोई स्याम मनोहर ल्योरी सिर धरे मटकिया डोलै।
दधि का नाँव बिसरि गई ग्वालिन हरिल्यो हरिल्यो बोलै।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चेरी भई बिन मोलै।
कृष्ण रूप छकी है ग्वालिन औरहि औरे बोलै। मी० प०, पृ० १७६

में मनोविज्ञान का सुन्दर स्पर्श हुआ है ।

जैसा कि हम अभी देख चुके है केवल गोपबाला ही "कृष्ण रूप छकी" नहीं है, मीरा भी अपने प्रियतम गिरधर के रंग में रंग गई हैं । इस पंचरंग शरीर को धारण किये हुए वे आमोद-स्थल इस ससार में विचरण कर रही हैं ।[1] इसी बीच प्रियतम की प्राप्ति हो गई, भक्त की आत्मा का सयोग परमात्मा से हो गया । जिनके प्रियतम दूरस्थ देश में निवास करते हैं, वे विरहिणी प्रियतम को पत्र भेजती हैं । पत्र से ही उनके प्रियतम का मिलन होता है परन्तु जिसका प्रियतम अत्यन्त निकट प्रिया के हृदय में निवास करता हो, उसे पत्र लिखने की क्या आवश्यकता । समस्त संसार चन्द्र, सूर्य, पृथ्वी, आकाश, जल, वायु सभी नाशवान् हैं, केवल स्थिर रहेगा अविनाशी प्रिय परमात्मा । सुरति तथा निरति के दीपक में मन की बत्ती और प्रेम-हटी के तेल से जो स्नेह-दीप प्रकाशित होगा, उसकी अक्षय ज्योति होगी ।[1]

एक बार यदि मीरा अपने प्रिय को प्राप्त कर ले तो उन्हें सदैव के लिए अपने नेत्र-कमलों में बसा लें । वे अपलक दृष्टि से प्रिय का रूप निहारती हैं । नेत्रों को वे इसलिए नहीं मूंदती कि उनमें उनके प्रियतम का वास है, उन्हे कष्ट होगा ।[2] 'मानस' में "लोचन मग रामहि उर आनी, दीन्हे पलक कपाट सयानी" के द्वारा तुलसीदास ने परमात्मा के दर्शन अनुभव का दूसरा स्वरूप प्रस्तुत किया है । इन दोनो स्वरूपों में नेत्र न बन्द करने और नेत्र बन्द करने दोनो का कारण अनुरागाधिक्य आनन्दातिरेक तथा भावविभोरता ही है । कबीर ने प्रभु-दर्शन-अनुभव के प्रथम स्वरूप को 'खुले नैन पहिचानौ, हँसि हँसि सुन्दर रूप निहारौ" के द्वारा व्यपत किया है । मीरा के कथित पद की अतिम पक्तियो में योग का पुट दिया गया है, जो उनके सम्प्रदाय की योगपरक साधना का प्रभाव कहा जा सकता है ।

---

१. सखी री मैं तो गिरधर के रंग राती ।
पचरंग चोला पहिरि सखी मैं झिरमिट खेलन जाती ।
ओह झिरमिट मा मिल्यो साँवरो खोल मिली तन गाती ।
जिनका पिया परदेस बसत है लिख लिख भेजैं पाती ।
मेरा पिया मेरे हीय बसत है ना कहुं आतो जाती ।
चन्दा जायगा सूरिज जायगा जायगा धरणि अकासी ।
पवन पानी दोनो हु जाँयगे अटल रहै अबिनासी ।
सुरत निरत का दिवला संजोले मनसा की कर लैं बाती ।
प्रेम हटी का तेल मँगाले जग रह्या दिन ते राती ।
सतगुरु मिलिया संसा भाग्या सैन बताई साँची ।
ना घर तेरा ना घर मेरा गावै मीरा दासी । मी० प०, पृ० २०

२. नैनन बनज बसाऊँ री जो मैं साहब पाऊँ ।
इन नैनन मेरा साहिब बसता डरती पलक न लाऊँ री ।
त्रिकुटी महल में बना है झरोखा तहाँ से झाँकी लगाऊँ री ।
सुन्न महल में सुरत जमाऊँ सुख की सेज बिछाऊँ री ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर बार बार बलि जाऊँ री । मी० प०, पृ० १२

तत्कालीन संतों में योग, ज्ञान तथा भक्ति तीनों का समन्वय दृष्टिगोचर होता है। उनमें न्यूनाधिकता की बात दूसरी है, वह तो अपनी-अपनी रुचि तथा अपने-अपने मत पर निर्भर है। ज्ञान तथा योग दोनों स्वतंत्र साधन होते हुए भी अपने क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहे। दोनों की परिणति भक्ति में हुई है—ऐसा मीरा को भी मान्य है। उनकी उपासना माधुर्य भाव की थी। अधिकांश पदों में उन्होने भगवान् को प्रियतम का रूप ही प्रदान किया है। गिरधर, कृष्ण, श्याम, सावलिया, गोपाल, सांई आदि उनके प्रियतम परमात्मा के पर्याय होकर ही सर्वत्र आये है।

सूरदास उस कोटि के भक्त थे जिन्होंने शरीर तथा मस्तिष्क के प्रयत्न (योग तथा ज्ञान) के द्वारा परमात्मा को प्राप्त करने का प्रयत्न नही किया वरन् अपने हृदय को भगवान् कृष्ण में लगाकर तन्मय हो जाना ही उन्हें प्रिय प्रतीत हुआ। इनकी भक्ति जिज्ञासु अर्थार्थी अथवा ज्ञानी की कोटि की न होकर आर्त की कोटि की थी, जिसमें भगवत्कृपा की प्राप्ति के लिए प्रपत्ति ही विशेष अवलम्ब थी। अपने अवगुणों को अनदेखा करके, उन्हें हृदय में न धारण करने के लिए सूर परमात्मा से स्तुति करते है। अपने अवगुणो को चित्त मे न धारण करने के लिए वे तर्क यह प्रस्तुत करते हैं कि परमात्मा समदर्शी है। पूजा में रक्खे हुए लौह तथा बधिक-गृह में बध मे प्रयोग आने वाले लौह मे अन्तर न मानकर पारस अपनी समदर्शिता के कारण दोनो को सुवर्ण बना देता है। नाले और नदी का अस्वच्छ जल भागीरथी में मिलकर निर्मल अकलुष गगोदक की संज्ञा प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार एक जीव कहलाता है, दूसरा ब्रह्म परन्तु उस ब्रह्म के निकट पहुँचने अथवा उससे मिल जाने पर जीव के समस्त अवगुण दूर हो जाते हैं और वह उसी मे लीन होकर उसी की सज्ञा प्राप्त कर लेता है। इसीलिए भगवान् के चित्त में अवगुणो को कोई स्थान नही मिलता। भगवान् कृष्ण और सूरदास का भी यही झगड़ा है कि उनके निकट आकर भी यदि सूर मुक्त नही हो जाते तो भगवान् की समदर्शिता नष्ट हुई जाती है। भक्त सूर को स्वीकार नही कि उनके भगवान् का अपयश हो। उनका मुक्त होना हर प्रकार से नितान्त आवश्यक है।[1]

सूर के भगवान् निर्बलों के बल हैं। पिछले भक्तों के दृष्टान्तो से यह सिद्ध होता है कि आड़े समय में भगवान् ही काम आते है। जब तक गजराज अपने बल-प्रयोग के द्वारा ग्राह से

---

१. प्रभु मेरे औगुन चित न धरो।
समदरसी प्रभु नाम तिहारो अपने पनहि करो।
इक लोहा पूजा में राखत इक घर बधिक परो।
यह दुविधा पारस नहि जानत कंचन करत खरो।
एक नदिया एक नार कहावत मैलो नीर भरो।
जब मिलिकै दोउ एक बरन भये सुरसरि नाम परो।
एक जीव एक ब्रह्म कहावत सूर स्याम झगरो।
अबकी बेर मोहि पार उतारो नहिं पन जात टरो।

मुक्त होने का प्रयत्न करता रहा, वह मुक्त न हो सका। जैसे ही उसने अपने बल का भरोसा त्यागकर निर्बल होकर भगवान् का स्मरण किया, पूरे 'राम' नाम का उच्चारण हो भी नहीं पाया, आधे नाम के उच्चारण मात्र से भगवान् ने प्रकट होकर गजराज की रक्षा की। अपबल, तपबल, बाहुबल तथा धनबल आदि अनेक बल हैं जो भगवान् की कृपा पर ही निर्भर हैं परन्तु सब प्रकार से पराजित अथवा हताश का एकमात्र बल परमात्मा का नाम है।[1]

भक्त के रक्षक भगवान् ही हैं। हरिस्मरण के द्वारा जीव इस संकटाकीर्ण द्वन्द्वात्मक जगत् से निस्तार पा सकता है। भक्ति की महत्ता प्रदर्शित करते हुए सूरदास ने एक रूपक प्रस्तुत किया है। डाल पर बैठे हुए एक अनाथ पक्षी की ओर शिकारी निशाना लगाये खड़ा है। यदि बेचारा पक्षी उड़कर प्राण बचाना चाहता है तो ऊपर उसे खाने के लिए बाज मंडरा रहा है। दोनों प्रकार से पक्षी का अन्त निश्चित ही है। अब प्राणों की रक्षा कौन करे? निरीह पक्षी के द्वारा भगवान् का ध्यान करते ही भगवान् ने उसकी रक्षा की व्यवस्था की। सर्प ने आकर शिकारी को डस लिया और शिकारी के हाथ से बाण छूटकर बाज को लगा। दोनो ही शत्रु नष्ट हो गए। इस प्रकार पक्षी कराल काल के गाल में जाने से बच गया एकमात्र भगवान् की भक्ति तथा अनुग्रह के द्वारा।[2]

दादू व्यवसाय से बुनकर थे। कपड़ा बुनना उनका स्वजातीय कार्य था। वे परमात्मा के परम अनुरागी भक्त भी थे। परमात्मा से पृथक् उससे रहित वे कुछ देखते ही न थे। यद्यपि वस्त्र बुनना उनका जीविकोपार्जन का प्रमुख साधन था, उसमें वे इतने दत्तचित्त थे कि उसको भी मस्तिष्क से बाहर न निकाल सके। इसी कारण उन्होंने परमात्मा-प्राप्ति के प्रयत्न को वस्त्र बुनने की क्रिया के द्वारा वर्णित किया है। जैसा कि हम कबीर के पद में भी देख चुके हैं। भक्त बुनकर तत्त्व के तेल और प्रेम की वर्तिका से दीपक को प्रकाशित करके अज्ञानान्धकार को दूर करता है। तब उज्ज्वल प्रकाश में प्राणो को ज्ञानरूपी कंघी से निकालकर नामरूपी नली से अनुरंजित सूत के द्वारा बुनने का कार्य करता है। परम तत्त्व

---

१. सुने री मैंने निरबल के बल राम।
पिछली साख भरूँ सन्तन की अड़े सँवारे काम।
जब लगि गज बल अपन्यो बरत्यो नेकु सर्यो नहि काम।
निरबल है बल राम पुकार्यो आये आधे नाम।
अपबल तपबल और बाहुबल चौथो है बल दाम।
सूर किसोर कृपाते सब बल हारे को हरिनाम।

२. अबकी राखि लेहु भगवान।
हम अनाथ बैठी द्रुम डरियाँ पारधि साध्यो बान।
ता के डर निकसन चाहत हौं ऊपर रह्यो सचान।
दीऊ भाँति दुःख भयो कृपानिधि कौन उबारै प्रान।
सुमिरत ही अहि डस्यो पारधी लाग्यो तीर सचान।
सूरदास गुन कहँ लग बरनौं जै जै कृपानिधान। सं० वा० सं० भा० २, पृ० ६३

में मतवाला बुनकर प्राणरूपी ताने पर, नामरूपी बाने के द्वारा सुरंग वस्त्र के निर्माण में तत्पर होता है। यदि ताने-बाने में से किसी का कोई सूत्र टूट जाता है—प्राणक्रिया अथवा नाम-स्मरण किसी में विघ्न उपस्थित हो जाता है, तो वह चतुर उसको तुरन्त ही जोड़ देता है। इस सूत्र के जोड़ने में वह तनिक भी असावधानी नहीं करता अन्यथा स्वामी का मन-भावना वस्त्र तैयार नहीं होगा। प्राण एवं नाम की ऐसी भक्ति द्वारा उसको सांसारिक आवागमन से मुक्ति मिल जावेगी और वह परमात्मा में समाहित हो जावेगा।[१] दादू के प्रस्तुत पद में ज्ञान, योग तथा भक्ति तीनों का समन्वय दृष्टिगत होता है।

हरिरस, रामरस के विषय में हम कबीर के उद्‌गार देख चुके हैं। दादू ने भी राम-रस का वर्णन किया है। रस का प्रयोग कई अर्थों में होता है। साहित्य में नवरसों का उल्लेख है, वैद्यक में रस का प्रयोग पारद आदि रसों के अर्थ मे होता है, रस रसना के षटरसों के अर्थ में प्रयुक्त होता है, तथा विज्ञान में रस द्रव के अर्थ में आता है। उपनिषद् में पर-मात्मा के लिए 'रसौ वै सः' का प्रयोग हुआ है और प्रायः इसी अर्थ में संत कवियों ने भी रस शब्द का प्रयोग किया है। हठयोगियों में तालु के ऊपर मस्तिष्क में अमृतरस के झरने तथा उसके अतिप्रिय स्वाद का भी उल्लेख मिलता है।[२] दादू के रामरस से तात्पर्य पर-मात्मा की भक्ति से है। इस रस को बिरले साधु या ज्ञानी ही पान करते हैं। और जो इस रस का सदैव प्रेम से पान करते हैं उन्हें अमृतत्व प्राप्त हो जाता है। इस रस मे नामदेव, पीपा, रैदास, आदि भक्त मस्त हुए हैं। कबीरदास इस रस का निरन्तर पान करते हुए कभी इससे विरत नहीं हुए। उनकी प्रेमप्यास ज्यों की त्यों बनी रही। यह रस साधक, सिद्ध, योगी, यती, सभी के लिए सुखदायक है तथा इसका ऐसा गुण है कि इसके पीने का कभी अन्त नही होता। कितना ही क्यो न पिया जाय, प्रेम की प्यास बनी ही रहती है। यही नही, इस रस का पान करने वाला इसी में एकाकार हो जाता है।[३] इस रस की मादकता

---

१. कोरी साल न छोड़ै रे।
सब घावर काढै रे।
प्रेम प्राण लगाइ धागै तत्त तेल निज दीया।
एक मना इस आरम्भ लागा ज्ञान राछ भर लीया।१
नाम नली भरि बुणकर लागा अंतर-गति रंग राता।
ताणै बाणौं जीव जुलाहा परमतत्व सौं माता।२
सकल सिरोमणि बुनै बिचारा सान्हा सूत न तोड़ै।
सदा सचेत रहै ल्यो लागा ज्यों टूटे त्यों जोड़ै।३
ऐसै तनि बुनि गहर गजीना साईं के मन भावै।
दादू कोरी करता के संगि बहुरि न इहि जगु आवै।४ — दादू, भा० २, पृ० १२७

२. चुवत अमीरस भरत ताल जंह सबद उठै असमानी हो।कबीर।

३. हरि रस माते मगन भये।
सुमिरि सुमिरि भये मतवाले जामण मरण सब भूलि गये।
निर्मल भगति प्रेम रस पीवै आन न दूजा भाव धरे।
सहजै सदा राम रंगि राते मुकति बैकुण्ठै कहा करै।

के कारण इसका सेवन करने वाला जीवन-मरण तक को भूल जाता है। इस रामरस का पान करना ही दादू की साधना है। वे सहज रामरंग में इस प्रकार रंग गये हैं कि स्वर्ग तथा मुक्ति-प्राप्ति की भी उन्हें इच्छा नही है। उनके लिए कुछ भी अभिलषित नहीं है। वे हरिनाम का गान करते हुए उसी में निमग्न हो गये हैं। प्रेमाभक्ति का रसपान करते हुए, अपलक दृष्टि से प्रियतम परमात्मा के दर्शन करने में ही जीवन व्यतीत हो जाय, यही उनकी अभिलाषा है। हरिरस-मत्त भक्तो की यही रहनी है।[1] भक्त की इसी रहनी का सूत्ररूप में वर्णन नारद-भक्तिसूत्र मे हम पहले ही देख चुके हैं।[2]

सुन्दरदास निर्गुणमार्गीय सतो में विद्वत्ता की दृष्टि से अपना विशेष स्थान रखते हैं। इनकी रहस्यात्मक अनुभूति तथा तत्सम्बन्धी दर्शन उनकी विद्वत्ता तथा अभिव्यक्ति की सामर्थ्य के कारण अन्य संत कवियों के विवेचनो के अनुपात में अधिक स्पष्ट तथा सुगठित हुआ है। दर्शनों का ज्ञान, भाषा पर अधिकार तथा स्वानुभूत साक्षात्कार का अनुभव तीनों मिलकर उनकी अभिव्यक्ति को तुलसीदास के कथन की भाँति सक्षिप्त परन्तु सुस्पष्ट तथा सहज बुद्धि ग्राह्य बनाने मे सहायक होते हैं। वे ज्ञान के द्वारा मुक्ति को सभव मानते हैं। उन्होंने अपने एक कवित्त मे ऐसे ही ज्ञानी का वर्णन किया है जिसके लिए न कोई विधि-निषेध रह गया है, न जिसके हृदय में भेद या अभेद के दार्शनिक मत ही शेष रह गये हैं। फिर भी नित्यप्रति वह कर्म करता हुआ दृष्टिगत होता है। वैदिक विधि-निषेध अज्ञानी अथवा अल्पज्ञानी सासारिक व्यक्तियों के लिए ही है। आत्मज्ञान हो जाने के पश्चात् उनकी उपादेयता नही रह जाती। विधि-निषेध वह सोपान है जो साधक को एक स्तर विशेष तक पहुँचा कर फिर व्यर्थ हो जाते हैं। ज्ञानी किसी को अपने समीप रखता है अर्थात् किसी से मित्र भाव रखता है, किसी से दूर रहता है तथा किसी के प्रति उदासीन रहता है अथवा तटस्थ भाव रखता है। ऐसा होने पर भी वह राग, द्वेष, हर्ष, शोक किसी में न रति रखता

गाइ गाइ रस लीन भये हैं कछू न मांगैं संत जना।
और अनेक देहु दत आगैं आन न भावै राम बिना।
इकटक ध्यान रहैं ल्यौ लागे छाकि परे हरि रस पीवैं।
दादू मगन रहैं रस माते ऐसैं हरि के जन जीवैं। — दादू, सं० वा० सं० भा० २, पृ० ६५

१. राम रस मीठा रे कोइ पीवै साधु सुजाण।
सदा रस पीवै प्रेम सौं सो अबिनासी प्राण।
इहि रस मुनि लागे सबै ब्रह्मा बिष्णु महेस।
सुर नर साधु संत जन सो रस पीवैं सेस।१ — दादू, भा० २, पृ० २५
सिधि साधक जोगी जती सती सबै सुखदेव।
पीवत अंत न आवई ऐसा अलख अभेव।२
इहि रस राते नामदेव पीपा अरु रैदास।
पिवत कबीरा ना थक्या अजहूं प्रेम पियास।३
यहु रस मीठा जिन पिया सो रस ही माहिं समाइ।
मीठे मीठा मिलि रह्या दादू अनत न जाइ।४

२. ना० भ०सू० १।४, २०

है न विरति। बाहर से लौकिक व्यवहार करता हुआ भी अन्त: में सबको स्वप्न की भाँति मिथ्या जानता है। इस भाँति परस्पर विपरीत क्रियाओं से युक्त प्रतीत होती हुई ज्ञानी की अद्भुत रहनी परमार्थ-प्राप्ति के साधनों में एक मान्य गति है।[1]

यारी की भक्ति प्रेम और योग का समन्वय है। बिना दीपक, बिना बत्ती तथा बिना तेल के प्रकाश उत्पन्न होने पर उनके प्रिय का आगमन हुआ है। निर्गुण, निराकार, परम तत्त्व प्रिय के लिए भक्त ने सुषुम्ना की सेज सजाई है। अपने प्रिय के साक्षात्कार से वे अत्यन्त आनन्दित होकर मंगलगान करते हैं।[2]

जगजीवन साहब के मत से भगवान् स्वय ही भजन करता है, स्वयं ही भजन कराता है तथा स्वय ही अलक्ष्य परमात्मा स्वयं का दर्शन कराता है। वह जिसको अपनी शरण में रखता है, वही भक्त कहलाता है। भक्त को वह अपने चरणों से कभी नही हटाता और न कभी उसे विस्मृत करता है। सुरति को वह इस प्रकार नियोजित कर देता है कि परमात्म-ज्योति में आत्मज्योति मिल जाती है।[3] जिसे जिस प्रकार का प्रत्यक्ष होता है उसे उसी से लगन होती है। वह उस प्रत्यक्ष को अपने मन मे जानता है, अनुभव करता है, किसी से कहता नही फिरता। सच्चे प्रेम का मार्ग ही यही है कि प्रेमी अपने प्रिय प्रेम को हृदय में सँजोकर रक्खे। जो लोग इधर-उधर झगड़ा करते घूमते है, वे

---

१. बिधि न निषेध कछु भेद न अभेद पुनि,
क्रिया से करत दीसै यूँही नितप्रति है।
काहू कूँ निकट राखै काहू कूँ तौ दूर भाखै
काहूं सूं नेरे न दूर ऐसी जाकी मति है।
रागहू न द्वेष कोऊ शोक न उछाह दोऊ
ऐसी विधि रहै कहू रति न विरति है।
बाहिर ब्योहार ठाने मन में सुपन जानै
सुन्दर ज्ञानी की कछु अद्भुत गति है। सुन्दरदास, सं० वा० स० भा० २, पृ० ११६

२. बिरहिनी मंदिर दियना बार।
बिन बाती बिन तेल जुगति सो बिन दीपक उजियार।
प्रान पिया मेरे गृह आयो रचि पचि सेज सँवार।
सुखमन सेज परम तत रहिया पिय निर्गुन निरकार।
गावहु री मिलि आनन्द मंगल यारी मिलि के बार॥ यारी सं० वा० सं० भा० २, पृ० १४६

३. साईं को केतनि गुन गावै।
सूझि बूझि तस आवै तेहि काँ जेहि काँ जौन लखावै।
आपुहि भजत है आपु भजावत आपु अलेख लखावै।
जेहि कहँ अपनी सरनहि राखै सोई भगत कहावै।
टारत नहीं चरन तें कबहूँ नहि कबहूँ बिसरावै।
सूरत खैंचि ऐंचि जब राखत जोतिहि जोति मिलावै।
सतगुर कियो गुरमुखी तेहिंका दूसर नाहि कहावै।
जग जीवन ते मै संग बासी अंत न कोऊ पावै। जगजीवन, सं० वा० सं० भा०२, पृ० १३६

वास्तव में प्रेमी नहीं हैं। वे इधर-उधर से पढ़कर या सीखकर मिथ्या ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं और उसी के बल पर बकवास किया करते हैं। जगजीवन साहब इस मिथ्या ज्ञान को हटाकर प्रत्यक्ष ज्ञान-प्राप्ति को महत्त्व प्रदान करते हैं। जो भगवान् का सच्चा प्रेमी हो जाता है, उसका चित्त एकाग्र होकर परमात्मा के चरणों में सदैव रत रहता है।[1] जगजीवन साहब आत्मसमर्पण की कोटि की प्रेमाभक्ति के पोषक प्रतीत होते हैं। उन्होंने सम्पूर्ण कर्तृत्व परमात्मा के ऊपर ही रखा है और स्वयं उसकी प्रेरणा से कर्म करते हुए दृष्टिगत होते हैं।

जगजीवन साहब के शिष्य दूलनदास योग साधना के समर्थक थे। उन्होने योगी जीवात्मा को चैतन्य होकर इस काया-नगरी में रहने की चेतावनी दी है। उनका योग कपड़े की चादर ओढ़कर माला लेकर बैठ जाने में नहीं है। प्रेम रंग की चादर ओढ़कर मन की माला के द्वारा निरन्तर नाम की ध्वनि करने में ही वास्तविक योग सम्पन्न होता है और इससे कर्मों के सब भ्रम दूर हो जाते हैं। सुरत की साधना करके साक्षात्कार-जन्य ज्ञान के रहस्य को न प्रकट करके सत्य मार्ग के पालन से भवसागर पार हो जाने में विलम्ब नहीं लगता।[2] परमात्मा भक्त के अत्यन्त समीप है फिर क्यों न भक्त उससे अपनी व्यथा निवेदन करे। वह जल, थल, पवन, आकाश, घट-घट मे सर्वत्र व्याप्त है। जीवात्मा उस सर्वव्यापक परमात्मा के दर्शन की तृषा से व्याकुल है। उस राम-रस को मुख से पीने की उसकी इच्छा नही, अंजलि से पीने की इच्छा नही, नेत्रों से ही पान करके, परमात्मा का साक्षात्कार करके ही वह आनन्दित होता है।[3]

---

१. मन में जेहि लागी जस भाई।
सो जानै तैसे अपने मन कासों कहै गोहराई।
साँची प्रीति की रीति है ऐसी राखत गुप्त छिपाई।
झूँठे कहुं सिखि लेत अहहि पढि जहँ तहँ झगरा लाई।
लागे रहत सदा रस पागे तजे अहहि दुचिताई।
ते मस्ताने तिनही जाने तिनहि को देइ जनाई।
राखत सीस चरन तें लागा देखत सीस उठाई।
जगजीवन सतगुर की मूरति सूरति रहे मिलाई। जगजीवन, सं० वा० सं० भा०२, पृ० १४३

२. जोगी चेत नगर में रहो रे।
प्रेम रंग रस ओढ़ चदरिया मन तसबीह गहो रे।
अन्तर लाओ नामहि की धुनि करम भरम सब धो रे।
सुरत साधि गहो सत मारग भेद न प्रकट कहो रे।
दूलनदास के साईं जगजीवन भव जल पार करो रे। दूलनदास, सं० वा० सं० भा० २, पृ० १६१

३. साहिब अपने पास हो कोइ दरद सुनावै।
साहिब जल थल घट घट व्यापत धरती पवन अकास हो।
नीची अटरिया ऊंची दुबरिया दियना बरत अकास हो।
सखिया इक पैठी जल भीतर रटत पियास पियास हो।
मुख नहि पिये चिरुआ नहि पीयै नैनन पियत हुलास हो।
साईं सरवर साईं जगजीवन चरनन दूलनदास हो। दूलनदास, सं० वा० सं० भा० २, पृ० १६६

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी-संत कवियों ने मुक्ति किंवा परमात्मा की प्राप्ति के लिए योग, ज्ञान, एवं भक्ति तीनो को ही समर्थ साधन माना है।[1] योग का सम्बन्ध शरीर से है, ज्ञान का मस्तिष्क से है और भक्ति का हृदय से, यह हम पिछले पृष्ठों में देख ही चुके है। भक्ति उपासना की प्राण और योग उपासना का शरीर कहा गया है। अब यहाँ पर योग शब्द की व्युत्पत्ति और उसके क्रमिक विकास पर दृष्टि-पात कर लेने से संत कवियों की योगपरक उपासना पाठकों के लिए अधिक सरल एवं सुबोध हो जावेगी।

योग शब्द 'युज्' धातु से बना है, परन्तु 'युज्' धातु पाणिनि में तीन प्रकरणो में भिन्न-भिन्न अर्थों मे प्रयुक्त हुई है। दिवादिगण के 'युज्' का अर्थ है समाधि, रुधादिगण के 'युज्' का अर्थ है सयोग और चुरादिगण के 'युज्' का अर्थ है सयमन। विद्वान् योग शब्द की निष्पत्ति भी भिन्न अर्थों वाले 'युज्' से करते हैं। गोस्वामी दामोदर शास्त्री ने योग की निष्पत्ति एकाग्रता अर्थक युज् से मानी है क्योंकि उनके मत से कर्म, ज्ञान-भक्ति अष्टांगादि योग में नियम से चित्तैकाग्रता ही अपेक्षित है।[2] नैयायिको तथा अन्य विद्वानो ने 'युजिर योगे' से ही योग शब्द की उत्पत्ति मानी है। प० पचानन तर्करत्न चुरादिगणीय सयम-नार्थक 'युज्' धातु को भी योग की निष्पत्ति में सहायक मानते हुए तीनों ही युज् धातुओ को योग के मूल में वर्तमान मानते है।[3] निम्न विवेचन से प्रतीत होगा कि सयोगार्थक 'युज्' ही योग की निष्पत्ति के मूल में है।

जैन आचार्यों ने 'सयोगार्थक युज्' धातु से योग शब्द को बना माना है। डा० भगवानदास के मत से 'युजिर योगे' धातु से ही योग शब्द की निष्पत्ति है। उन्होंने 'अमर-कोष' को उद्धृत करते हुए जिसमे 'योगः सन्नहनोपाय ध्यान संगति युक्तिषु' कहा गया है, अपने मत की पुष्टि की है। उनके अनुसार पुराणकाल में जब देश की बोली सस्कृत थी तब युद्ध के लिए योद्धाओ को सन्नहन सन्नद्ध हो जाने, कवच पहनने और हथियार उठाने के लिए 'योगोयोगः' ऐसी पुकार होती थी। उपाय को भी योग कहते हैं। वैद्यक में नुस्खे को भी योग कहते हैं। ध्यान के विशेष प्रकार का नाम योग प्रसिद्ध ही है। सगति, संगम दो वस्तुओ का मिलन भी योग है तथा युक्ति भी। युक्ति का अर्थ उपाय भी है और विशेष तर्क भी जो खण्डन-मण्डन का उपाय ही है। दूसरे कोषकारों ने योग शब्द के पैंतीस-चालीस तक अर्थ गिनाये हैं। इन सब रूढ़ अर्थों का मूल यौगिक अर्थ ही है, अर्थात् दो पदार्थों का मिलन अथवा सयोग।[4] यही मत डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल को भी मान्य प्रतीत होता है। उनका कथन है कि व्यावहारिक दृष्टि से व्यक्ति का मोक्ष, आत्मा-परमात्मा

---

१. जोगी पावै जोग सूं ज्ञानी लहै विचार।
सहजो पावै भक्ति सूं जाके प्रेम अधार ।। — सहजोबाई, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १६६
२. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।। — यो० सू० १.२
३. कल्याण, वर्ष १०, अंक १, योगांक — पृ० ३५८
४. योगांक — पृ० ६८

का सम्मिलित ऐक्य, अथवा जोड़ ही कहलायेगा। इसीलिए कैवल्य मोक्ष भी योग कहलाता है।[1] योग शब्द के प्रयोग के अंत:साक्ष्य से जहां पर कि योग शब्द का प्रयोग हुआ है हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।

वेदान्त योग को जीव और परमात्मा का मिलन कहता है।[2] अन्यत्र इसकी व्याख्या 'युज्यते असौ योगः' जो मिलावे उसे योग कहते हैं, द्वारा की गई है। जैन आचार्यों ने संयोगार्थक युज् धातु से योग शब्द को बना माना है। 'मोक्षेण योजनादेव योगोह्यत्र निरुच्यते'[3] अथवा 'मुक्खेण जोयणाओ जोगो'।[4] जिन साधनों से मोक्ष का योग होता है उन सब साधनों को योग कहते है। महामहोपाध्याय आचार्य गोपीनाथ कविराज ने भी इस प्रकार व्यक्त किया है "प्राचीन भारतीय साहित्य में योग शब्द नाना प्रकार के व्यापक अर्थों में व्यवहृत हुआ है। फिर भी इसका जो आध्यात्मिक अर्थ है, उसमें प्रकार-भेद होने पर भी मूलतः कुछ अशों में सामजस्य पाया जाता है। जीवात्मा और परमात्मा के संयोग को योग कहा जाय, अथवा प्राण और अपान के सयोग, चन्द्र और सूर्य के मिलन, शिव और शक्ति के सामरस्य, चित्तवृत्ति के निरोध अथवा अन्य किसी भी प्रकार से योग का लक्षण निश्चित किया जाय, मूल में विशेष पार्थक्य नहीं है।"[5]

'योगवासिष्ठ' मे ससार-सागर से पार होने की युक्ति को योग कहा गया है।[6] 'सर्वं चिन्ता परित्यागो निश्चिन्तो योग उच्यते'[7] —अन्यत्र कहा गया है। सबसे अधिक प्रसिद्ध 'योगश्चित्त वृत्तिनिरोध.' महर्षि पतंजलि का सिद्धांत है। इस प्रकार आत्म-परमात्म को मिलाने वाला, ससार-सागर से पार कराने वाला अथवा चिन्तारहित करने वाला कोई भी उपाय अथवा मार्ग योग के नाम से अभिहित किया जाता है। भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, सभी इसीलिए योग सज्ञा से व्यक्त किये जाते हैं। फिर भी प्रस्तुत विवेचन में योग शब्द को उसके दार्शनिक अर्थ में तथा हठयोग के उन प्रकारों के अर्थ में देखना है जिनमें कि समाधि के द्वारा जीव स्वस्वरूप में स्थिर हो जाता है।

महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज ने योग सूची की आलोचना करते हुए, "महा-योग अवस्था-भेद के अनुसार मत्रयोग, हठयोग, लययोग, अथवा राजयोग, अस्पर्शयोग जिसे कि वे असंप्रज्ञात समाधि की ही अवस्था-विशेष मानते हैं, शब्दयोग, वाग्योग, योग और बियोग (विवेक) तथा हठयोग को गिनाया है।[8] अन्यत्र समाधियोग, अष्टांगयोग, राजयोग,

---

१. योगांक पृ० ७०१
२. योगांक पृ० १६३
३. द्वात्रिंशिका १०।१ यशोविजय योगांक पृ० २६०
४. योगविंशिका—हरिभद्र सूरि—योगांक पृ० २६०
५. योगांक पृ० ५१
६. योगवासिष्ठ ६।१।१३।३ योगांक पृ० ११७
७. योगांक पृ० १६४
८. योग का विषय परिचय, म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, योगांक पृ० ५१

सुरत-शब्द-योग, प्रपत्तियोग, सिद्धयोग, वाम-कौल-तान्त्रिकयोग, अस्पर्शयोग, ज्ञानयोग, सम्पूर्णयोग, शिवयोग, पाशुपतयोग, पातंजलियोग, भृगुयोग, तारकयोग, ऋजुयोग जपयोग, कुण्डलिनी शक्ति-योग, हठयोग, ध्यानयोग, षड्ंगयोग, प्रेमयोग आदि अनेक प्रकार के योगों का उल्लेख है परन्तु वास्तव में भक्ति और ज्ञान को योग की अंतिम परिणति मान लेने पर 'धारणा, ध्यान और समाधि' ही शेष रह जाते हैं। उसके पहले चाहे यम-नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार लगाकर उसको पतञ्जलि प्रणीत अष्टाग योग मान लिया जाय अथवा आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार मात्र लगाकर नाथों का षड्ंगयोग। अथवा प्राणायाम मात्र निकाल कर जैनों का योग जिसमें कि यम-नियम नामभेद से केवल प्रयुक्त होते हैं। शेष सबके नामभेद का कारण ध्यान किये जाने वाले इष्टदेव से है। शिव हो, शक्ति हो, नाद हो, शब्द हो, राम विष्णु शून्य अथवा कोई हो। इसके अतिरिक्त भी कुछ योगों के नाम उनकी विधि पर अवलम्बित हैं जैसे कुण्डलिनी-शिवशक्ति आदि जहाँ पर एक अथवा दूसरे का उद्भूत करना लक्ष्य है तथा जिनका एकरस हो जाना ही उसकी सिद्धि है। अथवा प्रपत्ति-योग के साधन का भेद निदर्शन मात्र है। एक अन्य योग वामाचार कौलयोग का विवेचन कर लेना भी उपयुक्त होगा। वास्तव में वाम शब्द निरुक्त के अनुसार प्रशस्य अथवा श्रेष्ठ का द्योतक है।[1] तथा कुल शब्द शक्ति का वाचक है और अकुल शब्द शिव का बोधक। कुल और अकुल के सम्बन्ध को कौल कहते हैं।[2] इस प्रकार वह श्रेष्ठ योग जिसमें कि शिव और शक्ति का योग हो वाममार्गीय योग हुआ। इस प्रकार शक्ति के उपासकों को भोग तथा मोक्ष दोनों ही करतलगत थे। यही नहीं, सिद्धों की परम्परा में हम पंचमकार आदि का सेवन नियम के रूप से प्राप्त करते हैं। वाममार्गीय अथवा सिद्धों ने अपने मंतव्य को सदैव स्पष्ट शब्दों में न कहकर सांकेतिक भाषा में ही कहा है। यही नहीं उन्होंने हृदय के गुप्त रहस्य को मातृजार की भाँति गुप्त रखने का आदेश दिया है।[3] इसलिए उसका विकृत रूप ही परवर्ती साहित्य को मिला और जिसमें साकत या साकट को कुत्ते के समान समझा गया।[4] ब्रह्मचर्य से अष्टधा ब्रह्मचर्य का बोध हुआ।[5] और साधना के लिए वही उपयुक्त विधि प्रतीत हुई।

इन सब प्रकार के योगो के होते हुए भी भारत मे महर्षि पतंजलि प्रणीत अष्टांगयोग ही योगशास्त्र का मापदण्ड रहा। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि यही अष्टाग योग कहा जाता है। यम के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, आस्तेय,

---

१. वाम—अस्रेमः अनेनः अनेद्यः अनवद्यः अनभिशस्तः उकथ्यः सुनीथः पाकः वामः वयुनमिति दश प्रशस्यनामानि। — योगांक, पृ० १७४

२. कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते।
कुलाकुलस्य सम्बन्धः कौलमित्यभिधीयते ॥ — योगांक, पृ० १७५

३. प्रकाशात् सिद्धिहानिः स्याद्वामाचारगतौ प्रिये।
अतो वामपथं देवि गोपायेत् मातृजारवत् ॥ — विश्वसार योगांक, पृ० १७५

४. साकत सुनहा दूनो भाई, एक नींदै एक भौंकत जाई ॥ — क० ग्रं० भूमिका, पृ० १७

५. स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ॥ — योगांक, पृ० १०५

ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह यह पाँच सामाजिक (Social) सदाचरण माने गये हैं तथा नियम के अन्तर्गत शौच, सतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान यह वैयक्तिक आचार। अष्टांग-योग में यह उसी प्रकार प्रारम्भिक आवश्यकता है जिस प्रकार वेदान्त दर्शन में साधन चतुष्टय[1] सम्पन्न शिष्य के प्रति ही ब्रह्म ज्ञान का उपदेश। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा आदि की खुदाई में जो प्रस्तर मूर्तियाँ पाई गई हैं वे किसी-न-किसी योगसाधना को सूचित करती हैं। बहुत संभव है कि यह पूर्व वैदिक सभ्यता की एक विशेष सम्पत्ति हो पहले पहल वैदिक आर्य इसके प्रभाव मे नही आये पर बाद में उन्हें इससे प्रभावित होना पड़ा था, इसे आर्य चिन्तन से दूर नही रक्खा जा सका। परवर्ती साहित्य तो इड़ा, पिंगला, चक्र, कमल, कोश, नवद्वार, मूलाधार, सहस्रार प्रभृति तत्वों से भरा पड़ा है।[2] इसी योग में वर्णित अणिमादि सिद्धियाँ सर्वत्र स्वीकृत हुई है।[3] और योगों में सिद्धियाँ नही थी, ऐसा नहीं है। सिद्धियों की मधुमयी भूमिका पर प्रत्येक साधक को चरम सिद्धि के पूर्व पहुँचना होता है जिन्हें पतंजलि ने भी समाधि मे विघ्न माना है।[4] तथा उस पर विजय प्राप्त करने पर ही आत्मा-परमात्मा शिव-शक्ति अथवा कोई भी अन्तिम सिद्धि उसे वरण करती है।

अब हम कुछ योगों के विषय में सक्षेप से विचार करेंगे जिनका प्रभाव परवर्ती हिन्दी-संतों पर पड़ा।

१. सुरत-शब्दयोग—अनाहत शब्दों में सुरत अर्थात् ध्यान को जोड़ने को सुरत-शब्दयोग कहते हैं। अभ्यासी की सुरत अर्थात् आत्मा क्रमश. अन्तर में चढ़कर इन गुप्त चक्रों, कमलों और पद्मों को चैतन्य करे और चेतन मण्डलों की रचना का अनुभव करती हुई अन्त में सच्चे कुल मालिक का दर्शन प्राप्त करके कृतकृत्य हो।[5]

२. सिद्धयोग —जिस पथ से बिना कष्ट के योग प्राप्त होता है उसी पथ को सिद्धि-मार्ग कहते हैं। योगरूप सिद्धि प्राप्त करने का मार्ग सुषुम्ना नाड़ी है। जब इस नाड़ी से प्राणवायु प्रवाहित होकर ब्रह्मरंध्र में जाकर स्थित होती है तब साधक को जीवब्रह्मैक्य ज्ञानरूप योग प्राप्त होता है। सर्वप्रथम गुरु द्वारा शक्ति का संचार होने से कुण्डलिनी शक्ति जागरित होती है। योग शास्त्रोक्त आसन, मुद्रा और प्राणायाम आदि कुछ भी अस्वाभाविक ढंग से अनुष्ठान करने की जरूरत नही, केवल गुरु-शक्ति के जागरित हो जाने से स्वाभाविक रूप में योग-मार्ग प्राप्त हो

---

१. साधनानि नित्याऽनित्यवस्तुविवेकेहाऽमुत्रफलभोगविरागशमदमादिषट्कसंपत्तिमुमुक्षुत्वानि। वेदान्त सार, पृ० २०

२. आचार्य क्षिति मोहन सेन योगांक, पृ० २६८

३. योगसूत्र ३, ३३ तथा ३, ३८ से ४६

४. ते समाधावुपसर्गाव्युत्थाने सिद्धयः यो० सू० ३, ३७

५. साहेब जी महराज योगांक, पृ० ८०

जाता है। इसी को सहज कर्म कहा गया है।[1] सिद्धों को बौद्धों की ही अन्तिम कड़ी समझना चाहिए। विक्रमशिला बौद्ध विश्वविद्यालय में मंत्रयान, तंत्रयान, बज्रयान का अध्ययन होने लगा था। वाममार्गीय तांत्रिक उपासना को ही बहुत लोग सहजयान कहते हैं।[2] सिद्धों की अनीश्वरता, मद्य, मांस, स्त्री आदि का उपयोग लोगों को अधिक समय तक संतुष्ट न रख सका। इसीलिए प्रचलित प्रथा के विरुद्ध कुछ समझदार योगियो ने नाथ सम्प्रदाय की सृष्टि की और गोरक्षनाथ इस सम्प्रदाय के अगुवा बने।[3] इसमें आदिनाथ भगवान् शकर आदि-स्रोत माने जाते हैं। इस मत में शुद्ध हठ तथा राजयोग की साधनायें ही अनुशासित है। योगासन, नाड़ीज्ञान, षट्चक्रनिरूपण तथा प्राणायाम द्वारा समाधि की प्राप्ति इस योग के मुख्य अंग है। शारीरिक पुष्टि तथा पच महाव्रतो पर विजय इन पर भी विशेष ध्यान दिया गया है और इनकी सिद्धि के लिए रस विद्या का भी इस मत में मुख्य स्थान है।[4] समाधि की प्राप्ति में सहायक इसी रस-प्रक्रिया का विकृत रूप हमें गांजा अथवा भंगपान समाधि में दृष्टिगोचर होता है। काया-शुद्धि के लिए उन्होंने नेति, धौति, वस्ति, गज कर्म, न्योली तथा त्राटक अथवा गजकर्म के स्थान पर कपाल भाति[5] ही है। नाथपंथ शुद्ध साधना का मार्ग है अथवा सिद्धान्तों की सार्थकता उसमे यही मानी जाती है कि उनका इसी जीवन में अनुभव किया जाय। तात्विक सिद्धान्त है कि परमात्मा 'केवल' है, वह भाव और अभाव दोनों के परे है। उसे न वस्ती कहा जा सकता है, न शून्य। यहाँ तक कि उसका नाम भी नही रक्खा जा सकता।[6] व्यावहारिक दृष्टि से व्यक्ति का मोक्ष आत्मा-परमात्मा का मिलन ऐक्य अथवा जोड़ ही कहलायेगा। नाथ-पंथ इसी योगानुभूति तक पहुँचाने वाला पथ है।[7]

हम देख चुके हैं कि शरीर को स्वस्थ तथा शुद्ध रखने के लिए रसक्रिया तथा षट्कर्म का विधान है। मन तथा शरीर को अधिक कष्ट देना नाथपथ में विवेक नहीं। जहाँ इन्द्रियों का दास बनकर योगसाधन असम्भव है, वहाँ भौतिक आवश्यकताओं के प्रति एकाएक

१. श्री पुरुषोत्तम तीर्थ — योगांक, पृ० १७३
२. भगवती प्रसादसिंह—चौरासी सिद्ध तथा नाथ सम्प्रदाय — योगांक, पृ० ४६६
३. भगवती प्रसाद सिंह—चौरासी सिद्ध तथा नाथ सम्प्रदाय — योगांक, पृ० ४७०
४. भगवती प्रसाद सिंह चौरासी सिद्ध तथा नाथ सम्प्रदाय — योगांक, पृ० ४७१
५. कमला प्रसाद सिंह—षट्कर्म — योगांक, पृ० ५८२
६. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल—नाथपंथ में योग — योगांक, पृ० ७०१
७. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल—नाथपंथ में योग — योगांक, पृ० ७०१

आँख बंद कर भी सिद्धि नहीं हो सकती ।[१] भौतिक और आध्यात्मिक आवश्यकता दोनों का सम्यक् संयोग ही नाथयोगी की 'रहनी' का सार तत्त्व है ।[२] योगसाधना में महत्त्व है मानसिक स्थिति का जिसके द्वारा संयम संभव होता है । इसीलिए मन को सतत किसी-न-किसी काम में लगाये रखना आवश्यक है । (Empty mind is a devil's workshop) चाहे रास्ता चले, चाहे कंथा सिये, चाहे ध्यान धरे, चाहे ज्ञान कहे ।[३]

नाथों की कालवंचिणी विद्या—जिसके द्वारा साधक नौ द्वारों को बन्द कर दशमद्वार ब्रह्मरंध्र में समाधिस्थ हो अमृत पान कर फिर बूढ़े से बालक हो जाता है[४]—उनकी परम लक्ष्य थी । सिद्धों ने अपने योग के उपदेश हिन्दी भाषा मे किये थे इसलिए सिद्धों को हिन्दी के आदि कवि भी कहा जाता है ।[५] परवर्ती हिन्दी-सत उनके प्रभाव से नहीं बच सके । उपर्युक्त कालवचिणी विद्या उनके काव्य में हठयोग के रूप में प्रयुक्त हुई ।

मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में तुलसीदास ही ऐसे कवि हुए हैं जिन्होंने भगवत्-उपासना के विषय में अपनी व्यक्तिगत भावना को व्यक्त करने के साथ ही विविध दार्शनिक सिद्धान्तों एवं मतों का गंभीर तथा विशद विवेचन किया है । इसका अभिप्राय यह नहीं कि उन्हें वे सब दार्शनिक मत अथवा सिद्धान्त मान्य ही थे । उनको यद्यपि निज सिद्धान्त के रूप में 'सेवक-सेव्य' भाव ही स्वीकार था परन्तु उन्होंने सभी पूर्ववर्ती तथा तत्कालीन मतों से सत्य के अंश को पूर्वपक्ष अथवा सिद्धान्त के रूप में ग्रहण करके उसको व्यक्त किया । संभवत: वे प्रत्येक सत्य की आंशिकता पर विश्वास करते थे तथा पूर्णता उनकी समष्टि में ही मानते थे । उन्होंने एक समन्वय प्रस्तुत किया उन समस्त मतवादों का जो उन्हे तत्कालीन परिस्थितियों में हितकर व उचित प्रतीत हुए । उनके समय में प्रचलित कोई भी साधना-पद्धति उनकी लेखनी से अछूती नहीं बची । ज्ञान, योग, भक्ति तीनों ही उनसे गौरवान्वित हुए हैं । तुलसीदास और सुन्दरदास के अतिरिक्त ज्ञान के स्वरूप-निरूपण के विषय में कवियों ने कम ही कहा है । भक्त तथा संत कवियों ने भक्ति तथा योग पर अधिक उद्‌गार व्यक्त किए हैं । भक्ति के अंतर्गत व्यक्तिगत उपासना-पद्धति ही विशेष रूप से परिगणित हुई; जिसने जैसा चाहा, परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ा । किसी ने दास्य भाव से, किसी ने सख्य भाव से, किसी ने माधुर्य अथवा अन्य भाव से । योग के अन्तर्गत अन्य योग भी हैं परन्तु जैसा कि हम विगत पृष्ठों में देख चुके हैं, तत्कालीन मतों तथा सम्प्रदायियों में हठयोग का बहुत प्रचार था इसलिए हठयोग की ही संत-साहित्य में बहुलता हुई । हठयोग का इतना प्राचुर्य हुआ कि तुलसी,

---

१. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल—नाथपंथ में योग — योगांक, पृ० ७०५
२. नाथपंथ में योग—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल — योगांक, पृ० ७०५
३. कै चलिबा पंथा । कै सीबा कंथा ।
कै धरिबा ध्यान । कै कथिबा ज्ञान । — योगांक, पृ० ७०५
४. सुणौ हो देवल तजौ जंजालं । अमिय पिवत तब होइबा बालं ।
ब्रह्म अगिनि (तैं) सीचत मूलं । फूल्या फूल फली फिर फूलं। — योगांक, पृ० ७०६
५. चौरासी सिद्ध तथा नाथ संप्रदाय—भगवती प्रसाद सिंह — योगांक, पृ० ४७०

सूर के अतिरिक्त कबीर, मीरा, दादू आदि अधिकांश कवि अपने प्रत्येक पद में अधिक नहीं तो एक-आध पंक्ति हठयोग पर कहे बिना रह ही नहीं सके। सूर के दृष्टकूटों में भी हठयोग की गन्ध का कुछ न कुछ आभास मिलता ही है। यथार्थ बात तो यह है कि सारे योग का मूलगत अर्थ और उसकी अंतिम परिणति भगवान् के साथ प्रेम-मिलन में है।[१] वस्तुतः हिन्दी-संतयोग को न हठयोग कहना उचित है न राजयोग। वह है भगवत्-मिलन-योग, जो कि संत कवियों द्वारा साध्य तथा साधन दोनों ही रूपों में गृहीत हुआ।

---

१. कबीर का योग—क्षिति मोहन सेन—योगांक, पृ० ३०३

नवम परिच्छेद

मुक्ति किंवा साक्षात्कार

वैदिक-काल से पूर्व के अर्ध सभ्य मानव में भी मुक्ति की भावना अवश्य विद्यमान रही होगी। यह बात दूसरी है कि उसका स्वरूप कुछ और रहा हो जो पूर्ण सभ्य मानव के विविध दर्शनों से मेल न खाता हो। उस समय मुक्ति की भावना का अर्थ स्वर्गप्राप्ति रहा होगा और स्वर्ग-प्राप्ति से तात्पर्य रहा होगा मृत्यु के उपरान्त उस लोक की प्राप्ति, जहाँ मनुष्य अपने जीवन-काल के दुःखों और कष्टों से दूर होकर उन सम्पूर्ण अभावों का पूर्णतम तथा सर्वाधिक उपभोग कर सके, जो अपूर्ण रह गये हों। मिश्र के पिरामिडों तथा हड़प्पा और मोहन-जोदड़ो की खुदाइयों में प्राप्त वे शव जिनके साथ नैत्यिक उपयोग में आने वाली सभी सामग्री गड़ी हुई मिली है, स्वर्ग की इसी भावना की पुष्टि करते हुए जान पड़ते हैं। मृत्यु के बाद उस लोक में पहुँच कर मनुष्य अधिक से अधिक सुख भोग कर सके और जीवितावस्था के अभावों को पूर्ण कर सके इसीलिए उनके निर्जीव शरीर के साथ सम्पूर्ण सामग्री पृथ्वी के अन्दर रख दी जाती थी। इस क्रिया के मूल में मुक्ति की भावना ही किसी न किसी रूप में वर्तमान थी।

पूर्व वैदिक-काल में मुक्ति की भावना के साथ स्वर्ग की भावना जुड़ी हुई थी। उपनिषद्-काल में पहुँचकर मुक्ति की भावना ने दार्शनिक स्वरूप प्राप्त किया। उस समय जीव के द्वारा अपने सच्चिदानन्द स्वरूप की प्राप्ति ही मुक्ति थी। वैदिक ऋषि ने उसी तत्त्व को जानने तथा प्राप्त करने की आकांक्षा की जिसे जानकर वह अमरधर्मा[1] अथवा आत्म-क्रीड आनन्दी हो जाय।[2]

हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भ के पूर्व भारतवर्ष में मुक्ति के विषय में अनेक धारणाएं विद्यमान थीं। उन धारणाओं की पृष्ठभूमि के अध्ययन से ही मुक्ति विषयक विचारों का सही मूल्यांकन संभव है। भारतीय दर्शन का जन्म केवल बौद्धिक सतुष्टि अथवा बौद्धिक कलाबाजियों के उद्देश्य से नहीं हुआ था। उसमें तत्त्व-विवेचन के साथ-साथ अथवा कहीं-कहीं पर तत्त्व-विवेचन को गौण स्थान देकर भी एक लक्ष्य-विशेष की प्राप्ति ही प्रधान थी।

---

१. सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं
तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति। — बृ० उ० २, ४. ३

२. ...तद् यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन
वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न
बाह्यं किंचन वेद नान्तरं तद् वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामँ
रूपँ शोकान्तरम्। — बृ० उ० ४. ३ २१

वह लक्ष्य था—मुक्ति जो समयानुसार पृथक्-पृथक् नामों के द्वारा भिन्न-भिन्न अर्थों में ग्रहीत हुई है।

बौद्ध मतावलम्बियों में वैभाषिकों ने मुक्ति या निर्वाण को दो प्रकार का माना है—सोपाधिशेष जो शरीर रहते होता है तथा निरुपाधिशेष जो शरीरपात के पश्चात् होता है। यह दो प्रकार के निर्वाण जीवन्मुक्ति तथा विदेह मुक्ति की ही भाँति है। सौत्रांतिकों को क्लेशों की निवृत्ति पर ही दुःख या संसार की अनुपपत्ति का अवलम्बित होना मान्य है। प्रति संख्या निरोध तथा अप्रति सख्या निरोध के भेद से प्रज्ञा के कारण विषय में उत्पन्न होने वाले क्लेशों का न होना, तथा क्लेश-निवृत्ति-मूलक दुखानुपपत्ति को वे स्वीकार करते हैं। विज्ञानवादियों अथवा योगाचारों के अनुसार जीव या प्राणी पर चढ़े हुए आवरणों की निवृत्ति से मोक्ष-लाभ होता है तथा सर्वज्ञता प्राप्त होती है। क्लेशावरण की निवृत्ति अथवा पुद्गल नैतात्म्य से मोक्ष प्राप्त होता है और ज्ञेयावरण की निवृत्ति अथवा धर्म नैरात्म्य ज्ञान से सर्वज्ञता प्राप्त होती है। जैनों के मत से जीव निसर्गतः मुक्त है, पर वासना-जन्य कर्म उसके शुद्ध स्वरूप पर आवरण डाले रहते हैं। कर्म भावरूपा पौद्गलिक या भौतिक माना जाता है। वह जीव को सर्वांश व्याप्त कर इस दुःखमय प्रपंच में डाले हुए है—यही जीव का बन्धन है। समग्र कर्मों के क्षय को मोक्ष नाम से अभिहित किया जाता है। मोक्ष प्राप्त करते ही जीव अपने नैसर्गिक शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है और उसके अनन्त चतुष्टय का सद्यः उदय हो जाता है। अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य, अनन्त श्रद्धा तथा अनन्त शान्ति ही अनन्त चतुष्टय है। कैवल्य प्राप्त कर लेने पर भी जीव इस भूतल पर निवास करता हुआ समाज के परम मंगल के सम्पादन में लगा रहता है।

न्याय दर्शन मे दुःख से अत्यन्त विमोक्ष को ही अपवर्ग कहते हैं।[1] अत्यन्त का अभिप्राय उपपात जन्म का परिहार तथा अन्य जन्म का अनुत्पादन है। वासनादि आत्म गुणों के विच्छेद से ही दुःख की आत्यन्तिकी निवृत्ति हो सकती है। मुक्त दशा में आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। तथा अखिल गुण, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, धर्म, अधर्म तथा सस्कार आदि से विरहित रहता है। इस प्रकार नैयायिक मुक्ति केवल अभावरूपा है।

न्याय की भाँति वैशेषिक दर्शन ने भी मुक्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में दुःख की अत्यन्त निवृत्ति तथा आत्म विशेष गुणोच्छेद को ही मुक्ति स्वीकार किया है। यद्यपि 'सर्व सिद्धान्त संग्रह' के अनुसार किसी समय नैयायिक भी मुक्ति को आनन्दरूपा मानते थे। मुक्ति-प्राप्ति के साधनों में भेद अवश्य हो सकता है। एक ओर जहाँ न्याय योगज ध्यान को मुक्ति में मुख्य तथा श्रवण मनन आदि को गौण मानता है वहाँ दूसरी ओर वैशेषिक निःकाम कर्म से सत्व शुद्धि, सत्व शुद्धि से तत्त्वज्ञान तथा तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान निवृत्ति रूप व्यापार के द्वारा मोक्ष मानते हैं। इसके अतिरिक्त योगाभ्यास, प्राणायाम आदि साधन भी नितान्त आवश्यक हैं।

---

१. द्वयोरेकतरस्य वा औदासीन्यमपवर्गः। सां० सू० ३।६५

सांख्य-दर्शन में प्रकृति पुरुष का परस्पर वियोग होना, एकाकी होना, अथवा पुरुष की प्रकृति से अलग स्थिति कैवल्य अथवा मोक्ष है।[1] पुरुष स्वभावतः असंग और मुक्त है परन्तु अविवेक के कारण उसका प्रकृति के साथ संयोग निष्पन्न होता है। वस्तुतः प्रकृति से सुकुमारतर अन्य कुछ है ही नही, वह इतनी लज्जाशीला है कि एक बार पुरुष के द्वारा अनुभूत हो जाने पर उसके सामने कभी उपस्थित नहीं होती।

योग में भी लगभग यही मत मान्य है। भोग, वितृष्णा तथा गुण वितृष्णा के उदय हो जाने से पुरुष को भोग्य जगत में नही आना पड़ता तथा वह गुणों के बन्धन से मुक्त हो जाता है। बुद्धि के साथ सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने पर पुरुष अपने निज के स्वरूप चित् में प्रतिष्ठित हो जाता है। कैवल्य का अर्थ पुरुष का यही एकाकीपन है। सन्तोष का अनुत्तम सुख भी दुख पक्ष में निक्षिप्त है।

पूर्वमीमांसा के अनुसार प्रपंच-सम्बन्ध-विलय ही मोक्ष है।[2] इस जगत के साथ आत्मा के सम्बन्ध-विनाश का नाम मोक्ष है। प्रपंच के बन्धन त्रय (१. भोगायतन, शरीर, २. भोग साधन इन्द्रिय तथा ३. भोग विषय पदार्थ) ने आत्मा को जगत् के कारागार में डाल रक्खा है। इस त्रिविध बन्ध के आत्यतिक विलय का नाम मोक्ष है। केवल बन्ध का विलय होता है। ससार की सत्ता उसी प्रकार विद्यमान रहती है।

गुरुमत के अनुसार आत्मज्ञानपूर्वक वैदिक कर्म के अनुष्ठान से धर्माधर्म के विनाश हो जाने पर जो देह इन्द्रियादि सम्बन्ध का आत्यंतिक उच्छेद हो जाता है वही मोक्ष है।

भाट्ट मत के अनुसार बाह्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध विलय होने पर बाह्य सुख की अनुभूति मुक्तावस्था में अवश्य नहीं होती परन्तु आत्मा के शुद्ध स्वरूप के उदय होने पर शुद्ध आनन्द का आविर्भाव अवश्यमेव होता है।

पार्थ-सारथि के अनुसार मुक्तावस्था में सुख का अत्यन्त समुच्छेद रहता है। शरीर से हीन आत्मा को प्रिय या अप्रिय हर्ष या शोक स्पर्श नही करते। आनन्द का अर्थ दुःखाभाव रूप ही ग्रहण किया गया है। कर्म मुक्ति का मुख्य कारण है, ज्ञान केवल सहकारी कारण।

मुक्ति की सबसे अधिक व्यापक धारणा वैष्णवतंत्रों तथा वेदान्तदर्शन में उपलब्ध होती है। 'पाञ्चरात्र' के अनुसार मुक्ति का नाम 'ब्रह्म भावापत्ति' है। इस दशा में जीव ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है। पुनः वह इस संसार में नहीं आता तथा उस दशा में निरतिशय आनन्द का उपभोग करता है। जिस प्रकार विभिन्न नदियों का जल सागर में पहुँचकर तद्रूप हो जाता है तथा जल में भेद दृष्टिगोचर नहीं होता, परमात्मा की प्राप्ति हो जाने पर योगियों की ऐसी ही दशा हो जाती है। उस स्थिति में जीव भगवान् के पर रूप के साथ परम व्योम (शुद्ध सृष्टि से उत्पन्न वैकुण्ठ) में आनन्द से विहार किया करता है।

रामानुजदर्शन में मुक्त आत्मा ईश्वर के समान होती है। उसकी ईश्वर के साथ एकात्मकता नहीं होती। मुक्त जीव में सर्वज्ञता, तथा सत्य संकल्पत्व अवश्य आ जाते हैं पर सर्वकर्तृत्व ईश्वर के ही हाथ में रहता है। सृष्टि की स्थिति लय आदि में जीव का तनिक भी

---

१. सांख्यदीपिका

२. प्रपंचविलयो मोक्षः। पृ० ३५७

अधिकार नहीं रहता। प्रपत्ति के वशीभूत भगवान् जीव को पूर्ण ज्ञान प्राप्त करा देते हैं। मुक्ति के लिए ईश्वर का साक्षात् अनुभव ही अन्तिम साधन है। वैकुण्ठ में भगवान् का 'किंकर' बनना ही परम मुक्ति है।

मध्व-मत में आनन्द का अस्तित्व ग्रहीत है परन्तु आनन्दानुभूति में भी (जीवों में) परस्पर तारतम्य है। कर्मक्षय उत्क्रान्ति अर्चिरादिमार्ग तथा भोग क्रमशः चार प्रकार के मोक्ष हैं तथा भोग भी चार प्रकार के हैं—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य। इसी से मध्व-मत के सम्बन्ध में किसी कवि की उक्ति 'मुक्तिर्नैज सुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधनम्' उचित ही है।

निम्बार्कदर्शन में जीव और ब्रह्म में अभेद स्वाभाविक है, भेद उपाधिजन्य है। उपाधि से निवृत्त होने पर भेद-भाव छूट जाता है और यही मुक्ति अथवा शुद्ध परमात्मरूप में स्थित है। इसी को सागररूप से एकेन तथा तरग-रूप से अनेकेन द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

भास्कराचार्य को कर्म सवलित ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति मान्य है, केवल ज्ञान द्वारा नहीं। शरीर सम्बन्ध रखते हुए भगवत्भावापत्ति के असंभव होने से शरीर छूटने के पश्चात् ही मुक्ति संभव है अतः इन्हें जीवन्मुक्त की कल्पना स्वीकार नही।

आचार्य वल्लभ ने अक्षर-ब्रह्म तथा परब्रह्म में भेद प्रदर्शित करके ज्ञान के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति तथा भक्ति के द्वारा परब्रह्म सच्चिदानन्द की प्राप्ति सभव बताई है। भक्ति भी दो प्रकार की है—१. मर्यादा भक्ति जिसमे चरण वन्दन आदि से सायुज्य मुक्ति की प्राप्ति होती है तथा २. पुष्टिमार्गीय भक्ति जिससे अभेद बोधन रूपी मुक्ति सिद्ध होती है। पुष्टिमार्ग के सेवन से भगवान् का नैसर्गिक अनुग्रह जीवो के ऊपर होता है और तब उनमे तिरोहित आनन्द के अश का पुनः प्रादुर्भाव हो जाता है। अतः मुक्त अवस्था में जीव आनन्द अंश को प्रकटित कर स्वयं सच्चिदानन्द बन जाता है और भगवान् से अभेद प्राप्त कर लेता है।

वैखानस आगम के विचार से भगवान् की माया के कारण जीव बन्धन में है और उसी की कृपा से वह मुक्त होता है अत. जीव का मुख्य कर्तव्य भगवान् विष्णु का अर्चन है। इन्होंने भी सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य चार प्रकार की मुक्तियों की कल्पना की है जिनमें सायुज्य सर्वश्रेष्ठ कही गई है।

अब तक हमने भारतीय दर्शनों की मुक्ति विषयक विभिन्न धारणाओं का संक्षेप में अवलोकन किया। तमाम दार्शनिक सिद्धान्तो के मूल में एक विशेष भावना निहित है और वह है आत्मा या जीव के अमरत्व की भावना। सभी धार्मिक विश्वासों के मूल में यही भावना विद्यमान है। यदि इस भावना को अत्यन्त प्रारंभिक अवस्था में देखें तो हमें इस संसार से अधिक स्थायी कल्पना स्वर्ग की प्राप्त होती है। परन्तु वह स्वर्ग भी कालापेक्षित था तथा 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति' के अनुसार स्वर्गसुख भी नाशवान् था। शरीरपात भी वास्तविक मुक्ति नहीं बन सका (चार्वाक) और स्वर्ग की धारणा और उसकी प्राप्ति भी मनुष्य का अंतिम लक्ष्य नहीं हो सका। यहाँ पर यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि

आत्मा की नित्यता की कल्पना से ही धर्मों को शक्ति मिलती है जिसके कारण सामान्य जन भी आचार के परिपालन की ओर प्रवृत्त होता है और बहुत ही कष्टसाध्य प्रयत्नों के द्वारा भी पाशविक वृत्तियों से बचने का प्रयत्न करता है।

ईश्वर तथा आत्मा इन दो मूल तत्त्वों में मानव ने सर्वप्रथम किसका नित्यस्वरूप में अनुभव करके व्यक्त किया यह कहना अति कठिन है परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ आत्मा का ही अधिक महत्त्व रहा है। उसी की दुःखादि से निवृत्ति तथा आनन्द की प्राप्ति मानव का चरम लक्ष्य रहा है। यह बात दूसरी है कि आत्मा विषयक धारणाएँ निरंतर बदलती रहीं और उसी के अनुकूल मुक्ति की धारणा में भी बराबर परिवर्तन होता रहा। परमात्मा, जगत् तथा आत्मा के स्वरूप की त्रिपुटी ही मुक्ति के स्वरूप की स्थिरकर्त्री रही है।

उपनिषदों में हमने देखा है कि दार्शनिक नियम के विरुद्ध अति प्रश्न करना वर्जित है। भगवान् बुद्ध ने भी आत्मा-परमात्मा विषयक गम्भीर गुत्थियों में उलझने का निषेध किया है। परन्तु शायद मानव-मस्तिष्क का विकास ही उसी प्रकार हुआ है कि वह बिना तत्त्वचिन्तन किये नहीं रह सकता। भगवान् बुद्ध के केवल आचार सम्बन्धी आदेश उसे संतुष्ट नही रख सके और उन उपदेशों के संदर्भ में कहे हुए तत्त्व सम्बन्धी स्फुट उद्गारो से ही उनके अनुयायियों ने तत्त्वचिन्तन का विशाल प्रासाद खड़ा किया। हिन्दी-सन्तों ने भी कोई दर्शन का इतिहास लिखने के लिए अपने उद्गार नहीं प्रकट किये हैं। उन्होंने अपने हृदय के उल्लास को पदों में व्यक्त किया, अपना आत्मनिवेदन अपने प्रभु के सम्मुख प्रस्तुत किया अथवा किसी प्रकार की चेतावनी स्वयं को व साथियों को दी। तुलसी, सूर जैसे भक्त महा-काव्यों की रचना के माध्यम से इन्हीं भावों की अभिव्यक्ति करते रहे। संतो के इन्हीं उद्-गारों से उनके दार्शनिक तात्त्विक विचारों की खोज व सकलन करके उसे दर्शन का रूप देना आज के विचारकों का काम रह गया है। हिन्दी-सत जनहित में रत, मुमुक्षु लोग थे। उन्होने अपने भावों का दार्शनिक विकास क्रम में सिद्धान्त रूप से प्रतिपादन नहीं किया है। ईश्वर, जीव, संसार, ज्ञान, मुक्ति सभी विषयों में हमें उनके स्फुट उद्गारों में ही उनके संभव सिद्धान्तों को समझने की सामग्री प्राप्त होती है।

परिभाषाओं के प्रकरण में हम देख चुके हैं कि रहस्यवादी सत्य या परमात्मा के साथ एकाकार होने तथा उसका प्रत्यक्ष अनुभव करने अथवा उसकी संभावना में विश्वास करने वाला होता है। सत्य परमात्मा के साथ उसकी इसी तन्मयता को वह अंतिम अवस्था अथवा मोक्ष समझता है। उसके बाह्य लक्षण तथा प्रतीक क्या है उनका भी इसी सन्दर्भ में विवेचन होना उचित है। इस प्रकार हिन्दी-संतों ने उस अनुभव और प्रत्यक्ष का वर्णन तथा तज्जनित भावों का जैसा वर्णन किया है हम देखेंगे।

भगवान् के प्रेम रंग में रंगकर साधक हर्षातिरेक से विह्वल हो जाता है। तन, मन की सुधि भूलकर वह एक रंग में—केवल परमात्मा के रंग में रंग जाता है। वह देखता भी उसी को है, सुनता भी उसी को है तथा सर्वत्र उसे वही वह प्रतीत होता है। साधक शून्य में सुरति जमाकर जिस समय मन में अलख जगाता है, ताल, मृदंग, नौबत आदि वाद्ययंत्रों के

रव को ध्वरित करने वाला अनहद नाद झंकृत होता है, उस अनन्त रूप के इड़ा-पिंगला चंवर डुलाती हैं, सुषुम्ना सेवा करती है, रवि-शशि दीप-रूप में उपस्थित होते हैं, सत्य और सुकृत गश्त लगाते हैं, सातों सागर उसके स्नान के लिए प्रस्तुत रहते हैं और चारों ओर मोतियों की वर्षा होती है। परमात्मा के साक्षात्कार की इस स्थिति को कोई विरला संत ही प्राप्त कर पाता है जिसके लिए सतगुरु अपनी कृपा से ज्ञान मार्ग प्रशस्त कर देते हैं। मत्स्येन्द्रनाथ ने इस दर्शन का आनन्द लाभ किया है और प्रति शब्द में उन्हें उसी अपार शक्ति के दर्शन होते हैं। परमात्मा से अन्य वे कुछ देखते ही नहीं।[1]

वह परमात्मा जिसके एक रोम में ही सहस्रों सूर्यों की शोभा विराजती है तथा पाँचों तत्त्व और त्रिगुणात्मिका माया उसी में व्याप्त है उसके लिए आरती, अग्नि होम की व्यवस्था कैसी ? स्वर्ण के अनेक दीपों के प्रकाश में खोजने पर भी वह नहीं मिलता। संत रैदास ने उस अनन्त ज्योति का साक्षात्कार किया है जिसके प्रति रोम के बराबर भी उतना प्रकाश नहीं है जितना कि समस्त विश्व को प्रकाशित किये हुए है। इस असीम ज्योतिःपुञ्ज को देखकर भक्त परम आश्चर्यान्वित हो रहा है।[2]

गंगा-यमुना-रूपी इडा-पिंगला के मध्य मे, सहज शून्य घाट में कबीर ने भगवान् के उस मंदिर की रचना की है जिसकी प्रतीक्षा में बड़े-बड़े योगीजन रहते हैं।[3] कबीर के मानस की अज्ञान-निशा समाप्त हो गई है, जागृति और चेतना का सूचक प्रभात कालीन संगीत अनहद नाद ध्वनित हो रहा है, निर्मल ज्ञानरवि का उदय हो गया है और प्रेम-सरोज खिल उठा है।[4] जिसको वह वन-वन में ढूंढ़ता फिरा, उसका सम्मुख होकर प्रत्यक्ष दर्शन हुआ। अपने कलुषों की मलिनतावश वह परमोज्ज्वल परमात्मा के चरण-स्पर्श करने से सकुचा रहा

---

१. शून्य शिखर में सुरत लगाय देखो निज में अलख बसाय बस्ती।
ताल मृदंग पव पँवली बजत है हरदम पर नौबत झड़ती।
इड़ा पिंगला चँवर डुलावै सुषमनिया सेवा करती।
चन्द्र सूरज दोउ दिवटि जलैं सत्य सुकृत दोउ फिरे गस्ती।
सप्त सागर धनी करे असनान जहां मोतियन की वर्षा झड़ती।
बिरला संत कोइ पहुंच गया वहां निगुरे का मिले नहीं गिनती।
नाथ मछिन्दर दास तेरो गोरख गरीब मेरी कौन गिनती।
शब्द शब्द में आप बिराजे तुझबिन दूजी देखों नहीं सुरती। पृ० ७६

२. आरती कहां लौ जोवै सेवक दास अचम्भो होवै।
बावन कंचन दीप धरावै जड़ बैरागी नजर न आवै।
कोटि भानु जाकी सोभा रोमै कहा आरती अगनी होमै।
पांच तत्व तिरगुनी माया जो देखै सो सकल समाया।
कह रैदास देखा हम माहीं सकल जोति रोम सम नाहीं। रैदास बानी, पृ० ४०

३. गंग जमुन उर अंतरै सहज सुंनि ल्यो घाट।
तहाँ कबीरै मठ रच्या मुनिजन जोवैं बाट।। १८२ क० ग्रं०, पृ० १८

४. कबीर कंवल प्रकासिया ऊग्या निर्मल सूर।
निसि अँधियारी मिटि गई बाजे अनहद तूर।। १९५ क० ग्रं०, पृ० १९

है कि उसकी मलिनता से छूकर कहीं वह उज्ज्वल भी मलिन न हो जाय।[1] पाप और पुण्य से रहित उस अगम्य और अगोचर परमात्मा की दिव्य ज्योति को भक्त नमस्कार करता है।[2]

अनहद नाद हो रहा है, अमृत का निर्झर झर रहा है, ब्रह्म-ज्ञान उत्पन्न हो गया है और प्रेम और ध्यान से परमात्मा की अविगत गति साधक के हृदय में प्रकट हो गई है।[3] परमात्मा को खोजते-खोजते वह स्वयं खो गया है। सागर में बिन्दु के विलय हो जाने के सदृश व्यष्टि आत्मा समष्टिरूप परमात्मा में विलीन हो गई है।[4] यही नहीं, एक और आश्चर्य है। सागररूप अनन्त परमात्मा बिन्दुरूप आत्मा में समा गया है।[5] कुछ भी हो, आत्मा परमात्मा एकरूप हो गये हैं। कबीर ने जो प्रत्यक्ष किया है उसका वर्णन करने मे वे सक्षम नहीं हैं और यदि किसी प्रकार किन्हीं अटपटे शब्दों में उसे कहने में वे समर्थ भी हों तो अपने अज्ञान के कारण कोई उस पर विश्वास नहीं करता। अतः भगवान् जैसे हैं वैसे ही हैं। वह वाणी के परे हैं। परम हर्षित होकर उनका गुणगान करने में ही भक्त के हृदय की अपार पुलक प्रकट हो जाती है।[6] अतीव आनन्ददायक साक्षात्कार की वह स्थिति ऐसी है जिसमें बिना पगों के ही ताल दे-देकर भक्त नृत्य करता है, बिना नयनों के अनुपम छवि का दर्शन करता है तथा बिना श्रवणों के अनहद की पावन झंकार सुनता है।[7]

दर्शन के दीवाने, बावले, अलमस्त फकीर कबीर के हृदय में प्रिय विराजमान है और हर श्वास-प्रश्वास मे वे उसी के प्रेमरस का प्याला पीते हैं। प्रेम का नशा उन्हें चढ़ गया है और सुधि-बुधि भूल कर वे मदमस्त हाथी के समान हर्षोन्मत्त हो रहे हैं। मोह के बन्धन कट जाने से वे नि.शङ्क हो गये हैं। उनके दृष्टिपथ में राजा, रंक, छोटा, बड़ा कोई नहीं आता, एकमात्र वही प्रिय दिखलाई पड़ता है जिसके प्रेम का प्याला उन्होंने पिया है। उस साधक का खुली धरती ही आसन है जिसके ऊपर आकाश का वितान तना हुआ है। खाक या विभूति ही उसका वस्त्र है। इस प्रकार प्रेमरस से मस्त होकर वह अपने असली निवास

---

१. जा कारणि मैं ढूंढ़ता सनमुख मिलिया आइ।
धन मैली पिव ऊजला लागि न सकौं पाइ।। १५८ — क० ग्रं०, पृ० १५

२. अगम अगोचर गमि नहीं तहां जगमगै जोति।
जहाँ कबीरा बंदिगी (तहां) पाप पुन्य नहि छोति।।१२६ — क० ग्रं०, पृ० १२

३. अनहद बाजै नीझर झरै उपजै ब्रह्म गियान।
अवगति अंतरि प्रगटै लागै प्रेम धियान।। १६६ — क० ग्रं०, पृ० १६

४. हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराइ।
बूंद समानी समद मैं सो कत हेरी जाइ।। १७१ — क० ग्रं०, पृ० १७

५. हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराइ।
समंद समाना बूंद में सो कत हेर्या जाइ।। १७२ — क० ग्रं, पृ० १७

६. दीठा है सो कस कहूं कह्या न को पतियाइ।
हरि जैसा है तैसा रहौ, तूं हरिषि हरिषि गुण गाइ।। १७४ — क० ग्रं०, पृ० १७

७. बिनु पगु निरत करो तहां बिन कर दै दै तारि।
बिनु नैनन छवि देखना श्रवण बिना झनकारि।। — सं० बा० सं० भा० १, पृ० ११५

की ओर गमन कर रहा है, जो काल की गति से भी परे है।[1]

इस प्रेमरस का महत्त्व कबीर ने मदिरा का रूपक प्रस्तुत करके व्यक्त किया है। इस मदिरा के पान से उनका मन मतवाला हो गया है और तीनों लोक उनके लिए प्रकाशमय हो गये हैं। शून्य मंडल में अनहद की ध्वनि हो रही है और वहाँ कबीर का मन नृत्य कर रहा है। पूर्णत्व की प्राप्ति से भव-बन्धन से मुक्ति हो गई है। शारीरिक ताप शान्त हो गया है तथा ज्योति में ज्योति समा गई है। इस भाँति आत्मा परमात्मा का मिलाप हो गया है।[2]

कोई कभी-कभी ही इस मदिरा का पान करता होगा परन्तु कबीर आठों याम प्रेममद में छके रहते हैं। इस नशे की विशेषता यह है कि इसमें चूर होकर वे असत्य का त्याग कर सत्य ही ग्रहण करते हैं और इस प्रकार निर्भय होकर जन्म और मरण के भ्रम से मुक्त हो गये हैं। मेघ गर्जन करते हैं, सदा पावस ऋतु ही छाई रहती है, अनहद का नाद होता है, गगन मंडल के भवन में जहाँ अदृश्य चंदोवा तना हुआ है, जहाँ उदय और अंत का नाम भी नहीं है, रात्रि और दिवस का जहाँ अस्तित्व नहीं, ऐसा वह प्रेम का प्रकाश-सागर परमात्मा का निवासस्थान है।[3] परमात्मा के निवासस्थान की प्राप्ति कैसे संभव है?

---

१. दरस दिवाना बावला अलमस्त फकीरा।
हिरदे में महबूब है हरदम का प्याला।
आठ पहर झूमत रहे जस मयगल हाथी
बन्धन काट मोह का बैठा है निरसंका।
वाके नजर न आवता क्या राजा क्या रंका।
धरती तो आसन किया तम्बू असमाना।
चोला पहिरा खाक का रहा पाक समाना।
कह कबीर निज घर चलो जहाँ काल न जाहीं॥

२. अवधू मेरा मनमतिवारा।
उन्मनि चढ़्या मगन रस पीवै त्रिभुवन भया उजियारा।
गुड़करि ग्यान ध्यान करि महुवा भव भाठी करि मारा।
सुखमन नारी सहज समानो पीवै पीवन हारा।
दोइ पुड़ जोड़ि चिगाई भाठी चुया महा रस भारी।
काम क्रोध दोइ किया बलीता छूटि गई संसारी।
सुंनि मंडल में मंदला बाजै तहाँ मेरा मन नाचै।
गुरु प्रसादि अमृत फल पाया सहज सुषमनां काछै
पूरा मिल्या तबै सुख उपज्यौ तन की तपति बुझानी।
कहै कबीर भव बंधन छूटै जोतिहि जोति समानी॥ ७२ क० ग्र० पृ० ११०, ह० प्र० क०, पृ० २६४

३. आठहू पहर मतवाल लागी रहै आठहू पहर की छाक पीवै।
आठहू पहर मस्तान माता रहै ब्रह्म की देह में भक्त जीवै।
सांच ही कहत है सांच ही गहत है कांच कूं त्यागकर सांच लागा।
कहै कबीर यूं भक्त निर्भय हुआ जन्म औ मरन का भर्म भागा।
गगन गरजै तहाँ सदा पावस झरै होत झनकार नित बजत तूरा।
गगन के भवन में गैब का चंदना उदय औ अन्त का भाव नाहीं
दिवस औ रैन तँह नेक नहि पाइये प्रेम प्रकास के सिंध मांही

शून्य में आसन लगाकर अगम (रहस्यातीत) रस का प्याला पीकर योग की मूल युक्ति प्राप्त करके बिना मार्ग (संप्रदायविहित उपासना मार्ग) के ही केवल जगतनाथ की सहज दया से उस शोकरहित और अगम्य नगर बेगमपुर में प्रवेश पाया जाता है। बिना नेत्रों के, ज्ञानचक्षु से भक्त को उसके दर्शन हुए जो सब प्रकार से अगम और अगाध है। उस दुःख रहित अगम्य स्थान में किसी को दुःख होता ही नहीं और यदि कोई दुखी वहाँ पहुँच जाता है तो वह भी निःशोक हो जाता है। उस स्थान में पहुँचकर अत्यन्त सहज सुलभ प्राणी भी अगम्य होकर सर्वसाधारण की पहुँच से बाहर हो जाता है। गुणों को वहाँ स्थान नहीं है। उस अद्भुत के संकेत से ही जीव उसका गुणवर्णन करता है। कबीर का मुख और वाणी ब्रह्मानन्द के स्वाद को कहने में असमर्थ है। जो उस स्वाद का अनुभव करता है वही आनन्दित होता है। गूंगे के भाव-संकेतों को गूगा ही समझता है। ऐसे ही ब्रह्मानन्द को अभिव्यक्त करने वाले अटपटे शब्दों को वही समझ सकता है जिसने उस रस का आस्वादन किया है।[1]

लोग प्रश्न करते हैं कि वह अगम अगोचर निर्गुण ब्रह्म कैसा है। जो दृष्टिगोचर होता है, वह उसका स्वरूप नहीं है और जो उसका यथार्थ स्वरूप है वह वाणी के द्वारा व्यक्त नही हो पाता। गूगे के गुड़ की भाँति वह संकेतों के द्वारा ही व्यक्त किया जा सकता है। न वह दृष्टि में आता है, न पकड़ में आता है परन्तु वह इनसे पृथक् भी नही है।[2] उसकी प्राप्ति के लिए दूर नहीं जाना है। वह निकट ही सब में व्याप्त है परन्तु निकट होते हुए भी जिस समय उसका प्रत्यक्ष होता है वह मुहूर्त धन्य है, वह समय अत्यन्त सौभाग्य-सम्पन्न

---

१. अधर आसन किया अगम प्याला पिया
जोग की मूल जग जुगुति पाई।
पंथ बिन जाय चल सहर बेगम्मपुरे
दया जगदेव की सहज आई।
ध्यान धर देखिया नैन बिन पेखिया
अगम अगाध सब कहत गाई।
सहर बेगमपुरा गम्म को ना लहै
होय बेगम्म जो गम्म पावै।
गुना की गम्म ना अजब बिसराम है।
सैन जो लखै सोइ सैन गावै। — क० ग्र० क०, पृ० २४७
मुक्खबानी तिको स्वाद कैसे कहै।
स्वाद पावै सोई सुक्ख मानै।
कहैं कबीर या सैन गूंगा तई।
होय गूंगा जोई सैन जानै। — क० ग्र० क०, पृ० २४८

२. बाबा अगम अगोचर कैसा तातैं कहि समुझाओं ऐसा।
जो दीसै सो तो है नाहीं है सो कहा न जाई।
सैना बैना कहि समुझाओं गूंगे का गुड़ भाई।
दृष्टि न दीसै मुष्टि न आवै बिनसै नाहिं नियारा। — क० ग्र० क०, पृ० ३१६

होता है। हर शरीर, हर घट प्रभु की ज्योति से प्रकाशित है। यह अमर, अक्षय, विश्व प्रकाशक ब्रह्म युग-युग से ज्योतिर्मान है। उसकी करोड़ों चन्द्रों की सी आभा से दशों दिशाएँ दीप्तिमान हैं। ऐसे निर्भय राज्य तथा सर्वदा नित्य सुख में केशव का वास है।[१] वह कर, पग, कर्ण और नेत्रों के बिना जगत का अवलोकन करता है, बिना मुख के भोग करता है, चरणों के बिना चलता है और बिना जिह्वा के गुणगान करता है। एक ही स्थान पर स्थिर रहते हुए भी सम्पूर्ण दिशाओं में भ्रमण कर आता है। शब्द के बिना ही अनहद का नाद होता है और वहाँ गोपाल का नृत्य होता है। कबीर के गोपाल से तात्पर्य भगवान् कृष्ण का नहीं है। गोविन्द, केशव, हरि, राम आदि कबीर के निर्गुण ब्रह्म के पर्याय हैं उसी प्रकार गोपाल भी उनके ब्रह्म का ही द्योतक है। ऐसे सुअवसर को कबीर भला हाथ से कैसे जाने देते ? उन्होंने उस अनुपम रूप का प्रत्यक्ष कर ही तो लिया।[२]

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की लीला पिण्ड में देखकर—असीम को सीमा में देखकर—कबीर से विश्व का सब भ्रम दूर हो गया। बाहर, भीतर, सर्वत्र आकाश की भाँति व्यापक जो ब्रह्म है उसका दर्शन पाकर भक्त आनन्द-विह्वल हो उठा। ज्ञान के थाल में प्रेमदीप को संजोकर शून्य के आसन पर अगम्य का डेरा बनाकर जब भक्त को भगवान् का साक्षात्कार होता है, उस समय सब प्रकार का लौकिक संदेह तथा जन्म-मरण का चक्र मिट जाता है।[३] मन से भ्रम के दूर हो जाने पर परमात्मा का सहज रूप दृष्टिगत होने लगता है। आत्मा

---

१. धनि सो घरी धनि बार जब प्रभु पाइये।
प्रगट प्रकास हजूर दूर नहि जाइये।
नहिं जाइ दूर हजूर साहिब फूलि सब तन में रह्यो।
अमर अछय सदा जुगन जुग जक्त दीपक उगि रह्यो
निरखो दसव दिसि सर्व सोभा कोटि चन्द्र सुहावनं।
सदा निरभय राज नित सुख सोई केस्रो ध्यावनं ॥ सं० वा० सं० भा० २, पृ० १७८

२. बिन हाथनि पांइन बिन कांननि बिन लोचन जग सूझै।
बिन मुख खाइ चरन बिन चालै बिन जिभ्या गुण गावै।
आछै रहै ठौर नहि छांड़ै, दह दिसिही फिरि आवै।
बिनहिं सबद अनाहद बाजै, तहाँ निरतत है गोपाला।
दास कबीर औसर भल देख्या जानैगा जन कोई ॥ १५६ क० ग्र०, पृ० १४०

३. खेल ब्रह्मण्ड का पिंडमें देखिया,
जगत की भरमना दूरि भागी।
बाहरा भीतरा एक आकासवत,
धरिया में अधर भरपूर लागी।
देख दीदार मस्तान मैं होय रहा,
सकल भरपूर है नूर तेरा।
ज्ञान का थाल और प्रेम दीपक अहै,
अधर आसन किया अगम डेरा।
कहै कबीर तंह भर्म भासै नहीं,
जनम और मरन का मिटा फेरा। (२.६१) ह० प्र० क०, पृ० २५०

और परमात्मा यह दो पृथक् नहीं हैं। परमात्मा कलारहित होने पर भी सब में विद्यमान है। तन मन, मन तन, सब एक समान हैं—ऐसा कबीर का अपना अनुभव है। उनकी आत्मलीन, अखंडित आत्मा परमात्मा में समाहित हो गई है।[1] जिस परमात्मा की आरती में सूर्य, चन्द्र आदि दीपक निरंतर जलते हैं, निरति वीणा के तार में सुरति[2] का राग झंकृत होता है, शून्य में दिन-रात नौबत बजती है, प्रिय ऐसे शून्य में विराजमान है। उस महान् की क्षण (पल) भर की आरती नहीं होती। सारा संसार दिन-रात उसकी आरती उतारता रहता है। अद्भुत झिलमिल ज्योति से युक्त निशान बजता है तथा विचित्र घण्टे की ध्वनि होती है।[3] उस विचित्र की सेवा में सब कुछ विचित्र तथा रहस्यात्मक उपस्थित है। उस परम पुरुष अनन्त देव की आरती कबीर अपने ढंग से करते हैं। पंच इंद्रियों के पत्र-पुष्प द्वारा उस एक परमात्मा का पूजन करके उन्होंने तन, मन, शीश सब अर्पण कर दिया है और ऐसी आत्मलीन स्थिति में परम दिव्य ज्योति का साक्षात्कार किया है। ध्यान ही दीपक है, अनहद का शब्द ही घटा है और जगत् प्रकाशक का तेज सर्वत्र फैला हुआ है।[4]

---

१. मन का भ्रम मन ही थैं भागा
सहज रूप हरि खेलण लागा।
मैं तै तैं मैं ए द्वै नाही।
आपै अकल सकल घट माहीं।
जब थैं इन मन उनमन जाना।
तब रूप न रेख तहां ले बाना।
तन मन मन तन एक समाना।
इन अनभै मांहैं मन माना।
आतमलीन अखंडित रामा।
कहै कबीर हरि मांहि समाना। २०३ — क० ग्रं०, पृ० १५८

२. कबीर के पदों में सुरत निरत पारिभाषिक हैं। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के मतानुसार निरति बाहरी प्रवृत्ति की निवृत्ति को और सुरति अन्तर्मुखी वृत्ति को कहते हैं। आचार्य क्षिति मोहन सेन ने सुरति का अर्थ प्रेम तथा निरति का अर्थ वैराग्य किया है।

३. ग्रह चन्द्र तपन जोत बरत है।
सुरत राग निरत तार बाजै।
नौबतिया घुरत है रैन दिन सुन्न में।
कहैं कबीर पिउ गगन गाजै।
छण और पलक की आरती कौन सी
रैन दिन आरती बिस्व गावै।
घुरत निस्सान तहँ गैब की झालरा
गैबकी घंटका नाद आवै ॥१७ — ह० प्र० क०, पृ० २४३

४. पाती पंच पुहुप करि पूजा देव निरंजन और न दूजा।
तन मन सीस समरपन कीन्हा, प्रगट जोति तहां आतम लीना।
दीपक ग्यान सबद धुनि घंटा, परम पुरिख तहां देव अनंता।
परम प्रकास सकल उजियारा, कहै कबीर मैं दास तुम्हारा ॥ ४०३ — क० ग्रं०, पृ० २२२

इस प्रकार राम से प्रीति लगाकर भक्त चरण-पक्षों से नृत्य करता है और जिह्वा के बिना ही उस परमात्मा का गुणगान करता है। एक ऐसा स्थान है कि जहाँ पृथ्वी से वर्षा होती है और आकाश भीगता रहता है। कबीर-पंथियों के हठयोग के अनुसार मूलाधार के रस से सहस्रार सिक्त होता है। जहाँ सूर्य और चन्द्र दोनों परस्पर मिल गये हैं। सूर्य-मूलाधार पद्म, चन्द्र ब्रह्माण्ड : और हंस (जीवात्मा) केलि करता है। मानव शरीर एक वृक्ष है जिसमें कुण्डलिनी बह रही जो कनक कलश सहस्रार में गिरती है और पंच सुग्गे (पंच प्राण) उस वृक्ष पर बैठे हैं और इनके कारण सम्पूर्ण वन प्रान्त प्रफुल्लित हो उठा है। इस प्रकार जीव को जहाँ से वह बिछुड़ा था वहीं जाकर लगना है—शून्य में जाकर बैठना है। कबीर बटोही ने मुक्ति का वह मार्ग देख लिया है।[1]

हर्ष, उल्लास और मद से भरी हुई फाल्गुन की मधु ऋतु आ गई। अब तो प्रिय मिलन के लिए कबीर को बड़ी ही उत्सुकता है। अपने प्रिय के असीम सौंदर्य का वर्णन वे कहां तक करें, वे स्वयं ही उनके उस रूप में समा गये हैं। उस रंग में विभोर होकर कबीर अपने तन-मन की सुधि भूल गये हैं। यह रग फाग का रंग नहीं है, यह है प्रेमरस का रंग जिसका मर्म एवं रहस्य अकथनीय है और जिसे कोई विरला ही जान पाता है।[2] संध्या का अन्धकार घना होता आ रहा है। पश्चिम का द्वार खोल कर प्रियतम की प्रतीक्षा करो, प्रेम के विस्तृत गगन में डूब जाओ। भक्त का तन और मन रोमांच और औत्सुक्य से भर गया है। चित्तरूपी कमल दल का रसपान करो। शरीर में ही रस तरगों में तरंगित हो—मन ही में उस साक्षात्कार-जन्य परम आनन्द का अनुभव करो। शोभा का सागर जो यह महल है—अन्तःकरण है, मिलन के सूचक शंख, घंटा, शहनाई आदि के संगीत से गुंजित हो रहा है। इसी घट में उस अमर प्रिय स्वामी का दर्शन करो। हठयोग में पश्चिम का अर्थ है पीठ की ओर सुषुम्ना मार्ग। सुषुम्ना का मार्ग खोल दो और शून्य में समाधि-जन्य प्रेम का अनुभव करो। इस समाधि काल मे शंख, घण्टा आदि की-सी ध्वनि सुनाई देती है फिर वह शांत हो जाती है और तब साधक परम ज्योति की अनुपम शोभा देखता है और इस प्रकार

---

१. इहि बिधि राम स्यूं ल्यौ लाइ।
चरन पावै निरति करि जिभ्या बिना गुन गाइ।
जहाँ धरनि बरसै गगन भीजै चन्द्र सूरज मेल।
दोई मिलि तहां जुड़न लागे करत हंसा केलि।
एक बिरष भीतरि नदी चाली कनक कलस समाइ।
पंच सुवटा आइ बैठे उदै भई बनराइ।
जहां बिछट्यो तहां लाग्यो गगन बैठौ जाइ।
जन कबीर बटाउवा जिनि मारग लियौ चाइ। — २८० क० ग्र०, पृ० १८३। ह० प्र० क०, पृ० ३३८

२. रितु फागुन की नियरानी कोई पिया से मिलावे
पिया को रूप कहां लग बरनूं रूपहि माँहि समानी।
जो रंग रंगे सकल छवि छाके तन मन सभी भुलानी।
यों मति जाने यहि रे फाग है यह कुछ अकह कहानी।
कहै कबीर सुनो भाई साधो यह गत बिरले जानीं ॥(२.९८) — ह० प्र० क०, पृ० २८७

योग साधना के द्वारा परमात्मा को घट में ही प्राप्त करता है।[1]

मूल्यवान हीरे को पाकर मनुष्य बड़े यत्नपूर्वक सहेज कर उसे रखता है। बार-बार उसे नहीं निकालता कि कहीं खो न जाय। तुला पर चढ़ने के समय जो हल्का हो उसके पूरे हो जाने पर उसके तौलने की आवश्यकता नहीं रह जाती। सुरतरूपी मधुबाला इतनी मतवाली हुई कि बिना तोले ही सुरा पी गई। मानसरोवर में पहुंच जाने पर हंस ताल-तलैयों में विहार क्यों करें? उपर्युक्त सभी दृष्टान्तों की भाँति परमात्मा सब के अन्तर में है उसे बाहर क्यों ढूंढ़ा जाय। और जब परमात्मा के प्रेम में मन मस्त हो जाय तो कहने को शेष ही क्या रह जाय? प्रेम में मदमस्त कबीर को अपने अन्तःकरण में ही सहज रूप से तिल की ही ओट में परमात्मा मिल गये।[2]

भगवान् के प्रेम में विभोर कबीर को सांसारिक कर्मों में फंसे रहना सह्य नहीं, राम रसायन पीकर वे मतवाले हो गये हैं, उनका अपने व्यावसायिक कार्य कपड़ा बुनने में तनिक भी मन नहीं लग रहा है। लोग जानते हैं कि कूचे से सूत साफ करने की क्रिया में वे निपुण हैं परन्तु उनका अपने कार्य के प्रति बेसुधपन देखकर यह ज्ञात होता है कि वे तुरिया(कूचा) भी बेच कर खा गये हैं; उस क्रिया का साधन ही पचा गये हैं; कौन बुने यह कपड़ा। उनके प्रेम का रस पाई के ऊपर फैल गया है। हर्षातिरेक में वे इतने भावमग्न हो गये हैं कि उन्हें ताना-बना सब कुछ आनन्दोल्लास में नाचता हुआ प्रतीत होता है। उनकी पुरानी कूंची भी नाच रही है और यही क्या करघे पर बैठे हुए स्वयं कबीर नाच रहे हैं। उनके ताने को चूहा काट गया है; वह कपड़ा बुनने के योग्य रहा ही नहीं, कौन सुने भला इसे।[3]

---

१. तिंविर सांझ का गहिरा आवै छावै प्रेम मन तन में।
पच्छिम दिस की खिड़की खोलहु डूबहु प्रेम गगन में।
चेत कँवल दल रस पीयो रे लहर लेहु या तन में।
संख घंट सहनाई बाजै सोभा सिन्ध महल में।
कहै कबीर सुनो भाई साधो अमर साहब लख घट में॥ (२-४०) — इ० प्र० क०, पृ० २५२

२. मन मस्त हुआ तब क्यों बोलै।
हीरा पायो गांठ गठियायो बार बार वा को क्यों खोलै।
हल्की थी तब चढ़ी तराजू पूरी भई तब क्यों तोलै।
सुरत कलारी भई मतवारी मदवा पी गई बिन तोलै।
हंसा पाये मान सरोवर ताल तलैया क्यों डोलै।
तेरा साहिब है घट माहीं बाहर नैना क्यों खोलै।
कहै कबीर सुनो भाई साधो साहिब मिल गये तिल ओले॥ — सं० बा० सं० भा० २, पृ०१८

३. को बीनै प्रेम लागौ री माई को बीनै।
राम रसाइण माते री माई को बीनै।
पाई पाई तूं पतिहाई पाई की तुरियां बेचि खाई री माई को बीनै।
ऐसै पाई पर बिथुराई, त्यूं रस आनि बनायो री, माई को बीनै।
नाचै ताना नाचै बाना नाचै कूच पुराना री माई को बीनै।
करगहि बैठि कबीरा नाचै चूहै काट्या ताना री माई को बीनै। १०२ — इ० प्र० क०, पृ० २८६, क० ग्र०, पृ० ६५

कबीर को इतने से ही संतोष नहीं है; वे अपने मन को और अधिक मस्त होकर नाचने का आदेश देते हैं। नृत्य में योग देता हुआ प्रेम का राग बज उठे जिसका शब्द रात-दिन सबके कर्ण-कुहरों में पड़ता रहे। यह नृत्य केवल कबीर का नृत्य नहीं है। प्रभु के प्रेम में विभोर यह वह विश्वव्यापी महा नृत्य है जिसमें राहु, केतु आदि नवग्रह नाच रहे हैं, पर्वत सागर और धरती नाच रहे हैं और आल्हादित अथवा विषादित होकर किसी न किसी रूप में समस्त लोक नाच रहे हैं। कबीर का मन भी इस महानृत्य में सम्मिलित होकर सहस्र कलाओं से नाच-नाचकर अपने सिरजनहार परमात्मा को रिझा रहा है।[1]

परमात्मा के वासस्थान सत्यलोक में नित्य नवीन रस झरता है। ध्यानपूर्वक समाधि लगाने पर वह झनकार सुनाई पड़ती है जो बिना किसी वाद्ययंत्र के ध्वनित होती है। वहाँ बिना सरोवर के कमल खिलते हैं जिन पर चढ़कर हंस क्रीड़ा करते हैं। बिना चन्द्र के ही वहाँ ज्योत्स्ना फैली रहती है। दसवें द्वार पर समाधि लगाने से उस अलख पुरुष के दर्शन होते हैं जिसका योगी लोग ध्यान करते हैं। वहाँ कराल काल का प्रवेश नहीं होता और काम, क्रोध, मद, लोभादि भस्मीभूत हो जाते हैं। युग-युग से चली आती हुई अतृप्त तृष्णा यहाँ शान्त हो जाती है, कर्मों का भ्रमजाल-समस्त कलुष तथा व्याधियाँ टल जाती हैं। इस आनन्द-लोक में आये हुए जीव की मृत्यु नहीं होती और वह अमर हो जाता है।[2] अमृत रस के टपकने से सरोवर भरते हैं और अनहद नाद होता है। ऐसा विचित्र है वह देश जहाँ सरिता उमडकर सागर को सुखा देती है। भक्ति की सरिता उमड़कर भाव-सागर के तापों को नष्ट कर देती है। उस लोक में रवि, शशि और तारागण नहीं है और न वहाँ दिवस और रात्रि ही होती है। सितार, बांसुरी और ररकार[3] का मृदु रव होता है। करोड़ों चपलाओं की झिलमिलाहट यहाँ झलकती रहती है और दिन-रात आनन्दवारि की वर्षा होती है।

---

१. नाचु रे मन मत्त होय।
प्रेम को राग बजाय रैन दिन शब्द सुनै सब कोइ।
राहु केतु नवग्रह नाचै जन्म जन्म आनन्द होइ।
गिरी समुंदर धरती नाचै लोक नाचै हंस रोइ।
सहस कला कर मन मेरौ नाचै रीझै सिरजनहारा ॥ (२-१०३)   ह० प्र० क०, पृ० २५७

२. रस-गगन गुफा में अजर झरै।
बिन बाजा झनकार उठै जह समुझि परै जब ध्यान धरै।
बिना ताल जँह कँवल फुलाने तेहि चढ़ि हंसा केलि करै।
बिन चंदा उजियारी दरसै जँह तँह हंसा नजरि परै।
दसवें द्वारे तारी लागी अलख पुरुष जाको ध्यान धरै।
काल कराल निकट नहिं आवै काम क्रोध मद लोभ जरै।
जुगन जुगन की तृषा बुझानी कर्म भर्म अघ व्याधि टरै।
कहै कबीर सुनो भाइ साधो अमर होय कबहूँ न मरै। ११०   ह० प्र० क०, पृ० २६५

३. कबीर सम्प्रदाय में तीन ध्वनियां मानी जाती हैं—ओहं सोहं (ॐ) और ररंकार। ररंकार का अर्थ राम है।

इस सत्यलोक के स्वामी को अपने-अपने अनुमान एवं भावना के अनुसार कोई शिव कहता है, कोई विष्णु, कोई सुरेश और कोई शारदा परन्तु यथार्थ रहस्य क्या है यह कोई विरला ही जानता है। वास्तव में दस अवतार तो एक ही तत्त्व के हैं। कबीर के मतानुसार इस रहस्य से परिचित हुआ जीव पुनः यम की कठोर यातना में नहीं पड़ता।[1]

शून्य के अलौकिक मंदिर में अद्भुत पताका लगी है, अगणित ताराओं के मणि-मुक्ताओं से जटित चन्द्र-ज्योत्स्ना का वितान तना हुआ है, रवि-शशि की दीप-ज्योति द्युतिमान है। उस अनुपम लोक की शोभा देखकर भक्त का मन थिरक उठता है। जो व्यक्ति इस अपूर्व दृश्य का दर्शन करता है वह जीवन पर्यन्त मतवाला बना घूमता है। कबीर ने इस दृश्य का प्रत्यक्ष किया था इसी कारण वे जीवन पर्यन्त बावले अलमस्त फकीर बने रहे।[2] उस आनन्द-लोक में बिना किसी व्यवधान के निरन्तर मुरली बजा करती है और प्रेम का राग झंकृत होता है। प्रेम की सीमा को पार कर लेने पर इस सत्यलोक की सीमा का आरम्भ होता है जहाँ अमित और असीम सुगंधि विकीर्ण हुआ करती है। करोड़ों सूर्यों की राग-रंजित प्रभा जगमगाया करती है और सत्यध्वनि की अनुपम बीन बजती रहती है।[3] सीमा से परे है वह लोक जिसका स्वामी अनाम और अनिर्वचनीय पुरुष कहलाता है। उसका यथार्थ स्वरूप वही जान सकता है जो उस तक पहुँच सका है। कहने-सुनने से वह सर्वथा परे है[4]; न तो वह मुख से कहा जा सकता है न कागज पर अंकित

---

१. चुवत अमीरस भरत ताल जहँ, शब्द उठै असमानी हो।
सरिता उमड़ सिंधु को सोखै, नहिं कछु जात बखानी हो।
चाँद सुरज तारागण नहिं वहँ नहि वहँ रैन बिहानी हो।
बाजे बजें सितार बांसुरी, ररंकार मृदु बानी हो।
कोटि झिलमिली जंह वंह झलकै, बिन जल बरसत पानी हो।
शिव अज बिस्नु सुरेस सारदा, निज निज मति अनुमानी हो।
दस अवतार एक तत राजैं, अस्तुति सहज सयानी हो।
कहैं कबीर भेद की बातैं विरला कोइ पहिचानी हो।
कर पहिचानि फेर नहिं आवै जम जुलमी की खानी हो ॥१११ — ह० प्र० क०, पृ० २६६

२. गगन मठ गैब निसान गड़े।
चन्द्रहार चंदवा जहं टांगे मुक्ता मानिक मढ़े।
महिमा तासु देख मन थिरकत, रवि ससि जोत जरे।
कहै कबीर पियै जोई जन माता फिरत मरे ॥५४ (१.६७) — ह० प्र० क०, पृ० २६३

३. मुरली बजत अखंड सदाये तहां प्रेम झनकारा है।
प्रेम हद तजी जब भाई, सत्त लोक की हद पुनि आई।
उठत सुगंध महा अधिकाई जाको वार न पारा है।
कोटि भान रागको रूपा बीन सत धुन बजै अनूपा ॥५० (१.१२६) — ह० प्र० क०, पृ० २६५

४. अगद लोक वहा है भाई
पुरुष अनामी अकह कहाई।
जो पहुंचे जानेंगे वाही कहन सुनन ते न्यारा है ॥७६ (३.४८) — ह० प्र० क०, पृ० २७७

किया जा सकता है। जिस प्रकार गूंगा गुड़ को खाकर उसके स्वाद का अनुभव करता है परन्तु उसको वाणी के अभाव में व्यक्त नहीं कर पाता। उसी प्रकार ब्रह्मानन्द का अनुभव किया जाता है परन्तु वाणी के द्वारा वह व्यक्त नहीं हो पाता।[1]

आज का दिन परम सौभाग्य का दिन है जब कि कबीर के प्रियतम का आगमन हुआ है। घर आंगन सभी अत्यन्त सुहावने लग रहे हैं। मनमोहन की अपूर्व छवि को देखकर सभी पुलकित हो रहे हैं। भक्त कबीर प्रभु का चरण प्रक्षालन करते हैं, अपलक होकर उनकी शोभा निहारते हैं तथा तन मन धन सब अर्पित कर देते हैं। ऐसा है आज का दिन जिसने प्रियतम के दर्शन कराकर परम आनन्द का संचार कर दिया।[2] कबीर की तो गति ही न्यारी है। वे सदैव सहज समाधि की स्थिति में ही रहते हैं, उनका चलना ही परिक्रमा है, जो कुछ करते हैं वही प्रभु-सेवा है, शयन ही प्रणाम बन गया है, बोलना ही नाम-जप हो गया है और खाने-पीने ने ही पूजा का स्थान ले लिया है। गृह तथा निर्जन को वे एक समान देखते हैं तथा द्वित्व का भाव ही मिट गया है। आँख मूंदने और कान रूँधने के झंझट को उन्होंने नमस्कार कर लिया तथा मुद्रा और आसन की भी आवश्यकता नहीं रह गई। खुले नेत्रों से ही उन्होंने भगवान् के मधुर मादक रूप को देखा, खुले कानों से ही अनहद नाद सुना तथा उठते-बैठते सब समय समाधि का आनन्द प्राप्त किया।[3]

---

१. कहैं कबीर मुख कहा न जाई।
ना कागद पर अंक चढ़ाई।
मानो गूंगे सम गुड़ खाई। कैसे बचन उचारा हो ।।७६ (३.४८) ह० प्र० क०, पृ० २७७

२. आज दिन के मैं जाऊँ बलिहारी।
पीतम साहेब आये मेरे पहुना, घर आँगन लगै सुहौना।
सब प्यास लगे मंगल गायन भये मगन लखि छवि मन भावन।
चरन पखारूँ बदन निहारूँ तन मन धन सब साईं पर वारूँ।
जा दिन पाये पिया धन सोईं, होत अनन्द परम सुख होई।
सुरत लगी सतनाम की आसा कहैं कबीर दासन के दासा।८८ (३.११८) ह० प्र० क०, पृ० २८३

३. सन्तो, सहज समाधि भली।
साईं ते मिलन भयो जा दिन तें, सुरत न अन्त चली ।।
आंख न मूंदूँ कान न रूंधूँ, काया कष्ट न धारूँ।
खुले नैन मैं हँस हँस देखूँ, सुन्दर रूप निहारूँ।
कहूँ सो नाम सुनूँ सो सुमिरन, जो कुछ करूँ सो पूजा।
गिरह उद्यान एक सम देखूँ, भाव मिटाऊँ दूजा ।।
जंह जंह जाऊँ सोई परिकरमा, जो कछु करूँ सो सेवा।
जब सोऊँ तब करूँ दण्डवत, पूजूँ और न देवा ।।
शब्द निरन्तर मनुआ राता, मलिन बचन का त्यागी।
ऊठत बैठत कबहुँ न बिसरै, ऐसी तारी लागी।
कहैं कबीर यह उन्मुनि रहनी, सो परगट कर गाई।
सुख दुख के इक परे परम सुख, तेहिमें रहा समाई ।। ४१ (१.७६) ह० प्र० क०, पृ० २६२

कबीर के उस पूर्ण पुरुष का घर सब से न्यारा है। वहाँ सुख-दुख, सत्य-असत्य, पाप-पुण्य का प्रसार नहीं है। वहाँ न दिन-रात है, न रवि-शशि है, बिना ज्योति के ही सतत प्रकाश रहता है; न ज्ञान-ध्यान है, न जप-तप है और न वेद-पुराण की वाणी ही है, करनी धरनी रहनी गहनी इन सब का वहाँ अभाव है। न घर में, न अधर में, न बाहर, न भीतर पिण्ड ब्रह्माण्ड कुछ नहीं है। पंचतत्व त्रिगुण साखी शब्द भी वहाँ नहीं है। बीज, मूल, बेल, फूल तथा वृक्ष के बिना फल शोभित होते हैं। श्वास-संयमन के लिए वहाँ 'ओहं' 'सोहं' भी नहीं है। न वह निर्गुण है, न अविगत है और नहीं सूक्ष्म या स्थूल है। न अक्षर है न क्षर, यह सब तो जगत के मूल हैं। जहाँ वह परम पुरुष है वहाँ कुछ नहीं है। कबीर ने स्वयं इस तथ्य को जान लिया है। उनके निर्धारित संकेत को जो कोई जान लेता है उसको मुक्ति-पद प्राप्त होता है।[1] साधना के मार्ग में अग्रसर होने वाले साधकों के लिए प्रेम-मद तो अत्यन्त महिमा-मंडित है ही, प्रेम-मद का खुमार भी उनके लिए कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। हिन्दी सन्त कवियों में प्रेम के खुमार की भावना सूफियों से आई है। सूफियों में

साधो, सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप जा दिन से जागी, दिन दिन अधिक चली ॥
जहं जहं डोलौं सो परिकरमा, जो कछु करौं सो सेवा।
जब सोवौं तब करौं दंडवत, पूजौं और न देवा ॥
कहौं तो नाम सुनौं सो सुमिरन, खाँव पियौं सो पूजा।
गिरह उजाड़ एक सम लेखौं, भाव मिठावौं दूजा ॥
आँख न मूंदौं कान न रूंधौं, तनिक कष्ट नहिं धारौं।
खुले नैन पहिचानौं हँसि हँसि, सुन्दर रूप निहारौं ॥
सबद निरन्तर से मन लागा, मलिन वासना त्यागी।
ऊठत बैठत कबहुं न छूटै, ऐसी तारी लागी ॥
कह कबीर यह उनमुनि रहनो, सो परगट करि गाई।
दुख-सुख से कोइ परे परम पद, तेहि पद रहा समाई — कबीर, सं० बा० सं० भा० २, पृ० १५

1. सखि वह घर सबसे न्यारा, जहँ पूरन पुरुष हमारा।
जहाँ न सुख दुख साँच झूठ नहिं पाप न पुन्न पसारा।
नहिं दिन रैन चन्द नहिं सूरज बिना ज्योति उंजियारा।
नहिं तहँ ज्ञान ध्यान नहिं जप तप वेद कितेब न बानी।
करनी धरनी रहनी गहनी ये सब उहाँ हेरानी।
घर नहिं अधर न बाहर भीतर पिन्ड ब्रह्मन्ड कछु नाहीं।
पांच तत्व गुन तीन नहीं तहँ साखो शब्द न ताहीं।
मूल न फूल बेल नहि बीजा बिना वृच्छ फल सोहै।
ओहं सोहं अरध उरध नहिं स्वासा लेखन को है।
नहिं निरगुन नहिं सरगुन भाई नहिं सूक्षम अस्थूल।
नहिं अच्छर नहिं अविगत भाई ये सब जग के मूल।
जहां पुरुष तहवां कछु नाहीं कह कबीर हम जाना।
हमरी सैन लखै जो कोई पावै पद निबाना ॥२३६ — कु० ग्र० क०, पृ० ३५५

प्रेम के नशे की अपेक्षा नशे के खुमार का महत्त्व अधिक है। संत-कवयित्री मीरा को राम के प्रेम का खुमार चढ़ा है। रस की हलकी फुहारें पड़ती हैं और भक्तिमती का शरीर उससे अभिषिक्त होता है। चारों ओर ज्ञान की दामिनी दमकती है तथा मेघ गुरु गंभीर घोष करते हैं। ऐसे समय में गुरु का बताया हुआ रहस्य काम देता है और उसके द्वारा भ्रम के कपाट खुल जाते हैं। सर्वत्र आत्मा ही दृष्टिगोचर होती है और सब में व्याप्त होती हुई भी वह सबसे पृथक् है। ज्ञान-दीप के प्रकाश में वह प्रिय-मिलन के हेतु अगम्य अटारी पर चढ़ती है। साक्षात्कार होता है और अमृत-तत्त्व-रूप प्रियतम के ऊपर वह न्योछावर होती है।[1] जीवन थोड़ा रह गया है। मीरा अपने प्रिय से होली खेलने को उद्यत हैं। उसकी होली रंग और पिचकारी से खेली जाने वाली सामान्य सांसारिक होली नहीं है। यह वह अलौकिक होली है जिसमें बिना वाद्ययंत्रों के ही अनहद का संगीत होता है, स्वर राग के बिना ही छत्तीसों रागों का गायन होता है तथा सब कुछ रोम-रोम अनुराग से रंजित हो जाता है। शील-संतोष के केसरिया रंग तथा प्रेम की पिचकारी से मीरा अपने स्वामी को राग-रंजित करती हैं। उसके प्रेम फाग का ऐसा विशद तथा व्यापक प्रभाव है जो पृथ्वी से लेकर आकाश तक को प्रभावित करता है। उड़ते हुए गुलाल से गगन मण्डल लाल हो जाता है और सर्वत्र अपार रग बरसता है। लोक-लज्जा को त्यागकर प्रिय के स्वागतार्थ भक्त-हृदय के कपाट खुल जाते हैं। होली खेलकर प्रेम के रंग में स्नात होकर साधक और प्रिय का मिलन होता है। इस प्रकार गिरधर नागर की दासी मीरा कृतकृत्य हो जाती है।[2] संत-कवियो की वाणी मे अनहद की झनकार हमें निरन्तर सुनाई पडती है। यह अनहद नाद परमात्मा का वह शब्द-प्रत्यक्ष है जिसको सुनने के लिए श्रवणेन्द्रिय की अपेक्षा नही होती। शब्द-प्रत्यक्ष की भाँति ही मीरा के 'उड़त गुलाल लाल भयो अंबर बरसत रंग अपार रे' को परमात्मा के अचाक्षुष रग का बोधक मानना अनुचित न होगा।

---

१. लगी मोहि राम खुमारी हो।
रिमझिम बरसै मेहडा भींजै तन सारी हो।
चहुँ दिसि चमकै दामिनी गरजै घन भारी हो।
सतगुरु भेद बताइया खोली भरम किवारी हो।
सब घट दीसै आतमा सबही सूं न्यारी हो।
दीपक जोऊँ ज्ञान का चढ़ूं अगम अटारी हो।
मीरा दासी राम की इमरत बलिहारी हो॥ मीरा

२. फागुन के दिना चारि रे होरी खेल मना रे।
बिन करताल पखावज बाजै अनहद की झंकार रे।
बिन सुर राग छत्तीसू गावैं रोम रोम रंग सार रे।
सील संतोष की केसर घोली प्रेम प्रीत पिचकार रे
उड़त गुलाल लाल भयो अंबर बरसत रंग अपार रे।
घट के सब पट खोल दिये हैं लोक लाज सब डार रे।
होरी खेल पीव घर आये सोइ प्यारी प्रिय प्यार रे।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरन कंवल बलिहार रे। मी० प०, पृ० १५१

मीरा ने परमात्मा के साक्षात्कार का जो वर्णन किया है प्रायः उसी प्रकार का वर्णन धरमदास की वाणी से भी उद्भूत हुआ है। शरीररूपी महल में अमृतवर्षा की झड़ी लगती है और साधक अतीव आनन्दित होकर उस सुधावारि से स्नान करता है। क्षण में बादलों का गर्जन सुनाई पड़ता है और क्षण में विद्युत चमकती है। इस प्रकार अपूर्व सुषमा की जो तरंग उद्वेलित होती है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। सतगुरु की कृपा के प्रसाद से ज्ञान-कपाट खुल गये हैं, अज्ञानान्धकार मिट गया है तथा प्रभु का प्रत्यक्ष हो गया है। हर्ष-विह्वल होकर धरमदास विनती करते हुए सत्य गुरु परमात्मा के चरणों में लीन हो रहे हैं।[1]

रामचरितमानस में माता कौशल्या को भगवान् राम के उस अद्भुत अखण्ड विश्व-रूप का साक्षात्कार होता है, जिसके रोम-रोम में एक नहीं वरन् सहस्रों ब्रह्माण्ड गुम्फित हैं। उस विराट रूप में उन्हें अगणित सूर्य-चन्द्र, शिव-चतुरानन, पर्वत, सरिता-सिन्धु पृथ्वी और कानन के प्रत्यक्ष दर्शन हुए। इन स्थूल (Concrete) वस्तुओं का प्रत्यक्ष हुआ। इसके अतिरिक्त जीव को मनचाहा नाच नचाने वाली माया तथा उससे मुक्ति दिलाने वाली भक्ति भी उसी स्वरूप के अन्दर दृष्टिगोचर हुई। इतना ही नहीं जिसके विषय में किसी ने कभी कुछ सुना ही नहीं उस रहस्यात्मक तत्त्व के दर्शन भी उसी अनन्त अद्भुत समष्टि रूप में उन्हें हुए। उस विचित्र रहस्यमय स्वरूप का साक्षात्कार करके कौशल्या का तन पुलकित हो उठा, आनन्दाधिक्य के कारण मुख से शब्द निःसृत न हो सके। मूक की भाँति नयन मूँद कर भगवान् के चरणों में मस्तक झुका दिया।[2] यह पुलक और हर्ष-विह्वलता केवल माता कौशल्या की ही नहीं है वह है तुलसीदास के द्वारा आस्वादित परमात्म प्रत्यक्ष जन्य आनन्द जिसका उन्होंने अप्रत्यक्षरूप से माता कौशल्या के मिस उल्लेख किया है। भगवान् के ऐसे अनुपम रूप का वर्णन करने में वेद, शेष, शुकदेव, शकर और स्वय वाणी की अधिष्ठात्री देवी शारदा भी समर्थ नहीं हैं फिर अकिंचन तुलसी की क्या बिसात। यह स्वरूप मन वचन से

---

१. झरि लागै महलिया गगन घहराय।

खन गरजै खन बिजुरी चमकै लहर उठै सोभा बरनि न जाय।
सुन्न महल से अमृत बरसै प्रेम आनन्दह्वै साध नहाय।
खुली किवरिया मिटी अंधेरिया धन सतगुर जिन दिये लखाय।
धरमदास बिनवै कर जोरी सतगुर चरन में रहत समाय॥ सं० बा० सं० भा० २, पृ० ४२

२. देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखण्ड।

रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मण्ड॥ २०१
अगनित रबि ससि सिव चतुरानन। बहु गिरि सरित सिन्धु महि कानन।
काल कर्म गुन ग्यान सुभाऊ। सोउ देखा जो सुना न काऊ।१
देखी माया सब बिधि गाढ़ी। अति सभीत जोरे कर ठाढ़ी।
देखा जीव नचावै जाही। देखी भगति जो छोरइ ताही।२
तन पुलकित मुख बचन न आवा।
नयन मूँदि चरननि सिर नावा। तु० रा०, बा० का० २०१.३

परे इन्द्रियातीत परम रहस्यमय है ।[1]

दादू ने परमात्मा को अपने शरीर में ही प्राप्त कर लिया है । परमात्मा सहज रूप से जीव के शरीर में व्याप्त है । इस रहस्य का बोध उन्हें सतगुरु के द्वारा हुआ जिसकी खोज में वे यत्रतत्र भटकते रहे । उसने स्वयं अपना दर्शन दिया । दादू के हृदय-मंदिर के कपाट खुल गये । भौतिक भय और भ्रम-भेद सब दूर हो गया तथा निर्विकार चित्त को सत्यरूप का प्रत्यक्ष हुआ । पिण्ड से परे जहाँ जीव जाता है उसी परमतत्त्व में सहज गति से वे लीन हो गये । जो सदैव निश्चल रहता है, कभी चलता नहीं, उसी परमात्मा के दर्शन समस्त जगत में उन्हें हुए । आदि अन्त से रहित जिस विश्राम स्थल को उन्होंने पा लिया है उसमें वे पूर्णतया मग्न हैं । अब उनका मन भटकता नहीं फिरता । परमात्मा के अपूर्व प्रेम रंग में रँग कर वे उससे अभिन्न हो गये हैं ।[2] सामान्यतया साधक किसी सिद्धि प्राप्ति के लिए स्वयं प्रयत्न करता है अथवा यो कहे कि सिद्ध सिद्धि प्राप्ति में अपने कर्तृत्व का अनुभव करता है परन्तु दादू के भावों की विशेषता यह है कि वे परमात्मा के प्रत्यक्ष का कारण उसको ही मानते हैं । परमात्मा स्वयं ही उनको अपना दर्शन देता है । परमात्मा का साक्षात्कार करके दादू योगियों तथा प्रत्यक्षदर्शियों द्वारा प्राप्त उस अवस्था को पहुँच गये हैं जहाँ कि वे शान्त शुद्ध एकरस परमात्मा में ही आत्मलीन हो गये हैं ।

होली-गायन का रूपक प्रस्तुत करके दरिया साहब ने ब्रह्मानन्द के अनुभव को व्यक्त किया है । संतमण्डली फाग गा रही है । विविध प्रकार के वाद्ययंत्र बजते हैं, अनहद की ध्वनि गूंजती है । सत-समाज के बीच हो रहे इस प्रेम-फाग के कौतुक से आकाश तक समाच्छादित है । गन्धर्वगण भी पुलकित होकर षट राग और छत्तीसों रागिनियों का गान करते हैं । भ्रम का अबीर उड़ता है और सर्वत्र प्रेमरग झर-झर पड़ता है । परमात्मा के प्रत्यक्ष की इस सुन्दर सुभग, शोभनीय स्थिति मे दरिया साहब का चित्त रमा हुआ है ।[3] कबीर और

---

१. देखो रघुपति छबि अतुलित अति ।
बरनत रूप पार नहिं पावत निगम सेष सुक संकर भारति ।
तुलसिदास केहि विधि बखानि कहै यह मन बचन अगोचर मूरति ।। — तु० ग्र०, पृ० ३४७

२. माई रे घर ही में घर पाया ।
सहजि समाय रह्या ता माहीं सतगुर खोज बताया ।
ता घर काज सबै फिरि आया आपै आप लखाया ।
खोलि कपाट महल के दीन्हे थिर स्थान दिखाया ।
भय औ भेद भरम सब भागा साच सोई मन लाया ।
प्यंड परे जहां जिव जावै तामै सहज समाया ।
निहचल सदा चलै नहि कबहूं देख्या सब में सोई ।
ताही सूं मेरा मन लागा और न दूजा कोई ।
आदि अन्त सोई धर पाया इब मन अनत न जाई ।
दादू एक रंगे रंग लागा तामे रह्या समाई ।। — सं० बा० सं० भा० २, पृ० ६८

३. होरी सद सन्त समाज सन्तन गाइया ।
बाजा उमँग झाल झनकारा अनहद धुन घहराइया ।

मीरा की भाँति दरिया ने भी उपर्युक्त उद्गार में 'अनहद धुन घहराइया' के द्वारा परमात्मा के शब्द-प्रत्यक्ष तथा 'झरि-झरि परत सुरंग रंग' के द्वारा रंग-प्रत्यक्ष का उल्लेख किया है।

यारी भी अपने प्रिय परमात्मा के साथ होली खेलते हैं। प्रिय की अपूर्व छवि को निरख कर वे बावले हो गये हैं। अब तो वे पतिव्रता नारी के सदृश केवल अपने प्रिय के दरश और स्पर्श के आनन्द में विभोर हैं। उनकी मानसिक स्थिति उस स्तर पर पहुँच गई है जहाँ सोलह कलाओं से युक्त सूर्य और चन्द्र को वे एक ही स्थान में स्थित देखते हैं। हठयोगिक साधना के अनुसार इड़ा-पिंगला ही चन्द्र-सूर्य हैं जो सुषुम्ना में एक स्थान में स्थित होती हैं। जबसे उन्होंने उस अविनाशी पुरुष का दर्शन किया है वे सम्मोहित हो गये हैं। उनकी जिह्वा दिन-रात राम रटा करती है और नेत्र उसी अलौकिक रूप की ओर लगे रहते हैं। कोई कुछ भी कहे, उन्हें इसकी परवाह नहीं। मीरा की भाँति उन्होंने भी लोक-मर्यादा का त्याग कर हरि-भक्ति को ग्रहण कर लिया है।[1] यारी ने परमात्मा के रूप-प्रत्यक्ष का वर्णन किया है जिसके अनुभव से साधक तल्लीन अवस्था को प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था में पहुँच जाने पर उसे लोकापवाद की भी चिन्ता नहीं रह जाती। साक्षात्कार की इस स्थिति में परमात्मा की झिलमिलाती आभा सर्वत्र बरसती प्रतीत होती है जिससे विश्व सर्वदा आलोकित रहता है। रुनझुन के मृदु रव से अनहद बजता है और नभ में भ्रमरों का गुंजन होता है। मोतियों की वर्षा होती है जिनसे प्रकाश-ज्योति निरन्तर प्रस्फुटित होती है। ऐसे अद्भुत आनन्दमय देश में जहाँ निर्विकार का वास है, यारी ने आश्रय ग्रहण किया है।[2]

साक्षात्कार की स्थिति बड़ी ही रहस्यमय तथा स्वर्गिक सौन्दर्य से पूर्ण होती है। चारों ओर से काली घटाएँ घिर जाती हैं, अनहद का घोर आकाशव्यापी नाद होता है,

---

झरि झरि परत सुरंग रंग तंह कौतुक नभ में छाइया।
राग रुबाब अघोर तान तँह झिन-झिन जंतर लाइया।
छवो राग छत्तीस रागिनो गंधर्व सुर सब गाइया।
पांच पचीस भवन में नाचहि भर्म अबीर उड़ाइया।
कह दरिया चित चंदन चर्चित सुन्दर सुभग सुहाइया। सं० बा० सं० भा० २, पृ० १४८

१. हौं तो खेलौं पिया संग होरी।
दरस परस पतिबरता पिय की छबि निरखत भई बौरी
सोलह कला संपूरण देखौं रबि ससि भे इक ठौरी।
जब ते दृष्टि परी अबिनासी लागो रूप ठगौरी।
रसना रटत रहत निस बासर नैन लगो यही ठौरी।
कह यारी भक्ती करूं हरि की कोई कहै सो कहोरो॥ सं० बा० सं० भा० २, पृ०१६४

२. झिलमिल झिलमिल बरषै नूरा नूर जहूर सदा भरपूरा।
रुनझुन रुनझुन अनहद बाजै। भंवर गुंजार गगन चढ़ि गाजै।
रिमझिम रिमझिम बरसै मोती भयो प्रकाश निरंतर जोती।
निरमल निरमल निरमल नामा। कह यारी तंह लिये बिश्रामा। सं० बा० सं० भा० २, पृ० १४५

दामिनी के प्रकाश में साधक त्रिवेणी (इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना) के संगम पर स्नान करके साक्षात्कार के लिए तत्पर होता है।[1] संध्या में सूर्योदय तथा विहान में चन्द्रोदय होता है। गंगा-यमुना के संगम पर अनहद का नाद होता है, 'सोऽहम्' का अजपा जाप निरन्तर चलता है—ऐसी अलौकिक अद्भुत स्थिति में प्रवेश करके बुल्ला अनन्त ज्योति में लीन हो गये हैं।[2] उस अनन्त ज्योतिमय प्रभु का स्वरूप कैसा है ? बुल्ला ने गुरु के प्रसाद से उस अनन्त रूप का साक्षात्कार किया है और उसी अचाक्षुष रूप-प्रत्यक्ष को अभिव्यक्त करते हुए उन्होंने प्रभु के रूप की व्यंजना की है। वह प्रभु निराधार का आधार, उज्ज्वल बिन्दु, कलामय, अनन्त-रूप, सौन्दर्यवान तथा वर्णन से परे है। बिना मुख और करों के वेणु तथा वीणा का स्वर गुंजित होता है, नेत्रों के बिना ही दर्शन होता है। उसकी गति अविगत तथा अगम्य है। उस परमात्मा के न जाति-पाँति है, न नेम-धर्म है परन्तु वह समस्त भ्रमों को दूर भगाता है। उसकी स्थिति ही त्रिगुणातीत है।[3]

सतगुरु प्रदत्त तत्त्व के हिंडोले में झूलकर गुलाब आवागमन के चक्र से मुक्त हो गये हैं। उनके तत्त्व के हिंडोले में न डोरी है न आधार स्तम्भ। आठों प्रहर ध्वनि झंकृत हुआ करती है। यह झनकार ही अनहद नाद है जो साधक के कर्ण-कुहरों में ध्वनित होती रहती है। परमात्मा से मिलन हो जाने से गुलाल को ससार के झूलने से निस्तार मिल गया है और जीवन-मृत्यु से मुक्त हो कर वे शाश्वत ब्रह्मानन्द में लीन हो गये हैं।[4]

---

१. स्याम घटा घन घेरि चहुं दिसि आइया।
अनहद बाजै घोर जो गगन सुनाइया।
दामिनि दमकि ओ चमकि त्रिवेणी न्हाइया।
बुल्ला हृदे बिचारि तहाँ मन लाइया। — बुल्ला, सं० वा० सं० भा० २, पृ० १७१

२. सामहि उगवै सूर भोर ससि जागई।
गंग जमुन के संगम अनहद बाजई।
अजपा जापहि जाप सोहं डोरि लागई।
बुल्ला तामे पैठि जोति में गाजई। — बुल्ला, सं० वा० सं० भा०२, पृ० १७२

३. प्रभु निराधार आधार उज्जल बिंदु सकल बिराजई।
अनन्त रूप सरूप तेरो मोपै बरनि न जावई।
बिना कर मुख बेनु बाजै बीन श्रवणन गुंजई।
बिना नैनन दरस देखो अगति गतिहि जनावई।
वाकै जाति पाति न नेम धर्म भर्म सकल गँवावई।
आपु आप बिचारि देखो ऐसो है वह रावई।
जीति पांच पचीस, तीनो चौथे जा ठहरावई।
तब दास बुल्ला लिए गद जब गुरू दीन्ह लखावई। — बुल्ला, सं० वा० सं० भा० २, पृष्ठ १७३

४. तत्त हिंडोलवा सतगुर नावल तहवां मनुवा झुलत हमार।
बिन डोरी बिन खंभे पौढ़ल आठ पहर झनकार।
गावहु सखिया हिंडोलवा हो अनुभौ मंगलाचार।
अब नहि अवना जवना हो प्रेम पदारथ भइल निनार।
छुटल जगत कर झुलना हो दास गुलाल मिलो है यार। — गुलाल, सं० वा० सं० भा० २, पृ० २०७

दूलनदास ने भी ब्रह्म के उस अलौकिक स्वरूप का प्रत्यक्ष किया है जिसके फल-स्वरूप उनका यह उद्‌गार है— ऐ मन ! अपने निवास-स्थान के लिए—अपने महल के लिए प्रस्थान कर। यह महल ही परमात्म-प्रत्यक्ष की वह सहज स्थिति है जहाँ जीव पूर्ण तथा स्थायी विश्राम ग्रहण करता है। उस अलौकिक देश में अवर्णनीय सुषमा का सदैव प्रसार रहता है। ज्योत्स्ना बिछी रहती है, तारे चमकते हैं। सुखदायक पलंग और बिछावन सहज उपलब्ध हैं जिसमें शयन करके जीव परम शान्ति को प्राप्त करता है। जीव को वहाँ सुख-शयन करने के लिए आत्मानन्द की पूर्ण विरामदायिनी स्थिति की प्राप्ति के लिए कोई विघ्न-बाधा नहीं है। इस स्थिति को क्या सालोक्य मुक्ति नहीं कह सकते ? 'सुखमन पलगा' से तात्पर्य हठयौगिक क्रिया में सुषुम्ना के ब्रह्मरंध्र में स्थित हो कर सहज समाधि की अवस्था से है। उस शाश्वत आनन्द को त्याग कर इस क्षणभंगुर स्वप्नवत् संसार में आने की जीव इच्छा क्यों करें।[1]

गरीबदास, चकोर और चन्द्र—साधक और साध्य अथवा प्रेमी और प्रेम दोनों को ही शरीर में स्थित मानते हैं। उनको अपने प्रेय की—साध्य की प्राप्ति हो गई है। एक आनन्द-मयी स्थिति दृष्टिगोचर होती है। चपला चमकती है, मेघ गरजते हैं, पावस के बीच दादुर और मोर प्रमुदित चित्त से शोर करते हैं। यह रव ही अनहद का शब्द है। समस्त विकारों को जीतने के लिए—उनको अनुशासन में रखकर सुनियंत्रित रखने के लिए गुरु गश्त लगाता है ज्ञान के ढिंढोरे के साथ। साधक ने उस शब्द को पहचान लिया है। त्रिकुटी महल में उसने अपना आसन लगा लिया है जो काल की गति से परे है। अब उसको किसी की चिन्ता नहीं। प्रभु का साक्षात्कार हो गया है।[2]

एका जनार्दनी ने भगवत्-साक्षात्कार के लिए गुरु को माध्यम स्वीकार किया है। गुरु की कृपा से उनको भगवान् के दर्शन हुए। साक्षात्कार के आनन्द में वे इतने विभोर हो गये हैं कि कबीर की भाँति उन्हें जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति सभी अवस्थाओं में सर्वत्र राम के दर्शन होते हैं। प्रत्यक्ष अनुभव हो जाने पर जो कुछ भी उनके दृष्टिपथ में आता है सब राम अथवा राम के सदृश ही प्रतीत होता है। तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष अनुभव हो जाने पर

---

१. चलो चढ़ो मन यार महल अपने।
चौक चांदनी तारे झलकैं बरनत बनत न जात गने।
हीरा रतन जड़ाव जड़े जंह मोतिन कोटि कितान बने।
सुखमन पलंगा सहज बिछौना सुख सोवो को करै मने।
दूलनदास के साईं जगजीवन को आवै यह जग सुपने। दूलनदास, सं० बा० सं० भा० २, पृष्ठ १६१

२. घट ही में चन्द चकोरा साधो घट ही में चँन्द चकोरा।
दामिनि दमकै घनहर गरजै बोलै दादुर मोरा।
सतगुरु गस्ती गस्त फिरावै फिरता ज्ञान ढिंढोरा।
अदली राज अदल बादशाही पाँच पचीसो चोरा।
चीन्हो सबद सिध घर कीजै होना गारत गोरा।
त्रिकुटी महल में आसन मारो जंह न चलै जम जोरा।
दास गरीब भक्त को कीजो हुआ जात है मोरा। गरीबदास, सं० बा० सं० भा० २, पृ० २००

साधक इतना भाव-विभोर एवं तन्मय हो जाता है कि परमात्मा से भिन्न उसके अतिरिक्त कुछ देखता नहीं। इसी अन्तर्हित प्रवृत्ति के प्रकाशन को हम रहस्यवाद कहते हैं जिसमें आत्मा और परमात्मा में भेद नहीं रह जाता तथा परमात्मा और ससार अभिन्न हो जाते हैं।[1]

एका जनार्दनी की ही भाँति चरनदास भी साक्षात्कार के आनन्द से विमत्त हो गये हैं। जब से उन्होंने अनहद का गुरु गभीर शब्द सुना है, उनकी इन्द्रियाँ शिथिल हो गई हैं, मन का 'अहं' भाव नष्ट हो गया है तथा समस्त आशाएँ दग्ध हो गई हैं। सुरति के मद में लीन होने से शरीर शिथिल हो गया है, नेत्र घूमते हैं तथा रोम-रोम आनन्द से पुलकित हो गया है'। अतस्तल के कण-कण में अनहद के शब्द ने प्रवेश करके उनको मतवाला बना दिया है। कर्म-भ्रम के बन्धन खुल गये हैं, द्विधा का अत हो गया है। 'अहं' विस्मृत हुआ फिर जगत भी विस्मृत हो गया। अब भला पंच विकारों का प्रवेश उनमें कैसे हो सकता है। लोक, भोग आदि किसी की भी सुधि नहीं रही, सब ज्ञान-ध्यान भूल गया। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि साक्षात्कार की इस आह्लादकारिणी स्थिति में लीन हुए हैं। यह स्थिति बड़े भाग्य से प्राप्त होती है।[2]

परमात्मा का साक्षात्कार हो जाने पर एक ओर तो साधक का अह भाव, उसकी समस्त आशाएँ, मनोविकार, कर्मजन्य भ्रमजाल तथा द्वन्द्वात्मक मनोवृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं दूसरी ओर भाव विभोरता तथा अनन्यता के कारण शरीर तथा मन उल्लास से भर जाता है, आत्म और लोक दोनों ही विस्मृत हो जाते है। यही है सायुज्य मुक्ति किंवा साक्षात्कार अथवा तल्लय की अवस्था जो हिन्दी-सन्त-कवियों की साध्य एवं सिद्धि रही।

हिन्दी-सन्त-कवियों में हम देखते है कि गुरु द्वारा निर्देशित मार्ग पर चलकर अपनी प्रबल भक्ति-भावना के कारण उन्होने परमात्मा का आशिक तथा पूर्ण साक्षात्कार किया।

---

१. गुरु कृपाञ्जन पायो मेरे भाई।
राम बिना कछु जानत नाही।
अन्दर राम बाहर राम जहँ देखे तहं राम ही राम।
जागत राम सोवत राम सपनो में हू देखूँ आतमराम।
एका जनार्दनी अनुभव नीका जहां देखे वहाँ राम सरीखा।

२. जब से अनहद घोर सुनी।
इन्द्री थकित गलित मन हुवा आसा सकल भुनी।
घूमत नैन सिथिल भई काया अमल जु सुरत सनी।
रोम रोम आनन्द उपजि करि आलस सहज मनी।
मतवारे ज्यों सबद समाये अन्तर भीज कनी।
करम भरम के बन्धन छूटे दुविधा विपति हनी
आपा बिसरि जगत कू बिसरो कित रही पांच जनी
लोग भोग सुधि रही न कोई भूले ज्ञान गुनी।
हो तहँ लीन चरन ही दासा कह सुकदेव मुनी।
ऐसा ध्यान भाग सूं पैये चढ़ि रहे सिखर अनी। चरनदास, सं० बा० सं० भा० २, पृ० १८१

साक्षात्कार के आनन्दानुभव को उन्होंने व्यक्त किया स्वान्तः सुखाय तथा बहुजन हिताय का आदर्श सम्मुख रखकर। अथवा यों कहना उचित होगा कि भावों का अदम्य वेग उनके मानस से स्वतः फूट निकला। संभवतः वह रोकने पर भी न रुकता। परमात्मा के प्रति अनुभूत रहस्यात्मक अनुभूति को उन्होंने अभिव्यक्त किया भाषा में बद्ध करके—काव्य का रूप प्रदान करके। रहस्यमय को व्यजित करने वाली भाषा भी रहस्यमयी ही बन पड़ी और यदि उससे भी काम न चल सका तो संकेतात्मकता ने आकर भावों को वहन करने में भाषा को सहायता दी। इसीलिए यदि काव्य में सीय राम मय सब जग जानी जैसी सहज सरल उक्ति मिलती हैं, तो दूसरी ओर मुक्ख बानी तिको स्वाद कैसे कहैं, स्वाद पावै सोइ सुक्ख मानै जैसी रहस्यात्मक तथा सहर बेगम्मपुरा गम्म को ना लहै होय बेगम्म तो गम्म पावै जैसी संकेतात्मक उक्तियाँ भी मिलती हैं। कुछ भी हो रहस्यमय ब्रह्मानुभूति के भाव भी रहस्यमय थे तथा भाषा भी रहस्यमयी रही।

पूर्ण साक्षात्कार के मार्ग में संत-कवियों को आंशिक प्रत्यक्ष हुए। आंशिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत रूप-रंग-प्रत्यक्ष, शब्द-प्रत्यक्ष, गंध-प्रत्यक्ष तथा रस-प्रत्यक्ष हुए। किसी को यदि कोटि भानु जाकी सोभा रोमैं, पांचतत्त निरगुनी माया जो देखे सो सकल समाया इस रूप का दर्शन हुआ, तो किसी को झरि-झरि परत सुरंग रंग के द्वारा रंग-प्रत्यक्ष हुआ। इसी प्रकार यदि एक ने झरि-लागे महलिया गगन घहराय से शब्द-प्रत्यक्ष की अनुभूति को व्यक्त किया, तो दूसरे ने उठत सुगंध महा अधिकाई जाको वार न पारा है के द्वारा गंध-प्रत्यक्ष को व्यजित किया तथा अन्य ने चुअत अमीरस भरत ताल जँह के द्वारा रस प्रत्यक्ष को व्यंजित किया। प्राचीन परम्परा के प्रकरण में हम देख चुके हैं कि इसी प्रकार की आंशिक प्रत्यक्ष-जन्य अभिव्यक्तियाँ उपनिषदों में भी उपलब्ध होती हैं। इन प्रत्यक्षों में शब्द-प्रत्यक्ष तो सभी कवियों को हुआ। सब ने उस रहस्य के शब्द को सुना। किसी ने उसे गगन गर्जन में, किसी ने बिन बाजा झनकार में, किसी ने मुरली-ध्वनि में, किसी ने गैबी घंटे में उस अनहद के रुनझुन शब्द का प्रत्यक्ष किया।

विगत पृष्ठों में हम यह भी देख चुके हैं कि हठयोग का संत-साहित्य में कितना प्रसार एवं प्रचार हुआ। साक्षात्कार की स्थिति की उपलब्धि भी हठयोग की साधना पर अवलम्बित हुई। त्रिकुटी महल में आसन लगाने से, इड़ा-पिंगला के संगम पर स्नान करने से, सहस्रार में आत्मा को स्थित करने से, शून्य शिखर में सुरत लगाने जैसी अनेक यौगिक क्रियाओं के साधने से ब्रह्म का साक्षात्कार हुआ। सम्भवतः किसी ही कवि ने इन क्रिया-प्रक्रियाओं का वर्णन न किया हो। यौगिक क्रियाओं को साधकर सहज समाधि की स्थिति में पहुँच जाने पर साधक को सब कुछ विस्मरण हो जाता है, वह बेसुध हो जाता है। पलटूदास का निम्नलिखित उद्‌गार इसी स्थिति का व्यंजक है :

फूटि गया असमान सबद की धमक में।
लगी गगन में आगि सुरत की चमक में।
सेस नाग औ कमठ लगे सब कांपने।
अरे हाँ, पलटू सहज समाधि की दसा खबरि नहिं आपने॥[1]

१. सं० बा० सं० भा० २, पृ० २१६

पूर्ण साक्षात्कार को रहस्यात्मक एवं रहस्यवादी भावना का चरमोत्कर्ष कहना उचित है। समस्त विकारों से रहित, लौकिक आकर्षणों से विरत, भावों के द्वन्द्वात्मक संघर्षों से पृथक्, विचार, भावना और इच्छाशक्ति से समन्वित आचारवान् साधक के द्वारा रहस्यमय परमात्मा के सत्य स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन करना ही साधक की उस अन्तर्हित रहस्यवादी प्रवृत्ति का अभिव्यंजन है जिसमें वह सब कुछ भूलकर पूर्ण आत्मविस्मृत हो जाता है और उसके मुख से अनायास यह उद्‌गार नि:सृत हो पड़ता है :

> बिन पद निरत करौं, बिन पद दै दै ताल।
> बिन नयननि छवि देखणा, श्रवण बिना झनकारि॥

उपसंहार

रहस्यवाद मानव की उस आंतरिक प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिससे वह परम सत्य परमात्मा के साथ सीधा प्रत्यक्ष सम्बन्ध जोड़ना चाहता है। उस प्रत्यक्ष साक्षात्कार के लिए किसी उपाय विशेष की अपेक्षा नहीं है। रहस्यवाद में केवल परमात्म-मिलन की साध्यता मान्य है, मार्गों के वैभिन्न्य से उसे कोई प्रयोजन नहीं। जिस प्रकार एक वृत्त की परिधि से केन्द्रविन्दु के लिए अगणित (Radii) त्रिज्याएँ हो सकतीं हैं उसी प्रकार भगवान् की प्राप्ति के भी मार्ग अनन्त हैं, संभवतः जायसी ने :

विधना के मारग हैं तेते। सरग नखत तन रोवां जेते से इसी ओर इंगित किया है। साधनो और मार्गों की अनन्तता के मध्य में भी केवल उस परमात्मा के मिलन की एकता है।

उस परम सत्ता के अनुभव का ज्ञान रहस्यवाद का दार्शनिक पक्ष कहा जा सकता है। हम पहले ही देख चुके हैं कि परमात्मा की प्राप्ति के लिए रहस्यवादी में बुद्धि, भावना तथा इच्छा तीनों का होना आवश्यक है और इन सबके पृष्ठ में होना चाहिए प्रातिभ ज्ञान। यह अनुभव उसके विचार का प्रतिरूप कहा जा सकता है। वह सर्वत्र परमात्मा की ही सत्ता का प्रत्यक्ष करता है, उसी को प्रथम और अंतिम ज्ञान के रूप में जानता है। समस्त विश्व उसके प्रिय परमात्मा की सत्ता से परिपूरित है। इसका उसे प्रत्यक्ष अनुभव हो चुका है। यह ज्ञान उसके लिए केवल बौद्धिक कल्पना मात्र नहीं है। इस स्थिति में उसे सर्वत्र व्याप्त परमात्मा से प्रेम कैसे न हो। सब रूप उसके प्रियतम परमात्मा के ही प्रतिरूप तो हैं। यह रहस्यवाद का भावनापक्ष है। विचारपक्ष तथा भावनापक्ष से ही मिला हुआ रहस्यवाद का इच्छापक्ष है, जहाँ साधक परमात्मा की सत्ता का अनुभव करता है, उससे प्रेम करता है तथा उस प्रेम को मूर्तरूप देने का प्रयत्न करता है। परमात्मा की सत्ता के अनुभव को, जो कि स्वयं उसी की सत्ता है, वह समाज के उन कार्यों के करने में संलग्न करता है जो कि सामान्य-जनों के द्वारा सम्पादित नहीं होते। उन कार्यों के द्वारा वह अवतार, पैगम्बर अथवा क्रान्ति-कारी पथदर्शक के रूप में दृष्टिगोचर होता है। बुद्धि, भावना तथा इच्छा की त्रिपुटी में से कौन अंग रहस्यवादी में विशेष रूप से विकसित होता है, यही उस रहस्यवादी को परम ज्ञानी, प्रेमी अथवा कर्मयोगी की संज्ञा प्रदान करने वाला होता है। साक्षात्कार के पूर्व तक ही तीनों अवस्थाएँ पृथक्-पृथक् होती हैं। साक्षात्कार में तीनों ही अवस्थाओं का एक में सम्मिलन हो जाता है।

रहस्यवादी ज्ञान के लिए इन्द्रिय सन्निकर्षता की आवश्यकता नहीं है। उस परमात्म सत्ता का साक्षात् कर लेने के पश्चात् अन्धे को सब कुछ दिखलाई पड़ने लगता है। उस पद बिनु चलै, सुनै बिनु काना के साथ एकात्म भाव स्थापित कर लेने वाला मूक भी वाचाल तथा पंगु भी गगनचुम्बी पर्वत को लांघने वाला हो जाता है। समस्त असम्भावित उस

परमात्मा में संभावित हो जाते हैं और उनका प्रकाश होता है रहस्यवादी के जीवन में। जहाँ एक ओर उस ज्ञान के बाद ज्ञाता और ज्ञेय का भेद मिट जाता है वहाँ दूसरी ओर वह स्वानुभूत सत्यं शिवं सुन्दरम् की सत्ता से जगत को अवगत करा देना चाहता है। उसकी प्रेमभावना, सम्पूर्ण विश्व को अपने समान ही उस सत्य से नियोजित करा देना चाहती है। यही रहस्यवाद का कर्मपक्ष या धर्मपक्ष कहा जा सकता है। इसी भावना से प्रेरित होकर रहस्यवादी अनेक मार्गों का प्रतिपादन करते हैं। जिन्हें कि कालान्तर में धर्म की संज्ञा प्राप्त होती है। परमात्म-ज्ञान के लिए जिस प्रकार किसी इन्द्रिय अथवा सामर्थ्य (Faculty) की अनिवार्यता अपेक्षित नहीं है उसी प्रकार वह परमात्मा यज्ञ, तप, स्वाध्याय आदि किसी क्रिया-विशेष से भी प्राप्त नहीं किया जा सकता है। परमात्मा स्वयं अपने को अनावृत करके रहस्यवादी को प्रत्यक्ष कराता है।

रहस्यवादी परमात्मा के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध की संभावना स्वीकार करता है। वह अत्यन्त आस्तिक प्राणी है किन्तु उसकी आस्तिकता समाज की परम्परागत मान्यताओं में निहित नहीं है। उसके भगवान् किसी मूर्ति, देवालय अथवा तीर्थस्थान के वासी न होकर स्वर्ग नर्क सर्वत्र को समान भाव से व्याप्त करते हुए भी साधक की आवश्यकता तथा प्रेमवश अविलम्ब प्रकट होते हैं। उन्हीं की इच्छानुसार, उन्हीं से प्रेरणा प्राप्त करके—शक्ति ग्रहण करके रहस्यवादी समाज में परिवर्तन करने के लिए नवनिर्माण के लिए कार्यरत होता है। जीवन की मान्यताओं का अतिक्रमण करना उसके लिए अत्यन्त सहज व सरल होता है। वह परमात्मा की वाणी को सुनता है जो कि स्वयं उसकी अंतरात्मा में ध्वनित होती है तथा उसी वाणी के आदेशानुसार वह अपने मार्ग अपितु 'साईं के मार्ग' पर अग्रसर होता है।

अब तक हमने रहस्यवादी भावना का जो अध्ययन किया है उसके आधार पर यह कहने में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि हिन्दी के संत तथा भक्तकवि उच्चकोटि के रहस्य-वादी हैं। इन रहस्यवादी कवियों का साहित्य में तो उच्च स्थान है ही समाज और धर्म के लिए भी उनका बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उन्होंने जीवन की मान्यताओं के लिए उस युग में नैतिकता के नये मानदण्ड स्थापित किये। जिस युग में मानवता प्रतिकार तथा प्रति-शोध की ज्वाला से दग्ध हो रही थी, रहस्यदर्शी संत कबीर ने जनता को सावधान करते हुए उसे प्रेम तथा एकता का सन्देश दिया यह कहकर :

साईं सब घट सिरजिया सूनी सेज न कोय।

भक्तप्रवर तुलसीदास ने—

उमा जे राम चरणरत विगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत कासन करहिं विरोध।

कहकर समाज में फैली हुई विरोध-भावना को दूर करने का प्रयत्न किया। इन कवियों ने अखिल मानव समाज को भक्ति, एकता तथा प्रेम के सूत्र में निबद्ध करने का यथासंभव प्रयास किया। ये संत तथा भक्त केवल रहस्यवादी कवि के पद को ही नहीं सुशोभित करते हैं वरन् ये उन प्रकाश-स्तम्भों के समान हैं जो युग-युग तक भारतीय जनता के मानस-पथ को आलोकित करते रहेंगे।

ॐ